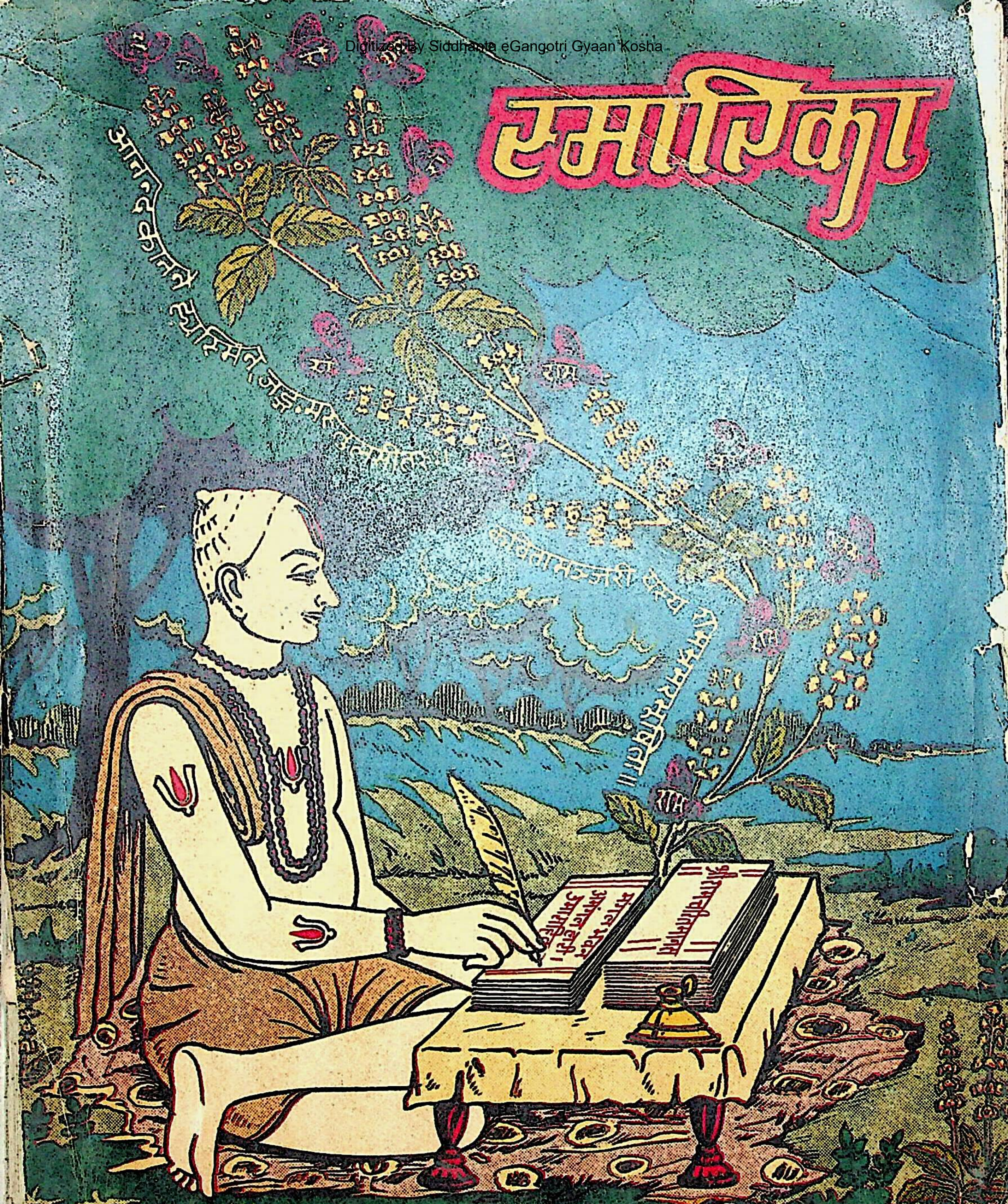
स्मारिका



राम चरित मानस भवन ट्रस्ट, अयोध्या

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

— गीता

2.5

स्मारिका

१९८१ ई०

श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट

अयोध्या (उ० प्र०)

प्रकाशक— श्री रामचरितमानस भवन ट्रस्ट
जन्मभूमि, अयोध्या (उ० प्र०)

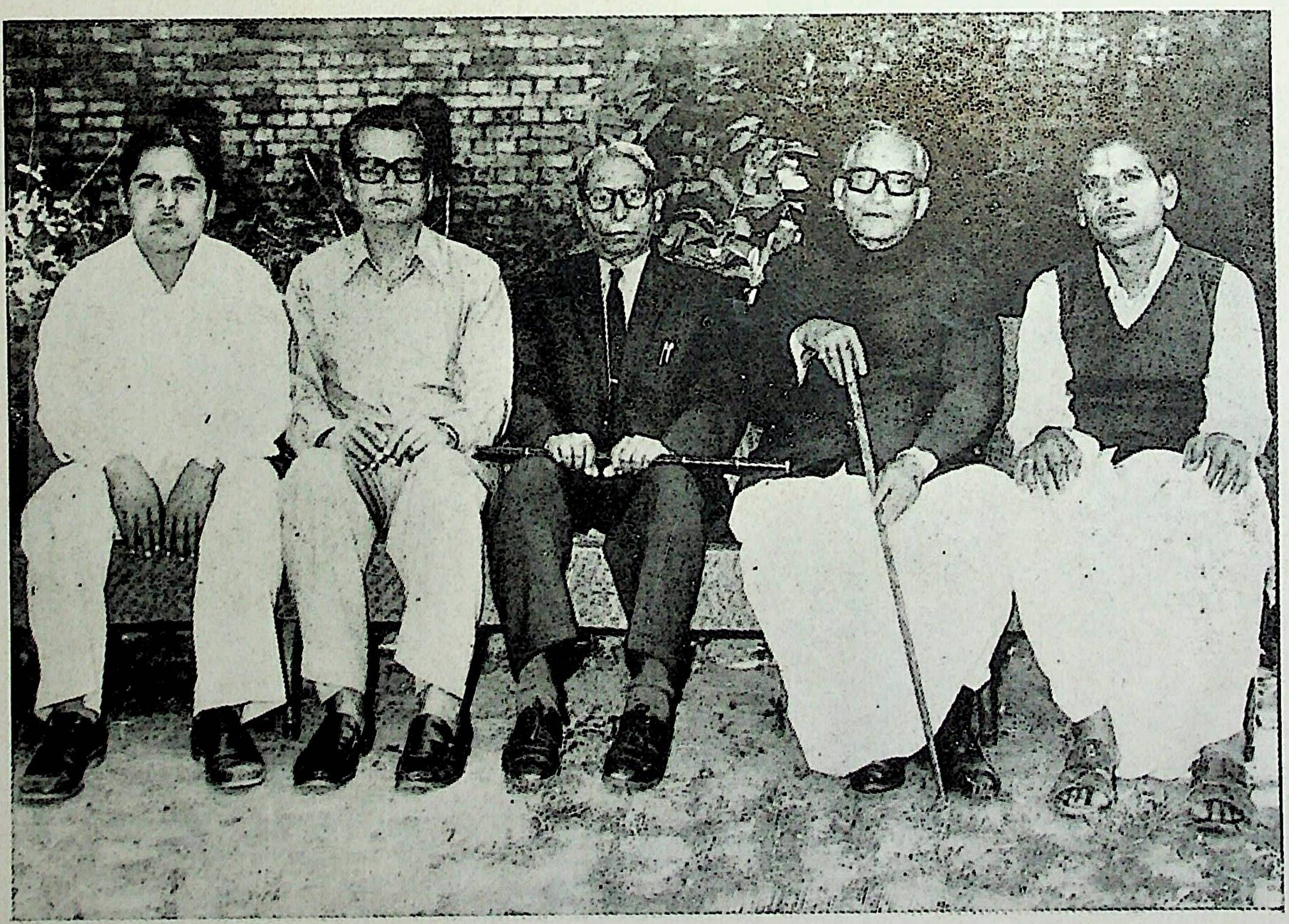
★

मुद्रक— मैजेस्टिक प्रिंटिंग प्रेस, फैजाबाद
श्याम मुद्रणालय, अयोध्या
अपना प्रेस, फैजाबाद

★

मुख्य पृष्ठ कलाकार— टैगोर ब्लॉक गैलरी,
राठ हवेली, फैजाबाद

सम्पादक-मण्डल



बायें से दाहिने :-

डा० जनार्दन उपाध्याय, डा० रामशंकर त्रिपाठी, डा० रमाशंकर तिवारी, (प्रधान सम्पादक)
श्री रघुवीर नारायण ओझा आचार्य शिव प्रसाद द्विवेदी।

सम्पादक--मण्डल

प्रकाशन सलाहकार समिति

श्री श्यामसुन्दर बेरीवाला : कलकत्ता
श्री त्रिभुवनपाल गोयल : कलकत्ता
श्री प्रेमप्रकाश श्रीवास्तव : कलकत्ता
श्री केदारनाथ टिबड़ेवाल : बम्बई

आशीर्वचन

स्वामी सीताराम शरण
लक्ष्मणकिलाधीश

श्रीअयोध्याजी
फोन : ०४४

श्री अयोध्याजी स्थित मानसभवन ट्रस्ट के सदस्यगण श्री रामचरितमानसभवन ट्रस्ट स्मारिका प्रकाशित कर रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई। ट्रस्टद्वारा यात्रियों के निवास आदि की समुचित व्यवस्था की गई है। अब साहित्य के प्रकाशन की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ है यह भगवत्कृपा का ही फल है। सत्साहित्य के प्रचार से ही भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन सुरक्षित रह सकते हैं; अतः ट्रस्ट के सदस्यों को सत्साहित्य प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रस्तुत स्मारिका के लिए मेरी शुभकामना है।

पं० रामकुमारदासजी रामायणी

श्री रामग्रन्थागार
मणिपर्वत, अयोध्या

'विष्णोः पादमवन्तिका··················अयोध्यापुरी मस्तकम्' के अनुसार श्री अयोध्याजी को समस्त तीर्थों (विष्णु) का मस्तक कहा गया है और मानस में 'तीरथ सकल इहां चलि आवहिं' कहकर वताया गया है कि ब्रह्माण्ड के समस्त तीर्थ यहां चलकर आते हैं क्योंकि—'अयोध्यायाः समं तीर्थं नास्ति ब्रह्माण्डगोलके'। उन आगत तीर्थों का दर्शन तो आकाशवत् विस्तृत नेत्र वाले सूर्यों को ही होता है--'सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीवचक्षुराततम्' (शु०यजुर्वेद ६-५)। हम लोगों के पास आकाशवत् विस्तृत दिव्य चक्षु नहीं है, इसी से हम उन्हें नहीं देख पाते और हम 'असुर नाग नर खग मुनि देवा, आइ करहिं रघुनायक सेवा' में से केवल नरों (मनुष्यों) को ही देख पाते हैं।

मानस भवन ऐसे समागत मनुष्यों को आवासीय सुविधा देने हेतु सचेष्ट रहता है। बड़े सन्तोष की वात यह है कि यहां समय-समय पर सांस्कृतिक और लोकहितैषी कार्य होते रहते हैं।

मैं श्री सीतारामजी से
चाहता हूं—

है यह मानसभौन सुहावन या मँह काज भलो नित होवै।
जा सन लौकिक काज सधै परलोकहु की सुखसिद्धि संजोवै।
पाइ कवौं सतसंग अपूरब मानस में निज मानस धोवै।
चाहत राम सों 'रामकुमार' जु मानसभौन अनूपम होवै॥

श्री नृत्यगोपालदास जी
महन्त

छोटीछावनी
श्री अयोध्याजी

"मानस मानस में रमे"

अनादिकाल से त्रिविधतापों से संतप्त प्राणी सुख-शान्ति की खोज में निरन्तर लीन है। "छूटिवे को जतन विशेष बांधे जाओगे" प्रयास निष्फल हो जाते हैं बिना सत्पाथेय के। एकमात्र अवलम्बन है भगवत्कृपा। कृपा सहज संभाव्य है, अनुकूलता निहित है अधिकारी में, मानस की प्रियता संयोजक है। कल्याण गगन के दो प्रधान देदीप्यमान नक्षत्र हैं, श्रीरामचरितमानस एवं भगवद्गीता। ज्ञानगंगा का अवगाहन अधूरा है इन दो के बिना। सरल-सुगम एवं सही दिशा प्राप्त होती है इन सद्ग्रन्थों से। "गीता सुगीता कर्तव्या" की भांति "जो कुछ कहिय करिय भवसागर तरिय वत्सपद जैसे, कहत आन विधि रहत आन विधि हरिपद सुख पावहिं कैसे"। श्रवण-मनन-निदिध्यासन की पुरातन परम्परा है।

"लक्ष्य की ओर"

आज का जीवन दिशाविहीन है। शास्त्रों ने दिशा-निर्धारण की ओर इङ्गित किया है। 'लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि'। जीवन की गतिशीलता उसकी सुवास है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत समं समा:"। चरैवेति चरैवेति'' उन्नति के पथ पर बढे चलो, उल्लास और उत्साह लिये। गतिशून्यता मृत्यु है। गति में ज्ञान अपेक्षित है, इसी से त्रिवेणी में अवगाहन की प्रथा है। ज्ञान एवं क्रिया की सफलता है सरस होने में, सरसता है "रसो वै स:" रसविहीन जीवन नीरस है। रस का परिपाक होता है भाव से, भाव हृदय की वस्तु है। "भाववश्य भगवान"। अनुकूल सत्साहचर्य भावोद्गम में सहायक है। सत्साहचर्य का तात्पर्य है सत्संग से एवं सद्ग्रन्थों से। "बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग, मोह गये बिनु रामपद होय न दृढ़ अनुराग"। श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट का स्मारिका संपादन का कार्य सराहनीय है।

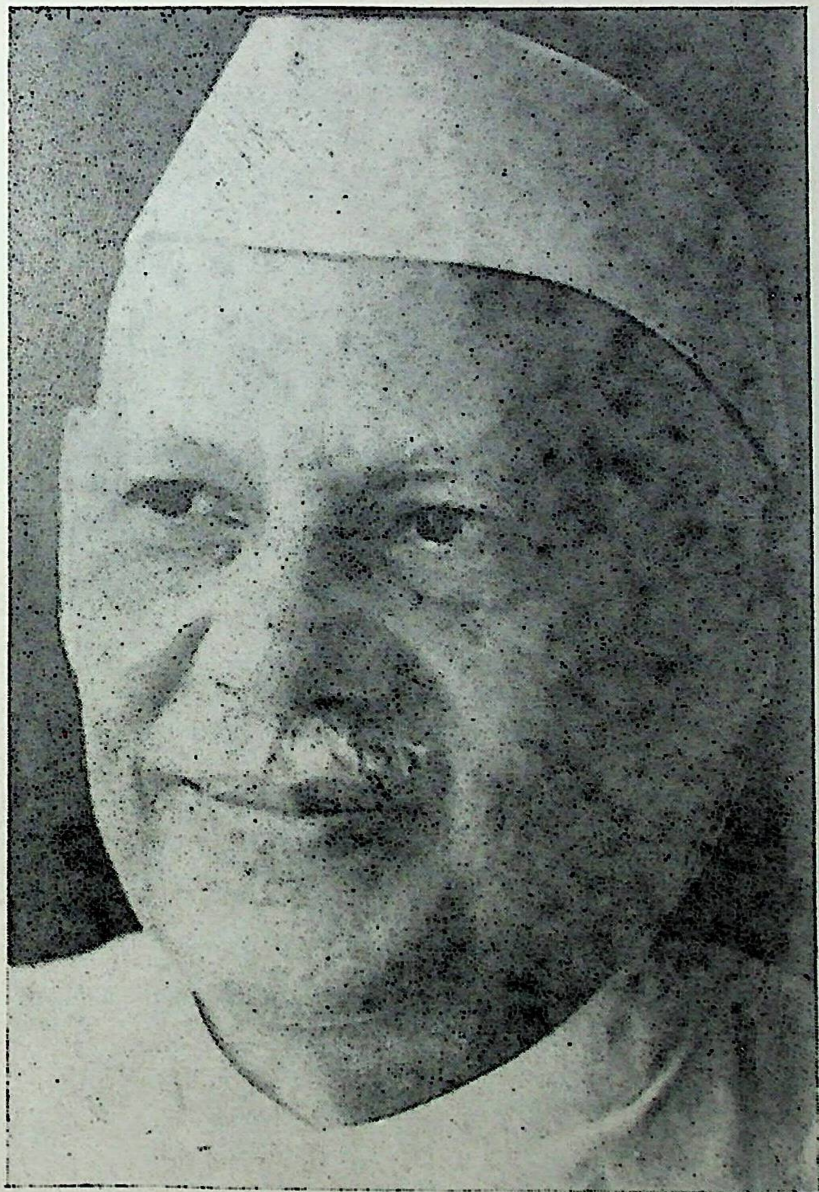
श्रीमज्जगद्गुरुरामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्य

"कोसलेश सदन"
कटरा, अयोध्या

भारतवर्ष में रहने वाला कोई विरला ही ऐसा होगा जो श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के नाम से अवगत न हो, और नहीं कहीं ऐसा भी कोई मिलेगा जिसकी जिह्वा पर रामचरितमानस की एक भी चौपाई न थिरकती हो। इतना ही नहीं, अपितु विदेशी विद्वानों ने भी इस अपूर्व हिन्दी-काव्य भाषा-वेद श्रीरामचरित-मानस के ऊपर अपनी आदरमयी दृष्टि बिखेरते हुए भावाभिव्यक्ति की है। इस प्रकार विश्व-सम्मान्य अनूठे साहित्य के नाम पर बने हुए श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट के द्वारा इस प्रकार का आदर्शपूर्ण कार्य सम्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस मानसभवन स्मारिका के माध्यम से आधुनिक शिक्षा शिक्षित समाज के भीतर, जो कि धर्माभाव के कारण निष्प्राण सा है, धर्मरूपी प्राण का संचार कर अनुप्राणित करना एक समादरणीय एवं गौरवमय कार्य है। हिन्दुधर्मावलम्बी जनों को इसके द्वारा शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये, जिससे वे इस प्रकार के कार्यों द्वारा अपने सनातन हिन्दूधर्म का प्रचार एवं प्रसार कर सकें। हम रामचरित-मानस भवन ट्रस्ट के इस सत्कार्य का हार्दिक अभिनन्दन करते है तथा कोसलेन्द्र भगवान श्रीरामजी से यह मङ्गल-कामना करते हैं कि यह कार्य भविष्य में अनेक रूपों में निर्बाधतया पूर्ण होता रहे।

शुभाशंसा

राज्यपाल
उत्तर प्रदेश



महामहिम श्री सी० पी० एन० सिंह

GOVERNOR

सत्यमेव जयते
UTTAR PRADESH

RAJ BHAVAN
LUCKNOW

१८ अप्रैल, १९८१

सन्देश

प्रसन्नता की बात है कि अयोध्या में श्री रामजन्म भूमि के निकट निर्मित रामचरितमानसभवन ट्रस्ट के तत्त्वाधान में रामचरितमानस के सम्बन्ध में अनेक प्रतियोगिताओं के आयोजन के साथ-साथ भगवान राम की जन्मभूमि के दर्शनार्थ आने वाले तीर्थ–यात्रियों को आवास के लिए हर प्रकार की सुविधाएं भी सुलभ करायी जाती हैं।

श्री रामचरितमानसभवन ट्रस्ट ने एक अच्छे काम का बीड़ा उठाया है और इस काम में उसे समाज के सभीं वर्गों का सहयोग और समर्थन मिलना चाहिए।

मानसभवन ट्रस्ट के सम्बन्ध में प्रकाशित हो रही स्मारिका की सफलता के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ।

(च० प्र० ना० सिंह)

विधान भवन,
लखनऊ

दिनांक : १४ अप्रैल, १९८१

सन्देश

हर्ष का विषय है कि श्रीरामचरितमानसभवन ट्रस्ट, फैजाबाद, मानसभवन स्मारिका का प्रकाशन कर रहा है।

रामचरितमानस में भगवान राम के आदर्श चरित्र के द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के लिये जो कर्तव्य और आचरण निर्दिष्ट किया गया है वह युगों तक हमारे लिये प्रेरणा-स्रोत बना रहेगा। मुझे आशा है कि स्मारिका में प्रकाशित विद्वानों के विचारों से भारतीय धर्म और दर्शन पर सम्यक् प्रकाश पड़ेगा और रामचरितमानस के पावन सन्देश को जन-जन तक पहुँचाया जा सकेगा।

स्मारिका की सफलता के लिये मेरी शुभ कामनायें।

(स्वरूप कुमारी बख्शी)
शिक्षा मंत्री

Phone : 272
9-D, CIVIL LINES
GORAKHPUR

Dr. S. N. M. Tripathi
D. Litt., Vachaspati
I. A. S., (RETD) M. L. C.
EX VICE-CHANCELLOR, SANSKRIT UNIVERSITY, VARANASI
EX-MEMBER, PUBLIC SERVICE COMMISSION U. P.

Date 16 April, 1981

शुभ संदेश

रामचरितमानसभवन, अयोध्या, डा० रमाशंकर तिवारी के सम्पादन में एक स्मारिका का प्रकाशन कर रहा है यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इस स्मारिका द्वारा तथा देश के अनेक विशिष्ट विद्वानों द्वारा भारतीय धर्म, दर्शन तथा रामचरित मानस द्वारा प्रतिपादित विभिन्न विषयों पर विशद प्रकाश पड़ेगा यह जानकर और प्रसन्नता हुई।

रामचरितमानस, मानव मात्र का एक ऐसा अनुपम और अद्भुत ग्रंथ है, जिसकी गणना संसार के आधे दर्जन मूर्धन्य ग्रंथों में की जाती है। यह केवल एक धार्मिक ग्रंथ ही नही है अपितु यह एक सामाजिक ग्रंथ भी है जिसमें गार्हस्थ जीवन, पारिवारिक सम्बन्ध, राजनीति, संग्रामकौशल इत्यादि जीवनोपयोगी अनेक विषयों का समावेश है, जिसने एक बहते हुए समाज को विश्राम-स्थल प्रदान किया, जिसने शैवों और वैष्णवों के आपसी मतभेद को दूर किया, जिसने हिन्दू समाज को विदेशी शासन के अत्याचारों को सहन करने की शक्ति दी तथा धैर्य्य प्रदान किया इत्यादि। इस ग्रंथ की जितनी प्रशंसा की जाय वह कम है।

मैं स्मारिका के सफल प्रकाशन व सम्पादन की शुभ कामना करता हूँ।

सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी

निर्मल खत्री
राज्य मंत्री, सामान्य प्रशासन
नियोजन एवं ग्राम्य विकास

उत्तर प्रदेश सरकार

विधान भवन,
लखनऊ

दिनांक : दिसम्बर, १९८१

सन्देश

मुझे यह जानकर हर्ष है कि श्रीरामचरितमानसभवन ट्रस्ट द्वारा मानस भवन की स्मारिका का प्रथम बार प्रकाशन किया जा रहा है।

मैं स्मारिका के सफल प्रकाशन एवं निरन्तर प्रगति की कामना करता हूँ।

(निर्मल खत्री)

माननीय मन्त्री

(नगर विकास एवं आवास उत्तर प्रदेश)



श्री श्रीकृष्ण गोयल

श्रीकृष्ण गोयल,
मन्त्री,
नगर विकास एवं आवास

विधान भवन,
लखनऊ
दिनांक २० जनवरी, १९८२

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट, अयोध्या द्वारा 'मानस' के प्रति रुचि बढ़ाने हेतु निबन्ध और भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है और इस वर्ष भी रामचरितमानस भवन, अयोध्या में अनेकों विद्यालयों के मेधावी छात्र इसमें भाग ले रहे हैं और इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित हो रही है।

अयोध्या मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम की जन्मस्थली और क्रीड़ास्थली रही है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अपना गौरवमय महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आज के युग में यहां से ही 'मानस' के अनुरूप पुनः मानवता का अमर सन्देश मुखरित होगा, ऐसी मुझे आशा है।

मैं 'मानस' सम्बन्धी सभी आयोजनों की सफलता की कामना करता हूँ।

(श्री कृष्ण गोयल)

श्री राधेश्याम अग्रवाल
प्रबन्ध सम्पादक,
श्री रामचरितमानस भवन ट्रस्ट,
राम जन्मभूमि अयोध्या-फैजाबाद।

विधान भवन,
लखनऊ

दिनाँक ७ दिसम्बर, १९८१

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मानसभवन अयोध्या की ओर से एक स्मारिका का प्रकाशन होने जा रहा है। आशा है कि यह स्मारिका साहित्य, धर्म, दर्शन एवं इतिहास संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर विस्तृत सामग्री प्रस्तुत कर जनसाधारण को अधिकाधिक लाभान्वित कर सकेगी। स्मारिका अपने उद्देश्यों में सफल हो यही मेरी शुभकामना है।

अनेक शुभ कामनाओं सहित,

(सीताराम निषाद)
उपमंत्री
कृषि एवं मत्स्य,
उत्तर प्रदेश

श्री राधे श्याम अग्रवाल
प्रवन्ध सम्पादक,
श्री रामचरित मानस भवन ट्रस्ट,
राम जन्मभूमि अयोध्या–फैजाबाद।

मानस भवन - परिवार

आज

और

बीते कल

"जिस जिस ने पथ में स्नेह दिया,

उस उस राही को धन्यवाद"।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु । सर्वः कामानवाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

श्री रामचरितमानसभवन ट्रस्ट, अयोध्या

के

पदाधिकारी एवं ट्रस्टीगण

भवन-निरीक्षक

१	श्री रामनारायणलाल वर्मा	साकेत प्रेस, फ़ैजाबाद	फोन : ३१३
२	श्री अमरकुमार अग्रवाल	धारा रोड, फैजाबाद	फोन : ६४५
३	श्री फूलचन्द अग्रवाल	शिव प्रसाद मार्केट, चौक, लखनऊ	फोन : ८२४७४

आजीवन सदस्य

	नाम	पता	फोन नम्बर
१	श्री रामचन्द्र फोगला	३, प्रिंसेप स्ट्रीट, कलकत्ता--	२३-९९०१
२	,, परमेश्वरलाल सुतोड़िया	२४, आर०एन० मुकर्जी रोड, कलकत्ता	२३-५३८६
३	,, रामकुमार विश्वनाथ भानीरामका	६७/२५, स्ट्रैण्ड रोड, कलकत्ता	
४	,, घासीराम अग्रवाल	१०५, डायमण्ड हारबर रोड, कलकत्ता	४५-९६८७
५	,, शुभकरन जालान	४, क्लाइव रोड, कलकत्ता	
६	,, गिरधारीलाल गुप्ता	१९१, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता	५५-९००७
७	,, हरिराम कसेरा	अरुण चैम्बर, ३८,पी० इण्डिया एक्सचेन्जप्लेस-कलकत्ता	
८	श्रीमती शकुन्तला रानी	११, मण्डेविला गार्डेन्स, कलकत्ता-१९	४७-५८५४
९	श्री मधुसूदन भोजनागरवाला	अमर भवन, ब्रैबोर्न रोड, कलकत्ता-७	३४-२८२९
१०	,, जेठामल रामकिशन पित्ती	दीवान ड्योढ़ी, हैदराबाद	
११	,, भगवती प्रसाद डालमिया	नेताजी शुभाष रोड, कलकत्ता	
१२	श्रीमती सुधादेवी बेरीवाला	१२६, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता	३४-९३६८

१३	श्री धीरजमल गुप्ता	५, क्लाइव रोड
१४	,, राधेश्याम पोद्दार	३, वेन्टिक स्ट्रीट, कलकत्ता फोन :- ४३-२०६७
१५	,, राधेश्याम पंसारी	१४. थियेटर रोड, कलकत्ता
१६	,, लक्ष्मीनारायण बागला	७७-७८, खेंगरापट्टी, कलकत्ता
१७	,, किशन बंका (बंका ऐण्ड सन्स)	१५, इण्डिया एक्सचेन्ज प्लेस फोन :- २२-४७१० २२-३३१०
१८	,, भगवतीप्रसाद कानोडिया	५, लिटिल स्ट्रीट, कलकत्ता
१९	श्रीमती कृष्णादेवी अग्रवाल	५, लिटिल स्ट्रीट, कलकत्ता
२०	श्री केदारनाथ सर्राफ	९, पारसी चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता
२१	श्री त्रिभुवनपाल गोयल	१८०/१८, अलीपुर रोड, कलकत्ता फोन :- ४५२०९१
२२	श्री चान्दमल अग्रवाल	३२, इजरा स्ट्रीट, कलकत्ता
२३	श्री रामकुमार राजेन्द्रकुमार	९, वोनफील्ड लेन, कलकत्ता
२४	श्री गौरीशकर भिवानी	४९, नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता
२५	श्री अमरनाथ सर्राफ	३, वेनटिक स्ट्रीट, कलकत्ता
२६	श्री विश्वनाथ पंसारी	चावड़ी बाजार दिल्ली- फोन :- ६२२८३६
२७	श्री भगवानदास सिंघानिया	१६७, दादी सेठ अगियारी लेन-बम्बई
२८	श्री गिरधारी लाल बरोलिया	नयनकृपा बिल्डिङ्ग, काजी सैयद स्ट्रीट, पांचमाला-बम्बई
२९	श्री सत्यनारायण मोदी	तावा कोटा-- बम्बई
३०	श्री चुन्नीलाल पन्नालाल	पानीतोला, आसाम
३१	श्री मायाराम अग्रवाल	तिनसुकिया, आसाम
३२	श्री हीरालाल शर्मा	तिनसुकिया, आसाम
३३	श्री ए० एम० गोयल	हिण्डालको, रेणुकूट, मिर्जापुर

	फैजावाद		
३४ श्री अमरकुमार अग्रवाल	नवगांव, आसाम		
३५ श्री लालचन्द प्रह्लादराय	जोरहाट, आसाम		
३६ श्री पट्टाराम ओमप्रकाश	रेणुकूट, मिर्जापुर		
३७ श्री ओमप्रकाश पाण्डेय	फतेहगंज, फैजावाद		
३८ श्री सुन्दरलाल पचेरीवाला	पटना		
३९ श्री रामनारायण बदरीदास	मसोधा शूगर मिल, फैजावाद		
४० श्री लक्ष्मीकांत झुनझुनवाला	बजाजा, फैजावाद		
४१ श्री घनश्यामदास बंसल	गोरखपुर	फोन :-	५८५८
४२ श्री युगलकिशोर जालान	नयागंज, कानपुर		
४३ श्री बदरीप्रसाद माहेश्वरीप्रसाद	पो० अकोला, महाराष्ट्र	फोन :-	११९८
४४ श्री उमाशंकर खेतान	फैन्सी बाजार, गोहाटी	फोन :-	२४४४०
४५ श्री चिरंजीलाल चौधरी	डिब्रूगढ़		
४६ सुश्री पार्वतीदेवी गोयनका	आसाम		
४७ श्री नन्दलाल रासीवासिया	लखनऊ		
४८ श्री रानीलीला रामकुमार भार्गव	आसाम		
४९ श्री किशनलाल जी रासीवासिया	१९, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कलकत्ता		
५० श्री शान्तिलाल मेहता	मेन रोड, जोरहाट		
५१ श्री राजेन्द्रप्रसाद अग्रवाल			

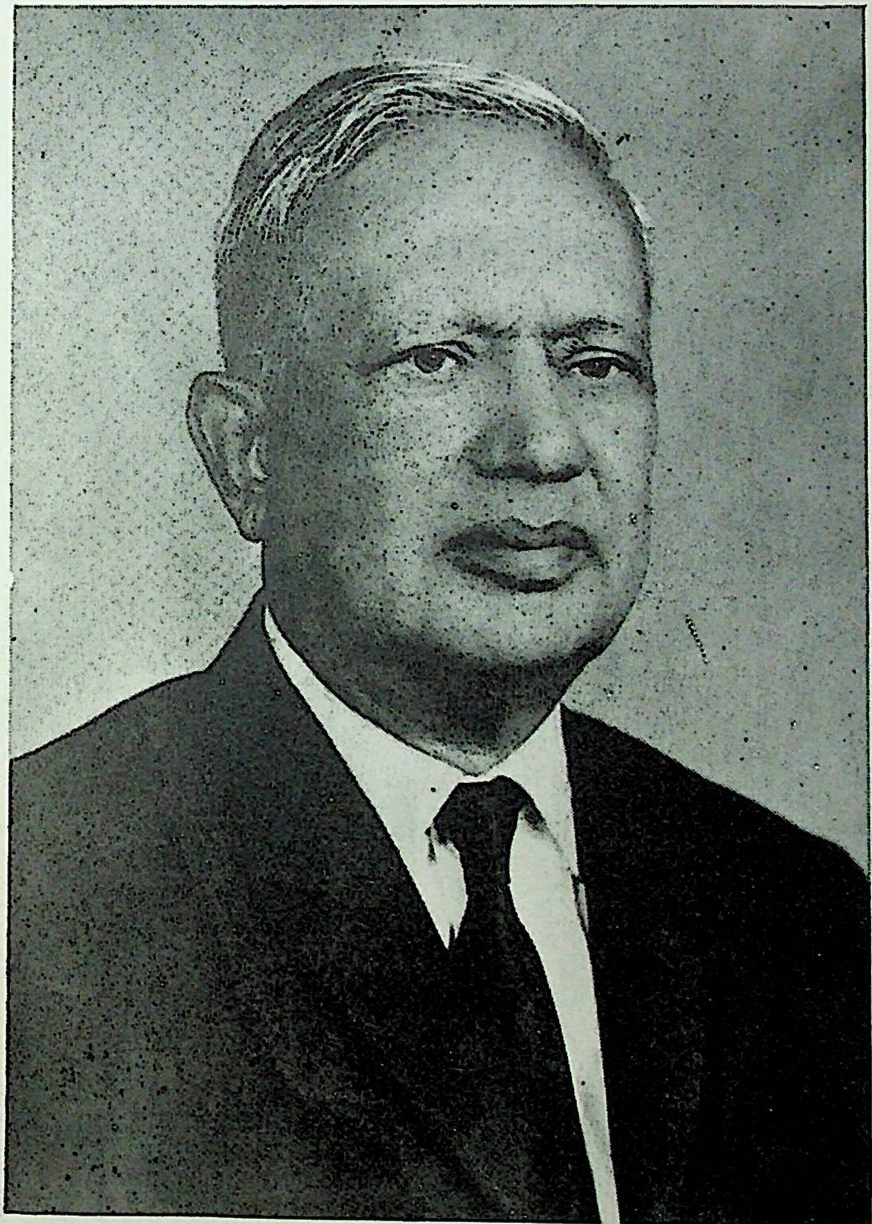
एक निवेदन

मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की पुण्य-भूमि, श्री अयोध्याजी की गौरव-गरिमा से आकर्षित होकर, अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित करने, प्रतिवर्ष सहस्रों धर्मानुरागी भक्तों का देश के कोने-कोने से तांता लगा रहता है, पर उनके आवास के लिए कोई सुविधाजनक व्यवस्था की कमी खटकती थी। इसी समस्या के समाधान हेतु, देश के कतिपय श्रद्धालु धर्मप्राण महानुभावों के परमोदार सहयोग से श्री रामचरितमानसभवन ट्रस्ट का निर्माण हुआ है। यह सन्तोष को बात है कि भवन अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हो रहा है—क्रमशः विकास की ओर निरंतर प्रगतिशील है।

इस संदर्भ में हमारी स्वाभाविक अभिलाषा है कि सभी समर्थ महानुभाव, अधिकाधिक संख्या में इसके आजीवन सदस्य होकर इस भवन के विकास-क्रम में अपना बहुमूल्य योगदान देकर महत्पुण्य के भागी हों। हमारा विश्वास है कि आज की आजीवन सदस्यता की सूची उत्तरोत्तर वृद्धि करती जायगी—और हमें इस पुण्य कार्य में अग्रसर होते रहने का प्रोत्साहन देती रहेगी। आजीवन सदस्यता शुल्क मात्र ११००) मुद्रायें हैं।

विनीत :
राधेश्याम अग्रवाल
मंत्री
श्री रामचरितमानसभवन ट्रस्ट

सभापति



श्री भगवती प्रसाद खेतान

एटर्नी–एट–लॉ

श्री भगवती प्रसाद खेतान

खेतान जी का जन्म ९ जुलाई सन् १९०४ ई० को हुआ। ये सुप्रसिद्ध खेतान बन्धुओं में सबसे कनिष्ठ हैं। इनके बड़े भाईयों में एक वैरिस्टर-एट-ला तथा दो कलकत्ता हाईकोर्ट के एटार्नी थे। अर्थशास्त्र में विशेष योग्यता के साथ इन्होंने प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता, से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् आर्टिकिल क्लर्क के रूप में खेतान एण्ड कम्पनी में कार्य आरम्भ किया। सन् १९३० में ये एटार्नी हो गये और खेतान एण्ड कम्पनी में पार्टनर भी बन गये। श्री डी० पी० खेतान और श्री आई०डी० जालान के अवकाशग्रहण के पश्चात् सन् १९४५ ई० में ये खेतान एण्ड कम्पनी के वरिष्ठ पार्टनर बन गये। इनके नेतृत्व में कम्पनी को प्रतिष्ठा में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। खेतान जी ने कम्पनी की एक शाखा सन् १९७० ई० में नई दिल्ली में स्थापित की। खेतान जी अत्यन्त सहृदय और व्यवहारकुशल हैं। सर्वसामान्य के प्रति प्रेम और मुस्कान का व्यवहार करना इनका सहज स्वभाव है।

खेतान जी कलकत्ता हाईकोर्ट की इनकार्पोरेटेड ला सोसायटी के अध्यक्ष रह चुके हैं। इस समय भी ये बालीगंज शिक्षा-सदन, बालिका विद्यालय, शिक्षायतन कालेज एवं स्कूल, एस० भी एस० विद्यालय, मारवाड़ी बालिका विद्यालय, रघुमल चैरिटी ट्रस्ट, रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया चैरिटी ट्रस्ट, श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट आदि अनेक शैक्षिक, सामाजिक संस्थाओं के अध्यक्ष हैं। हिन्दुस्तान मोटर्स लिमिटेड, हिन्दुस्तान एल्युमिनियम कारपोरेशन लिमिटेड, बिड़ला कॉटन एण्ड विभिंग मिल्स लिमिटेड, बंगाल पेपर मील कम्पनी लिमिटेड, गैंगेज मैन्यूफैक्चरिंग लिमिटेड आदि संस्थानों के निदेशक के रूप में श्री खेतान जी सेवा कर चुके हैं। बिना किसी शर्त और भेदभाव के समाजसेवी संस्थाओं को सहयोग देना इनकी विशेषता है। खेतान जी ने देश विदेश में पर्याप्त भ्रमण करके विस्तृत लोकानुभव प्राप्त किया है। ऐसे उदारमना को अपने अध्यक्ष के रूप में प्राप्त करके मानसभवन गौरवान्वित है।

ये कलकत्ते के लोक प्रसिद्ध सालीसीटर है। प्रारम्भ से स्टील रीरोलिंग मिल्स एसोसियेशन के चेयरमैन रह चुके हैं।

मानस भवन ट्रस्ट के सभापति होने के बाद सन् १९७४ में एक माह तक अयोध्या वास किया और समय समय पर ट्रस्ट की बैठक में उपस्थित होकर अनेक समस्याओं का समाधान करते रहे हैं।

आपके कई ट्रस्ट हैं जिनके द्वारा संस्थाओं को सहायता दी जाती है। इनमें से एक अलकापुरी जनकल्याण ट्रस्ट है जिसके माध्यम से विक्रमीय सं० २०३१ में इक्कीस हजार की राशि की लागत से आपकी धर्मपत्नी लक्ष्मी कुमारी खेतान ने एक भव्य सभा स्थल का निर्माण करवाया है।

गुनाहों से भरी है यह नापाक ज़िन्दगी मेरी ।
परवरदिगार ! कभी न गई गुनाहों पर नज़र तेरी ॥
तूने हमेशा मुझ गुनहगार पर नजरें मेहर की ।
प्यार से पास बिठलाया, कभी भी दुत्कार न दी ॥
कहा--'बच्चे ! तुम बेसमझ के सारे गुनाह माफ़ हैं ।
तेरे लिये मेरी रहम का रास्ता सदा साफ है' ॥
क्या शुक्रिया अदा करूँ, मालिक ! मैं ख़ादिम तेरा ।
कदमों में पड़ा रख और कहता रह--'तू गुलाम मेरा' ॥

--'भाई जी'

उप–सभापति



श्री शिवराम वेरीवाल
कलकत्ता

श्री शिवराम बेरीवाला

एक असाधारण व्यक्तित्व, सौजन्य, औदार्य, दयालुता की प्रतिमूर्ति, विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा के धनी "मार्दवं ह्लीरचापलम्" के साक्षात् विग्रह हैं हमारे उपाध्यक्ष श्रीशिवराम बेरीवाला। श्रीरामचरितमानसभवन का यह परम सौभाग्य है कि इसे ऐसे सर्वगुणोपेत मानव का इतने निकट से दिशा निर्देशन मिलता रहता है, हर क्षण, हर परिस्थिति–सम या विषम–में। अपने विविध व्यावसायिक एवं सामाजिक कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहने के बावजूद इन संस्थाओं के लिए भी पर्याप्त समय निकाल सके ऐसा कोई विरला ही कर्मठ, सतत जागरूक सत्पुरुष हो सकता है–और ऐसों में एक हैं श्री शिवराम बेरीवाला।

रोहतक से करीब १७–१८ मील की दूरी पर एक ग्राम है बेरी। नगरों के कोलाहल से अति दूर इस ग्राम को प्राचीनकाल से ही अनेक ख्यातिलब्ध विद्वान्, विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न, ऐश्वर्यशाली, ज्योतिष, आयुर्वेद-विद्या निष्णात जनों ने दूर-दूर तक उजागर किया था। इसी ग्राम के श्रेष्ठि कुलोद्भूत थे श्री जगन्नाथ जी बेरीवाला। व्यावसायिक एवं लौकिक व्यावहारिक कुशलता के साथ ही इनकी धर्म-निष्ठा भी सहज और सुदृढ़ थी। आप अपने ग्राम के ही नहीं, वरन् अपने ग्राम से दूर के क्षेत्रों में भी हर सत्कर्म में अग्रणी माने जाते थे। इनसे इस ग्राम का नाम दूर-दूर तक विकसित हुआ। इसी ग्राम के एक अन्य रत्न थे श्री किशनलाल जी बेरीवाला। हमारे श्री शिवरामजी इन्हीं के पुत्ररत्न हैं जिनका प्रकाश-पुञ्ज आज अनेक क्षेत्रों को, अनेक रूपों में अवलोकित कर रहा है।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की उक्ति श्री शिवराम जी बेरीवाला के जीवन में अक्षरशः सत्य है। सौम्य आकृति और सौम्य प्रकृति दोनों का मधुर संगम है इनके जीवन में। इनके सम्पर्क में जो एकबार आ जाता है, वह इनका होकर रह जाता है, इतना सर्वाग्रही सरल स्वभाव है इनका। परदुःखकातरता भी इनका सहज स्वभाव है। सबसे ऊपर है इनका मृदु-भाषण जो सभी को मुग्ध कर देता है जो कोई इनके सम्पर्क में आता है। Plain Living and High Thinking के ये साक्षात् विग्रह हैं। अभिमान तो इनमें है ही नहीं–सर्वदृष्टि से एक आदर्श व्यक्ति हैं ये इस युग के।

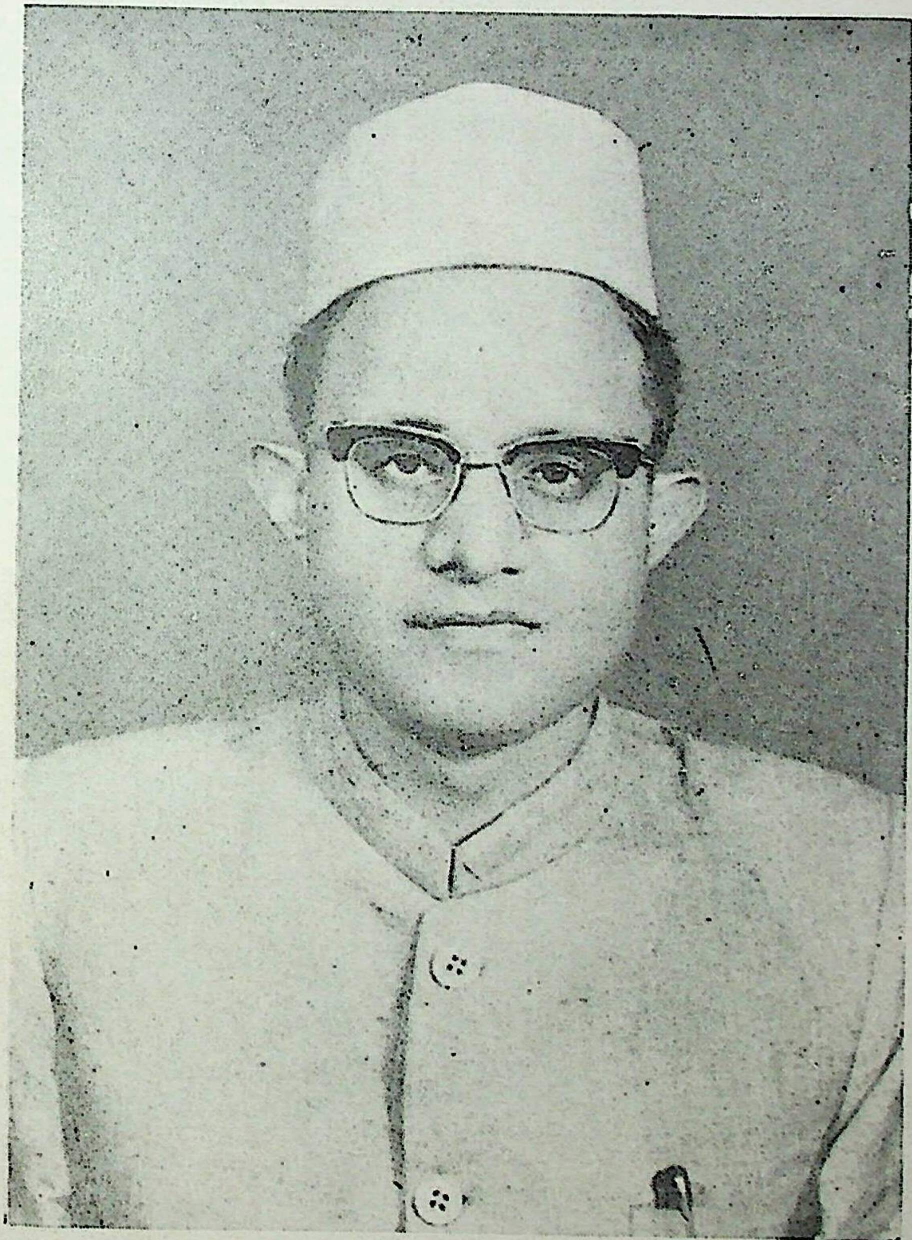
अपने पिताश्री की पुण्य स्मृति में इन्होंने वाराणसी में एक सर्व-सुविधा सम्पन्न विशाल "श्रीकिशनलाल अतिथि भवन" का निर्माण कराया है। अपने ढंग का यह अकेला अतिथि-भवन है बनारस का, जिसमें हर तरह के विश्रामार्थियों को सुविधा-जनक आवास मिल जाता है हर समय। इसकी व्यवस्था के लिये सुयोग्य कर्मचारी तो हैं ही, श्री शिवरामजी स्वयं भी कई बार पधार जाते हैं कलकत्ते से इसकी देख-रेख, सम्हाल करने के लिये। मानसभवन का यह सौभाग्य है कि जब-जब वे बनारस पधारते हैं, श्री अवध भी आ जाते हैं और अपने अमूल्य सुझावों और आवश्यक निर्देशों से इसे लाभा-

न्वित करते हैं। कलकत्ते से भी भवन की दिनानुदिन प्रगति के लिये सदा योगदान देते रहते हैं। यह आपका ही प्रयास है कि आज मानसभवन में आधुनिक साज-सज्जा से संयुक्त आठ फ्लैट निर्माणाधीन हैं। निर्माण कार्यों के सुचारु रूप से संचालन के लिये आपने "श्री सीताराम चैरिटी ट्रस्ट" के नाम से एक न्यास की प्रतिष्ठा की है। इसी ट्रस्ट के अन्तर्गत उक्त अतिथिभवन भी है और बनारस में ही सरस्वती सिनेमा के पार्श्वस्थित एक विशाल भव्य "विवाह-भवन" का निर्माण अभी चल रहा है।

लौकिक व्यवहारों और धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं के कार्यों का भार अपूर्व कुशलता से संभालते हुये भी आपका व्यावसायिक कौशल-प्रदर्शन विलक्षण है, अनुकरणीय भी। इनके कई तरह के सफल उद्योग चल रहे हैं।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त अतिथि भवन में संस्कृत के विद्यार्थियों को हर तरह की सुविधा—भोजन वस्त्रादि की—दी जाती है, और नित्य ही दीन जनों की सेवा जीवन-यापन की आवश्यक सामग्रियों के वितरण से की जाती है।

मंत्री



श्री राधेश्याम अग्रवाल

संयुक्त मंत्री



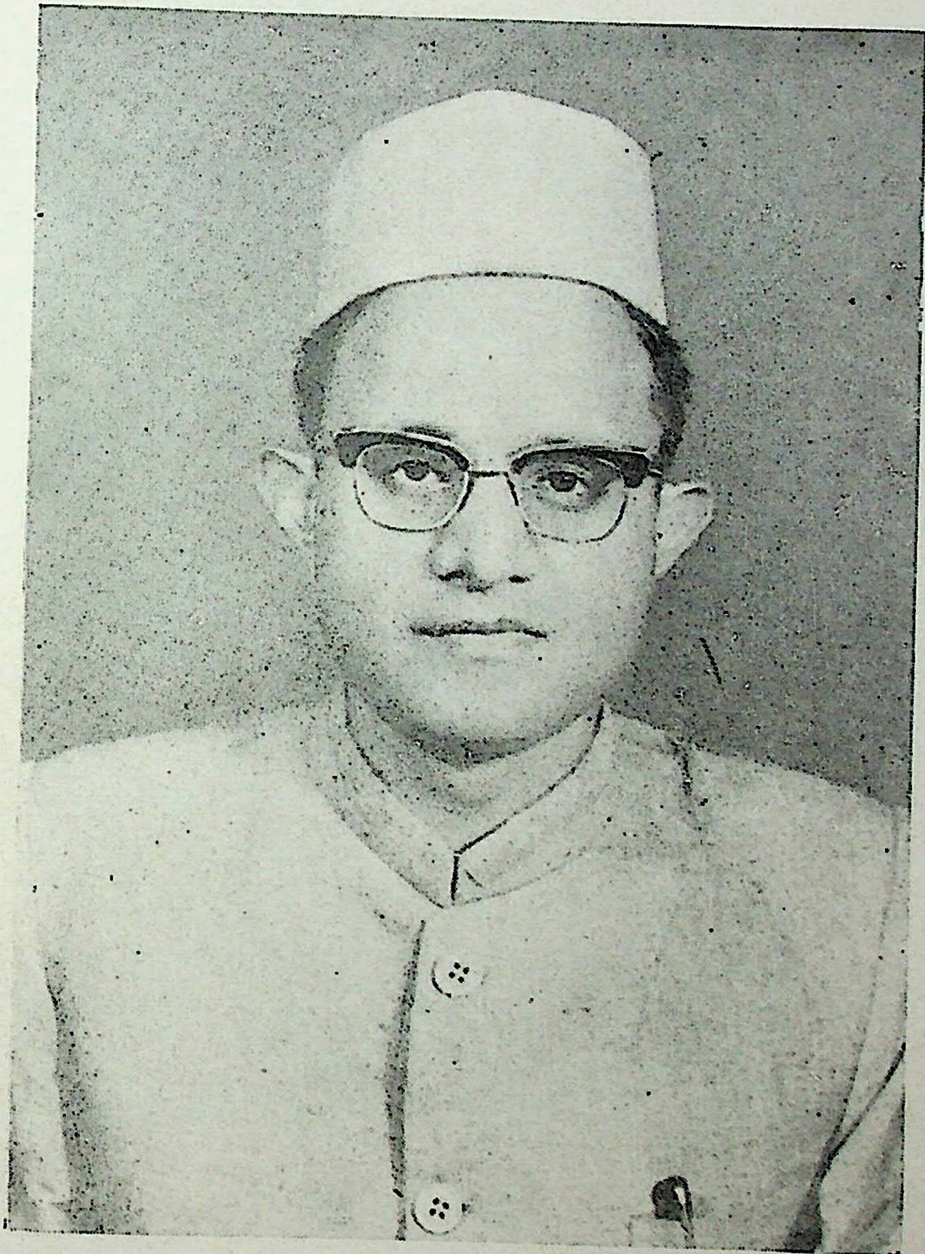
श्री हरी सरन अग्रवाल

न्वित करते हैं। कलकत्ते से भी भवन की दिनानुदिन प्रगति के लिये सदा योगदान देते रहते हैं। यह आपका ही प्रयास है कि आज मानसभवन में आधुनिक साज-सज्जा से संयुक्त आठ फ्लैट निर्माणाधीन हैं। निर्माण कार्यों के सुचारु रूप से संचालन के लिये आपने "श्री सीताराम चैरिटी ट्रस्ट" के नाम से एक न्यास की प्रतिष्ठा की है। इसी ट्रस्ट के अन्तर्गत उक्त अतिथिभवन भी है और वनारस में ही सरस्वती सिनेमा के पार्श्वस्थित एक विशाल भव्य "विवाह-भवन" का निर्माण अभी चल रहा है।

लौकिक व्यवहारों और धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं के कार्यों का भार अपूर्व कुशलता से संभालते हुये भी आपका व्यावसायिक कौशल-प्रदर्शन विलक्षण है, अनुकरणीय भी। इनके कई तरह के सफल उद्योग चल रहे हैं।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त अतिथि भवन में संस्कृत के विद्यार्थियों को हर तरह की सुविधा—भोजन वस्त्रादि की—दी जाती है, और नित्य ही दीन जनों की सेवा जीवन-यापन की आवश्यक सामग्रियों के वितरण से की जाती है।

मंत्री



श्री राधेश्याम अग्रवाल

संयुक्त मंत्री



श्री हरी सरन अग्रवाल

श्री हरीसरन अग्रवाल

उत्तरप्रदेश के राजनैतिक, सामाजिक, व्यापारिक तथा शिक्षा के क्षेत्र में श्री हरीसरन अग्रवाल सभी के जाने पहचाने नेता और कार्यकर्त्ता हैं।

सूझबूझ, गंभीरता, दूरदर्शिता और संगठन शक्ति जहां आपके कार्य करने के गुण हैं वहां विनम्रता, मृदुवाणी और सहनशीलता आपके व्यक्तित्व की शोभा हैं। देशाटन, धार्मिक कार्यों में रुचि और शिक्षा के प्रसार कार्य को आपने जीवन का अंग बना लिया है। राजनैतिक कार्यों में भाग लेना और राष्ट्रीय नेताओं के सम्पर्क में रहने का आपको शौक है। लखनऊ नगर में कोई भी सामाजिक कार्य ऐसा नहीं होता, जिसमें आप किसी न किसी रूप में भाग न लेते हों।

शिक्षा के क्षेत्र में आपकी विशेष रुचि है। लखनऊ पोलिटेक्निक्स, लखनऊ टेक्निकल कालेज, की कार्यकारिणी के आप सक्रिय सदस्य हैं। प्रदेश के ख्यातिलब्ध अग्रसेन इण्टरकालेज, लखनऊ, जिसमें लगभग ३००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं और इस कालेज के कभी के विद्यार्थी आज देश में विभिन्न क्षेत्रों में वरिष्ठ पदों को सुशोभित कर रहे हैं, आप अध्यक्ष हैं। शिक्षा का प्रचार-प्रसार अपने देश के घर-घर में हो इसके लिए आप सतत प्रयत्नशील रहते हैं। सौभाग्यसे आप मानसभवन ट्रस्ट के संयुक्तमंत्री हैं। विषम परिस्थितियों में श्री अग्रवाल जी की सलाह एवं सहयोग हमें मिलता रहता है जिससे हम लाभान्वित होते रहते हैं।

आपके रचनात्मक कार्यों का श्रेष्ठ नमूना लखनऊ शहर का बहुचर्चित श्री अग्रसेन विद्यामन्दिर जू० हाई स्कूल है, जिसमें लगभग एक हजार बालक, बालिकायें, प्रशिक्षित अनुभवी चालीस अध्यापिकाओं द्वारा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और जिसका बोर्ड का परीक्षाफल पिछले तीन वर्षों से शत-प्रतिशत रहा है। आपके अथक प्रयासों से इस विद्यालय की निरन्तर प्रगति हो रही है। अभी इस विद्यालय को डिग्री कालेज तक बढ़ाने हेतु लगभग ४६,००० वर्ग फीट का एक और भूखण्ड खरीद लिया गया है, जिसका शिलान्यास उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह के करकमलों द्वारा ९ फरवरी सन् १९८१ को हुआ है। आप अनेकों वर्षों से इसके अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। आप अग्रवाल सभा, लखनऊ के भी सन् १९-७५ से निरंतर अध्यक्ष हैं। आपके कार्यकाल में सभा सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर है। आप गायत्रीब्रह्मचर्याश्रमसंस्कृत महाविद्यालय, वशिष्ठकुण्ड, अयोध्या, के अध्यक्ष हैं। श्री अग्रवाल जी अखिल भारतीय अग्रोहा विकाश ट्रस्ट के भी सदस्य हैं। अखिल भारतीय अग्रवाल सम्मेलन, दिल्ली से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आप पहले दो वर्षों तक इसके मन्त्री तथा सन् ८० से इसके उपाध्यक्ष हैं। आप समाज में व्याप्त कुरीतियों जैसे, विवाह-शादियों में सड़कों पर होने वाले नृत्य, दहेज और प्रदर्शन के प्रबल विरोधी हैं। अग्रवाल समाज के संगठन हेतु आपने सारे भारतवर्ष का अनेकों बार भ्रमण किया है। आपने भारत के पूर्वोत्तर-सीमा-प्रदेशों—मणिपुर, नागालैंड, आसाम, मेघालय, बंगाल, सिक्किम आदि प्रदेशों में घूम-घूम कर अग्रवाल समाज को एकत्रित कर प्रदेश स्तर पर संगठन स्थापित किया। दक्षिण में महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, तामिलनाडु, केरल तथा कर्नाटक आदि प्रदेशों का तीन बार दौरा किया, वहां

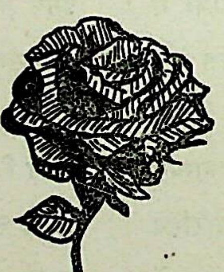
कार्यकर्त्ताओं से भेंट कर सामाजिक कार्यों का अवलोकन किया।

पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा तथा पड़ोसी देश नेपाल के नगरों का अनेकों बार सपत्नीक भ्रमण किया। उत्तर प्रदेश मर्चेन्ट्स फेडरेशन के अध्यक्ष के रूप में व्यापारी समाज की एकता एवं व्यापारी वर्ग पर होने वाले सरकारी दमन तथा उत्पीड़न का विरोध करते हुए व्यापारी संगठों को मजबूत बनाने का आप भरसक प्रयास करते हैं।

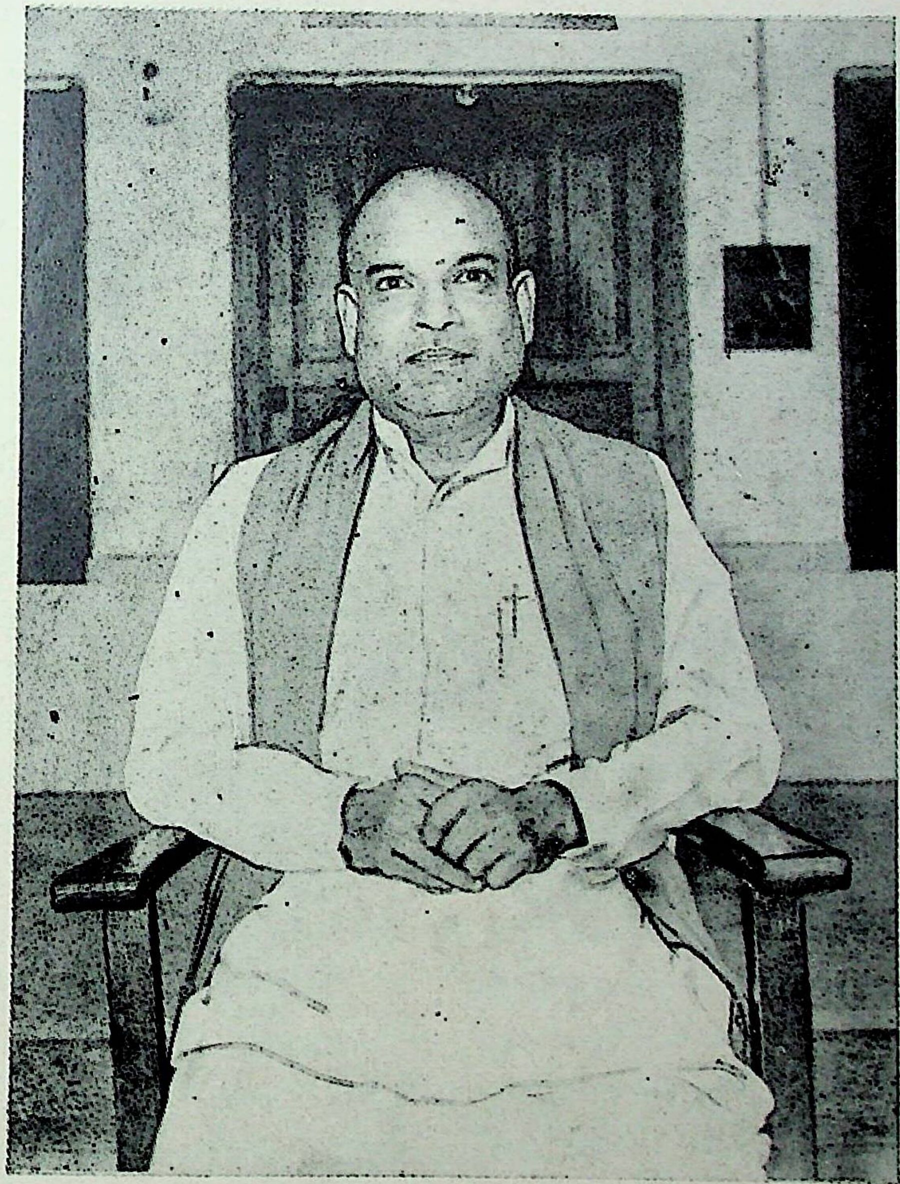
नगर कांग्रेस कमेटी के उपाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश सरकार के भ्रष्टाचार निरोधक समिति के सदस्य तथा सार्वजनिक, शैक्षिक, धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्धित श्री अग्रवाल जी प्रदेश सरकार द्वारा अनेकों महत्त्वपूर्ण समितियों में मनोनीत किये गये हैं। अभी हाल ही में, प्रदेश सरकार ने इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें वित्तीय सलाहकार समिति का सदस्य मनोनीत किया है।

पारिवारिक जीवन में पूर्णतः भारतीय संस्कृति और विचारों को आप स्थान देते हैं। १७ सितम्बर सन् १९३० को जन्मे श्री अग्रवाल जी के पांच सुयोग्य पुत्र हैं। आपके तृतीय पुत्र श्री दिलीपकुमार अग्रवाल, एम० काम०, एल०एल०बी, एडवोकेट उच्च न्यायालय में वकालत करते हैं और अभी कुछ दिन पूर्व लखनऊ कैन्टूनमेंट बोर्ड के सदस्य के रूप में भारी बहुमत से चुने गये हैं। आपका भरापूरा सम्पन्न शिक्षित परिवार है। आप 'मफ़तलाल ग्रुप आफ मिल्स' के डीलर एवं अन्य प्रमुख वस्त्रों का अच्छा व्यापार करते हैं।

श्री अग्रवाल जी अयोध्या धाम से अधिक प्रेम होने के कारण वर्ष में कई बार यहां आते हैं और समय-समय पर हमें उनकी बहुमूल्य सलाह यथेष्ठ रूप में मिलती रहती है। हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उनका अयोध्या-प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़ता रहे और उनका आगमन निरन्तर होता रहे।



कोषाध्यक्ष



श्री रामदास जालान

श्री रामदास जालान

बाबू रामदास जालान मानसभवन के संस्थापकों और उन्नायकों में से एक हैं। ये सुप्रसिद्ध भगवत्प्रेमी और धर्मपरायण स्व० घनश्यामदास जालान के पुत्र हैं और मानसभवन के ट्रस्टी तथा कोषाध्यक्ष है।

श्री रामदास जालान जी का जन्म संवत् १९८३ में गोरखपुर नगर में हुआ। आपने गोविन्दभवन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा संचालित श्री ऋषिकुल ब्रह्मचर्य्याश्रम, चूरू (राजस्थान) में संस्कृत व हिन्दी अंग्रेजी आदि भाषा तथा साहित्य का अध्ययन किया। धार्मिक साहित्य के प्रति विद्यार्थी जीवन से ही विशेष अभिरुचि आप में थी। गीता और रामायण तथा रामचरित मानस के प्रति विशेष अनुराग हैं। अपने स्वर्गीय पिता जी की धार्मिक प्रवृत्ति से प्रेरित एवं प्रभावित होने के कारण सात्विक आचारों व संस्कारों के पालन में सदैव तत्पर रहते हैं। आपके स्व० पिता जी ने गीताप्रेस की स्थापना में स्व० जयदयालजी गोयनका के साथ प्रमुख सहयोगी की भूमिका निभायी। कल्याण के भूतपूर्व सम्पादक नित्यलीलालीन भाई श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार के साथ सहयोग और सत्संगलाभ का सुअवसर भी आपको बहुत मिल चुका है। आपके भीतर जो भी धर्मानुराग है उसे आप स्व० भाई जी की देन मानते हैं। गोरखपुर नगर में आप कपड़े और कागज का व्यवसाय करते हैं। धार्मिक कार्यक्रमो के आयोजन, सत्संग, तीर्थयात्रा, समाजसेवी संस्थाओं के प्रोत्साहन में आपकी विशेष रुचि है। आपका सामाजिक जीवन विस्तृत एवं व्यस्त है। आप निम्नलिखित संस्थाओं के ट्रस्टी व पदाधिकारी हैं—

ट्रस्टी एवं संयुक्त मंत्री

१. गोविन्दभवन कार्यालय, कलकत्ता।
२. गीताप्रेस, गोरखपुर।
३. कल्याण कार्यालय।
४. गीताभवन स्वर्गाश्रम ऋषिकेश।

ट्रस्टी

१. श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार स्मारक समिति।
२. श्री कुष्ठ सेवाश्रम, गोरखपुर।
३. श्री जालान ट्रस्ट, गोरखपुर
४. श्री भगवान भजनाश्रम वृन्दावन।

इसके अतिरिक्त अन्य कई संस्थाओं के कार्य को देखभाल करते हैं।

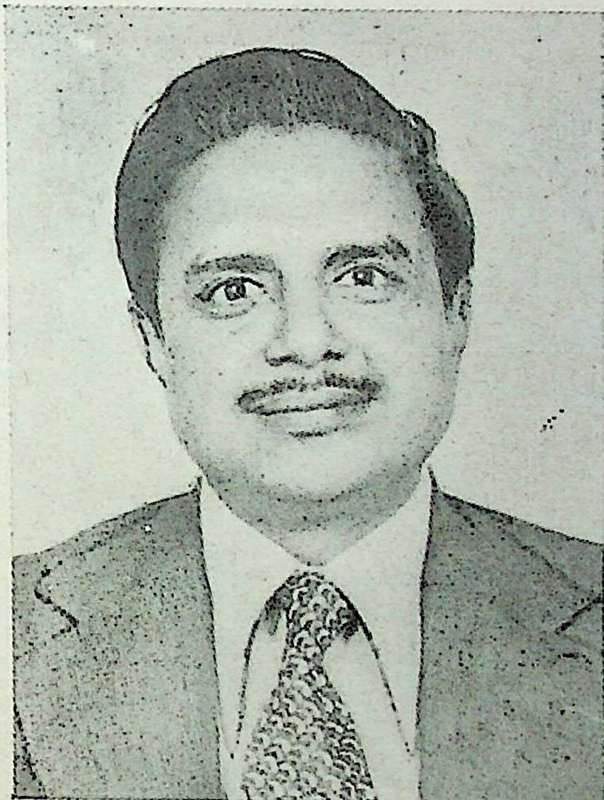
बाबू रामदास जी की अभिलाषा हैं जैसे अब तक का जीवन भगवत्प्रेमी मनीषियों, संतमहात्माओं की सेवा में बीता है वैसे ही शेष जीवन भी बीते। आपका उदार सहयोग मानसभवन को मिलता रहता है यह बड़े हर्ष और संतोष की बात है, आगे भी मिलता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

अभिलाषा

बनूँ तुम्हारे शयनकक्ष का पलँग, बिछौना मैं कोमल ।
बनूँ तुम्हारे सुख-स्पर्श का मन्द-सुगन्ध पवन शीतल ।।
बनूँ तुम्हारे स्नान-जलाशय का मैं शीतल जल निर्मल ।
बनूँ तुम्हारे धारण करने का मैं पीत-वस्त्र उज्ज्वल ।।
बनूँ तुम्हारी माला का मैं सुन्दर सुरभित सुमन परम ।
बनूँ तुम्हारा कण्ठहार मैं, रहूँ झूलता सुन्दरतम ।।
बनूँ तुम्हारे भोजन का मैं रुचिकर मधुर स्वाद रसमय ।
बनूँ तुम्हारी लीला का मैं नित्य उपकरण लीलामय ।।

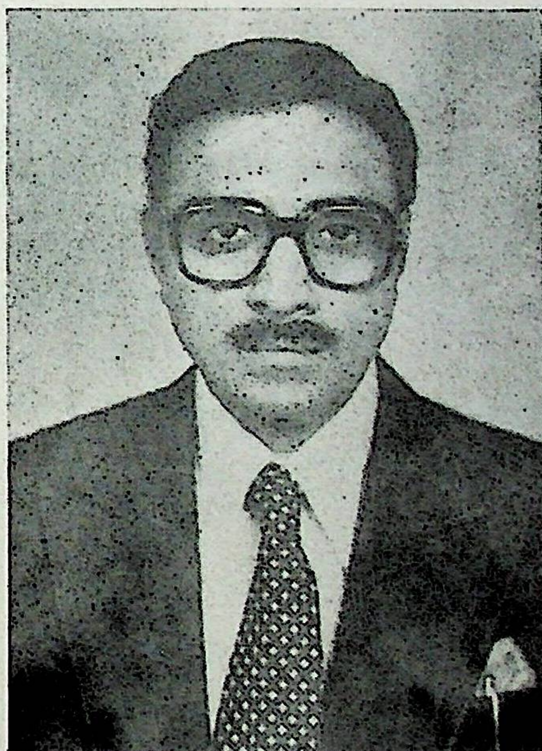
—'भाईजी'

ट्रस्टी



श्री साधो राम वंशल

ट्रस्टी



श्री सत्य नारायण जालान

श्री सूरजभान अग्रवाल

श्री सूरजभान अग्रवाल श्रीरामचरित मानस भवन के ट्रस्टी और सहयोगी हैं। आपका अनेक समाज सेवी संस्थाओं से सम्बन्ध है। आप अग्रवाल सभा छावनी के अध्यक्ष हैं तथा अग्रवाल-विद्यामन्दिर, लखनऊ, के उपाध्यक्ष हैं; इसके अतिरिक्त अनेक संस्थाओं की प्रबन्ध समिति और कार्यकारिणी के सदस्य भी हैं।

आपका जन्म फाल्गुन सुदी द्वादशी सं. १८९२ वि० को कावी हरियाणा में हुआ। २५ वर्ष तक आप सेना में ठेकेदारी के पद पर रहे हैं और अब ख्यातिप्राप्त व्यवसायी हैं तथा लखनऊ के सम्भ्रांत नागरिक हैं। आपका आवास स्थान पुराना किला, गणेश भवन, लखनऊ है। अयोध्या से आपका हार्दिक लगाव है। मानस भवन के विकास हेतु आप सक्रिय रहते हैं।

श्री सत्यनारायण जालान

श्री सत्य नारायण जालान जी मानस भवन के कर्मठ ट्रस्टी हैं। आपका जन्म चटगांव में हुआ। पिता जी का नाम श्री ओंकार मल जालान हैं। आप राजस्थान के नवलगढ़ के रहने वाले हैं और एक कुशल व्यापारी और सम्भ्रात नागरिक हैं। अनेक सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं से आपका सम्बन्ध है। अपने धर्मानुराग के कारण ही आपका आत्मीय सम्बन्ध मानस भवन से है। श्री जयदयाल जी डालमिया के, जो धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र के सुप्रसिद्ध लोकसेवी हैं, आप संबन्धी हैं। मानस भवन को अपनी प्रगति के लिए आप से बड़ी आशाएँ हैं। आपके द्वारा रोगियों के लिए दवा का सहयोग बराबर दिया जाता है। मानस भवन में एक होमियोपैथिक औषधालय भी इनके प्रयत्न से चल रहा।

प्रार्थना

विपत्ति में मेरी रक्षा करो--यह मेरी प्रार्थना नहीं है। (केवल यही हो कि) मैं विपत्ति से डरूं नहीं।

दुःख और व्यथित चित्त को तुमने सान्त्वना नहीं दी, तो न सही (केवल यही हो कि) मैं दुःख को जीत सकूं।

यदि मेरा कोई सहायक न मिले तो ऐसा हो कि मेरा अपना बल न टूटे, संसार में यदि क्षति ही होती रहे और मैं बचना ही पाता रहूँ तो भी ऐसा हो कि मैं हार न मानूँ।

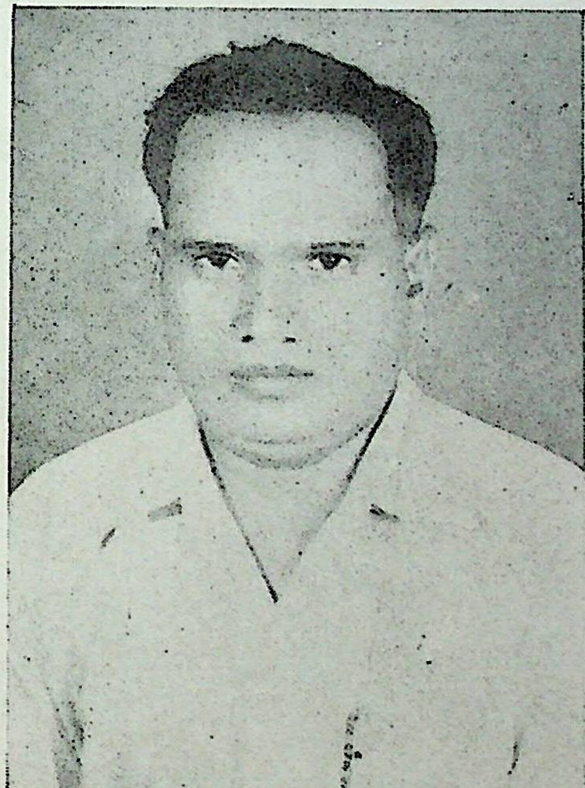
तुम मेरी रक्षा करोगे, ऐसी मेरी प्रार्थना नहीं है। (केवल यही हो कि) मुझमें इतनी शक्ति हो कि मैं तैर सकूं।

मेरा भार हलका करके तुमने सान्त्वना नहीं दी तो न सही। (केवल यही हो कि) मैं स्वयं उसे ढो सकूं।

सुख के दिनों में मैं सिर झुका कर तुम्हारा ही मुख पहचान लूंगा। दुःख की रात को जब सारी पृथ्वी मुझे धोखा दे (उस दिन ऐसा हो कि) मैं तुम्हारे ऊपर सन्देह न करूँ।

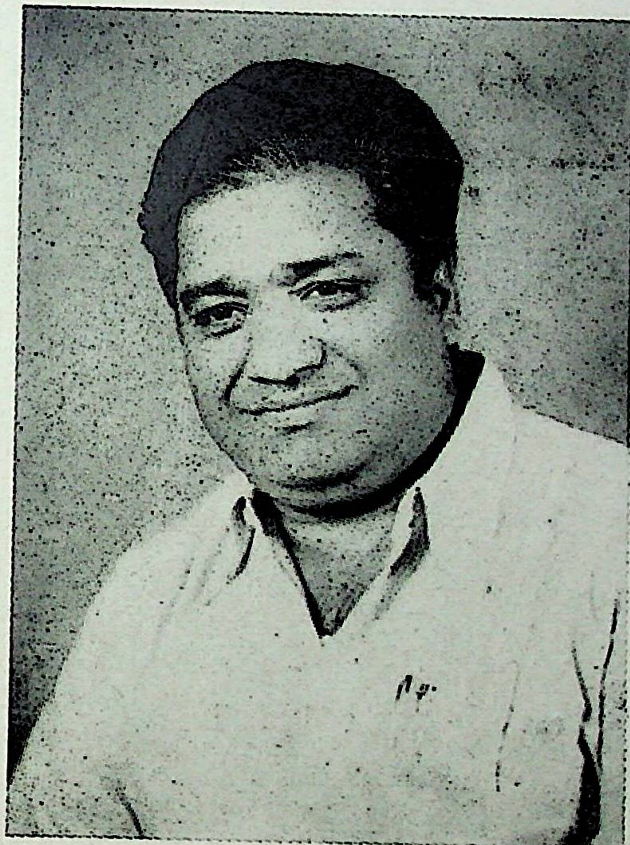
--रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ट्रस्टी



श्री सूरज भान अग्रवाल

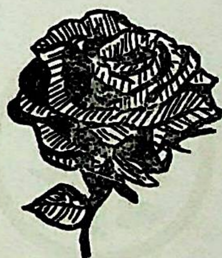
ट्रस्टी



श्री कुंजबिहारी पालड़ीवाल

श्री कुंजबिहारी पालड़ीवाल

श्री कुंजबिहारी पालड़ीवाल मानसभवन के ट्रस्टी हैं। ये श्री सीनारामजी पालड़ीवाल के पुत्र हैं। इनका जन्म २८ फरवरी १९३८ ई० को चटगाँव में हुआ। ये आरम्भ से आस्तिक, धर्मानुरागी और समाजसेवी प्रकृति के हैं और विभिन्न कार्यों एवं संस्थाओं के माध्यम से लोकहित में लगे रहते हैं। पालड़ीवाल जी पूर्वांचल के कर्मठ व्यवसायी और गोरखपुर के सम्भ्रान्त नागरिक हैं। इन दिनों आप राधा माधव सेवा संस्थान, गीतावाटिका के मंत्री हैं तथा राधाकृष्ण साधनामंदिर और आयुर्वेद सेवा संस्थान, गोलघर, गोरखपुर के सदस्य हैं। आपको ट्रस्टी के रूप में पाकर मानसभवन को बड़ी आशाएं हैं।

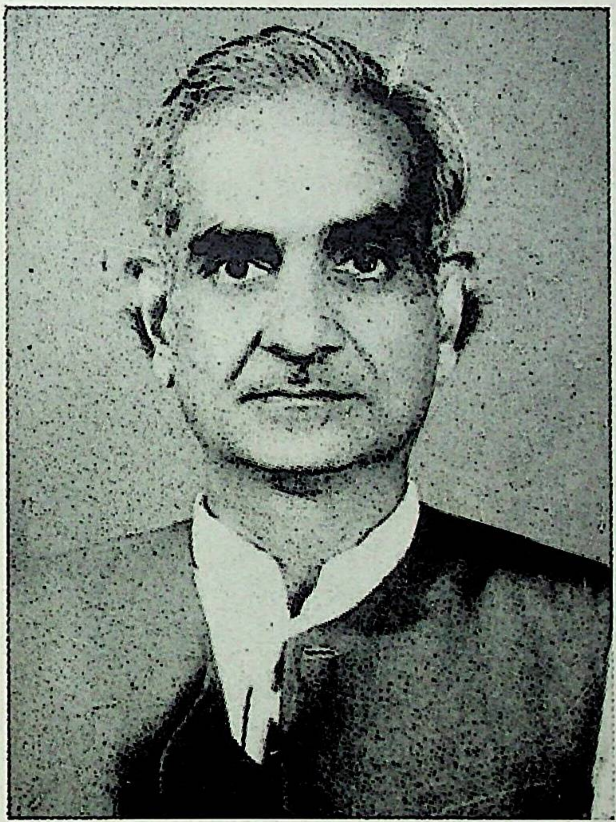


श्री मदनलाल जालान

श्री मदनलाल जालान, श्री द्वारकादास जालान के पुत्र हैं। आपका जन्म संवत् १९८३ में गोरखपुर में हुआ। आप मानसभवन के नये ट्रस्टी हैं।

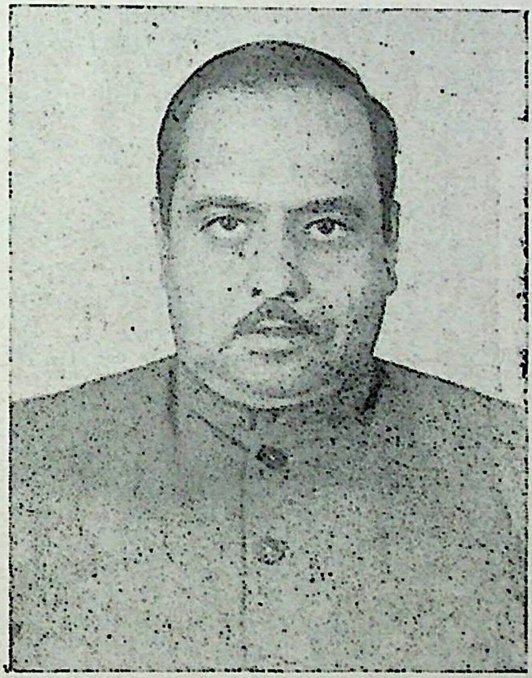
मदनवाबू शान्त और उदार स्वभाव के व्यक्ति हैं। धार्मिकता और सेवाभावना आपको पारिवारिक संस्कार के रूप में मिली हुई है। अपनी कर्मठता एवं दायित्त्व-क्षमता के कारण आप विभिन्न पदों और संस्थाओं से संबद्ध रहे हैं। गोरखपुर नगरपालिका के सदस्य के रूप में, सरस्वती शिशुमंदिर की कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में तथा पूर्वांचल बाणिज्य उद्योग संघ की कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में आपने प्रसंशनीय समाजसेवा की है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के भी आप सक्रिय कार्यकर्ता रहे हैं। पूर्ण विश्वास है कि मदनवावू मानसभवन की उन्नति में भी विशेष भूमिका निभायेंगे।

ट्रस्टी



श्री मदनलाल जालान

ट्रस्टी



श्री राम निरंजन बूबना

श्री राम निरंजन बूबना

श्री बूबना जी मानस भवन के ट्रस्टी हैं और इस संस्था के शुभचिन्तकों में हैं। इनका जन्म आश्विन सुदी १९८५ वि० में हुआ। आपने कई सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से जनता की बड़ी सेवा की है। फतेहपुर में आपके परिवार की तरफ से एक धर्मशाला, एक आयुर्वेदिक औषधालय और एक वाटर वर्क्स चलाया जाता है। भगवान् भजनाश्रम ऋषिकेश तथा बाबा कालीकमली वाला क्षेत्र ऋषिकेश में आपने धर्मार्थ कई कमरे बनवाये हैं। बूबना जी निम्नलिखित संस्थाओं के ट्रस्टी एवं पदाधिकारी हैं—

१. सभापति, श्री रानीसेवक संघ, बंबई।

२. उपसभापति, श्रीकृष्णलीला संस्थान, बंबई।

३. संरक्षक सदस्य, पिंजरापोल सोसायटी फतेहपुर।

४. ट्रस्टी—ब्रजमोहन बूबना चैरिटी ट्रस्ट, फतेहपुर।

५. ट्रस्टी—ब्रजमोहन रतनलाल बूबना पब्लिक चैरिटी ट्रस्ट।

६. ट्रस्टी—श्री लक्ष्मीनाथ टेम्पिल, फतेहपुर।

७. ट्रस्टी—श्री लक्ष्मीनाथ विद्यालय हा० से० स्कूल, फतेहपुर।

८. ट्रस्टी—श्रीकृष्ण सत्संग भवन, फतेहपुर।

९. ट्रस्टी—श्री रानीसती जी मंदिर, फतेहपुर।

१०. ट्रस्टी—मुजफ्फरपुर आई हास्पिटल मुजफ्फरपुर।

११. ट्रस्टी—श्यामदेव गोपीराम भोतिका धर्मशाला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता।

१२. ट्रस्टी—श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट, अयोध्या।

ब्रजमोहन बूबना पब्लिक चैरिटी ट्रस्ट के अधीन ब्रजमोहन रतनलाल बूबना आई हॉस्पिटल फतेहपुर में १० वर्षों से चल रहा है।

कुछ अनमोल बोल

पुण्य गुप्त रखो, पाप जाहिर करो ।

❀

पापी के जीवन से शान्ति छीन ली जाती है ।

❀

मानसिक पापों की सजा बहुत भारी होती है ।

❀

पाप करो या नहीं, पैसा तो प्रारब्ध के अनुसार ही मिलेगा,
फिर व्यर्थ ही पाप का बोझ क्यों उठाया जाय ।

❀

मन के पापों की खबर चाहे दुनिया को न हो, प्रभु को तो उनकी खबर होती ही है।

❀

पाप न करना ही महान् पुण्य है ।

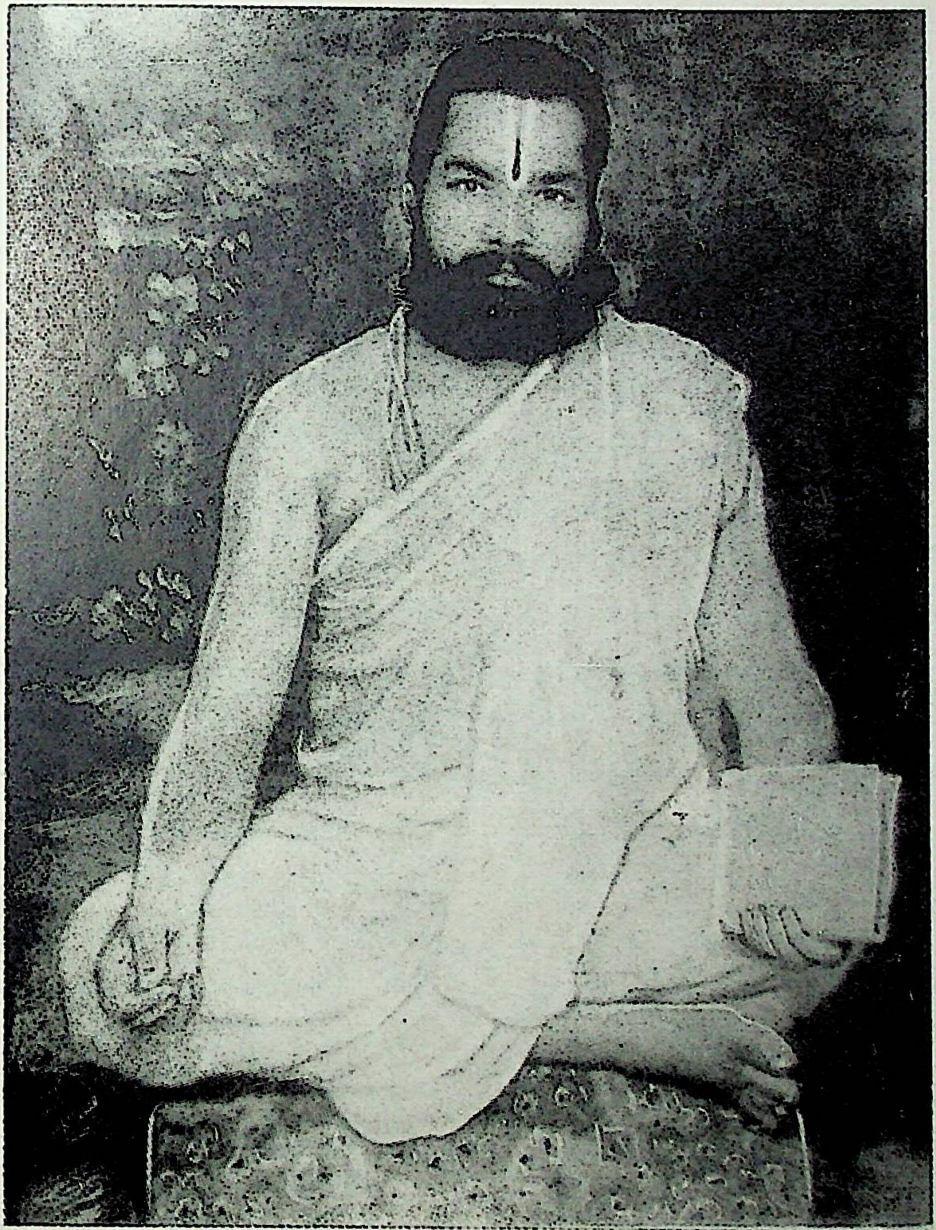
❀

की गयी भूलों को न दुहराने का व्रत लेना पुण्य है ।

❀

मानव जीवन परमदुर्लभ है । इस जीवन को यदि हमने भगवान को प्राप्त किये बिना ही खो दिया तो यह इतनी बड़ी हानि होगी, जिसकी पूर्ति अनेक जन्मों बाद तक नहीं हो पायेगी ।

ट्रस्टी



महन्त श्री हरिहर दास जी

महन्त हरिहरदास जी

महन्त श्री हरिहर दास जी मानसभवन के प्रमुख संस्थापकों में से एक हैं और आरम्भ से आज तक मानसभवन के ट्रस्टी के रूप में सेवारत हैं। आपका जन्म संवत् १९७२ वि० में गोरखपुर जिले की बांसगाँव तहसील में हुआ। सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण धर्म और संस्कृति के प्रति गहरी आस्था आपको विरासत के रूप में मिली थी। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर में आरम्भ हुई। थोड़े दिनों बाद आप अपने भाई के संरक्षण में अध्ययन करने के लिए अयोध्या चले आये और फिर अयोध्या में ही केन्द्रित हो गये।

महन्त हरिहरदासजी ने विद्यार्थी जीवन से ही अपनी सेवा भावना, सूझबूझ और विनम्रता से अपने गुरुजनों को प्रभावित कर लिया था। उन दिनों जन्मस्थान, सीतारसोई मन्दिर के महन्त श्री रामकिशोरदास जी महाराज थे और उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्री रामशरणदास जी को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। १९ वर्ष की अवस्था में महन्त हरिहरदास जी ने श्री रामशरणदास जी से ही दीक्षा ग्रहण की थी। महात्मा श्री रामशरणदास को किसी ज्योतिषी के द्वारा अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था और उन्होंने उसके पूर्व ही लिख दिया था कि स्थान को जिस भाव से गुरु जी ने मुझे दिया है उसी भाव से वापस ले लें। महन्त रामकिशोरदास जी के जीवनकाल में ही श्री रामशरणदास जी का स्वर्गवास हो गया। बाद में महन्त रामकिशोरदास जी ने श्री हरिहरदास जी को नाती चेला के रूप में अपनाकर स्थान का उत्तराधिकार प्रदान किया, तब से आप सफलता पूर्वक इस स्थान का संचालन करते आ रहे हैं।

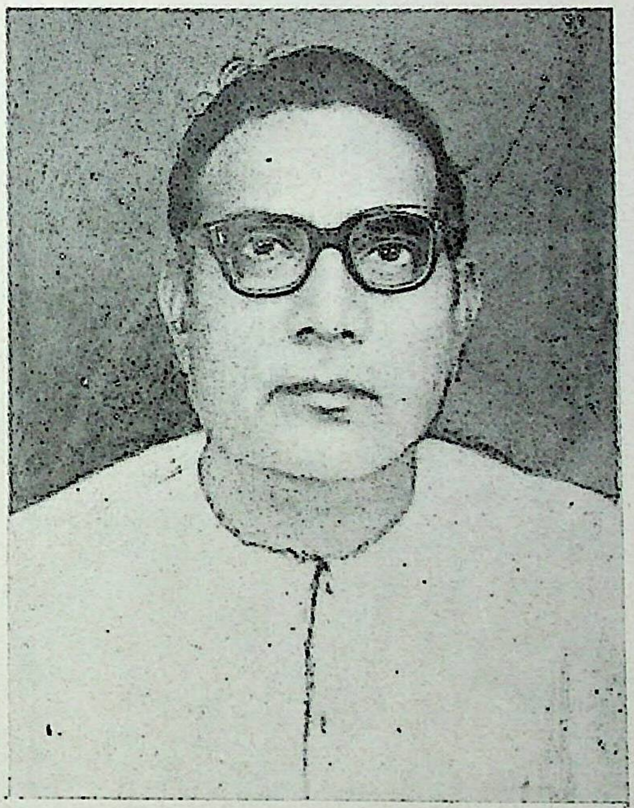
श्री रामजन्मभूमि के ऐतिहासिक विवादों में आप हिन्दूधर्मावलम्बियों के निर्भीक सहयोगी और संरक्षक बने हैं। आप अयोध्या के अग्रगण्य नागरिकों में हैं और अयोध्या के विकास में आपने समय-समय पर उल्लेखनीय कार्य किए हैं। मानसभवन को अयोध्या के लिए कल्याणकारी समझकर आप इसकी स्थापना में मनोयोग से लगे और आज भी इसके विकास हेतु प्रयत्नशील हैं। अयोध्या के कई विद्यालयों एवं समाजसेवी संस्थाओं में आप सदस्य एवं पदाधिकारी हैं। वशिष्ठकुंड के जीर्णोद्धार के लिये बनाये गये ट्रस्ट के भी आप ट्रस्टी रहे थे और बाद में आप ने संस्था के हित में सोचविचार कर त्यागपत्र दे दिया। धर्मानुराग और समाजसेवा आपके व्यक्तित्व की विशेषता है। आप जैसे उदार, अनुभवी एवं व्यवहारकुशल को ट्रस्टी के रूप में प्राप्त करना मानसभवन के लिए विशेष प्रसन्नता की बात है।

श्री परमानन्द गोयल

श्री परमानंद गोयलजो श्रीरामजी गोयल के पुत्र हैं और हिसार, हरियाणा के निवासी हैं। सामाजिक हित के कार्यों में व्यस्त रहना गोयलजी की विशेष अभिरुचि है।

गोयल जी हरियाणा चैरिटेबुल सोसायटी, मारवाड़ो रिलीफ सोसायटी, विशुद्धानन्द हास्पिटल, हरियाणा नागरिक संघ, वीर अभिमन्यु क्लब, काशी विश्वनाथ सेवा समिति, बड़ा बाजार कलकत्ता, कुमार सभा पुस्तकालय, संत साहित्य प्रकाशन, श्री भगवत्प्रिय भजनाश्रम आदि अनेक संस्थाओं के पदाधिकारी एवंसदस्य के रूप में सेवारत हैं। मानसभवन से आपका जुड़ना मानसभवन के लिए सौभाग्य की बात है। आशा है कि गोयल जी एक कर्मठ एवं उदारमना ट्रस्टी की भूमिका में रहकर मानसभवन के उन्नयन का पुण्य कार्य करते रहेंगे।

ट्रस्टी



श्री परमानन्द अग्रवाल

बाबा श्री रामलखनशरण जी

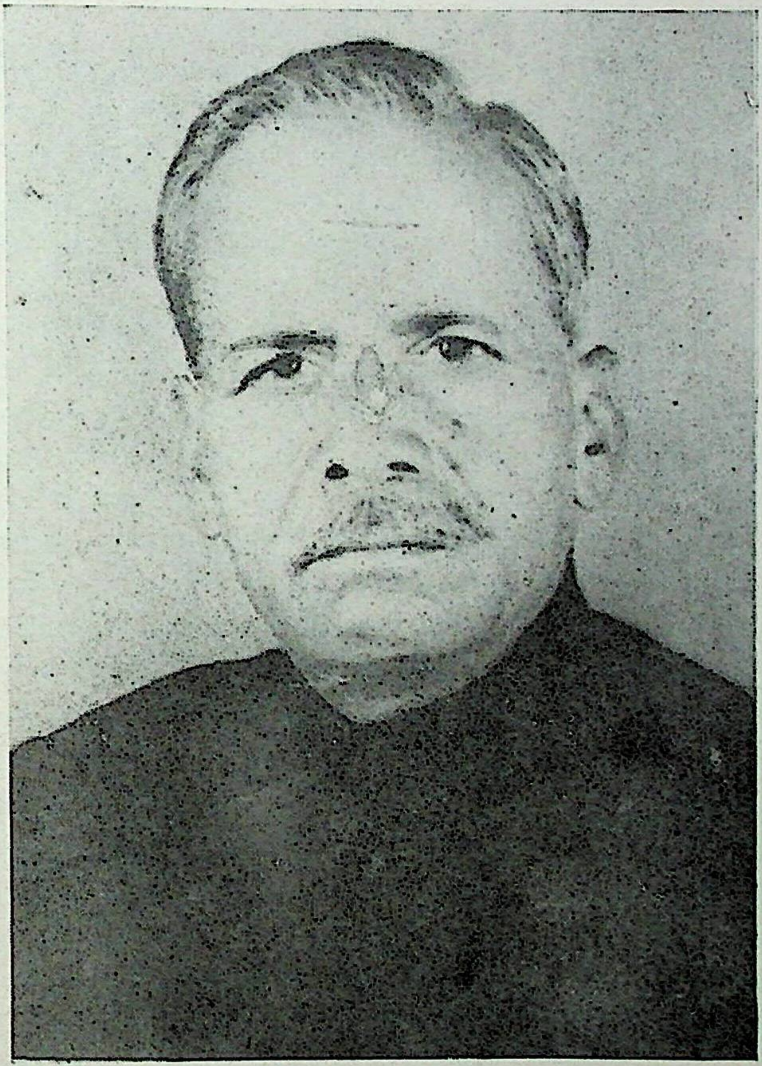
आपका जन्म १९१६ ई० में विहार प्रान्त के जनपद सीतामढ़ी के अन्तर्गत पूपरी ग्राम में हुआ। आपके पिता श्री निरस महतो जी अपने क्षेत्र के बड़े सम्पन्न व्यक्ति तो थे ही, एक धर्म परायण व्यक्ति भी थे। वे जनकपुर धाम के रतनसागर स्थान के सुविख्यात सन्तप्रवर आजानुवाहु बाबा नारायणदास जी के शिष्य थे। पिताजी के विशेष प्रयास के वावजूद इनकी विशेष शिक्षा नहीं हो पायी क्योंकि वालकपन से ही ये कुछ विरक्त स्वभाव के थे और मात्र २८ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दिया और अनेक महात्माओं के सत्संग में रहने लगे। इन्हें लोग भगतजी के नाम से जानते थे—और आज भी यही नाम इनका सुविदित है। कुछ दिनों तक जनकपुर, मिथिला में रहे तथा सन्तप्रवर बाबा वैदेहीशरण जी महाराज तथा सन्तमणि श्री मोदलताजी के सान्निध्य में रहे। आपके भगवन्नामानुराग से ये सन्त बहुत प्रभावित थे। श्री जनकनन्दिनी शरण जी महाराज आपकी इस विशेषता पर रीझ कर आपको त्रिरौली से अयोध्या ले आये और २७ दिसम्बर १९४९ से श्री राम जन्मभूमि मन्दिर पर चल रहे अखण्ड कीर्त्तन का भार आपको सौंपा। तभी से आज तक ये बड़ी निष्ठा से इस महान् पुण्य के कार्य का संचालन बड़ी तत्परता और लगन से करते आ रहे हैं।

मानसभवन की स्थापना के स्वप्न को मूर्तरूप प्रदान करने में इनका बड़ा ही सहयोग रहा है। श्रीराम जन्मभूमि के विवाद के समय से ही इनका सम्वन्ध स्व० श्री के० के० नायर से बड़ा ही मधुर रहा। स्व० श्री नायर जी की प्रेरणा से ही श्री रामजन्मभूमि के पास का स्थल लट्टूमहल और उसके पार्श्ववर्ती वीरान जंगली भूभाग १९४७ ई० आपने खरीदा था। फैजाबाद निवासी श्री राधेश्याम अग्रवाल (वर्तमान मंत्री), श्री श्रीराम रस्तोगी और श्रीनायर साहव की प्रेरणा से बाबा श्री रामलखनशरण जी ने एक ट्रस्ट का निर्माण कर अपने सहज संतोचित औदार्य से यह जमीन मानसभवन की स्थापना के लिए ट्रस्ट के आधीन कर दी, जिस स्थान पर और भी जमीन लेकर आज भवन की सुन्दर इमारतें खड़ी हैं। आज भी बाबा श्री रामलखनशरण जी इस भवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये अथक परिश्रम करते हुए अपना पूर्ण सहयोग देते रहते हैं। उनके सहयोग से भवन की दिनानुदिन प्रगति होती रहेगी ऐसी आशा स्वाभाविक ही नहीं प्रत्युत सर्वथा औचित्य पूर्ण है।

अखण्ड रामनाम सकीर्तन के संचालन के अतिरिक्त श्री बाबा रामलखन शरण जी वर्ष में अनेक अवसरों पर विशेष उत्सवों का भी आयोजन करते रहते हैं। श्रीरामजन्मभूमि की वर्षगांठ के शुभावसर पर प्रतिवर्ष

श्री सीताराम जी की, हाथी पर सवार, झांकी नगर-परिक्रमा करती है, जिसका पूर्ण आयोजन-भार श्री वावा जी ही वहन करते हैं। सन् १९६५ ई० में मानसभवन के प्रांगण में ही एक अभूतपूर्व श्रीरामयज्ञ का आयोजन भी श्री वावा जी के ही प्रयास से सम्पन्न हुआ—पुनः १९६९ ई० में भी इस यज्ञ की आवृत्ति हुई जो आज भी जनजन के मुख पर बहुचर्चित विषय हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष कार्तिक और चैत्रमास के शुक्लपक्ष में श्रीमानस के नवाह्न पाठ, भंडारा और अनेक वृहत् धार्मिक आयोजन करवाते रहते हैं। श्री वावाजी का सम्पूर्ण जीवन त्यागमय है—साथ ही अनुकरणीय भी। ऐसे समर्पित आत्माओं का सहज स्नेह मानसभवन को मिलता रहता है यह सौभाग्य की बात है। कामना ही नहीं वरन् विश्वास है कि श्री वावा जी के वरदहस्तों की छाया सर्वथा उन्मुक्त रूप से सदा मानसभवन के ऊपर बनी रहेगी।

ट्रस्टी



श्री गोपाल सिंह "विशारद"

ठा० गोपाल सिंह 'विशारद'

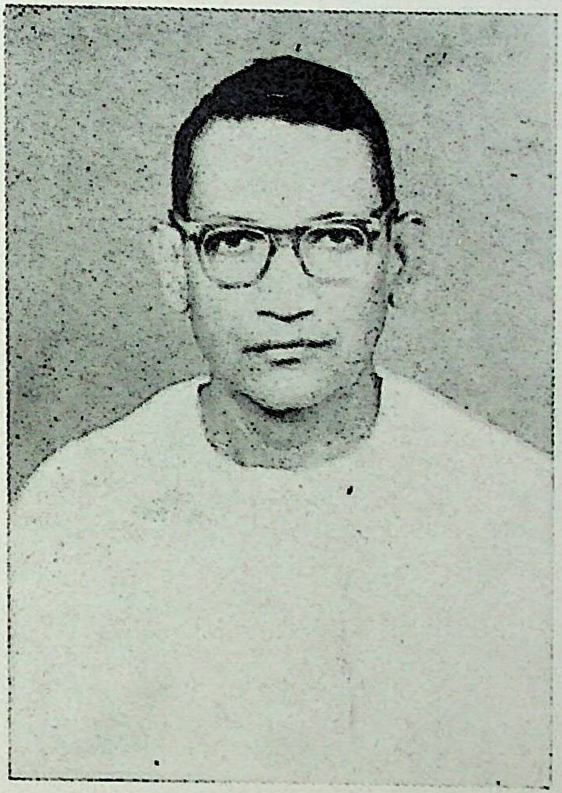
श्री विशारद जी का जन्म उत्तर प्रदेश के जालौन जिले में १५ अक्टूबर सन् १९०३ ई० में हुआ। आपके ताऊ का नाम ठा० माधव सिंह कुशवाहा तथा पिता का नाम ठा० गिरिधारी सिंह। विशारद जी को पाँच वर्ष की आयु में ही मातृशोक सहना पड़ा। इनके पिताजी पुलिस विभाग में काम करते थे। १२ वर्ष तक शिक्षा विशारद जी ने अपने जन्म स्थान गोपालपुर (जालौन) में ही प्राप्त की। लघु माध्यमिक स्तर की शिक्षा आपने राजा बहादुर शिवमंगल सिंह के संरक्षण में मैनपुरी में प्राप्त की।

समथर राज्य (बुन्देलखण्ड) के महाराजा के चचेरे भाई राजा विजय बहादुर सिंह के आप आत्मीय थे, इसलिए बाद में समथर में ही रहने लगे थे। राज्य की ओर से इन्हें तीन मकान और २०० बीघा कृषि योग्य भूमि प्राप्त हुई थी। राज्य के जुडीशियल सेक्रेटरी पं० श्री कृष्ण तिवारी से आपकी घनिष्टता हो गई और उन्हीं की प्रेरणा से आपने कानून की शिक्षा प्राप्त की और वकालत करना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों आपने साहित्य सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा तथा उत्तमा परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण की थीं। सन् १९२७ में समथर में ही विशारद जी का विवाह हुआ। सन् १९३८ में दैवात् राजा विजय बहादुर सिंह का स्वर्गवास हो गया। उनकी रानी के गुजारे के प्रश्न को लेकर महाराजा और उनमें विवाद हो गया, इन्हें रानी साहिबा का पक्ष लेना पड़ा। फलतः समथर के महाराजा (रूलर) से इनका विरोध हो गया। ये समथर से नैगाव छावनी गये और डेढ़ वर्ष बाद वहीं से अयोध्या चले आये। इन दिनों विश्व युद्ध चल रहा था। स्वाधीनता मिलने के पश्चात् राष्ट्र में राज्यों का विलीनीकरण हो गया और विशारद जी का समथर के महाराजा से सम्बन्ध सामान्य हो गया।

अयोध्या में विशारद जी का सामाजिक जीवन और व्यापक बना। ये जिला हिन्दू महासभा, फैजाबाद के महामंत्री भी बनाये गये। हिन्दू धर्म सम्बन्धी विभिन्न मांगों और आन्दोलनों को इसी मंच से आपने प्रस्तुत किया और आपको चार बार जेल यात्रा करनी पड़ी। श्रीराम जन्मभूमि वाला मामला भी आपने इसी मंच से उठाया था, जिसमें अपने ४ साथियों के साथ आपको जेल यात्रा करनी पड़ी। आपकी गिरफ्तारी से फैजाबाद और अयोध्या की जनता इतनी क्षुब्ध हो उठी थी कि स्थानीय प्रशासन परेशान हो उठा और डिप्टी कलेक्टर ने आपको फौरन मुक्त किया। चौक फैजाबाद में तथा अयोध्या में आपका अभिनन्दन किया गया। कलेक्टर, फैजाबाद ने श्रीरामजन्मभूमि के भीतरी चौघेरे में जूता चप्पल पहन कर जाने पर प्रतिबन्ध लगाया और कथा-कीर्तन की आज्ञा प्रदान की। २३ दिसम्बर १९४९ को एक चामत्कारिक घटना घटी और भगवान् श्रीराम ने मूर्ति रूप में दर्शन दिया। विशारद जी इस पवित्र स्थान को मुक्त कराने के लिए बराबर लगे रहे। १६ जनवरी १९५० को इन्होंने सिविल जज के न्यायालय में वाद पत्र प्रस्तुत कर दिया। न्यायालय ने निषेधात्मक आदेश जारी कर दिया और एक रिसीवर की नियुक्ति कर दी जो अभी भी काम कर रहे हैं। मुकदमा अभी भी चल रहा है और विशारद जी आज भी कृतसंकल्प होकर संघर्षरत हैं।

श्री राम जन्मभूमि में आज हिन्दू धर्मावलम्बी कीर्तन-पूजन, दर्शन कर रहे हैं। इस स्थिति को लाने में जिन चार-पाँच धर्मानुरागी महापुरुषों की विशेष भूमिका रही है, विशारद जी उनमें से एक हैं। वे कहते हैं कि इस कार्य में उस समय के कलेक्टर श्री के० के० के० नैयर, सिटी मैजिस्ट्रेट डा० गुरुदत्त सिंह और सहायक सिटी मैजिस्ट्रेट श्री मार्कण्डेय सिंह का अपूर्व योगदान था जो अविस्मरणीय है। श्री राम जन्मभूमि के इतिहास के साथ विशारद जी का तथा उक्त महानुभावों का नाम हमेशा के लिए जुड़ गया है।

भूतपूर्व ट्रस्टी



स्व० श्री बनारसीलाल सर्राफ

स्व० बनारसीलाल सर्राफ

आपका जन्म कातिक सुदी ४ सम्वत १९७१ को हुआ था। सन् १९४२ के आन्दोलन में अपने स्वर्गीय पिता श्री कमला प्रसाद सराफ का सक्रिय सहयोग देने के कारण व्यापार के अस्त-व्यस्त होने की वजह से जनकपुर रोड (जिला मुजफ्फरपुर-विहार) छोड़कर पटना सिटी आकर व्यवसाय प्रारम्भ किया। अपनी मेहनत और सूझ-बूझ के कारण जहां व्यापार में तरक्की की वहां समाज में भी अच्छा स्थान प्राप्त किया।

आप नगर के प्रमुख समाजसेवी थे और विभिन्न समाजसेवी एवं व्यापारिक संस्थाओं के सक्रिय सदस्य थे। आपका स्वर्गवास ८-१-१९७७ को हृदय गति रुक जाने के कारण हो गया। आप अपने पीछे चार पुत्र एवं पाँच पुत्रियाँ छोड़ गये हैं।

" हे धरित्रि ! तू इतनी कृपण क्यों है ? हम कितना प्रयास करते हैं- तब जाकर कहीं धान्य प्राप्त कर पाते हैं। यदि तुझे देना ही है तो प्रसन्न होकर, हँस-हँस कर प्रदान कर। हमारे माथे का पसीना एड़ी तक क्यों लाती है ? बिना खोदे धान्य देने में तेरा क्या जाता है ?"

मन्द-मन्द मुसकराकर धरित्री ने कहा–"ऐसा करने से मेरा गौरव तो बढ़ जायगा, पर तेरा गौरव सदा के लिए जाता रहेगा।"

--रवीन्द्रनाथ टैगोर

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥

भूतपूर्व ट्रस्टी एवं निरीक्षक



श्री शालिगराम रस्तोगी

स्व० सालिकराम रस्तोगी

श्री सालिकराम रस्तोगी जी का जन्म सन् १९१८ में हुआ था। आपके पिता जी का नाम अंगद प्रसाद रस्तोगी था जो कि मौजा किंतूर (वदोसरांय) के रहने वाले थे। जमींदारी समाप्त होने के पश्चात् श्री सालिकराम जी फैजावाद में आकर बस गये। शुरू से अन्त तक इनका जीवन संघर्षमय रहा। आप वहुत ही मिलनसार एवं दूसरे के सुख-दुख में आगे से आगे वढ़कर हाथ वटाते थे, विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं में विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए १४ अप्रैल सन् १९७७ को दिवंगत हुए। आप श्री रामचरितमानसभवन के संस्थापक सदस्यों में से एक थे एवं इसके निर्माण में आपका योगदान वहुत ही महत्त्वपूर्ण था। आपकी मृत्यु से इस सरजमीं से एक प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता को हम लोगों ने खो दिया है। हरिश्चन्द्रवशीय रस्तोगी सभा फैजावाद में खजांची का कार्य सुचारु रूप से किया। रामलीला कमेटी चौक वजाजा फैजावाद में उप प्रधान एवं कोषाध्यक्ष पद पर आसीन रहे।व्यापार मंडल फैजावाद में भी आप कर्मठ सदस्य रहे। रामचरितमानसभवन के मंत्री जी के साथ वेंगलोर, मद्रास, हैदराबाद, मदुराई, पान्डिचेरी, रामेम्वरम आदि गये थे।

हे पुजारी ! जिस स्थान पर प्राणों के देव एकाकी जग रहे हैं,
उस मन्दिर के द्वार खोल !
आज मुझे उस देवता के दर्शन करने हैं ।
उस दिन मैं बाहर भटक-भटक कर न जाने किसे खोजता रह गया ।
संध्याकालीन मेरी आरती का पारायण सम्पूर्ण नहीं हुआ ।
पुजारी ! अपनी जीवन-ज्योति से मेरा जीवन-दीप प्रज्ज्वलित कर दे ।
आज मैं अत्यन्त एकांत में पूजा का साज सजाऊंगा ।
उस एकाकी स्थान में, जहां विश्व के शत-शत साधकों ने
पूजा की अनन्त ज्योति प्रज्ज्वलित की है,
वहीं मैं भी अपने एकाकी दीप को प्रज्ज्वलित करूंगा ।

--रवीन्द्रनाथ ठाकुर

निरीक्षक (मानस भवन)

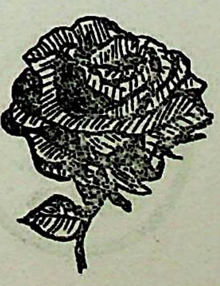


श्री रामनारायण वर्मा

(भूतपूर्व अनॉररी मैजिस्ट्रेट)

श्री रामनारायनलाल वर्मा

श्री रामनारायनलाल वर्मा का जन्म ५ अगस्त सन् १९१६ में उसरौली नामक गांव जनपद जौनपुर में हुआ। जब आप अबोध बालक थे तभी आप के पूज्य पिता श्री नागेश्वर प्रसाद जी तथा माता श्रीमती उमादेवी का स्वर्गवास हो गया। अपने स्व० फूफा रायसाहब रामसरन प्रसाद, ग्राम छीटापट्टी सुलतानपुर के संरक्षण में अर्थशास्त्र की स्नातकोत्तर की डिग्री लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् १९४० में प्राप्त की। थोड़े समय तक एकाउन्टेन्ट जनरल आफिस (A.G. Office) इलाहाबाद में लिपिक थे, तत्पश्चात् साकेत प्रिंटिंग प्रेस, फैजाबाद के मालिक हुए। उनके स्वसुर श्री सन्त रिखेश्वर प्रसाद गिरी उनको प्रेस देकर वैराग्य ले लिए थे। स्वतन्त्रता संग्राम में आप गुप्त रूप से भाग लेते थे और देश के स्वतन्त्र हो जाने पर बारह वर्ष तक इसी जनपद के अवैतनिक स्पेशल मजिस्ट्रेट के पद से इस जनपद की सेवा की। अपने निजी व्यवसाय को भी बहुत आगे बढ़ा कर अपने पुत्र श्री दीपकृष्ण वर्मा को दे दिया। समाज सेवा से आपका बड़ा लगाव था। भारत स्काउट और गाइड के सहायक प्रदेश कमिश्नर तथा जिला स्काउट कमिश्नर बहुत दिनों तक रहे। श्री कन्हैयालाल द्वारा आरम्भ किया हुआ बापू बालिका विद्यालय के संस्थापक अध्यक्ष तथा मैनेजर के पद से विद्यालय को एक इण्टर कालेज का रूप दिया और आज भी उसके विकास में बड़ी रुचि रखते हैं। महावीरप्रसाद लखनलाल आदर्श इण्टर कालेज के अध्यक्ष तथा व्यवस्थापक रहे और आज भी उसकी प्रगति में रुचि रखते हैं। रोटरी क्लब फैजाबाद के आप सक्रिय सदस्य हैं। कामता प्रसाद सुन्दरलाल साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद के सहायक मंत्री के रूप में बहुत दिनों से इसके प्रबन्ध में हाथ बटाते रहे हैं। इसी प्रकार अवध संगीतकलाकेन्द्र, अयोध्या के आप अध्यक्ष हैं। श्रीरामचरित मानसभवन ट्रस्ट के आप निरीक्षक हैं तथा दोनों संस्थाओं के विकास में अपना सहयोग प्रदान करते हैं। आपका कहना है कि श्री राधेश्याम अग्रवाल, महामन्त्री श्रीरामचरितमानसभवन ट्रस्ट के ही अथक प्रयास से अयोध्या में इस विशाल मानसभवन का निर्माण हुआ है। उनकी नि:स्वार्थ सेवाओं के लिए अयोध्या-फैजाबाद ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारत उनकी दृष्टि में ऋणी है।



लाला श्रीराम रस्तोगी

लाला श्रीराम रस्तोगी का जन्म ३ सितम्बर १९०३ ई० को फैजाबाद में हुआ। आपके पिता जी का नाम श्री कामता प्रसाद रस्तोगी था। आप फैजाबाद के गण्यमान्य व्यवसाइयों में हैं। समाज सेवा और धार्मिक निष्ठा इनमें वंशानुगत है।

फैजाबाद में सभी अनुष्ठानों में–सामाजिक हो या धार्मिक—आपका नाम पहले लिया जाता है। अब तो ये काफी वृद्ध हो चुके हैं, श्री रस्तोगी जी समाज के सबसे बयोवृद्ध व्यक्ति हैं–इनकी सूझबूझ अभी भी पूर्ववत् प्रखर है। अभी भी सभी तरह की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिये आप को स्मरण किया जाता है–और आप उचित समाधान भी तत्काल खोज निकालते हैं। स्थानीय संस्थाओं के तो आप-मार्गदर्शक ही हैं। व्यापार कौशल के साथ-साथ व्यावहारिक कुशलता इनको प्राकृतिक देन है।

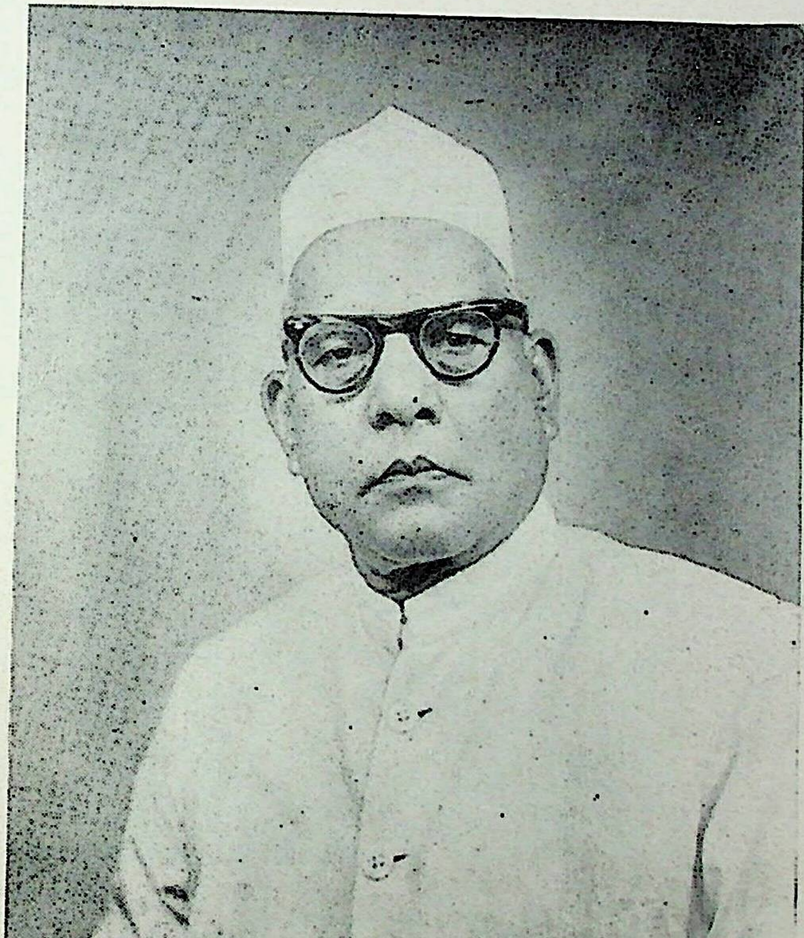
बजाजा रामलीला कमेटी, फैजाबाद, के आप अनेक वर्षों तक कोषाध्यक्ष रहे।

श्रीरामचरितमानस भवन के संस्थापक ट्रस्टियों में आप एक प्रमुख व्यक्ति हैं। इस भवन के भी आप प्रथम कोषाध्यक्ष रहे। कुछ वर्षों कोषाध्यक्ष का पदभार सम्हालने के बाद आपने अस्वस्थ रहने के कारण दि० २९-३ ६९ को त्यागपत्र दे दिया, जिनके स्थान पर श्री रामदास जी जालान को कोषाध्यक्ष का भार सौंपा गया।

आप शिक्षण संस्थाओं में विशेष रुचि लेते हैं। उल्लेखनीय है कि आप सरस्वती विद्यालय, फैजाबाद, एवं गायत्री ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत महाविद्यालय, वशिष्ठकुण्ड, अयोध्या के सक्रिय सदस्य हैं तथा इन संस्थाओं के कार्यकलापों में हार्दिक सहयोग देते रहते हैं।

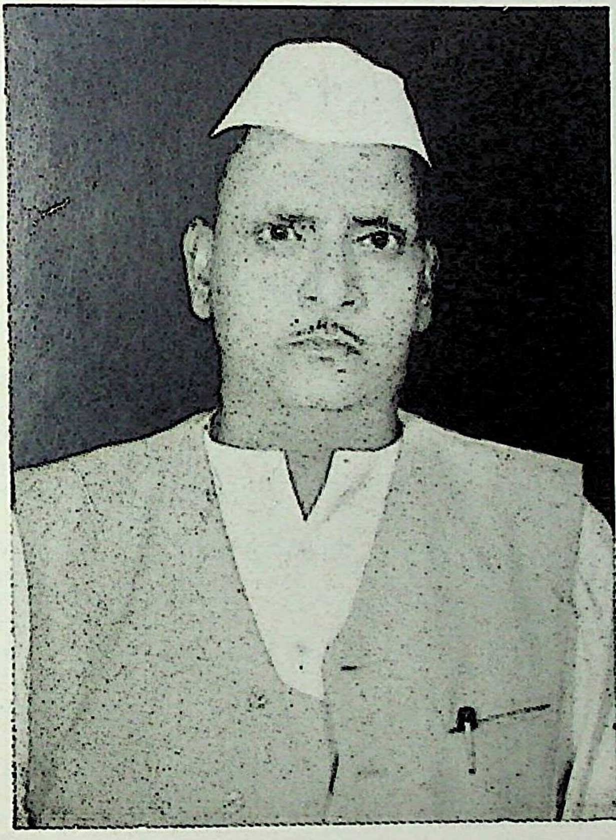
आप व्यापार मण्डल के भी एक सम्मानित सदस्य हैं तथा श्रीराम राधारमन क्लाथ मर्चेन्ट्स, (बजाजा, फैजाबाद) नामक फर्म के संस्थापक हैं।

ट्रस्टी भूतपूर्व



श्री श्रीराम रस्तोगी

निरीक्षक



श्री फूलचन्द अग्रवाल

श्री फूलचन्द अग्रवाल

श्री फूलचन्द जी अग्रवाल का जन्म ई० सन् १९२९ में जुलाई मास में लखनऊ के एक सामान्य अग्रवाल परिवार में हुआ। आपके पितामह स्व० लाला दौलतराम तत्कालीन पंजाब प्रांत (वर्तमान हरियाणा) रेवाडी के निवासी थे। कालान्तर में वे रेवाडी से लखनऊ आ गये अपनी नौकरी के सिलसिले में। वे चीफकोर्ट में पेशकार के पद पर थे। अन्ततः यहीं के निवासी हो गये और यहीं पर समस्त परिवार को भी बुला लिया। आपके पिता श्री खेमचन्द जी अग्रवाल ने भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये बहुत प्रयास किया। आप धार्मिक वृत्ति के एक सद्गृहस्थ हैं और अपने आश्रित जनों की अच्छी देख-भाल करते हैं। इनका एक भरा पूरा परिवार है।

श्री फूलचन्द जी अपने तीन भाइयों में सबसे बड़े हैं। इनके दो छोटे भाई–श्री गुलाबचन्द अग्रवाल और श्री मोहनलाल अग्रवाल अपने अलग-अलग काम में लगे हुए हैं। श्री फूलचन्द जी को व्यवसाय में अधिक रुचि थी और अपने व्यावसायिक कार्यों में लगन के साथ जुट गये। क्रमशः रोजगार में उन्नति होती रही और सन् १९६५ में फूलचन्द मोहनलाल सर्राफ फर्म की स्थापना की; बाद में सन् १९७२ में फर्म के बटवारे के बाद फूलचन्द वीरेन्द्रकुमार सर्राफ के नाम से अपना स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। इनकी लगनशीलता और कर्मठता का बल पाकर यह व्यवसाय चल निकला और कुछ ही समय में व्यवसाय में अच्छी सफलता के साथ व्यावसायिक प्रतिष्ठा और सामाजिक संपर्क में चार चाँद लगने लगे। इनकी कार्य-कुशलता, सुन्दर लोक-व्यवहार दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे। धीरे-धीरे आपका लोक-सम्पर्क बढ़ने लगा और इन्होंने अपने समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। समाज सेवा को इन्होंने अपना जीवन लक्ष्य बनाया है। आप बड़े निर्भीक व्यक्ति हैं और कैसी भी विषम परिस्थिति में धीरज खोने वाले भी नहीं हैं, अनूठी सूझ-बूझ से किसी भी समस्या का समाधान तत्काल निकाल लेते हैं।

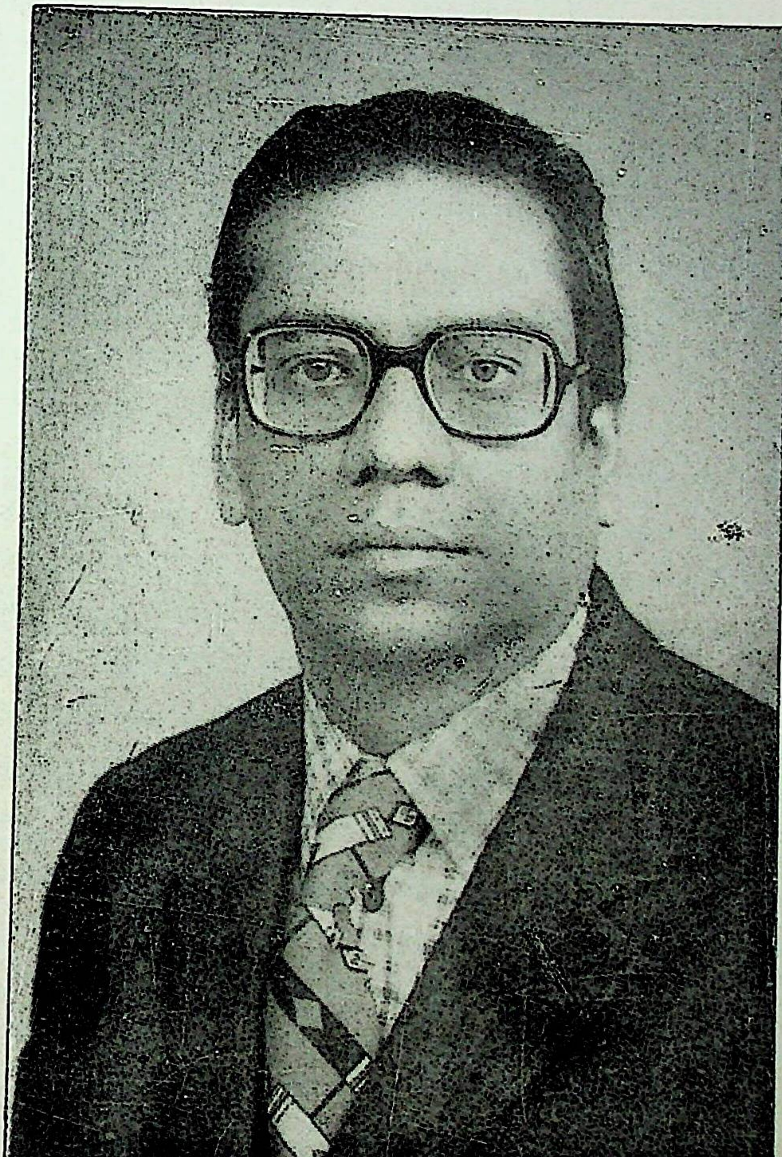
आप एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं और श्री अवध धाम से इनका सहज लगाव है। अपने व्यावसायिक व्यस्त जीवन से भी यह वर्ष में कई बार श्री अवध में अपने इष्ट युगल सरकार के पूजन-अर्चन के लिए अवश्य आते हैं। और जब तक अयोध्या में निवास करते हैं नित्य नियम से पूजन और दर्शन करते हैं।

आपका एक भरा पूरा परिवार है। आपके तीन लड़के व तीन लड़कियां हैं। पारिवारिक जीवन इनका बहुत शान्तिमय है।

आप निम्न लिखित धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्थाओं से सक्रिय रूप में सम्बद्ध हैं ।

१. श्री रामचरित मानस भवन ट्रस्ट, अयोध्या—निरीक्षक ।
२. अग्रवाल नवयुवक समाज, चौक, लखनऊ—आजीवन सदस्य ।
३. श्री शिशुवाल रामलीला समिति, फूलवाली गली, चौक, लखनऊ—संरक्षक ।
४. महाराजा अग्रसेन इण्टर कालेज, लखनऊ—सदस्य ।
५. गायत्री ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत महाविद्यालय, अयोध्या—सदस्य ।

हमारे मानसभवन परिवार के कर्मनिष्ठ उदारचेता
आजीवन-सदस्य ट्रस्टी



श्री लक्ष्मीकान्त झुनझुनवाला

लक्ष्मीकान्त झुनझुनवाला

श्री लक्ष्मीकान्त जी सार्वजनिक जीवन में अपने विशिष्ट गुणों के कारण इस नगर में ही नहीं बल्कि प्रदेश और देश के दूरस्त क्षेत्रों में भी जाने जाते हैं। आप उदारचित्त धर्मानुरागी स्व० श्री द्वारका दास झुनझुनवाला के पुत्र हैं। आपका जन्म २४ अगस्त १९४२ को हुआ। बचपन से लक्ष्मी बाबू अपनी विस्मयकारी सूझबूझ, अद्भुत कर्मठता और विनम्र व्यवहार के कारण लोकप्रिय रहे। स्नातक कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् आपने पैतृक व्यवसाय को संभाला। अपने अथक परिश्रम और साधना के बल पर आपने उत्तर भारत के इने गिने ख्यातिलब्ध व्यवसायियों में अपना स्थान बनाने में प्रशंसनीय सफलता पायी है। के० एम० शुगर मिल्स मोतीनगर, फैजाबाद, राजा बुलन्द शुगर कम्पनी लिमिटेड रामपुर तथा सनबोर्न कम्पनी लिमिटेड कलकत्ता आदि विशाल व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के आप निदेशक हैं। आफीसर्स क्लब फैज़ाबाद तथा अवध सांस्कृतिक कला केन्द्र के आप संरक्षक हैं। सेठ द्वारकादास मेमोरियल हाईस्कूल मोतीनगर फैज़ाबाद, के० एम० सॉइन्टीफिक रिसर्च सेण्टर मोतीनगर, अग्रसेन समिति फैज़ाबाद, यू० पी० शुगर मिल्स एसोसियेशन लखनऊ, साकेत फिल्म सोसायटी फैज़ाबाद स्टार स्पोर्टस क्लब फैजाबाद आदि संस्थाओं के आप अध्यक्ष हैं। रोटरी क्लब फैंजाबाद, स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज एसोसियेशन: लायन्स क्लब मोतीनगर, ईस्ट यू० पी० शुगर मिल्स एसोसियेशन लखनऊ के आप भूतपूर्व अध्यक्ष है। अभी-अभी आपकी अवध विश्वविद्यालय के सबसे बड़े महाविद्यालय का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद का उपाध्यक्ष चुना गया है। अवध विश्वविद्यालय, सेठ मोतीलाल कालेज झुनझुन तथा आदर्श स्कूल फैजाबाद की वित्तीय समितियों के आप सदस्य हैं। एम० बी० चैरिटी ट्रस्ट, सी० एम० एण्ड सन्स चैरिटी ट्रस्ट, द्वारकाधीश ट्रस्ट के ट्रस्टी के रूप में भी आप उल्लेखनीय समाजसेवा कर रहे हैं।

बाबू लक्ष्मीकान्त जी दायित्वपूर्ण व्यस्तताओं के बावजूद नियमित अध्ययनशील, विचारशील और लोकहितैषी स्वभाव के हैं। नाना प्रकार की सामाजिक संस्थाओं के प्रेरक एवं प्राणस्वरूप लक्ष्मीबाबू दुर्निवार व्यस्तता में भी सार्वजनिक हित के कार्यों को आगे बढ़ाने के लिए सर्व सामान्य के लिए सहज उपलब्ध बन जाते हैं। यही कारण है कि ऐसी संस्थायें आपको प्राप्त करके स्वयं को अपेक्षाकृत अधिक सक्षम और पूर्ण अनुभव करती हैं। यह परम सौभाग्य की बात है कि आप मानस-भवन के उत्थान के प्रति निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। अपनी वंशानुगत सात्विकता, आस्तिकता और उदारता से आपको जो उदात्त प्रकृत्ति प्राप्त हुई है, वह मानस भवन के लिए समय-समय पर उत्कर्ष का आधार बनेगी, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

□

जिनकी पुण्य-स्मृति

❁

हमारी अक्षय-निधि है।

बन राम रसायन की रसिका, रसना रसिकों की हुई सुफला।
अवगाहन मानस का करके, जन मानस का मल जाय टला।
बने सुन्दर भाव की भूमि भली, हुआ भावुक-भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला॥

—हरिऔध



ब्रह्मलीन श्री जयदयाल गोयन्दका
संस्थापक, गीताप्रेस, गोरखपुर



लीलालीन श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार
आदि सम्पादक, कल्याण
गीता प्रेस, गोरखपुर

मानस भवन के प्रेरणा-पुरुष

श्री जयदयाल जी गोयन्दका

श्री जयदयाल जी गोयन्दका का जन्म गोयन्दका परिवार में चुरु (राजस्थान) में हुआ था। आप सादा जीवन और उच्च विचार के प्रतीक थे। आपने गीता प्रेस (गोरखपुर) की स्थापना की। गीता प्रेस के माध्यम से धार्मिक, सांस्कृतिक और लोक-कल्याणकारी साहित्य की जो त्रिवेणी प्रवाहित हुई, उससे कोटि-कोटि मानवों को प्रेरणा और आन्तरिक शांति मिली। आप भक्त, कर्मयोगी, ज्ञानी, संत होने के साथ साथ उच्चकोटि के लेखक और प्रवचनकर्ता थे। व्याख्यान के द्वारा ज्ञानमार्गियों को ज्ञान का रहस्य बताया, भक्तों को भक्ति का मर्म समझाया, कर्मयोगियों को निष्काम कर्म का अद्‌भुत रहस्य बताया। गीता पर वृहत् टीका लिखकर कल्याण के विशेषांक के रूप में गीता तत्त्वांक प्रकाशित किया फिर उसी को पुस्तक रूप में गीता तत्त्व विवेचनी के नाम से गीता प्रेस से प्रकाशित करके असंख्य पथभ्रष्टों को पथ दिखाया। आपने धार्मिक साहित्यको, आर्ष ग्रंथोको सस्ते से सस्ते मूल्य में सुलभ कराया। आपके द्वारा अगणित लोगों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उपकार हुआ है।

मानवमात्र के जीवन को पथ प्रदर्शन करने वाले गीता ज्ञान और साहित्य को साधारण से साधारण जनता तक पहुँचाने का जो कार्य आपने किया है वह आज भी गीता प्रेस कर रही है, यह आपकी ही देन है। मानवमात्र इन सेवाओं को चिरकाल तक कृतज्ञता भरे हृदय से स्मरण करता रहेगा।

श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार

श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार, जिन्हें लोग भाईजी के नाम से जानते थे- गीताप्रेस गोरखपुर के प्राण थे। श्री भाईजी भारतीय संस्कृति और धर्म के एक अमूल्य निधि थे। सनातन धर्म के लिये उन्होंने विश्वकोष का कार्य किया। उच्चकोटि के विद्वान्, प्रवचनकर्ता, लेखक, कवि, सम्पादक, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, नेता और सर्वोपरि सबके सुहृद, सबके सच्चे अर्थ में "भाई जी" थे।

जाति, समाज अथवा धर्म का भेद तो कभी उन्होंने किया ही नहीं। उनका द्वार सभी जातियों, सभी वर्गों, सभी सम्प्रदायों एवं सभी धर्मावलम्बियों के लिये खुला था। विचारों की दृष्टि से यद्यपि वे स्वयं कट्टर सनातनी हिन्दू थे, फिर भी किसी भी सम्प्रदाय से उनका विरोध तो था ही नहीं, सभी सम्प्रदायों के प्रति उनकी आदर बुद्धि थी, सभी सम्प्रदायों के लेखकों को सम्मान पूर्वक कल्याण में स्थान देते थे। उच्चकोटि के प्रेमी भक्त होने के

साथ-साथ वे आदर्श कर्मी, ज्ञानी एवं योगी भी थे। श्री भाई जी परम उच्चकोटि के संत होने के साथ उच्चकोटि के लेखक, कवि एवं ग्रन्थकार थे। अपनी शक्ति शालिनी लेखनी से भी असंख्य पथभ्रष्टों को पथ दिखाया, जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा शांत की, भक्तों को भक्ति का मर्म समझाया, ज्ञान मार्गियों को ज्ञानरहस्य बताया। उच्चकोटि के लेखक एवं शास्त्र मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ-साथ पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उन्होंने सर्वोच्च कीर्तिमान स्थापित किया तथा सस्ते से सस्ते मूल्य में उच्चकोटि के लोक-कल्याणकारी आध्यात्मिक एवं नैतिक साहित्य को अत्यन्त अल्प मूल्य में जनसाधारण को सुलभ कराके सत्साहित्य-प्रचार की दिशा में भी बहुत बड़ा कार्य किया। सतत साधना के द्वारा ज्ञान, भक्ति एवं योग के क्षेत्र में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के बाद उनके लिये कार्य कर्तव्य शेष नहीं रह गया था। किन्तु जीवन के अन्तिम क्षण तक वे जीवों को सर्वभूतसुहृद, अकारण करुण, करुणा वरुणालय भगवान् की ओर उन्मुख करने के लिये ७५ वर्ष सचेष्ट रहे। श्री भाई जी ने अयोध्यास्थ श्री रामजन्मभूमि की अपूर्व सेवाऐं की है। रामजन्मभूमि भारत का एक राष्ट्रीय तीर्थ और भगवान् श्रीराम भारतीय भावना के प्रतीक हैं। पवित्र राम जन्मभूमि ५० करोड़ हिन्दू जनता का प्रिय प्राण है और है भारतीय संस्कृति का प्राण। भारतीय जनता इन सेवाओं को चिरकाल तक कृतज्ञता भरे हृदय से स्मरण करती रहेगी। जन्म आश्विन कृष्ण १२ शनिवार विक्रम सम्वत् १९४९ (तदनुसार १७ सितम्बर सन् १८९२) शिलांग मेंरतन गढ़ निवासी पोद्दार परिवार में हुआ। पिता का नाम भीमराज और माताजी का नाम रिखीबाई था। तिरोभाव चैत्र कृष्ण दशमी विक्रम सम्वत् २०२७ (२२ मार्च १९७१) को गोरखपुर में गीता वाटिका में हुआ।

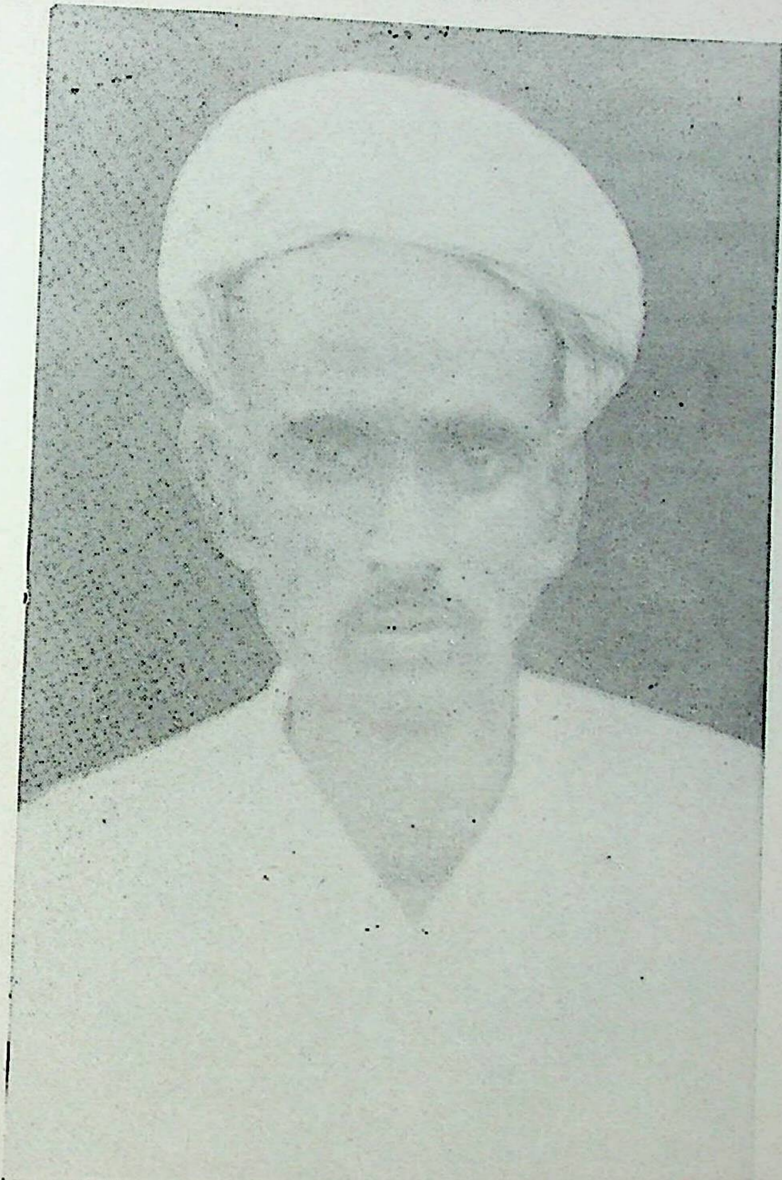
श्री घनश्यामदास जी जालान

श्री घनश्यामदास जी जालान का जन्म रतनगढ़ के जालान परिवार में हुआ। गीता प्रेस की स्थापना इनके गोरखपुर रहने के कारण ही गोरखपुर में हुई। ये गीता प्रेस का हिसाब किताब का कार्य के साथ साथ गीता प्रेस के द्वारा भारत के धार्मिक ग्रंन्थों का प्रकाशन कराने की जो धुन इनमें थी वह उल्लेखनीय है। परम परिश्रमी कर्मयोगी तो थे ही साथ ही साथ जन जनार्दन की सेवा का भाव भी इनमें कूट-कूट कर भरा था। बाढ़ पीड़ितों की सहायता करना, सत्साहित्य का प्रचार करना, सस्ते से सस्ते मूल्य में सब लोगों को धार्मिक ग्रंथ मिले यह जीवन का मुख्य उद्देश्य था। अपने व्यापार को छोड़कर गीता प्रेस का कार्य इन्होंने जिस निष्ठा और परिश्रम से किया यह अकथनीय है। गीता प्रेस आज भी काम कर रही है, वह इनकी ही देन है। अन्त में गीता भवन स्वर्गाश्रम में सदा के लिये भगवान में लीन हो गये। इनके सुपुत्र रामदास जी जालान है जो आज भी गीता प्रेस के ट्रस्टी हैं एवं गीता प्रेस का काम देखते हैं। श्री घनश्यामदास जालान ट्रस्ट का निर्माण इन्होंने किया है जिससे विभिन्न संस्थाओं को सहायता दी जाती है। इस ट्रस्ट द्वारा मानस भवन में सामने का एक बड़ा कमरा बना है तथा एक फ्लैट भी ऊपरी भाग में बना है।

श्री के० के० के० नायर

स्व० श्री कुमार करुणा कृष्ण नायर का जन्म ११ सितम्बर १९०७ ई० को कैनागिरि जिला आलप्पी (केरल) में हुआ था। इनका जीवन अद्भुत मेधा, अविचल संकल्पशक्ति तथा प्रशंसनीय साहस का जीवन रहा है।

ट्रस्टी (भूतपूर्व)



श्री घनश्यामदास जालान (स्व०)
भूतपूर्व प्रकाशक व मुद्रक
गीताप्रेस, गोरखपुर

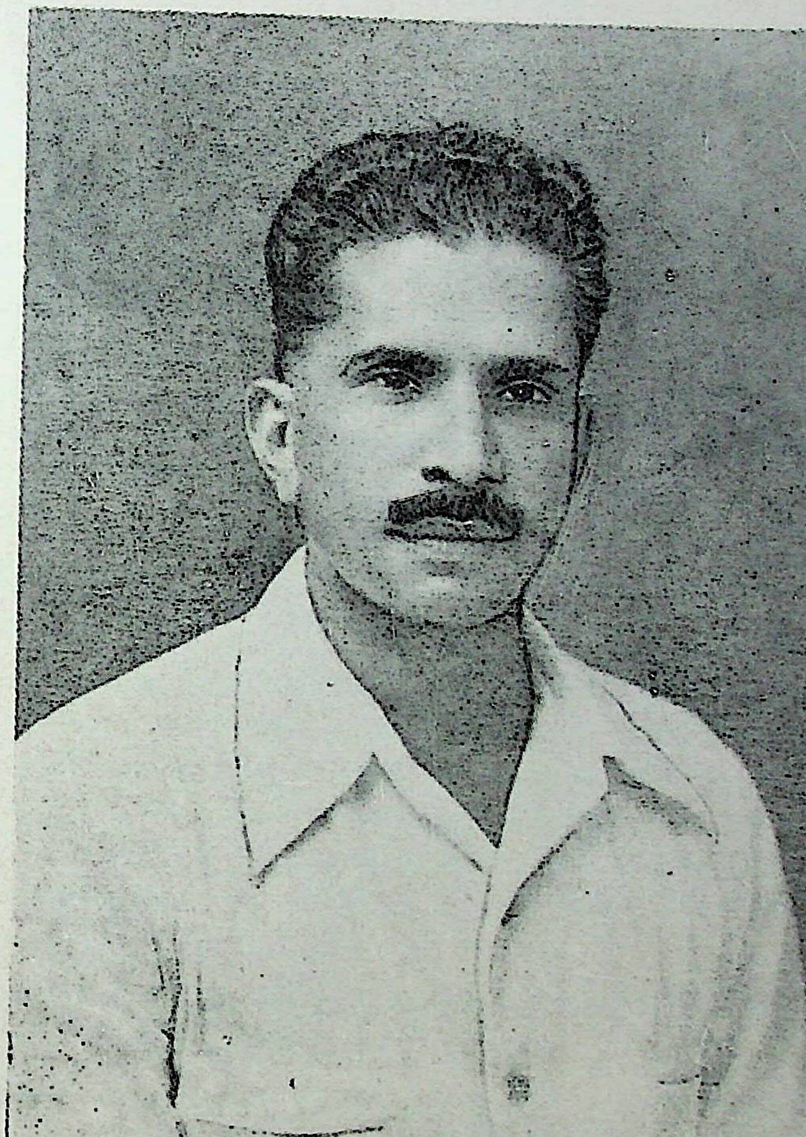
सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र



श्री रामदास जालान

एक धर्मनिष्ठ एवं कर्मठ समाज सेवी

उप-सभापति (भूतपूर्व)



श्री के० के० के० नायर

आई० सी० एस०

इनमें बाल्यकाल से ही कुशाग्रबुद्धि और दृढ़ता की भावना भरी हुई थी। नायर जी ने गणित और विधि में स्नातकोत्तर उपाधि अर्जित की थीं। सन् १९२८ ई० में इण्डियन सिविल सर्विस में आ गये। अपने न्यायपालिका के कार्यकाल के दौरान उन्होंने डी० आई० आर० को असंवैधानिक करार देते हुए कांग्रेस पार्टी के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री शान्ति प्रपन्न शर्मा को मुक्त कर दिया, जिसके लिए उस समय की अंग्रेज सरकार ने उन्हें विप्लवी बताया। इसके पूर्व उन्होंने गोरखपुर में डी० आई० आर० में बन्द कांग्रेस के एक अन्य कार्यकर्ता तथा मजदूर नेता श्री शिब्बन लाल सक्सेना को जमानत पर रिहा कर दिया। कानपुर में एक हिन्दू लड़की को दो मुस्लिम लड़कों के साथ गायब हो जाने वाले विमला देवी के मामले में काफी जातीय तनाव पैदा हो गया था। इस मामले में श्री नैय्यर का यह निर्णय कि लड़की को उसके माँ-बाप को सौंपा जाय, उनके न्यायपालिका से कार्यपालिका के स्थानान्तरण का कारण बना तथा उन्हें जिला एवं सत्र न्यायाधीश के पद से अतिरिक्त जिलाधीश के पद पर डिमोट कर दिया गया लेकिन उनके इस पदावनति ने उन्हें हिन्दुओं में नायक बना दिया।

बाद का कार्यपालिका का उनका कार्यकाल और भी तूफानी रहा। जिलाधीश गोण्डा के रूप में उन्होंने ज़मीदारों के विरुद्ध आसामियों को सहयोग दिया जब ज़मींदार ज़मींदारी उन्मूलन की नीति के पूर्वाभास के कारण आसामियों को कब्जे से वंचित करके भूमि को हथियाने का प्रयत्न कर रहे थे। जिले की सारी जनता का उन्होंने साधुवाद अर्जित किया। जिलाधिकारी फैजाबाद के रूप में रामजन्म भूमि के मामले ने, जिसमें एक धार्मिक पूजा-स्थली हिन्दुओं तथा मुस्लिमों के बीच विवादित थी, उनके रोल ने एक इतिहास को जन्म दिया। मुख्य मंत्री के निर्देशों का उल्लंघन करके उन्होंने इमारत को हिन्दुओं के सुपुर्द कर दिया और यह उनके इंडियन सिविल सर्विस से सन् ५२ में इस्तीफा देने का कारण बना।

एक व्यक्ति के रूप में इन्होंने हमेशा न्याय तथा ईमानदारी का पक्ष लिया। पिछड़े वर्ग के साथ सदा उनकी सहानुभूति रही। उनसे कोई भी मिल सकता था। लोगों को रोजगार दिलाने में उन्होंने काफी सहायता की।

भारतीय प्रशासनिक सेवा से त्यागपत्र देने के पश्चात् नायर जी लखनऊ में ही रहने लगे। उच्च-न्यायालय की लखनऊ पीठ में इन्होंने वकालत शुरू कर दी और फौजदारी के मामले के सुप्रसिद्ध वकील के रूप में उल्लेखनीय ख्याति अर्जित की। राजनैतिक गतिविधियों में भी ये इन्हीं दिनों सक्रिय हुए। सन् १९६४ से १९६७ तक ये बस्ती जिले के बाँसी क्षेत्र से विधानसभा के सदस्य चुने गये तथा १९६७ से १९७१ तक ये बहराइच क्षेत्र से संसद सदस्य थे। नायर जी को अनेक भाषाओं का ज्ञान था। वे बड़े अध्यवसायी थे और अवकाश के क्षणों में सदैव अपने पुस्तकालय में अध्ययनरत पाये जाते थे। विधि, चिकित्सा, सांख्यिकी, तथा संविधान उनके मुख्य विषय थे।

७ सितम्बर १९७७ को प्रातः श्री नायर जी का स्वर्गवास, उनके लखनऊ स्थित निवास स्थान (४ सरदार पटेल मार्ग, कैन्टोनमेन्ट, लखनऊ) पर हो गया।

उनकी पत्नी श्रीमती शकुन्तला नायर राजनेता एवं भूतपूर्व मन्त्री हैं, तथा उनके पुत्र श्री एम० वी० नायर लखनऊ में आयकर अधिकारी हैं।

हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति में स्व० नायर जी की अपूर्व आस्था थी। नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए उन्होंने बड़े से बड़े जोखिम को उठाने में कभी संकोच नहीं किया। श्रीराम जन्मभूमि के मामले में उनका निर्भीकता-पूर्ण कदम इसकी एक मिसाल है इसलिए जब श्रीरामजन्मभूमि के पास मानसभवन की स्थापना का निश्चय हुआ तो उन्हें एक ट्रस्टी के रूप में ससम्मान रखा गया। इस संस्थान के प्रति उनकी सेवा व शुभेच्छा हमारे लिए गर्व का विषय है। उनको कई भाषाओं का ज्ञान था। उनका अपना एक बड़ा पुस्तकालय था जिसमें वे कभी भी

अध्ययनरत पाए जा सकते थे। ब्रिज तथा शतरंज उनके प्रिय खेल थे। कभी-कभी तो वे मित्रों के साथ रात-रात भर खेलते रहते थे। उनके अध्ययन विषयों में विधि, चिकित्सा सांख्यिकी, गणित तथा संविधान थे। प्राकृतिक चिकित्सा विश्वास करने वाले नैयर साहब योग साधना करते थे तथा बड़ा ही सादा जीवन व्यतीत करते थे। बचपन में वे टेनिस तथा वालीवाल के भी अच्छे खिलाड़ी थे।

श्री राम गोपाल थरड़ (अग्रवाल)

श्री राम गोपाल थरड़ (अग्रवाल) का जन्म कलकत्ता में आश्विन शुक्ला पंचमी सम्वत् १९६६ वि० को मध्यम वित्त वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिताजी का नाम श्री विश्वेश्वर लाल जी था। बाल्यावस्था बहुत ही कठिन समय में गुजरी। उनकी माता का देहान्त सम्वत् १९७० वि० में हो गया। उस समय इनकी अवस्था चार वर्ष की थी। वे पढ़ाई में कुशाग्र बुद्धि के थे एवं इन्होंने मैट्रिक १९२४ ई० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। उन्होंने बी० ए० कृषि से सम्वत् १९२८ में पास किया। रतनगढ़ निवासी ये प्रथम स्नातक थे। बी० ए० पास करने के बाद इन्होंने रतनगढ़ के विद्यालय में शिक्षक का पद भार ग्रहण किया। कुछ ही समय बाद उसी विद्यालय में इन्होंने 'हैड मास्टर' का पद भार ग्रहण किया। बी० ए० पास करने के बाद इनके पिता जी का सन् १९२८ में देहान्त हो गया। इसके पश्चात इन्होंने आसाम जाकर चाय बागान में नौकरी की। सन् १९२९ से सन् १९४८ तक इन्होंने चाय बागानों एवं चीनी की मिलों में जिम्मेदारी के पदों पर कार्य किया एवं अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर इन दोनों उद्योगों में विशेष कुशलता हासिल की। १९४८ में अपने अग्रज श्री ठाकुरसीदास जी के आमंत्रण पर मोतीहारी सूगर मिल के फार्म मैनेजर के पद से इस्तीफा देकर बनारस चले आए एवं अपने भाई के साथ व्यापार में साझेदारी की। लेकिन अन्यान्य कारणों से इन्हें व्यापार से हट जाने को विवश होना पड़ा। इसके बाद वे आसाम जाकर जूट की खेती के व्यवसाय में लगे, पर भाग्य ने साथ नहीं दिया और काफी नुकसान हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने बिड़ला के यहां चाय विभाग में नौकरी की। इन्हें कई चाय बागानों का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया गया। कुछ ही साल बाद उन्होंने त्यागपत्र देकर सूरजमल नागरमल के 'मैकलियोड' नामक संस्था में पद भार ग्रहण किया। वहां भी उन्होंने बहुत यश कमाया और अपने कार्य से सभी का विश्वास प्राप्त किया। चूंकि कई अंग्रेज अफसरों के ऊपर इनकी नियुक्ति हुई थी, अतः अंदरूनी कलह एवं खींचतान के कारण उन्हें त्यागपत्र देने को विवश होना पड़ा। उसके पश्चात् उन्होंने कनोई ग्रुप के यहां चाय बागानों के संभालने का दायित्व लिया। कनोई ग्रुप के कर्मठ सदस्य श्री लालचंद जी कनोई की मृत्यु के बाद उन्होंने विभिन्न व्यक्तियों के चाय बागानों के संभालने का दायित्व लिया और यह काम वे अन्त तक करते रहे।

उन्हें गंभीर दिल का दौरा पड़ने के परिणामस्वरूप उनकी हालत दिन प्रतिदिन खराब होती गई और अंततः उन्होंने व्यस्त व्यावसायिक जीवन से सन् १९७८ में अवकाश ग्रहण कर लिया। इनकी इच्छा हमेशा रही कि वे सन् १९७८ के पश्चात् भी चाय बागानों के निरीक्षण का कार्य करते रहें परन्तु उनके स्वास्थ्य ने उन्हें ऐसा न करने पर विवश किया।

उनकी शुरू से ही ईश्वर भक्ति में बहुत ही विश्वास था एवं कई घंटे पूजा पाठ में व्यतीत किया करते थे। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् तो उनका अधिकांश समय पूजा–पाठ, माला फेरने आदि में व्यतीत होता था। वे माता जानकी जी को ही "माँ" मानते थे और अपने पुत्र-पौत्रों से यही कहा करते थे कि माता जानकी जी ही हम सबकी "माँ" हैं। वे भगवत् पूजा में इस प्रकार रम गये थे कि अपने शरीर को कष्ट देकर भी दैनिक पूजा पाठ पूर्ण किया करते थे।

भूतपूर्व संयुक्त मंत्री



स्व० राम गोपाल थरड

दिसम्वर १९७९ में एकाएक उनका मन कलकत्ते से उखड़ गया और उन्होंने वाराणसी जाकर रहने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप ५ दिसम्वर १९७९ को वाराणसी आए। इसके वाद से इनका स्वास्थ्य गिरता चला गया और अन्ततः मऊनाथभंजन में १२ मार्च १९८० को रात्रि १० बजे के वाद उनका स्वर्गवास हुआ। एकादशी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ। रामनवमी के दिन उनका द्वादशाह का कार्य पूर्ण हुआ।

उनकी पत्नी का देहान्त १ फरवरी १९७० को हुआ था। वे अपने पीछे ५ पुत्र, ३ पुत्रियां, १४ पौत्र, ७ पौत्रियाँ एवं १ प्रपौत्री का भरा पूरा परिवार छोड़कर गोलोकवासी हुए। उनके पुत्रों के नाम—श्री शिवभगवान अग्रवाल, श्री महावीरप्रसाद थरड़, श्री अर्जुनलाल अग्रवाल, विजयकृष्ण अग्रवाल एवं श्री चन्द्रशेखर अग्रवाल हैं। सभी पुत्र व्यवसाय में लगे हैं और व्यवसाय में आशातीत सफलता प्राप्त की है। उनके द्वितीय पुत्र श्री महावीर प्रसाद कलकत्ते में आयकर की वकालत कर रहे हैं और मारवाड़ी समाज में उन्होंने काफी उच्चता हासिल कर रखी है।

जब तक जीने की आशा रहती है, तब तक मनुष्य भविष्य में कुछ प्रयत्न की आशा, साधन करने की आशा और भोजन की आशा नहीं छोड़ सकता। वास्तव में वर्तमान की साधना ही भविष्य को सफल बना सकती है। जो वर्त्तमान में साधना-परायण हो जाता है वह मौत से नहीं डरता।

साधक को चाहिए कि जीवन-काल में ही अपने जीवन के प्रोग्राम को पूरा कर डाले। मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह जो जानता है, उसे भी नहीं कर पाता।

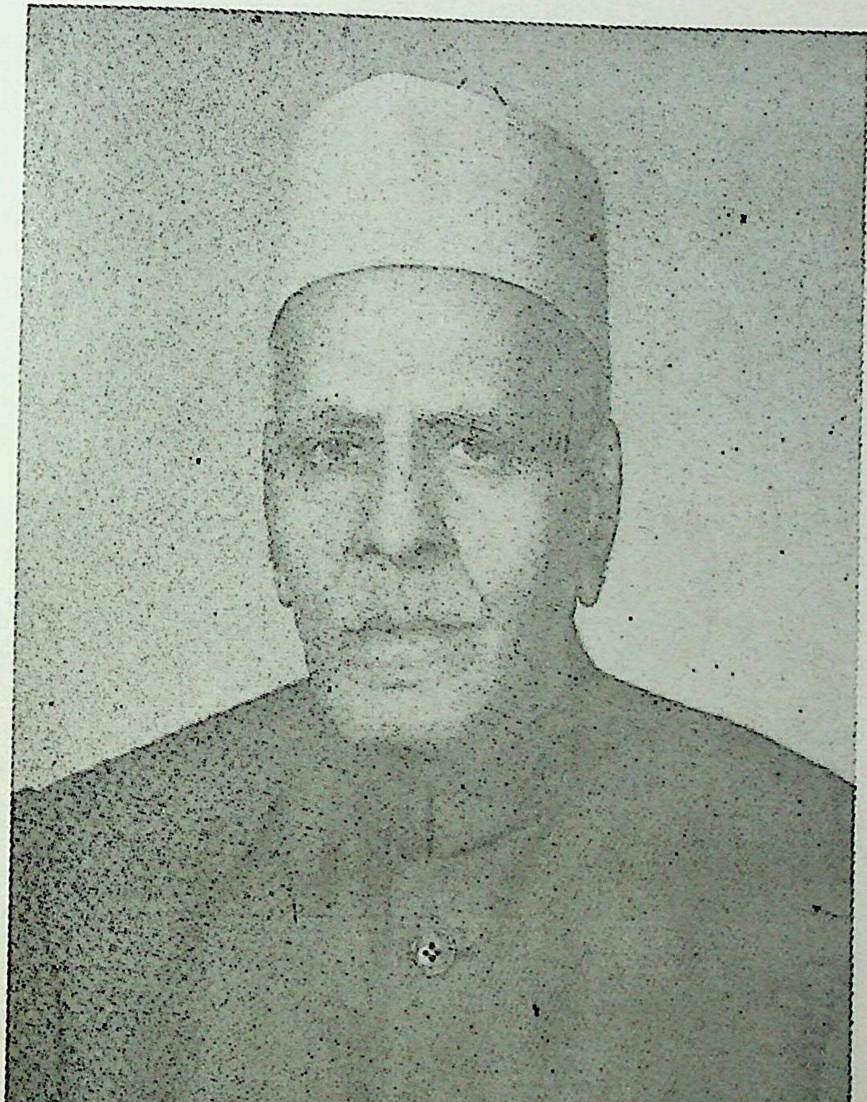
o

तू कछु और बिचारत है नर, तेरो बिचार धर्यो हि रहैगो।
कोटि उपाय करो धन के हित; भाग लिख्यो तितनो हि लहैगो ।।
भोर कि सांझ, घरी पल मांझ, सुकाल अचानक आइ गहैगो।
राम भज्यो न कियो कछु सुकृत, सुन्दर यूं पछताइ रहैगो।

o

ज्ञान घटे मूढ़ की संगत, ध्यान घटें बिन धीरज आये।
मान घटे जबहिं कछु मांगत, चाह घटें नितही घर जाये ।।
प्रीत घटे जो कठोरहु बोलत, रीति घटे नीचन मुंह लाये।
उद्यम से दारिद्र घटे अरु पाप घटें हरि के गुन गाये ।।

श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट
के
द्वितीय सभापति



श्री रायबहादुर रामप्रसाद राजगढ़िया

स्व० रायबहादुर श्रीरामप्रसाद राजगढ़िया

रायबहादुर श्री रामप्रसाद जी राजगढ़िया कलकत्ते के इने-गिने उद्योगपतियों में एक थे। इनकी धार्मिक निष्ठा, जो इन्हें वंशानुक्रम में उपलब्ध थी, देश के कोने-कोने में उजागर थी। सनातन धर्म के प्रवल अनुयायी श्री राजगढ़िया जी ने इसके प्रचार प्रसार एवं संरक्षण के लिये अनेक कार्य किये। पुरानी भारतीय संस्कृति के ये नैष्ठिक पुजारी थे। इनके सम्पूर्ण जीवन का जिसने पर्यवेक्षण किया है, जो इनके निकट सम्पर्क में रहे हैं, वह भी आंशिक रूप में ही इनके जीवन का आकलन कर सकता है—पर यह सुनिश्चित है कि आप पूर्व जन्म के भी योगी थे—ऐसे लोगों का ही जन्म "शुचीनां श्रीमतां गेहे" होता है—यही भगवदुक्ति है।

'शुचीनांश्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' (गीता)

इनके धार्मिक कृत्यों की आभा देश के प्रायः समस्त पुण्यतीर्थ-स्थलों में फैली है, पर ऐसा प्रतीत होता है, वृन्दावन से इनका सहज आकर्षण था। ये परम वैष्णव तो थे ही। गोमाता के परम भक्त श्री राजगढ़िया जी ने गो-सेवा के लिये अनेक अविस्मरणीय कार्य किये। वृन्दावन गोशाला में गौओं की चिन्तनीय स्थिति मे द्रवीभूत होकर इन्होंने वृन्दावन पंचायती गोशाला को दो बार एक-एक लाख की राशि की सहायता की थी। वृन्दावन गो-सेवा ट्रस्ट की स्थापना इन्होंने एक विशाल भवन खरीद कर, १९९, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ते में की। इसके आप सभापति रहे। वृन्दावन में भी श्री राधामाधव देवस्थान वृज गो-सेवा मार्केट के लिये एक पूर्ण विस्तृत भूमि-खण्ड का क्रय करके अर्पित कर दी—इसके द्वारा आज वृज की समस्त जरूरतमन्द गोशालाओं की सहायता हेतु एक अमर कोष की व्यवस्था कर दी है। इस योजना से हर समय सत्संग, कथा चलती रहती है। इसी में सन्तों, महात्माओं एवं विद्वानों के निवास की भी व्यवस्था है। इसी ट्रस्ट के द्वारा गांव-गांव जाकर जरूरतमन्द महिलाओं द्वारा कीर्त्तन की व्यवस्था की जाती है। इस भवन में ५ और ६ मंजिल विवाहादि कार्यों के लिये दिये जाते हैं—साथ ही विवाह शादी के काम में आने वाले समस्त समान भी संगृहीत हैं। इसमें एक धर्मार्थ दातव्य होमियो पैथिक चिकित्सालय भी कार्यरत है।

श्री राजगढ़िया जी विश्वशान्ति अखण्ड हरिकीर्तन संघ के अध्यक्ष रहे। इसके द्वारा अखण्ड हरिनाम संकीर्त्तन चलता है। उल्लेखनीय है, कि अनेक गरीव कन्याओं के विवाह भी इन्होंने सम्पन्न कराये हैं। इनके औदार्य का यह कार्य परिचायक है।

यह स्वाभाविक है कि ऐसे मनस्वी मनीषी को सहयोग की दृढ़ लालसा सभी संस्थाओं को हो। आप नीचे लिखी संस्थाओं के उच्चपदों पर आसीन रहेः—

१. श्री अग्रसेन स्मृति भवन, सत्यनारायण पार्क, कलकत्ता—सभापति ।

२. श्री विशुद्धानन्द सरस्वती हास्पिटल, अमहर्स्ट स्ट्रीट, कलकत्ता—ट्रस्टी ।

३. कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी, कलकत्ता—सभापति ।

४. कोडरमा गिरिडिह पिंजरापोल—सभापति ।

५. श्री विशुद्धानन्द दातव्य औषधालय, कलकत्ता के परम हितैषी एवं सहायक ।

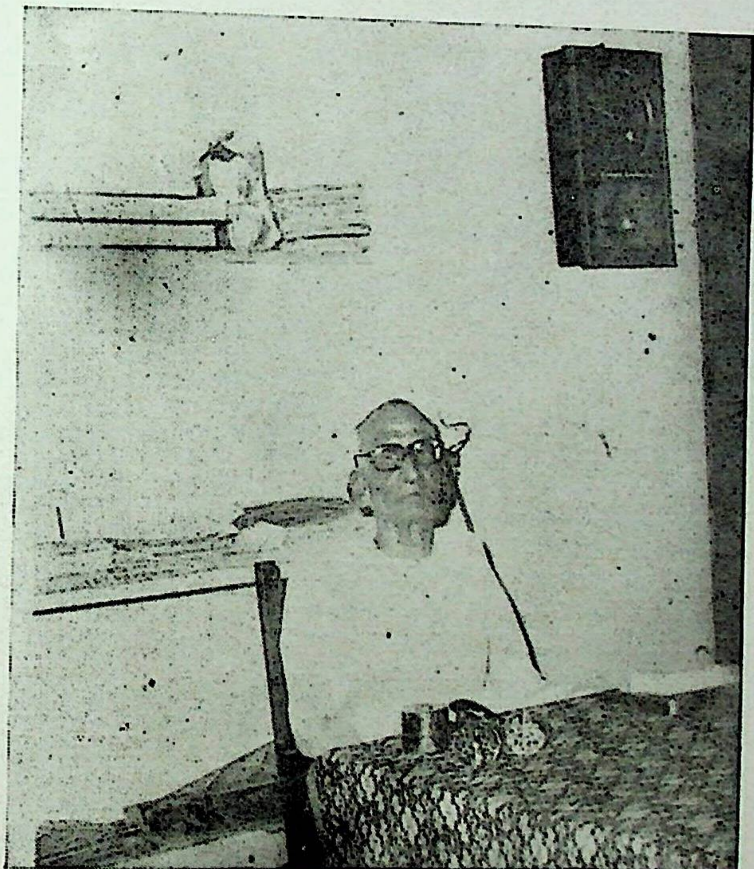
६. बनारस में हुए एक धार्मिक सम्मेलन के सभापति ।

७. श्रीरामचरितमानसभवन के आप द्वितीय सभापति हुए एवं इसके विकास, प्रसार में बड़ी रुचि रखते थे ।

इनका माइका का व्यवसाय विहार में कोडरमा, गिरिडीह तथा भीलवाड़ा एवं रामपुर में है । इनका व्यापार देश में कई प्रदेशों में है । तमिलनाडु एवं आंध्रप्रदेश में भी इनका व्यवसाय आज भी फैला हुआ है ।

ऐसे महामानव का साकेतवास २१ एप्रिल १९७५ को ठीक रामनवमी के दिन हुआ । इनके निधन से मानसभवन की अपूरणीय क्षति हुई ।

भूतपूर्व ट्रस्टी



स्व० कन्हैया लाल जालान

जन्म १९०५ ई० निधन २३-७-१९८१ ई०

स्व० श्री कन्हैयालाल जालान

स्व० श्री कन्हैयालाल जालान का जन्म १९०५ ई० साहबगंज, गोरखपुर में, प्रतिष्ठित जालान परिवार में हुआ था। इनके पितामह राजस्थान के रतनगढ़ के निवासी थे।

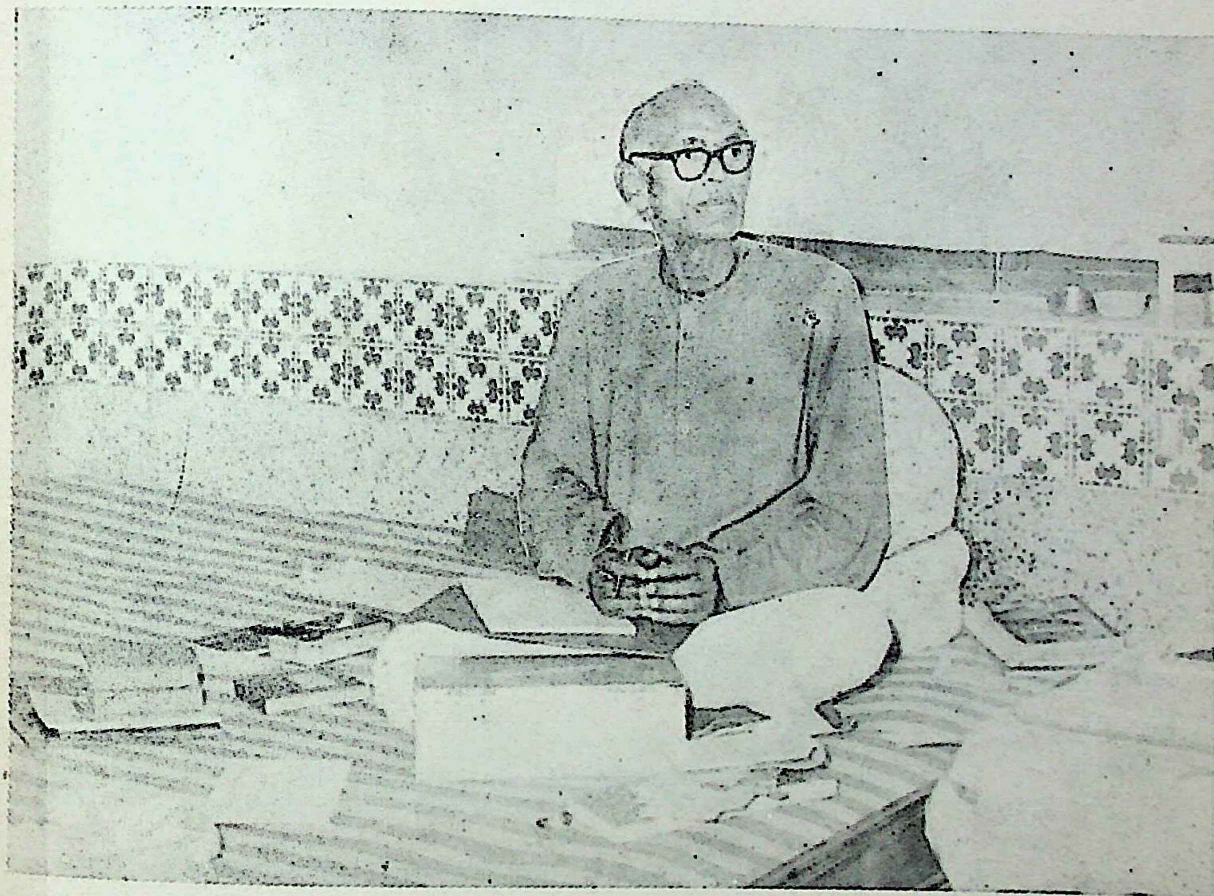
रतनगढ़ के प्रतिष्ठित परिवार में श्री हरि-किशनजी जालान और पृथ्वीराज जी जालान हुए—ये दोनों महापुरुष वड़े ही धर्मनिष्ठ थे। श्री हरिकिशन दासजी के चार पुत्र—सर्वश्री रामेश्वरलालजी, द्वारका-दासजी, कन्हैयालालजी तथा सागरमलजी हुए जो सभी वालकपन से ही वंशानुगत धार्मिक निष्ठा से भरे पूरे थे। श्रीरामेश्वरलालजी ने तो अपने जीवन का काफी समय गीता भवन, ऋषिकेश में रहकर बिताया था। श्री अयोध्या में अपने गुरु स्थान पर भी काफी समय व्यतीत किया। श्री द्वारकादासजी भी बड़े धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे—वड़े उदार और सुकोमल हृदय। किसी भी दीन-दुखिया को देखकर वे दयार्द्र हो जाते थे और हर तरह से उसकी सहायता करते थे। गरीव ब्राह्मणों की भी सहायता करते थे। ये भी मानस भवन, अयोध्या में प्रायः आते रहते थे और काफी समय यहां व्यतीत किया करते थे। इनके अनुज श्रीकन्हैयालाल जालान तो विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। धार्मिकता तो अपने पिताश्री से विरासत में मिली थी इन्हें, ये एक सफल व्यापारी भी थे। व्यावहारिक जगत् में बड़े कुशल थे। अपनी जन्मभूमि साहबगंज में ही इन्होंने गल्ले का व्यापार किया था। स्पष्टवादिता इनकी विशेषता थी, कार्य-दक्षता भी अपूर्व थी। मानस भवन के ये एक कर्मठ-सदस्य थे। अपने जीवन काल में मानस भवन की कई जटिल समस्याओं को कुशलता-पूर्वक सुलझाया। जो काम दूसरों से सम्भव नहीं होता था- उसका समाधान ये सहज ही निकाल लेते थे।

२३ जुलाई, १९८१ को आपका आक-स्मिक निधन गोरखपुर में ही हुआ-आनुषंगिक समस्त संस्कार श्री अयोध्या में ही सम्पन्न हुए।

यद्यपि श्री कन्हैया बाबू अपने व्यावसायिक जीवन में एक अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति थे, फिर भी अपने वहुधंधी जीवन का एक बड़ा अंश श्री अयोध्या में व्यतीत करते थे। रामलीला, रासलीला के बड़े शौकीन थे और आये दिन उनका आयोजन बड़े मनो-योग से बड़े पैमाने पर मानस भवन के सभाकक्ष में या प्रांगण में किया करते थे। अतिथि-सत्कार करना इनके जीवन की विशेष प्रमुखता थी। श्री अवध के सभी सरकारी विभागों के उच्च अधिकारियों से इनका अपने परिवार का सा सम्बन्ध था। मानस भवन किस तरह प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहे, इसकी उन्हें हर समय चिन्ता बनी रहती थी।

इन्हीं के छोटे भाई श्री सागरमल जी जालान हैं-जिन्होंने अपने पूर्वजों की धार्मिक निष्ठा तो पूरी की पूरी पायी है। आप तो अब कई

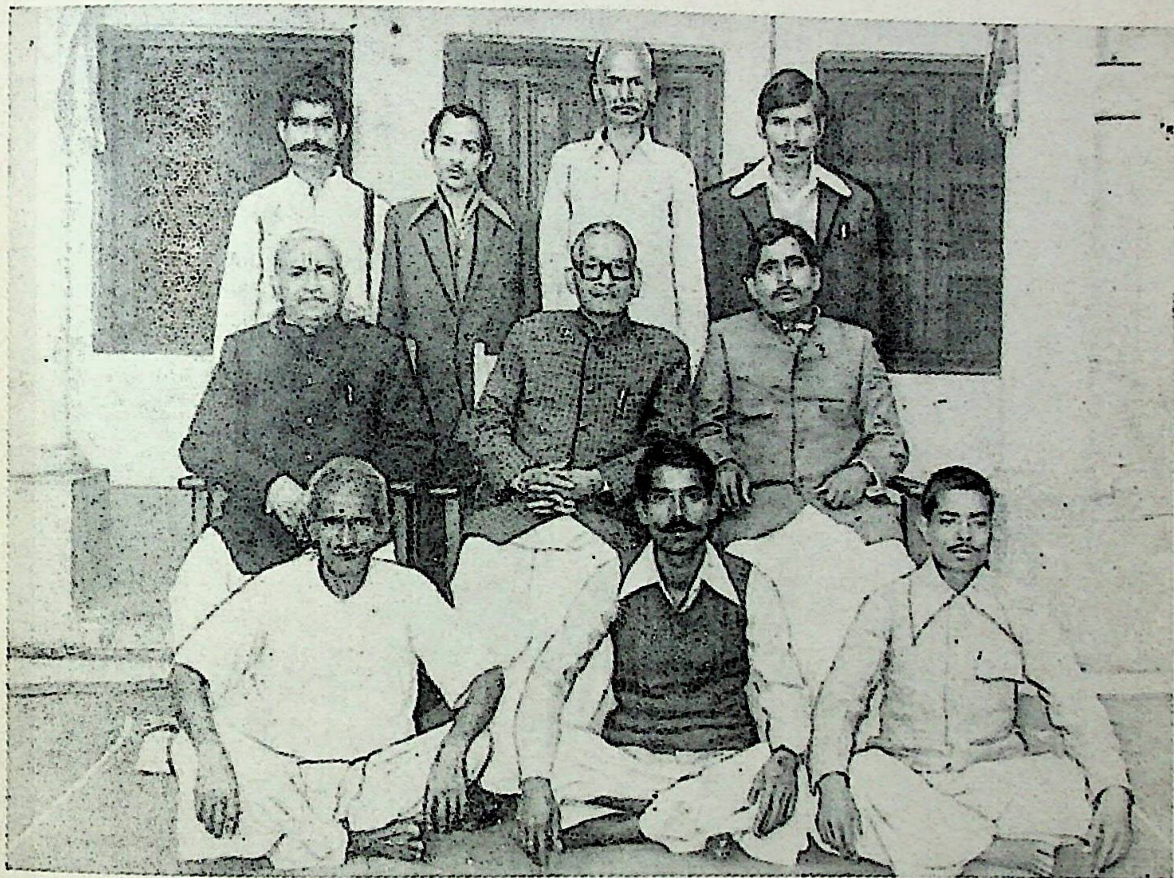
वर्षों से नित्य अवधवासी हो गये हैं। इनका समस्त जीवन अब धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में ही–एक निष्काम योगी की तरह–समर्पित हो गया है। श्री कनक भवन में इन्होंने कई नवीन निर्माण कार्य किये हैं-रामचरितमानस भवन की भी इन्होंने बहुमूल्य सेवायें की हैं और आज भी कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त गुरुवशिष्ठ-कुण्ड का जीर्णोद्धार करवा रहे हैं ये। इतना व्यस्त रहते हुए भी आप अपने नित्य-सत्संग में नहीं चूकते। इनके जीवन का हर एक पल का सदुपयोग होता रहता है। आप इतने कार्य-दक्ष हैं कि इनकी देखरेख में सम्पादित निर्माण-कार्य को देखकर अच्छे-अच्छे इन्जिनियर भी दंग रह जाते हैं। सब कुछ होते हुए भी इतने विनम्र, निरभिमान और मृदुभाषी हैं कि इनके सम्पर्क में एक बार जो कोई आ जाता है, वह इनका ही हो जाता है। इन्हें आज के युग का 'अजात शत्रु' की संज्ञा निःसंकोच दी सकती है।



श्री सागरमल जालान, गोरखपुर निवासी

भवन के परम शुभ चिन्तक

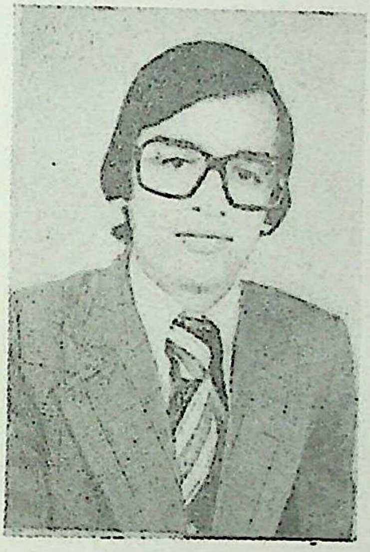
मानस भवन के कार्यकर्तागण



बायें से–कुर्सी पर बैठे : श्री बाबूलाल बंसल (लेखापाल), श्री आर० एन० ओझा (प्रबन्धक), श्री राधेश्याम पाण्डेय (सहायक प्रबन्धक)

खड़े हुए : श्री रामबहादुर यादव (गार्ड), जीवन कुमार शर्मा (भण्डारी), केदारनाथ मिश्र (गार्ड), श्री अटल बहादुर सिंह (गार्ड)

नीचे बैठे हुए : श्री मिठाई राम (सेवक), श्री हरीराम यादव (सेवक), श्री शिवराम बरई (सेवक)

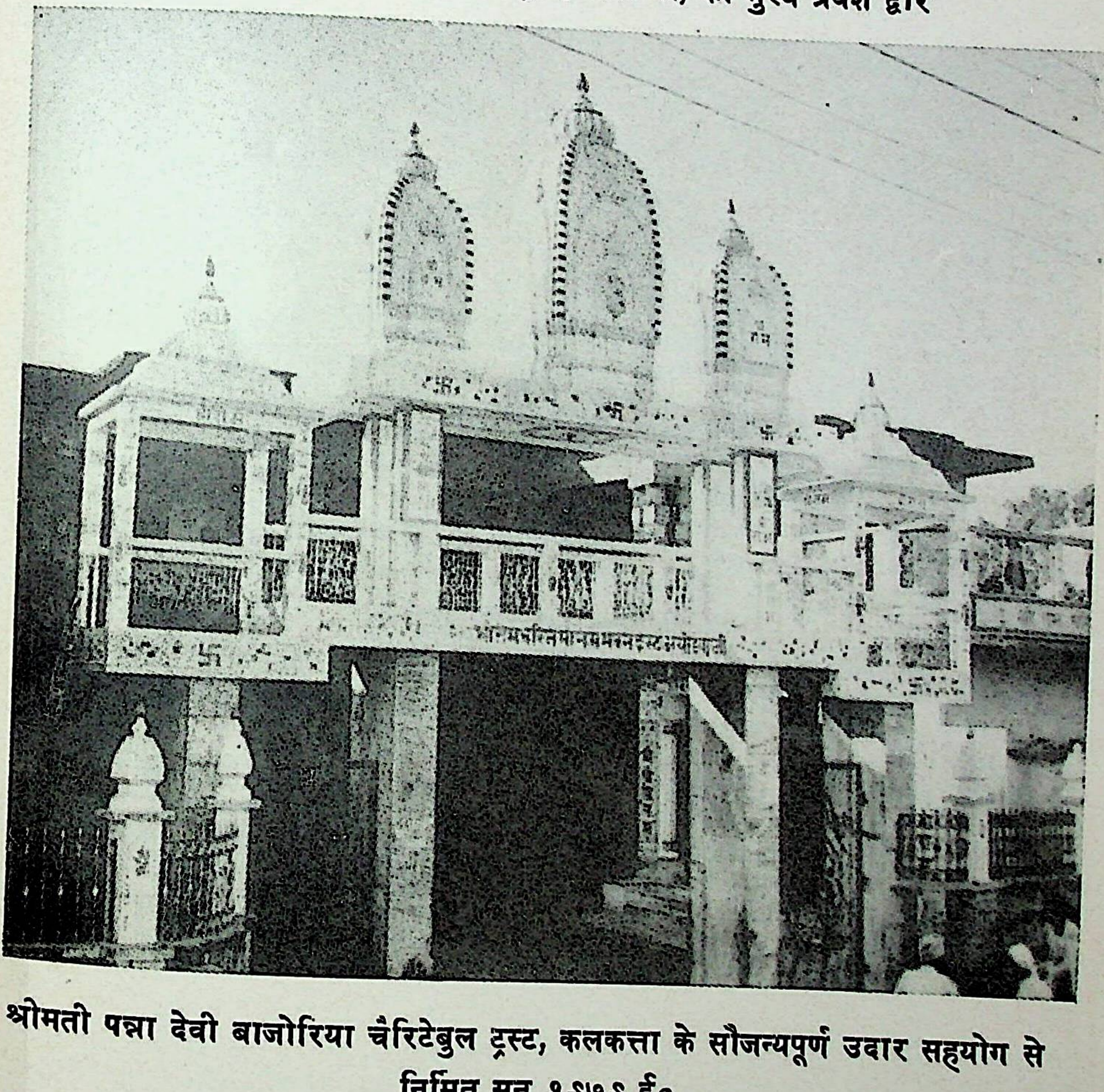


डॉ० रणजीत सिंह

श्री रामचरितमानसभवन द्वारा संचालित दातव्य होम्योपेथिक चिकित्सालय

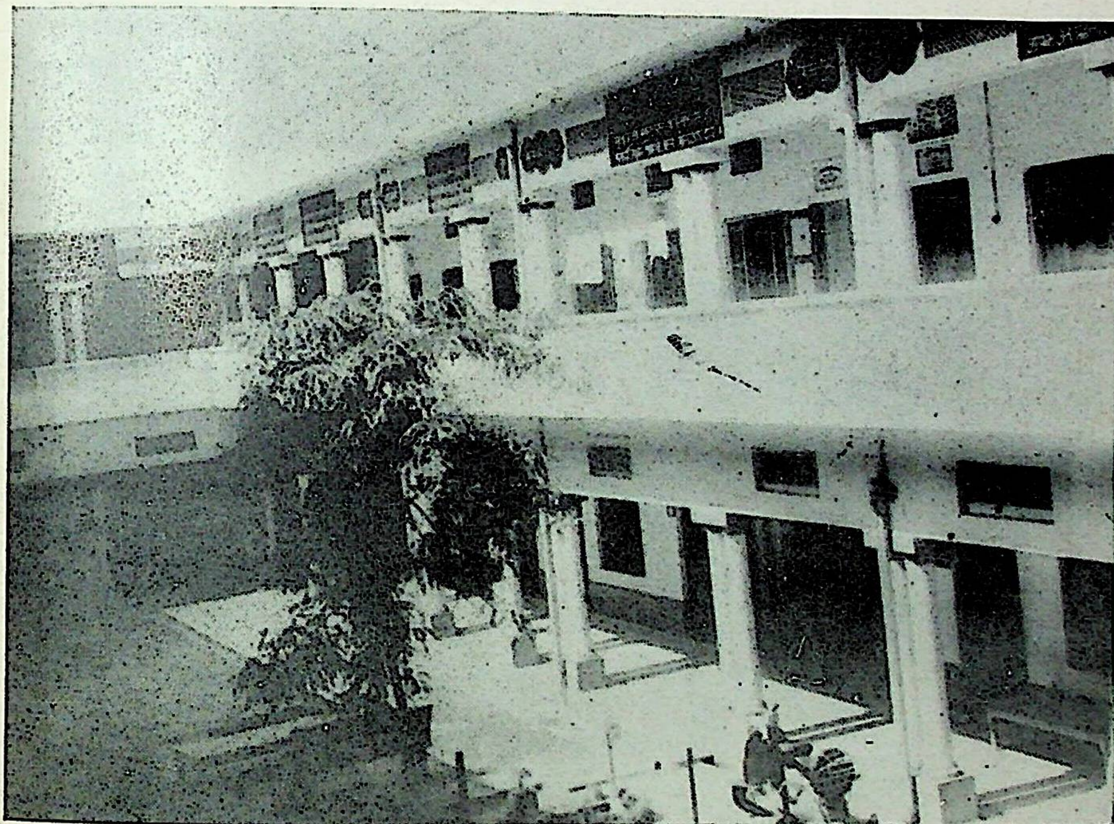
यह चिकित्सालय पीड़ित जनता के कल्याणार्थ मानस भवन के बाहरी भाग में श्रीराम नाम मन्दिर के सामने कार्यरत है। यह प्रातः ८ बजे से ११ बजे तक खुला रहता है। आज कल इस चिकित्सालय में डॉ० रणजीत सिंह सेवारत हैं।

श्री रामचरितमानसभवन ट्रस्ट, अयोध्या, का मुख्य प्रवेश द्वार

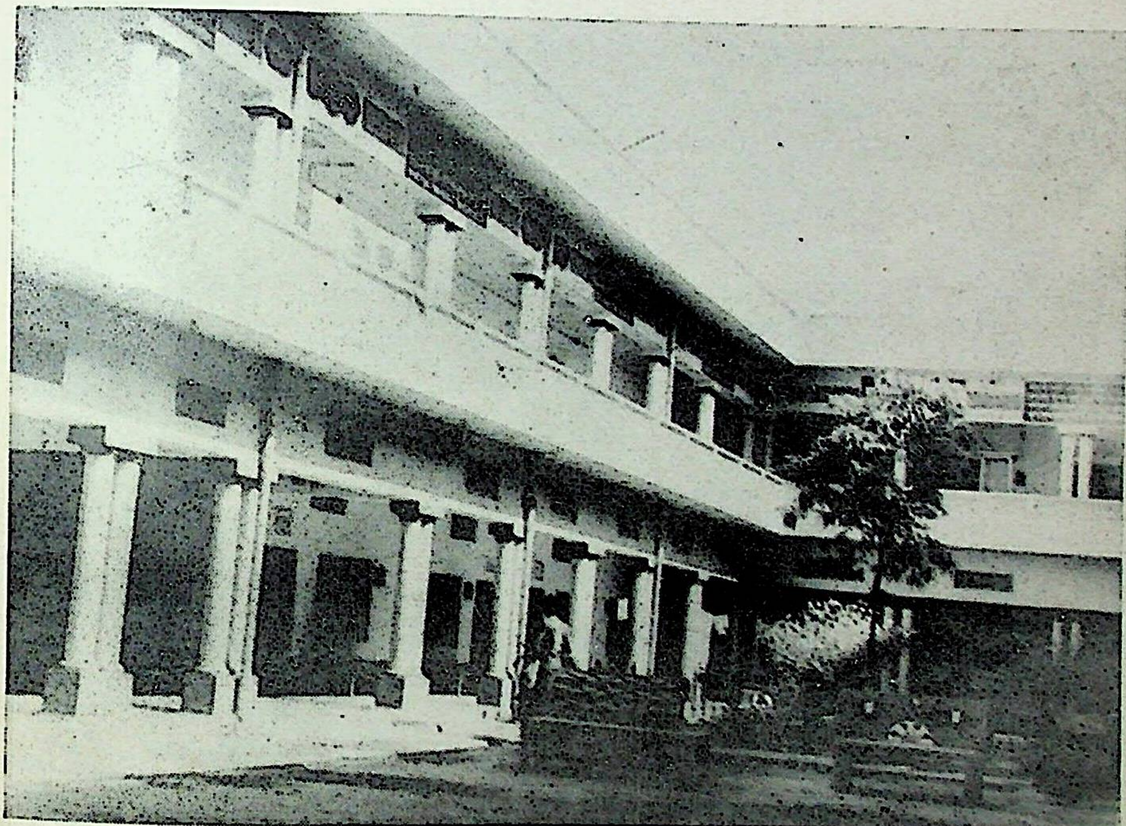


श्रीमती पन्ना देवी बाजोरिया चैरिटेबुल ट्रस्ट, कलकत्ता के सौजन्यपूर्ण उदार सहयोग से निर्मित सन् १९७९ ई०


श्री राम चरित मानस भवन ट्रस्ट
श्री राम नाम मन्दिर
सी ता रा म
सी ता रा म
सी ता रा म
सी ता रा म
श्री सी ता रा म
श्री सी ता रा म
श्री सी ता रा म
श्री सी ता रा म
राम



मानस भवन प्रांगण (पूर्वी भाग)



मानस भवन प्रांगण (पश्चिमी भाग)

समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान ।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान ॥
सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान ।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिन्धु बिना जलजान ॥

— मानस

नाथ एक बर मांगऊं राम कृपा करि देहु ।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल, कबहुं घटै जनि नेह ।।

— मानस

आगम निगम पुरान अनेका । पढ़ सुने कर फल प्रभु एका ।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर । सब साधन कर यह फल सुन्दर ।

— मानस

आ भा र

आभारी हैं हम—

उन महापुरुषों के, जिन्होंने इस रामचरितमानस भवन ट्रस्ट का कभी स्वर्णिम स्वप्न देखा था, और अन्ततः अपने उसी पुण्य स्वप्न को साकार कर आज दिव्य-धाम से हमारे लिये अञ्जुलि भर-भर कर आशीर्वचनों की सुधा-वृष्टि कर रहे हैं।

श्री अवध के पुण्यश्लोक समादरणीय सन्तों के, जिनके पाद-पद्मों में हमारा शत-शत नमन है, जिन्होंने अपने आशीर्वचनों से हमें कृत-कृत्य किया है।

हमारे प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, विद्वद्वरेण्य डॉ० एस्. एन्. एम्. त्रिपाठी, वाचस्पति, (भूतपूर्व उप-कुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय), श्रीमती स्वरूपकुमारी बख्शी, गृहमन्त्री, श्री निर्मल खत्री, राज्यमन्त्री, सामान्य प्रशासन, नियोजन एवं ग्राम्य विकास, श्री सीताराम निषाद, उपमंत्री, कृषि एवं मत्स्य के, जिन्होंने इस अवसर पर अपनी शुभाशंसा से हमें अनुगृहीत किया है।

श्री रामचरित मानसभवन ट्रस्ट के सभी सम्मान्य पदाधिकारियों, ट्रस्टीवृन्द, आजीवन सदस्यों एवं अन्य शुभैषियों के, जिनकी मङ्गल-कामना और प्रेरणामूलक प्रोत्साहन ही इस स्मारिका के प्रकाशन में हमारा अनन्य सम्बल रहा।

श्री रामचरितमानस भवन के उन श्रद्धेय उदारचेता मनस्वी दानवीरों के, जिनके अजस्र प्रवहमान दान-स्रोतों के बिना आज न तो इस मानसभवन की परिकल्पना ही संभव थी न दिनानुदिन प्रगति-पथ पर इसका अग्रसारण-आरोहण ही सुगम हो पाता।

स्मारिका को नानाविध अलंकरणों से सर्वांग विभूषित करने वाले अपने सुयोग्य सम्पादक-मण्डल के, जिन्होंने इसे हर-दृष्टि से सँवारने-सजाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है।

मां भारती के उन वरद-पुत्रों के, जिन्होंने इसके अलंकरण के लिए अपने मानस-उद्यान के चुने-चुने हृदयग्राही सुमनों को, जिन्हें उन्होंने सँजो रखा था--शायद इसी बेला के लिये--अर्पित कर सुरभित किया है इस स्मारिका को और गौरवान्वित किया है हमें।

उन महानुभावों एवं बन्धुओं के, जिन्होंने अपना विज्ञापन देकर, इस स्मारिका को अपनाया है, जिससे हमें सच्चा प्रोत्साहन मिला है।

अपने लगनशील मुद्रकों एवं आवरण पृष्ठ के कलाकार श्री टैगोर ब्लॉक गैलरी के, जिन्होंने मनोयोग से इस बृहत् कार्य का निष्पादन किया है।

अपने कर्त्तव्य-निष्ठ कार्यकर्ताओं के, जिनके अथक परिश्रम एवं अविचल निष्ठा का ही सुफल है यह स्मारिका।

अपने उन भूले-बिसरे सहयोगियों के, जिन्होंने किसी रूप में--प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष--कभी न कभी अपने सत्परामर्श से हमारा मार्गदर्शन किया है; जिनके सहयोग की हमारी लालसा सदैव बनी रहेगी।

शेष में, उस अशेष करुणा के निःसीम स्रोत अनादि अनन्त प्रभु के, जिनकी कृपा-कोर के बिना यह कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता--शेष ही रह जाता।

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विनीत :--

आर० एन० ओझा
व्यवस्थापक

राधेश्याम अग्रवाल
मन्त्री
श्री रामचरितमानस भवन ट्रस्ट,
अयोध्या

विषयानुक्रमणिका

अथ आरम्भकीयम्

(क)

वर्षेक पहले की बात है, जब एक दिन आदरणीय 'प्रिंसिपल साहब' (डॉ० रमाशंकर तिवारी) ने मुझे बताया कि श्रीरामचरितमानस-भवन-ट्रस्ट की ओर से प्रकाश्यमान 'स्मारिका' को रूपायित करने का सम्पूर्ण उद्‌वहनोद्‌भार उन्होंने अपने प्रशस्त स्कन्धों पर ले लिया है और यह कि मझे उनका अविरल अनुचरण करना है, तो (सच कहूँ) पहली प्रतिक्रिया मेरे मन में जो हुई, वह नित्य दृश्यमान स्मारिकाओं के प्रति जैसी होनी चाहिए, वैसी ही थी अर्थात् उस अन्तरुद्‌बुद्धि में किंचित्करता एवं लघिमा का भाव हो प्रस्फुट था। दूसरी क्रमित प्रतिक्रिया यह थी कि डॉ० तिवारी जैसे तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक, काव्य-मर्मी, समीक्षाकार एवं अलुब्ध-अकम्प-मानस मानव ने यह कैसा 'इन्फ्रा डिग' काम अपने सिर ले लिया है। और अपनी प्रकृति से बद्ध, मैंने अपने अन्तर की बात प्रकटित-प्रकाशित भी कर दी। किन्तु, डॉ० तिवारी ने जब ट्रस्ट के प्रधानमंत्री श्रीराधेश्याम अग्रवाल की अत्युत्साह-उदग्रता और अपनी अक्षोभ्य तदग्रता रेखांकित कर दी, तब मेरा मन विगत-सन्देह और तदुन्मुख हो उठा !

स्वभावानुरूप, अश्रान्त तत्परता के साथ डॉ० तिवारी ने अचिरात् गोस्वामी जी के काव्य-मर्म में पैठ रखनेवाले एवं अध्यात्म-दर्शनादि के अधीतविद्य अनेक ख्यात समीक्षकों-लेखकों के प्रशंसार्ह निबन्धों के ढेर लगा दिये जिन्हें देखकर मेरा मन

विस्मयानन्द से भर गया। विषयवस्तु की एतावत्ता के अनुरूप तब उनका सम्पादन-सम्मार्जन भी हो गया। फिर उनके छपने की बारी आई। सामग्री इतनी पुष्कल थी कि 'स्मारिका' की दिनानुदिन रूपायमान प्रदीर्घता 'प्रबन्धक-प्रकाशक' का मन विलुलित करने लगी। मुद्रण के अर्थभार और ततोऽधिक उसकी मन्दाक्रान्ता गति ने धैर्य का अचल डिगा दिया। परिणामतः, शीघ्र एवं उद्वाह्य प्रस्तुति को दृष्टि में रखते हुए सम्पादन-सम्मार्जन के सुबन्ध-व्यवस्थित-क्रम को बलात् भग्न करके, गोस्वामीजी के विशद व्यक्तित्व एवं उनके 'मानस' के बहुकोणीय वैशिष्ट्य को मूर्तित करनेवाले कतिपय सुगंभीर निबन्धों को ड्राप कर दिया गया और जल्दी-जल्दी 'स्मारिका' को कलेवरबद्ध कर डाला गया। इसीलिए सुधीजनों को उसकी अन्तरान्विति में अक्रमबन्धता एवं शिथिलस्वरूपता दृग्गोचर हो सकती है। फिर भी, जैसी-कुछ वह बन पड़ी है, सहृदय-जनावर्जक ही है, ऐसा हमारा विश्वास है।

(ख)

गोस्वामीजी का कृतित्व विश्व-काव्य का प्रतिमान बनने का अमल अधिकारी है। उनका 'मानस' विश्व-मानस को विमल बनाने में एकांत समर्थ है। डॉ० ग्रियर्सन ने उसकी लोकग्राह्यता को बाइबिल से कुछ यों ही नहीं तुलित कर दिया था। वह अपढ़-कुपढ़, पण्डित-ज्ञानी, भक्त-मर्मी---सब के हृदय को सम-समान भाव से आप्लुत किये हुए है। पता नहीं कितने विशद-व्यास सैकड़ों वर्षों से 'मानस' का व्यालोड़न करते हुए श्रद्धालु भावुक-भारतीयों को गद्गद बनाते आ रहे हैं। इसी भांति, उसके उद्भव के साथ ही तमाम-तमाम तत्त्वाभिनिवेषी आलोचक उसके बहिरन्तर चारुत्व-संभार का

विवेचन-विश्लेषण करते चले आ रहे हैं। किन्तु उसमें कुछ ऐसी बात[1] है कि उसकी नव्यता अमन्द ही बनी हुई है। एक ही बात को बार-बार कहना साहित्य में 'पुनरुक्तिदोष' अथवा पिष्टपेषण अथवा चर्वित-चर्वण माना जाता है, अतः कदर्थनीय है; किन्तु जिस प्रकार 'पुनरुक्तिदोष' से न डरते हुए आचार्य-कवि केशवदास अनुदिन 'राम-राम' रटते रहने को श्रेयस्कर निर्धारित करते हैं[2], उसी प्रकार 'मानस' की विविध प्रकार से अनुभावना-अभ्यर्थना हो चुकने के बाद (और अब पुनरुक्तिदोष-दुष्ट होते रहने की पूरी-पूरी आशंका के बावजूद) भी उसमें अवगाहन और उसका अनुभावन-अनुशीलन करने का मन होता ही रहता है। इसी न्याय को दृष्टिगत रखते हुए इस 'स्मारिका' को सुधीजनों के समक्ष रखने में हमें मनागपि संकोच नहीं, बल्कि प्रसन्नता है। उसकी रूपान्विति की नाना त्रुटियों और ख़ामियों से हम बख़ूबी परिचित हैं और उसके लिए हमें ख़ेद भी कम नहीं है। किन्तु अच्छे मार्ग पर फिसलते-लड़खड़ाते भी चलना बुरा नहीं कहा जायेगा!

(ग)

स्मारिका के रूपायन में 'साहित्यमहारथी' डॉ० रमाशंकर तिवारी, मानस-भवन-ट्रस्ट के प्रधानमंत्री श्री राधेश्याम अग्रवाल एवं ट्रस्ट के प्रबन्धक

---

[1] 'हरि अनंत हरि कथा अनंता।
गावहिं श्रुति पुरान मुनि संता॥'—के जैसी कुछ!

[2] 'ताते कवि केशोदास अनुदिन राम-राम
रटत रहत न डरत पुनरुक्ति को।'

—रामचन्द्रिका, १।१

श्री रघुवीरनारायण ओझा जी को जो श्रम करना पड़ा है, वह अभ्यर्थना का आस्पद है; किन्तु आभार तो दूसरों का माना जाता है और यह तो उन्हीं का, उन्हीं के द्वारा कार्य था; इसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देने वाले कौन हैं? इसी प्रकार, आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी और डॉ० जनार्दन उपाध्याय परम परिश्रम करके भी धन्यवाद नहीं, आनन्द के अधिकारी हैं।

हाँ, प्रणाम उन विद्वान्, विमलमति लेखकों को अर्पित करना है जिन्होंने पूरे अवधान और परिश्रम से ऐसे गंभीर लेखों का प्रणयन किया और हमें कृतकार्य बनाया।

इस 'स्मारिका' से तुलसी-काव्य के श्रद्धालु भावकों का स्तोकमात्र भी मनःप्रसादन हो सका, तो मानस-भवन-ट्रस्ट तथा स्मारिका का सम्पादकमण्डल अपने को धन्य समझेगा।

—इति नमस्कारान्ते,

साकेत :

३१ दिसम्बर, १९८१ रामशङ्कर त्रिपाठी

वैदिकवाङ्मये सोमः

□ श्रीशिवप्रसाद द्विवेदी, साहित्यवेदान्ताचार्य, एम० ए०

"षु" प्रसवैश्वर्ययोर्धातोर्मनिप्रत्यये कृते सोम शब्दो व्युत्पद्यते। यद्यपि वैदिकोत्तरसंस्कृतवाङ्मयेऽस्य शब्दस्य नैकेष्वर्थेषु प्रयोगस्समुपलभ्यते, तथापि तत्सर्वंविहायात्र वैदिकसाहित्ये समुपलभ्यमानानां केषाञ्चन सोमशब्दस्य प्रयोगाणाम्मेव पर्यालोचनमत्रविधीयते। यद्यपि सोमशब्दस्य प्रयोगः वेदचतुष्टये समानरूपेण समुपलभ्यते, तथापि तासु-तासु संहितास्वस्य शब्दस्यार्थ-परिवर्तनञ्जातमित्यत्रनास्ति विसंवादलेश.; अतएव प्रथमं सोमशब्दप्रयोगस्य ऋग्वेदसंहितायाम् समुपलभ्यमानस्य मनाङ् निभालनं प्रस्तूयते। तथाहि-'सोम राजन्प्रण आयूंषि' (ऋ० ८।४८।७), 'नाद्रयः सोमो अक्षाः' (ऋ० १०।८९।६), 'सोमो दुग्धाभिरक्षाः' (ऋ० ९।१०७।९), 'इन्द्रः 'सोमस्य काणुका' (ऋ० ८।७७।४), 'अथा सोमस्य प्रयती युवाभ्याम्' (ऋ० १।१०९।२),'सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते' (ऋ० १।१८।६), 'पचतोत सोमम्' (ऋ०—१०।११६।८। 'य उधनि सोमे सुनोति' (ऋ० ५।३४।३) 'मत्वा सोमस्य गल्दया'। (ऋ० ८।१।२०) 'जातवेदसे, सुनवाम सोमम्' (ऋ९१।९९।१), 'सोमः सूतः पूयते अज्यमानः' (ऋ० ९।९७।३५) 'मदे सोमस्य रम्याणि चक्रिरे' (ऋ० १।८५।१०)' यस्य सोमो यो वज्रहस्तः,' (ऋ० २।१२।१४) इत्यादिषु श्रुतिषु आगतः सोनशब्दः औषधिविशेषस्यैव वाचकः प्रतीयते। सोमस्य रसः तथाविधः ऐश्वर्यवर्द्धक आस्ते, यस्य पानं यागेषु पवित्रकरमासीत्। ऋचां पर्यालोचनेनाभाति यत्, देवाः, वैदिका ब्राह्मणाः, यजमानाश्चास्य रसस्य समानरूपेण पानमकार्षुः। अस्यैव प्रभावेण पूताः देवाः पापस्वरूपान् रक्षसः हिन्वन्तिस्म। तथा च-'मदे-सोमस्य रम्याणि चक्रिरे' (ऋ० १।८५।१०) इति-मंत्रांशस्यार्थो वर्तते यत्, मरुतो देवताः सोमपान जन्यैश्वर्यस्यैव प्रभावेऽनेकानि मनोज्ञानि कर्माणि चक्रुः। अनेनैव प्रकारेण यज्ञकार्येषु व्यापृता यजमानाः सोम-पानं कृत्वा अतिलौकिकार्थसम्पादकान् यज्ञान् सम्पादयामासुः। देवा अपि सोमपानमेव कृत्वाऽमृतत्व जग्मुरिति। 'अपामसोमममृता अमूम' (ऋ० ८।४८।३) इति मन्त्रस्य निपुणनिभालनेनाभाति। इममेवार्थंजातं मनसि आकलय्य पाणिनिः सोमशब्दस्य मूलभूतं 'षु' धातुमपि प्रसवार्थकमैश्वर्यार्थकञ्च स्मरति। अतएव हि 'शब्दकल्पद्रुमकाराः' 'स्रौति अमृतत्वमिति' सोमशब्दस्य व्युत्पत्तिं स्वीचक्रुः।

यत्तु-पाश्चात्याः तदनुसरणकर्तारश्च सोमम् मदिरा विशेषं स्वीचक्रुस्तत्त्वसमीक्ष्यकृतत्वात् 'नैषस्या-णोरपराधो यदेणमन्धो न पश्यति।' इति यास्को-क्तिमेव सफलयति। वस्तुतस्तु सोमः अमृतत्वाधिगमो-पयिकैश्वर्यपादकं द्रव्यमित्येव सुवचम्।

सोमशब्दस्यर्गवेदेऽप्यर्थान्तरे प्रयोगो दृश्यते-यथा-'इन्द्रा सोमा' (ऋ० ७।१०४।१)। इति मन्त्रे सोमाख्य-देवस्य वाचकोऽस्ति सोमशब्दः। 'सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि' (ऋ० १०।१३७।३) इत्यत्रापि सोमशब्दः देवताया एव वाचको वर्तते। 'सोमम् गावो धेनवो वावशाना' (ऋ० ९।९७।५) इति ऋचि सोम शब्दः आदित्यस्य वाचको वर्तत इति निरुक्तकारा वदन्ति।

सामवेदे तु सोमशब्दस्य बहुष्वर्थेषु प्रयोगस्संजात इति सामवेदीयब्राह्मणग्रन्थानां पर्यालोचनेनाभाति तथा च षड्विंशब्राह्मणस्य (१।१।९) वाक्ये 'राजा' पदवाच्यस्सोमः औषधिविशेष एव। परन्तु-'विश्वेदेवास्सत्रमासत सोमेन राज्ञा गृहपतिना। ते ब्रुवन्त्सोम एव नो राजा सर्वत्र विमवेदिति।

तस्मात्सोमो राजा सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति । 'सोमो हि रेतोधाः ।' (षड्विंश ब्रा० ४।६।२) इति वाक्ये सोमः गृहपतिरूपेण, चन्द्ररूपेण, रेतोधायकरूपेण च नूनं कीर्तितः । अस्य वाक्यस्य वेदार्थप्रकाशे सायणाचार्यो वक्ति यत्-अस्मिन् वाक्ये सोमगृहपतिकं सत्रम् प्रशस्यते । षड्विंशब्राह्मणस्य 'सोम उत्तरायाम्' (५।४।६) इति वाक्ये सोमः यूपस्योत्तरस्या आग्नेर-धिष्ठातृदेवतारूपेण कीर्त्यते । अस्यैव ब्राह्मणस्य ५।६।२ वाक्ये सोमचन्द्रमसोस्समानार्थकतामङ्गीकृत्य प्रतिपादितं भवति यतः कृष्णे पक्षे देवाः, रुद्रा वसवश्च सोमस्य पञ्चदशकला भक्षयन्ति, तस्मादेव कारणात् कृष्णपक्षे पञ्चदश दिनानि यावत् कला-कलातोऽपक्षीणश्चन्द्रोऽमावस्यायां कलयैकयाऽव-शिष्यते । इति ।

'तान्येतानि सर्वाणि सोम देवत्यानि अद्भुतानि प्रायश्चित्तानि भवन्ति ।' (षड्वि० ब्रा० ६।६।२) इति श्रुत्यरनुसारेण प्रायश्चित्तविशेषाणामधिष्ठातृ देवो भवति सोमः । 'सोमं राजानं वरुणम्' (सा० - ९१) इति सामश्रुतौ सोमो वरुणसदृशो देवविशेषो वर्णितः । सामवेदीयार्षेयब्राह्मणग्रन्थे 'सोमसाम च' (१।४।६) 'सोमसाम वा' (२।६।११) इत्यादि-केषु वाक्येषु सोमः साम्नामधिष्ठातृत्वेन वर्णितः । सामवेदीयदेवताध्यायब्राह्मणस्य 'ऋक्समानि सौमानि' (१।६) इति वाक्यानुसारेण ऋगक्षर व्यतिरितानि स्तोभरहितानि केवलङ्मन्त्रयुक्तानि सामानि सोम दैवतानि भवन्ति । अस्यैव ब्राह्मणस्य "अग्निरिन्द्र प्रजापतिः सोमो वरुणस्त्वष्टाङ्गिरसः पूपासरस्-वतीन्द्राग्नी ।" (१।१) वाक्ये साम्नामधिष्ठातृत्वेन कीर्तितासु देवतासु सोमः चतुर्थं स्थानं बिभर्ति । सामवेदीयारण्यकगाने (४।१।१७५।१) सोमव्रतस्य वर्णना समुपलभ्यते । सामवेदीय संहितोपनिषद् ब्राह्मणस्य 'षड्भागं करकं यः प्रयच्छति अपिपासितश्च म्रियते । सोमपश्चाभिजायते' (४।१४) श्रुतौ व्रतस्नान-काले आचार्याय प्रियं धनं प्रदाय गृहस्थाश्रमे प्रविश्य स्ववर्णाश्रमानुकूलविहितकर्मानुष्ठानपरायणस्य देवत्वाप्ति वर्ण्यते 'सोमपः' शब्देन । ऋग्वेदस्यापि १।२२।२ ऋचि इन्द्रपत्नी, २।४१।२७ ऋचि च सर्वे यज्ञीया देवाः सोमपानार्थमाहूयन्ते । सामवेदीय जैमिनीयार्षेयब्राह्मणस्य व्रतपर्वणि 'त्रीणिसोमस्य च व्रतानि' (२।१) श्रुतौ त्रयाणां सोमव्रतानां चर्चा विधीयते । सामवेदीय जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मणस्य 'सोमवृहस्पती उद्गीथः (१।३।६) इति श्रुतौ 'सोम-वृहस्पत्योः' (१।४।७) इति श्रुतौ च समानरूपेण सोमवृहस्पत्योरुद्गीथत्वं वर्ण्यते । सामवेदीय 'प्रतिहार सूत्रेषु' १३।२ सूत्रस्य व्याख्याने वरदराजा-चार्यः ४।१। १७५-१७६ साम्नोः सोमव्रते विनियोगं वक्ति ।

माध्यन्दिनशुक्लयजुर्वेदस्य १२।२२ तथा १२।२६ मन्त्रयोरग्निस्"सोमगोपा" रित्यभिधीयते । अस्यैव वेद-स्य १२।७१ मंत्रे 'कृषबला देवता' सोमपित्सरुरित्य-भिधीयते । अथर्ववेदस्य ३।१७।३ मंत्रे सैव 'सोमसत्सरु' रित्युच्यते । इत्थमत्रसर्वत्र सोमशब्दः ऐश्वर्यस्यवाचकः प्रतीयते ।

अतएव वेदेषु ऐश्वर्यामृतत्वयोः प्रदायिनी, याज्ञिका-नाम्, देवानाम् यजनशीलानाञ्च प्रियतमा दिव्यौषधि-रूपेण, क्वचन देवताविशेषरूपेण, क्वचन चन्द्ररूपेण, क्वचन व्रतानां, क्वचन यज्ञानां, क्वचन च साम्नाम-धिष्ठातृरूपेण वर्णितः सोमशब्दोस्मिन् लघुकाये निब-न्धे मनाग् व्याकृतः । परञ्च वैदिकवाङ्मयव्याकरण-कोशादिकानां परमार्थपर्यालोचनं कुर्वताम् जनानामत्र विशदं विवेचनमपेक्षितं वर्तते, येन सोमस्य वास्तविकं वैदिकं स्वरूपं सर्वेषां समक्षमाविष्कृतं स्यादिति शम् ।

— वेदान्तविभागाध्यक्षः, श्रीहनुमत्संस्कृतमहाविद्यालयस्य,
हनुमानगढ़ी, अयोध्यायाः

उपनिषदें: एक परिचय

□ श्रीशिवप्रसाद द्विवेदी, साहित्यवेदान्ताचार्य:, एम० ए०

वेदों के दो भाग – कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड

कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड नाम से द्वेधाविभक्त सम्पूर्ण-वैदिक वाङ्मय, सृष्टि के प्रारम्भ से ही सकल जगद्धितानुशासन में प्रवृत्त है। कर्मकाण्ड भाग में प्रथम तीन पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म एवं काम) पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है; किन्तु चरम पुरुषार्थ (मोक्ष) पर विचार इस भाग में नहीं अथवा बहुत कम किया गया है। मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष के साधन, मोक्ष के अधिकारी, मोक्ष के फल तथा मोक्ष के विरोधी तत्त्व का पूर्णरूप से विचार वेदों के अन्तिम भाग ज्ञानकाण्ड का विषय है।[1]

उपनिषद् शब्द का प्रवृत्ति–निमित्त

वेद के अन्तिम भाग ज्ञानकाण्ड को वेद का सिद्धान्त अथवा सारस्वरूप होने के कारण वेदान्त[2] कहा जाता है तथा अल्प एवं क्षयिष्णु[3] दुःखपूर्ण[4] संसार से विषण्ण,[5] शान्ति-दान्ति-उपरति तथा तितिक्षुत्व से सम्पन्न,[6] साधनसप्तकानुगृहीत[7] प्रमाता के प्राप्यभूत परब्रह्म की प्राप्ति के अद्वारक (प्रत्यक्ष) साधन[8] होने के कारण उसे 'उपनिषद्' शब्द से अभिहित किया जाता है। 'उप' तथा 'नि' पूर्वक 'षदलृविशरणगत्यवसादनेषु[9] धातु से क्विप् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न 'उपनिषद्' का व्युपत्तिलभ्य अर्थ है— संसार के बन्धनों को शिथिल बनाकर तथा उसे नष्ट करके मुमुक्षु को ब्रह्म के अत्यन्त सन्निकट पहुँचा देने वाली विद्या। अथवा[10] हृदय की ग्रंथि को शिथिल बनाकर, कर्मबन्धनों के विनाशपुरस्सर जीवों को नैसर्गिकरूप से आविर्भूतगुणाष्टक[11] बना देनेवाली विद्या का नाम 'उपनिषद्' है।[12] 'उपनिषद्' शब्द के सम्प्रदायसिद्ध

प्राप्यस्यब्रह्मणोंरूपम्प्राप्तुश्चप्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायंफलं प्राप्तेस्तथाप्राप्तिविरोधि च॥ वदन्ति-सकलावेदा वेद वेदान्त वेदिनः। (हारीत स्मृति,

२. वेदस्य अन्तः (अन्तिमो भागः, सारः सिद्धान्तोपा) वेदान्तः।
३. छा० उ० ८।१।६
४. दुःखमूलं दुःखमिश्रं दुःखोद्वर्कथास्थिरम्। अल्पं देहात्लधीमूलं दायप्राप्ति विरोधि च (अ० बु० सं)
५. (मु० १।२।१२)
६. (छा० उ० ग्रन्थ)
७. तल्लब्धिः– विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्वैः (वाक्यग्रन्थ)
८. (अष्टाध्यायी १।४।४२)
९. षद्लृ धातु के विशरण (नाश) अवसादन (शिथिलीकरण) तथा प्राप्ति ये तीन अर्थ है।
१०. संसारबन्धं शिथिलीकृत्य विनाश्य च बदलगमयति या स्य विद्योपनिषद्।
११. छा० उ० ८।१।५
१२. शीर्यतेहृदयग्रन्थिः कर्मबन्धो विनश्यति। गम्यते स्वं यथारूपं सा विद्योपनिषन्मता॥ (श्री ऐ० कृ० ईशादि दशोपनिषद् व्याख्या की प्रस्तावना पृ० ८)

प्राचीन अर्थ को बतलाते हुए श्रुतप्रकाशिकाकार श्री सुदर्शनसूरि लिखते हैं कि— छान्दोग्य ब्राह्मण की वृत्ति 'वाक्यग्रंथ' के अनुसार साक्षाद् ब्रह्माभिव्यंजिका अथवा जीवों को आविर्भूतगुणाष्टक बना देने वाली विद्या का नाम 'उपनिषद्' है।[13] 'वाक्यग्रन्थ' के भाष्यकार द्रमिडाचार्य के अनुसार उपनिषद् विद्या गहन में सन्निविष्ट है।[14] द्रमिडभाष्य की वामन टीका में इस वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि– 'गहने = ब्रह्मणिउपनिषण्णा'[15] अर्थात् ब्रह्म की साक्षात् प्रतिपादिका विद्या का नाम उपनिषद् है। 'उपनिषण्णा' पद का अर्थ है– 'अद्वारकप्रतिपादिका'।[16]

परवर्ती आचार्यों के अनुसार सभी विद्याओं की अपेक्षा अधिक रहस्यात्मक होने तथा संसारोद्विग्न-मुमुक्षुपुरुषों द्वारा आचार्य की सन्निधि में बैठकर ग्राह्य होने के कारण ही 'ब्रह्मविद्या' को 'उपनिषद्' शब्द से अभिहित किया जाता है। अर्थात् शास्त्रों में 'परा' एवं 'अपरा' नाम की दो विद्याओं को वेदितव्य[17] बतलाकर पराविद्या को ही आत्म-परमात्म-स्वरूप याथात्म्यावगति-पूर्वक प्राप्य परं ब्रह्म की वोधिका बतलाया गया है।[18] वह परा विद्या ही, उपनिषदों तथा तदुपवृंहणग्रंथों में आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या उपनिषद्विद्या आदि नामों से अभिहित की गयी है और इस विद्या के प्रकाशक होने के कारण– ईश, केन कठ आदि ग्रंथों के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का उपचार होता है।

उपनिषदों की संख्या—

उपनिषदों के विषय में यह जानकारी अपेक्षित है कि वेदों की जो ११३१ शाखाएँ[19] बतलायी गयी हैं, उनमें से प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषदें कभी थीं जो उस शाखा के रहस्य का उन्मीलन करती थीं। इस उरह उपनिषदों की संख्या ११३१ होनी चाहिए, किन्तु काल की दीर्घ परम्परा तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक-सामयिक प्रभावों एवं दैवदुर्विपाकों के कारण उपनिषत्-सम्पत्ति की संख्या वहुत कम रह गयी है जिनका भारत में प्रकाशन हुआ है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, वम्बई, से प्रकाशित 'उपनिषद्-वाक्य कोष' में २२३ उपनिषदों के वाक्य संगृहीत हैं। श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डीस्वामी जी ने छान्दोग्योपनिषद् की 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या में (संवत् २०३२ में प्रकाशित) २०९ उपनिषदों के नामों को संकलित किया है[20] जिनमें मुक्तिकोपनिषद् के १।२९ से ४० श्रुतिपर्यन्त मोक्षाधिगम के साधकतम रूप से उक्त १०८ उपनिषदों[21] का भी नाम आ गया है। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, ने 'उपनिषत्संग्रह' में १८८ उपनिषदों को १९८० में प्रकाशित किया है। अोडियार लाइब्रेरी, मद्रास, से भी कई भागों में उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें १७९ उपनिषदों का संकलन है। पण्डित पुस्तकालय से प्रकाशित उपनिषदों के संग्रह में १२३ उपनिषदें संगृहीत हैं। गीता-प्रेस, गोरखपुर, से प्रकाशित 'कल्याण' मासिक के २३ वें वर्ष के विशेषांक में ५२ उपनिषदों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हैं। इनमें ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय एवं तैत्तिरीय इन आठ उपनिषदों के मूल भी हिन्दी के साथ प्रकाशित हैं।

---

१३. 'ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषद्' 'उपनिषण्णत्वाद्वीपनिषत्' इतिहिवाक्यम् (श्रीभाष्यमं० के श्रुतप्रकाशिका।)

१४.-१५. श्रीभाष्यमं० २ श्रु० प्र०

१६. श्री भा० मं० २ क्षु० प्र०

१७. मु० उ० १।१।४

१८. मु० उ० १।१।५

टिप्पणी :— १९–'सहस्रवत्मी सामवेदः, एकविंशतिधा वहवृच एकशतमध्वर्युशाखा, नवधा आथर्वणः' (पा० म० भा० पस्पशाह्निकं) २०–पृष्ठ २२ से २५,

इस तरह भारत में प्रकाशित उपनिषदों की संख्या विवादास्पद है। तथापि, जिज्ञासु व्यक्तियों के तोषार्थं अकारादिक्रम से मुद्रित उपनिषदों के नाम नीचे दिये जाते है :—

१–अक्षमालोपनिषद्, २–अक्षि-उपनिषद्, ३–अथर्व-शिखोपनिषद् ४–अथर्व शिर-उपनिषद्, ५–अद्वयतार-कोपनिषद्, ६–अद्वैतोपनिषद् ७–अद्वैतभानोपनिषत्, ८–अध्यात्मोपनिषद्, ९–अनुभवसारोपनिषत्, १०–अन्नपूर्णोपनिषत्, ११–अमनस्कोपनिषत्, १२–अमृतनादोपनिषद् १३–अमृतविन्दु – उपनिषद् (ब्रह्मविन्दूपनिषद्), १४-अरुणोपनिषद्, १५-अल्लोप-निषद्, १६–अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं–पद्यात्मक), १७–अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक), १८–अव्यक्तोपनिषद्, १९–आचमनोपनिषद्, २०–आत्मपूजोपनिषद् २१–आत्मप्रवोधोपनिषद्, २२–आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक), २३–आत्मोपनिषद्-(पद्यात्मक), २४–आथर्वण द्वितीयोपनिषद् (वाक्या-त्मक एवं मन्त्रात्मक), २५–आयुर्वेदोपनिषद्, २६–आरुणिकोपनिषद्, २७–आर्षेयोपनिषद्, २८-आश्रमोपनिषद्, २९-इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक-एवं पद्यात्मक), ३०–ईशावास्योपनिषद्, ३१–उत्तर-नारायणोपनिषद्, ३२–ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्या-त्मक एवं पद्यात्मक), ३३–एकाक्षरोपनिषद्, ३४-ऐत-रेयोपनिषद् (अध्यायात्मक पूर्वभाग), ३५–ऐतरेयोप-निषद् (खण्डात्मक मध्यभाग आत्मषट्कोपेत), ३६–ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक उत्तरभाग), ३७-कठरुद्रोपनिषद्, (कण्ठोपनिषद्), ३८–कठोपनिषद्, ३९–कठश्रुत्युपनिषद् ४०–कलिसंतरणोपनिषद्, (हरिनामोपनिषद्), ४१-कात्यायनोपनिषद्, ४२–काम-राजकीलितोद्धारोपनिषद्, ४३–कालाग्निरुद्रोप-निषद्, ४४-कालिकोपनिषद्, ४५–कालीमेधादीक्षितोप-निषद् ४६–कुण्डिकोपनिषद्, ४७–कृष्णोपनिषद्, ४८–केनोपनिषद्, ४९–कैवल्योपनिषद्, ५०–कौलोप-निषद्, ५१–कौषितकि ब्राह्मणोपनिषद्, ५२–क्षुरिकोपनिषद् ५३–गणपत्यथर्वशीर्षोप-निषद्, ५४–गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वता पिन्युपनिषद्), ५५–गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद्, (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्), ५६–गर्भोपनिषद्, ५७–गान्धर्वोपनिषद्, ५८–गायत्र्युपनिषद्, ५९–गायत्रीरहस्योपनिषद्, ६०–गारुडोपनिषद्, (वा-क्यात्मक एवं मन्त्रात्मक) ६१–गुह्यकाल्युपनिषद्, ६२–गुह्यषोढान्यासोपनिषद्, ६३–गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् ६४–गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्, ६५–गोपीचन्दनोप-निषद्, ६६–चतुर्वेदोपनिषद्, ६७–चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्), ६८–चित्युपनिषद्, ६९–छागलेयोपनिषद्, ७०–छान्दोग्योप-निषद्, ७१–जावालदर्शनोपनिषद्, ७२–जावालोप-निषद्, ७३–जावाल्युपनिषद्, ७४–तारसारोपनिषद् ७५–तारोपनिषद्, ७६–तुरीयातीतोपनिषद्, (तीतोप-निषद्), ७७–तुरीयोपनिषद्, ७८–तुलस्युपनिषद्. ७९–तेजविन्दूपनिषद्, ८०–तैत्तिरीयनारायणोपनिषद्, (याज्ञिकी) (नारायणाथर्वशीर्ष, नारायणोपनिषद्), ८१–तैत्तिरीयोपनिषद्, ८२–त्रिपाद्विभूतिमहानारा-यणोपनिषद्, ८३, त्रिपुरातापिन्युपनिषद्, ८४–त्रिपुरो-पनिषद्, ८५–त्रिपुरामहोपनिषद्, ८६–त्रिशिखिब्राह्म-णोपनिषद् ८७–त्रिसुपर्णोपनिषद् ८८–दक्षिणामूर्त्युप-निषद्, ८९–दत्तात्रेयोपनिषद्, ९०–दत्तोपनिषद्, ९१–दुर्वासोपनिषद्, ९२–देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक), ९३–द्वयोपनिषद्, ९४–ध्यानविन्दूपनिषद् ९५–नादविन्दूपनिषद्, ९६–नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ९७–नारदोपनिषद्, ९८–नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्, ९९–नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्, १००–नारायणोप-निषद्, १०१–निरालम्बोपनिषद्, १०२–निरुक्तोप-निषद्, १०३–निर्वाणोपनिषद्, १०४–नीलरुद्रोपनिषद्, १०५–नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्, १०६–नृसिंहषट्चक्रो-पनिषद्, १०७–नृसिंहोत्तरतापिन्योपनिषद्, १०८–पञ्चब्रह्मोपनिषद्, १०९–परब्रह्मोपनिषद्. ११०-परम-हंसपरिव्राजकोपनिषद्, १११–परमहंसोपनिषद्, ११२-पारमात्मिकोपनिषद्, ११३–पारायणोपनिषद्, ११४–पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, ११५–पिण्डोपनिषद्, ११६–पीताम्बरोपनिषद्, ११७–पुरुषसूक्तोपनिषद्, ११८–पैंग

लोपनिषद् ११९–प्रणवोपनिषद्. (पद्यात्मक), १२०–प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक), १२१–प्रश्नोपनिषद् १२२–प्राण.ग्निहोत्रोपनिषद्, १२३–वटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्), १२४–बह्वृचोपनिषद्. १२५–बाष्कलमन्त्रोपनिषद्, १२६–विल्वोपनिषद् (पद्यात्मक), १२७–विल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक), १२८–बृहज्जाबालोपनिषद्, १२९–बृहदारण्यकोपनिषद्, १३०–ब्रह्मविद्योपनिषद्. १३१–ब्रह्मोपनिषद्, १३२–भगवद्गीतोपनिषद्, १३३–भवसंतरणोपनिषद्, १३४–भस्मजाबालोपनिषद्, १३५–भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्), १३६–भिक्षुकोपनिषद्, १३७–मठाम्नायोपनिषद्, १३८–मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, १३९–मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्) १४०–मल्लायुपनिषद्, १४१–महानारायणोपनिषद् (बृहन्नारायणोपनिषद्, उत्तरनारायणोपनिषद्), १४२–महावाक्योपनिषद्, १४३–महोपनिषद्, १४४-माण्डुक्योपनिषद्, १४५-माण्डुक्योपनिषत्कारिका-(क) आगम-प्रकरण, (ख) अलातशान्ति – प्रकरण, (ग) वैतथ्य–प्रकरण, (घ) अद्वैत–प्रकरण, १४६–मुक्तिकोपनिषद्, १४७–मुण्डकोपनिषद्, १४८–मुद्गलोपनिषद्, १४९–मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्, १५०–मैत्रायण्युपनिषद्, १५१–मैत्रेय्युपनिषद्, १५२–यज्ञोपवीतोपनिषद्, १५३–याज्ञवल्क्योपनिषद्, १५४–योगकुण्डल्युपनिषद्, १५५–योगचूडामण्युपनिषद्, १५६– (क) योगतत्त्वोपनिषद्, १५७– (ख) योगतत्त्वोपनिषद, १५८–योगराजोपनिषद्, १५९-योगशिखोपनिषद्, १६०–योगोपनिषद्, १६१--राजश्यामलरहस्योपनिषद्, १६२– राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक), १६३–राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक), १६४–रामपूर्वतापिन्युपनिषद् १६५–रामरहस्योपनिषद्, १६६-रामोत्तरतापिन्युपनिषद् १६७-रुद्रहृदयोपनिषद्, १६८-रुद्राक्षजाबालोपनिषद्, १६९–रुद्रोपनिषद्, १७०–लक्ष्म्युपनिषद्, १७१–लाङ्गूलोपनिषद्, १७२–लिङ्गोपनिषद्, १७३-वज्रपञ्जरोपनिषद् १७४-वज्रसूचिकोपनिषद्, १७५–वनदुर्गोपनिषद्, १७६– वाराहोपनिषद्, १७७-वासुदेवोपनिषद्, १७८--विश्रामोपनिषद्, १७९-विष्णुहृदयोपनिषद्, १८०-शरभोपनिषद् १८१--शाट्यायनीयोपनिषद्, १८२-शाण्डिल्योपनिषद्, १८३-शारीरकोपनिषद्, १८४–(क) शिवसंकल्पोपनिषद्, १८५– (ख) शिवसंकल्पोपनिषद्, १८६-शिवोपनिषद्, १८७-शुकरहस्योपनिषद्, १८८-शौनकोपनिषद्, १८९-श्यामोपनिषद्, १९०–श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्, १९१– श्रीचक्रोपनिषद्, श्रीविद्यातारकोपनिषद्, १९३–श्रीसूक्तम्, १९४-श्वेताश्वतरोपनिषद्, १९५-षोढोपनिषद्, १९६-संकर्षणोपनिषद्, १९७-सदानन्दोपनिषद्, १९८-सन्ध्योपनिषद् १९९-संन्यासोपनिषद्, (अध्यायात्मक), २००-संन्यासोपनिषद्, (वाक्यात्मक), २०१-सरस्वती रहस्योपनिषद्, २०२-सर्वसारोपनिषद्, २०३-सहवैउपनिषद्, २०४-संहितोपनिषद्, २०५-सामरहस्योपनिषद्, २०६-सावित्र्युपनिषद्, २०८-सिद्धान्तविट्ठलोपनिषद्, २०८-सिद्धान्तशिखोपनिषद्, २०९-सिद्धान्तसारोपनिषद्, २१०-सीतोपनिषद्, २११-सुदर्शनोपनिषद् २१२-सुबालोपनिषद्, २१३-सुमुख्योपनिषद्, २१४-सूर्यतापिन्युपनिषद्, २१५--सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्, २१६-स्कन्दोपनिषद्, २१७-स्वसंवेद्योपनिषद्, २१८-हयग्रीवोपनिषद्, २१९-हंसषोढोपनिषद्, २२०-हंसोपनिषद्, २२१-हिरण्यगर्भोपनिषद्, २२२-हेरम्बोपनिषद्।

गुजराती प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित उपनिषद् वाक्यकोश में जिन उपनिषदों के नाम आये हैं, उनमें हिरण्यगर्भोपनिषद् तथा उत्तरनारायणोपनिषद् के नाम नहीं हैं। किन्तु, इन दोनों उपनिषदों का प्रकाशन उभयवेदान्तग्रन्थमाला, नाथमुनिवीथी, मद्रास, से हुआ है, भाष्यों के साथ। साथ ही,–"अग्निरहस्य" जिस पर 'रङ्गरामानुजमुनि' का भाष्य है तथा जिसकी 'शाण्डिल्यविद्या' तथा 'पुरुषविद्या' ब्रह्मसूत्रों में व्याख्यात है–की गणना उपनिषदों में अभी तक नहीं की गयी है। 'नारायणोपनिषद्' के नाम से 'उपनिषद्वाक्यकोश' तथा 'उपनिषद्-संग्रह' में जो उपनिषद् आयी है, वह इस संग्रह में 'तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् याज्ञिकी के नाम से लिखी गयी है। इसके

अतिरिक्त, 'उभयवेदान्तग्रन्थमाला', नाथमुनिवीथी मद्रास," से प्रकाशित उपनिषदों के साथ जो 'नारायणोपनिषद्' प्रकाशित है, वही यहाँ पर १०० वें उपदिषद् के रूप में संगृहीत है। वस्तुतः इसका ही नाम 'नारायणोपनिषद्' होना भी चाहिए; क्यों कि इसमें ही 'नारायणमंत्र' की रहस्यात्मक ढंग से व्याख्या की गयी है। 'उपनिषद्वाक्यकोश' में जिन उपनिषदों के नाम संगृहीत हैं उनमें 'देव्युपनिषद् नं० २' तथा 'शिवरहस्य' के 'उपनिषद्स्तुति' का प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया है। स्वयं 'उपनिषद्वाक्य-कोश' में इन दोनों उपनिषदों का कोई वाक्य भी नहीं संगृहीत है। इसी संदर्भ में एक बात और विचारणीय है कि यदि 'श्रीसूक्त' को उपनिषदों के अन्तर्गत मान लिया गया है, तो फिर, चारो वेदों में प्रख्यात 'पुरुषसूक्त' को उपनिषदों में क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाय। मेरे विचार से 'अग्निरहस्य' तथा 'पुरुषसूक्त' को अवश्य उपनिषदों के अन्तर्गत होना चाहिए। इस तरह उपनिषदों की सम्पूर्ण संख्या २२४ हो जाती है। 'माण्डूक्योपनिषत्कारिका' के चार प्रकरणों- आगम, अलात, शान्ति, वैतथ्य तथा अद्वैत को चार उपनिषद् के रूप में 'उपनिषद्वाक्यकोश' में स्वीकार किया गया है, किन्तु इन प्रकरणों को अलग-अलग उपनिषदों के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं है। अतएव, मैंने उसे एक ही माना है, और गीता प्रेस के 'उपनिषदङ्क' में भी उसे एक ही माना गया है। मेरे विचार से तो 'माण्डूक्योपनिषत्कारिका' को भी उपनिषद् मानना ही अनुचित है, क्योंकि यह तो 'गौड़पादाचार्य' की रचना है। ऐसी रचनाओं को उपनिषदों में संगृहीत करने पर उपनिषदों की संख्या में एक बहुत बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज हमारी उपनिषदें अपनी पूरी संख्या के केवल २/११ भाग ही अवशिष्ट हैं, शेष उपनिषदें या तो प्रकाश में नहीं आयीं या किसी तरह नष्ट हो गयी अथवा किसी प्रकार वैदेशिकों की लाइब्रेरियों में सुरक्षित हो गयीं होंगी जिनकी खोज होनी चाहिए।

उपनिषदों के नष्ट होने के कुछ कारण—

इसमें कोई दो राय नहीं कि बुद्ध से पूर्वकाल तक आचार्यों के मनन-चिन्तन का प्रधान विषय उपनिषदें ही थीं। आत्म - परमात्म - चिन्तन की एक मात्र पथ-प्रदर्शिका उपनिषदें वाल्मीकि, बोधायन, बादरायण, प्रभृति बुद्ध से सुदूरपूर्ववर्ती आचार्यों के अर्थपञ्चक विज्ञान के विशाल भण्डार में तत्वदुपबृंहणग्रन्थों के माध्यम से सुरक्षित होती रहीं। बुद्ध तथा तदुत्तर-काल से उपनिषदों के विनाश की लीला प्रारम्भ होती है। वैदिक धर्म से पराङ्मुख बुद्ध के चिन्तन की चरम सीमा प्राकृत जडतत्व बुद्धि में ही पर्यवसित हो गयी।

उपनिषदों की सुरक्षा

बुद्धकाल में अध्यात्म–विचारकों ने वैदिक विचारों को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने की कोशिश भी की किन्तु राज्याश्रित बौद्धदर्शन के चाकचक्य में उनका कुछ भीं नहीं चला। दीर्घकाल से उपेक्षित वैदिक विज्ञान - वैपुल्य के परमप्रकाशक आठवीं शती के महामनीषी भगवान् शंकराचार्य ने वेदवृक्ष के संरक्षणार्थ 'अध्यास' की ओट में "पारमार्थिक ब्रह्मतत्व" की एकता का प्रतिपादन किया।

भगवान् शंकराचार्य के पश्चात् श्रीरामानुजाचार्य एक दूसरे युगद्रष्टा के रूप में आए। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोदित तत्त्वों की पारमार्थिकता स्वीकार की। श्रीरामानुजाचार्य ने औपनिषद तत्त्वों के परिशीलन की जो दृष्टि दी, वह परवर्ती अध्यात्म-चिन्तन के आचार्यों के लिए निदर्शन बन गयी; और वे भी उन्हीं के प्रकाश में चित्, अचित् तथा ईश्वर के स्वरूप का परिशीलन करते रहे। इनसभी आचार्यों के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप विलुप्तप्राय औपनिषद ज्ञान-राशि पुनः प्रकाश में आयी जिसका निरूपण हमारा वर्तमान प्रयोज्य है।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य

उपनिषदों में मुख्यरूप से चित् (चेतन) अचित्

(अचेतन) तथा ईश्वर के स्वरूप तथा ईश्वर, परमात्म-प्राप्ति की साधनभूत विद्याओं (उपासनाओं) का वर्णन तथा परमात्म - प्राप्ति के विरोधी तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

चित् तत्त्व

'चित्' शब्द 'चेतयति' इस विग्रह के अनुसार 'आत्मा' का वाचक है। इस तरह चित्, चेतन, प्रत्यक, आत्मा, जीव आदि शब्द चित् के ही वाचक हैं। उपनिषदों के परमार्थपर्यालोचन से स्पष्ट है कि चित् (जीव) स्वभावतः, अजड़, आनन्दस्वरूप, नित्य, अणु-परिमाणवाला, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय तथा ईश्वर का नियाम्य, धार्य एवं शेष है।[२१]

आत्मा को अजड़ कहने का अभिप्राय है कि ज्ञान के बिना भी उसका प्रकाश होता रहता है। वृहदारण्यकोपनिषद् की (६।३।७) श्रुति उसे अजड़ बतलाती हुई कहती है– आत्मा हृदय के भीतर स्वयं-प्रकाश रूप से विद्यमान है। आत्मा की सुख-स्वरूपता की सिद्धि सदा अनुकूल रूप से प्रतीत होने के ही कारण हो जाती है, क्योंकि अनुकूल प्रतीति का ही नाम सुख है।[२२] कठोपनिषद् २।१८+भ० गी० २।२०+भ० संहिता २।३६ आदि स्थलों में अत्यन्त प्रसिद्ध एक वाक्य के अनुसार आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं अनादि है। इससे आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि सुतरां हो जाती है। कठोपनिषद् २।१८ की पूर्वार्द्ध श्रुति स्पष्ट रूप से बतलाती है कि "आत्मा अजन्मा तथा मरण-रहित है।" आत्मा के अणुत्व को बतलाती हुई मुण्डकोपनिषद् की ३।१।६ श्रुति कहती है– 'यह आत्मा अणु-परिमाणक तथा मनसैकवेद्य है। बादरायण भी 'शारीरकमीमांसा २।३।२० में कहते हैं कि आत्मा को अणु - परिमाणक माने विना, शरीर-त्याग-काल में शरीर से उत्क्रमण[२३], अर्चिरादिमार्ग[२४] तथा धूमादि[२५]मार्ग के तत्-तत् लोकों में गमन पुनः धूमादिमार्ग से गये जीव का इस लोक में लौटना आदि संभव नहीं हो सकेगा। घटादि पदार्थों के समान चक्षुरादिवेद्य न होकर मनसैकवेद्य होने के कारण ही आत्मा को अव्यक्त माना जाता है। यामुनाचार्य आत्मसिद्धि में लिखते हैं —

'वेदवाक्यों से आत्मा के स्वरूप का श्रवण करके, अनुमानप्रमाण द्वारा उसकी सत्ता का अनुमान करके योगीजन, योगजप्रत्यक्ष की चरमावस्था में स्वेतर समस्तवस्तुविलक्षण रूप से आत्मा का पहले विशद, पुनः विशदतर, तदनंतर विशदतम तथा अन्त में यथावत् रूप से साक्षात्कार कर लेते हैं।[२६] स्वेतर समस्तवस्तुविलक्षण स्वभाववान् होने के ही कारण आत्मा किसी भी वस्तु के सजातीयतया चिन्तनीय नहीं रह जाता है। ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही आत्मा निरवयव तथा अचिद्विकाररहित होने के करण आत्मा सदा एकरूप रहता है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि ज्ञानों का आधार होने के ही कारण आत्मा ज्ञानाश्रय है। छान्दोग्योपनिषद् ८/१२/४ के अनुसार जो जानता है कि मैं इस सुगन्धित द्रव्य को सूंघता हूं, वही आत्मा है। प्रश्नोपनिषद् (४/६) बतलाती है कि 'यह देखने, सुनने, सूंघने, चखने तथा मनन करनेवाला ज्ञाता, कर्ता एवं विज्ञानस्वरूप आत्मा है। छान्दोग्योपनिषद् ८/२२/२ के अनुसार मुक्त जीव अपने मन नामक दिव्य इन्द्रिय के द्वारा सभी पदार्थों का अनुभव करता है। वृहदारण्यकोपनिषद् की २/४/१४ श्रुति आत्मा के ज्ञानाश्रयत्व के अत्यन्तायोग का व्यवच्छेदन करती हुई कहती है————जीव ज्ञानाश्रय है ही। शतपथ ब्राह्मण की १४/५/३०[२७] श्रुति बतलाती है

२१— 'अजडमानन्दरूपं नित्यमण्वव्यक्तमचिन्त्यं निरवयवं निर्विकारं ज्ञानाश्रयभूतमीश्वरस्य नियाम्यं धार्यंशेषभूतञ्च।' २२-- अनुकूलं ज्ञानं सुखम् (आकरग्रन्थ), २३– (वृ० उ० ६।४।२), २४-- (क) मुक्तोर्चिर्दिन पूर्वपक्षषड्उदङ् मासाब्द वातांशुमद्। ग्लौर्विद्युद् वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः (वरदराजाचार्य, सत्संगपद्यद्वय–१, (ख) (गी० ८।२४), २५– (गीता ८।२५., २६-- 'आगमानुमानयोगजप्रत्यक्षैः स्वेतरसकलविलक्षणस्वाभाव्येन विशदविशदतरविशदतमतयान्ततो यथावदपरोक्ष्यत इति (आ० सि० उपो०),
२७— य आत्मानमन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरम्।

कि ईश्वर आत्मा के भीतर रहते हुए [illegible] अंतरङ्ग किन्तु आत्मा जिसे नहीं जानता उस ब्रह्म का शरीर है। इस श्रुति में आत्मा को ईश्वर का शरीर बतलाया गया है। शरीर का धर्म है कि यह आत्मा का धार्य, नियाम्य और शेष होता है। आत्मा भी ईश्वर का शरीर होने के कारण उसका धार्य, नियाम्य और शेष (भोग्य) है।

जीवों के भेद—उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न आत्माओं को उपनिषदों के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - बद्ध, मुक्त तथा नित्य।

(क) बद्ध—संसारी जीवों को बद्ध शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है। इसी तरह के जीवों का वर्णन करती हुई श्वेताश्वतर श्रुति कहती है : शरीररूपी एक ही वृक्ष में रहने वाला जीव नियाम्या प्रकृति से मोहित होकर दुःखादि का अनुभव करता रहता है। बद्ध जीवों के अन्तर्गत एक स्तम्ब (तृण) से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी जीव आते हैं।

(ख) मुक्त—जिन जीवों को संसार का बन्धन समाप्त हो चुका है, वे जीव 'मुक्त' शब्द से अभिहित किये जाते हैं। मुक्त जीव आविर्भूतगुणाष्टक हो जाते हैं। मुक्त जीवों के आविर्भूतगुणाष्टकत्व का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय के दूसरे खण्ड में सविस्तार किया गया है।

(ग) नित्य—जो जीव सदा परमात्मा के परिजन, पत्नी इत्यादि रूप में रहकर उनकी ही सेवा में लगे रहते हैं, कभी भी संसार में आते ही नहीं, वे जीव 'नित्य' कहलाते हैं। पुरुष सूक्त के अन्तिम मन्त्र में 'साध्य देव' शब्द से अभिहित किये जाने वाले,[२८] तथा उत्तरानुवाक् के अन्तिम मंत्र में[२९] पत्नीरूप से वर्णित की गयी श्रीदेवी, भूदेवी प्रभृति जीव 'नित्य' शब्द से व्यपदेश्य हैं। ये सभी जीव ज्ञानाश्रय तथा ईश्वर के नियाम्य, धार्य एवं शेषभूत हैं।

अचित्तत्त्व—औपनिषदतत्त्वों में इसका दूसरा स्थान है। पराक्, अचित् आदि शब्द समानार्थक होने के कारण अचित् के वाचक है। श्वेताश्वतरश्रुति अचित् सामान्य को विकारयुक्त[३०] तथा भोग्य[३१] बतलाती है।

अचित्तत्त्व के भेद—अचित्तत्त्व को शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व तथा सत्त्वशून्य इन तीन भोगों में विभक्त किया जाता है। शुद्धसत्त्व को ही त्रिपाद्विभूति, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि नामों से शास्त्रों में बतलाया गया है। मुक्तिकोपनिषद् में मोक्षप्राप्त के साक्षात् साधनरूप से वर्णित पाठ्य १०८ उपनिषदों में अन्यतम त्रिपाद विभूति महानारायणोपनिषद् में शुद्धसत्त्व का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। रजोगुण एवं तमोगुण से रहित केवल सत्त्वगुणमय होने के कारण ही उसे 'शुद्धसत्त्व' के नाम से अभिहित किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् ३।१२।१ के अनुसार भी ब्रह्म की विभूतिका अमृतत्रिपाद् द्युलोक में है। अथर्ववेद १०।२१।३१ में इसे दिव्यगुणसम्पन्न, नित्यमुक्त जीवों तथा ईश्वर की आवासभूत अयोध्या—नामकी अपराजेय नगरी बतलाया गया है।[३२] 'तत्त्वत्रय' ग्रन्थ के प्रणेता श्रीलोकाचार्य के अनुसार शुद्ध सत्त्व रजोगुण एवं तमोगुण से रहित केवल सत्त्वगुणयुक्त नित्य ज्ञान एवं आनन्दप्रचुर केवल ईश्वर की ही इच्छा (सत्य संकल्प) से विमानगोपुरमण्डलप्रासाद आदिरूपों में परिणत होने वाला सीमातीत तेजस्स्वरूप, नित्य, मुक्त जीवों तथा ईश्वर द्वारा भी अपरिच्छेद्य आश्चर्यमय वस्तु है[३३]। स्वेतर समस्त तैजस पदार्थों से अधिक तेजोमय

२८–यत्रसाध्याः सन्तिदेवाः (पु० सू० १६)

२९–श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (उत्तरानुवाक)

३०–(श्वे० १।९), ३१ — (श्वे० १।१२),

३२–देवानाम्पूरयोध्या, ३३–तत्रशुद्धसत्त्वं नाम-रजस्तमोऽमिश्रं केवलसत्त्वरूपं नित्यं ज्ञानानंद जनकं कर्माप्रयोज्यं केवलभगवदिच्छया विमानगोपुरमण्डपप्रसादादिरूपेण परिणमतनिरवधिक तेजोरूपं नित्यम् मुक्तै रीश्वरेणापि च परिच्छेत्तुमशक्यमत्यद्भुतं किमपि वस्तु।

शुद्धसत्व को बतलाती हुई श्रुति कहती है – वहाँ न सूर्य का प्रकाश होता है और न चांद-तारों का, ये बिजलियाँ वहां प्रकाशित नहीं होती, तो फिर यह अग्नि कहाँ से प्रकाशित होगा।[३४] अर्थात् ये सभी तैजस पदार्थ त्रिपाद्–विभूति में खद्योत के सदृश प्रकाशित होते हैं।

मिश्रसत्त्व—अचित् तत्त्व का यह दूसरा रूप है। यह सत्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों से युक्त, बद्ध जीवों के स्वाभाविक ज्ञान एवं आनन्द को तिरोहित कर देने वाली, विपरीत ज्ञान की जननी, नित्य, ईश्वर की कीडा का परिकर प्रदेशभेद तथा कालभेद से सदृश तथा विसदृश विकारों (महदादिकों) को उत्पन्न करने वाली प्रकृति का ही नाम है। इसे ही 'माया' तथा 'अविद्या' शब्द से भी अभिहित किया गया है। मुण्डकोपनिषद् ३।१।२ में यह 'अनीशा' (नियाम्या) श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।५ में 'अजा' तथा अकेली बतलायी गयी है। मंत्रिकोपनिषद् ४ - ५ के अनुसार अचेतन, परार्थ, नित्य, तथा हमेशा विकृत होती रहने वाली यह प्रकृति सम तथा विषम विकारों की जननी, आठ रूपों वाली, अजन्या, नित्य चंचल, अनादि एवं अनन्त तथा भूतों की आप्यायिका है। विकारों की जनयित्री होने के कारण इसे प्रकृति[३५], ज्ञानविरोधी होने के कारण अविद्या[३६] तथा असुरों राक्षसों एवं ऐन्द्रजालिकों के अस्त्रों तथा इन्द्रजालों के समान आश्चर्यमय कार्य करने के कारण ही इसे 'माया' कहते हैं।[३७] सहस्रगीति १०।७।१० के शब्दादिपञ्चविषय, पञ्चकर्मेन्द्रियां, पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चमहाभूत जीवात्मा से संसृष्ट प्रकृति, महत्, अहंकार और मन ये प्रकृति के विकार हैं।[३८] सांख्य मतावलम्बियों ने तन्मात्राओं को ही प्राकृतिक विकारों के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु वे पञ्च महाभूतों की सूक्ष्मावस्था मात्र हैं। महत्वगुण-सम्पन्न होकर पञ्च तन्मात्राएं ही पञ्चमहाभूत कहलाती हैं।

सत्त्वशून्य—इस शब्द से काल तत्त्व का अभिधान होता है। यह कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, सप्ताह आदि रूपों में परिणत होता है। काल लीलाविभूति में नित्य[३९] तथा ईश्वर की क्रीड़ा का परिकर है। काल तत्त्व के समस्त परिणामप्रकारों का संकलन वार्तामाला के मध्यम वीथी भट्टार्य की वार्तारूप में निम्न प्रकार से संगृहीत है— १५ निमेष = १ काष्ठा ३० काष्ठा = १कला, ३० कला = १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त = १ दिन, ३० दिन = २ पक्ष या १ मास, २ मास = १ ऋतु, ३ ऋतु = १ अयन, २ अयन = १ मानव वर्ष, ३६० मानव वर्ष = १ देव वर्ष, १२०००देव वर्ष =चार युग। उसमें भी ४००० देव वर्ष = सत्ययुग ३००० देव वर्ष = त्रेता युग, २००० देव वर्ष = द्वापर युग, १००० देव वर्ष = कलियुग। चार-चार सौ देव वर्षों की सत्युग की पूर्वसंध्या और परसंध्याएं होती हैं। तीन-तीन सौ देव वर्षों की त्रेतायुग की दोनों संध्याएँ होती हैं। दो-दो सौ देव वर्षों की द्वापर

३४–न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
(कठो० ५।१५+मु० उ० २।२।१० + श्वे० ६।१४+गुह्यको० ४५।

३५–मूल प्रकृतिरविकृतिः (सां०का०)।

३६–वि० पु० ६।७।११।

३७–भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायाम् (गृथुगद्य)।

३८–[illegible]म्बुलनुम् पोरियैन्दुम् करुमेन्दिरियमैम्बूदम् इङ्गिवुयिरेय पिरकिरुदि मानाङ्गारमनङ्गल।

३९–[illegible]कालव्यक्तमुक्तयदिच्छामनुविदधति नित्यम् (आ० सि० नं० १)

युग की दोनों संध्याएँ होती हैं तथा १००-१०० देव वर्षों की कलियुग की दोनों संध्याएँ होती है। ७१ चर्तुयुग से कुछ अधिक १ मन्वन्तर होता है। १४ मन्वन्तरों का ब्रह्मा का एक दिन होता है तथा उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। उस क्रम से १० वर्षों की ब्रह्मा की ग्रायु होती है।

ईश्वर तत्त्व—यह औपनिषद तत्वों में सर्वप्रधान है। उपनिषदों में इसे सभी प्राकृतिक दोषों से रहित, अनन्त, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप, ज्ञानशक्ति आदि कल्याणगुणों से विभूषित, सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला तथा मोक्षप्रद, सभी मुमुक्षु पुरुषों द्वारा सेव्य, चारों प्रकार के पुरुषार्थों का प्रदाता, विलक्षण विग्रहों से युक्त तथा लक्ष्मी आदि देवियों का नायक बतलाया गया है।४०

शास्त्रों में ईश्वर को ही भगवान्, ब्रह्म, वासुदेव, परमात्मा आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१० में दिव्य गुणसम्पन्न ईश्वर को अचित् तथा चित् दोनों प्रकार के तत्वों का नियामक बतलाया गया है। मु० उ० १।१।९ में ईश्वर को सर्वज्ञ तथा सर्ववेत्ता कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् २।४-५ के अनुसार, ईश्वर पूर्ण रूप से मन एवं वाणी का विषय नहीं बन सकता है। पृथुगद्याधिकार ५ के अनुसार ईश्वर स्वाभाविक, सीमातीत, सर्वोत्कृष्ट, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, शौर्य, पराक्रम, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, कृतित्व, कृतज्ञता आदि अनन्य कल्याणगुणों का आश्रय है। तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१ के अनुसार ईश्वर से ही ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं तथा उन्हीं में लीन होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। ईशावास्योपनिषद्-१ के अनुसार परमात्मा सम्पूर्णजगत् का नियामक और धारक है। तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१ के अनुसार ईश्वर सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।८) बतलाती है कि ईश्वर के सदृश अथवा ईश्वर से महान् कोई नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८ में कहा गया है कि ईश्वरीय अनेक प्रकार की पराशक्तियां सुनी जाती है, ईश्वर की ज्ञान, बल तथा नियमन की शक्तियाँ स्वाभाविक है। छान्दोग्योपनिषद् ८।१।५ के अनुसार कर्मपारतन्त्र्यरहित जरा, मृत्यु, शोक, भूख, प्यास, आदि त्याज्य दोषों से सर्वथा रहित है। छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१ के अनुसार ईश्वर ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ईश्वर को ही वृहदाण्यकोपनिषद् १।४।१ में ब्रह्म आत्मषट्कोपेत, ऐतरेयोपनिषद् १।१ में आत्मा तथा 'महोपनिषद्' १।१ में 'नारायण' शब्द से अभिहित किया गया है। ईश्वर को ही 'सद्‌विद्या' 'सत् शब्द से, 'आकाशविद्या', 'आकाश' शब्द से तथा 'प्रतर्दनविद्या' 'इन्द्रप्राण' शब्द से अभिहित करती है।

व्याकरण की दृष्टि से 'अशु व्याप्तौ' धातु से 'वरट् च' सूत्र से वरट् प्रत्यय तथा चकार व् अ का ई होकर 'ईश्वर' शब्द व्यापक अर्थ में व्युत्पन्न होता है। अथवा 'ईश नियमने' धातु से वरट् प्रत्यय होकर नियामक रूप अर्थ में 'ईश्वर शब्द व्युत्पन्न होता है। ईश्वर की सर्वव्यापकता अन्तर्यामी ब्राह्मण तथा सुबालोपनिषद् में पूर्ण रूप से प्रतिपादित की गयी है। चूँकि जगत्–रूपी एक कार्य का एक ही कारण हो सकता है, अतएव ईश्वर की एकता न्यायतः सिद्ध हैं।

'जगत्' शब्द से व्याहृत किये जाने वाले

४०–'अखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपः, ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणगणविभूषितःसकलजगत्सर्गस्थितिसंहारकर्ता "आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी" चेत्युक्तचतुर्विधपुरुषाणामप्याश्रयणीयः, धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्विधफलप्रदः, विलक्षणविग्रहयुक्तः' लक्ष्मीभूमि नीलानायकश्च (तत्वत्रय ३।१)

चित् एवं अचित् तत्त्वों के साथ ईश्वर से सम्बन्ध का निरूपण करती हुई, 'छान्दोग्योपनिषद्' की श्रुति बतलाती है कि जगत् का आत्मा ईश्वर है और जगत् ईश्वर का शरीर है। 'शतपथब्राह्मण' की १४।५।३० श्रुति बतलाती है कि ईश्वर आत्मा के भीतर प्रवेश करके उसका नियमन करता रहता है। तैत्तिरीयारण्यक ३।११।३ के अनुसार परमात्मा सभी जीवों के भीतर प्रवेश करके उनका प्रशासन करता है। इन सभी प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि जगत् तथा ईश्वर में शरीर-शरीरी, नियाम्य-नियामक, कार्यकरण आदि सम्बन्ध है। इन सभी सम्बन्धों में शरीरात्मभाव सम्बन्ध की प्रधानता इस लिए है कि अनेक मन्त्रों में जगत् और ईश्वर समानाधिकारण्येन व्यपदेश किया गया है। परवर्ती उपबृंहण ग्रन्थों में भी जगत् का स्पष्ट रूप से परमात्मा का शरीर बतलाया गया है। लोक में भी जिस तरह शरीर वाचक शब्दों के द्वारा आत्मापर्यन्त का अभिधान होता है, उसी तरह सामानाधिकरण्य वाक्यों में तत् ईश्वर के शरीरभूत वस्तुओं के वाचक शब्दों के द्वारा आत्माभूत परमात्मा का एकत्व व्यपदेश न्यायसिद्ध है।

मानवजीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष का निरूपण करती हुई श्रुतियाँ बतलाती हैं कि पुरुष सूक्त के सोलह मन्त्रों में वर्णित प्रकार से पुरुष को जानकर मुमुक्षु पुरुष मोक्षाधिगम कर लेता है। इस ईश्वर की उपासना को छोड़कर मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। (पृ० १७) श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८ में कहा गया है कि उस ईश्वर तत्त्व को ही जानकर मुमुक्षु पुरुष मृत्यु (संसार चक्र) को पार कर जाता है। इन सभी वाक्यों में उपासना 'रूप-वेदन' को ही मोक्ष का साधन बतलाया गया है: इस अर्थ का निर्णय 'शारीरिक मीमांसा के 'फलाध्याय' प्रथम सूत्र के द्वारा ज्ञात होता है। 'छान्दोग-ब्राह्मण' की वृत्ति 'वाक्य' ग्रन्थ में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मोक्ष के साधन रूप से वर्णित वेदन उपासना ही है। ज्ञानमात्र के मोक्षसाधनत्व का खण्डन करते हुए महर्षि आपस्तम्ब ने भी कहा है—"यदि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से मोक्ष होता तो फिर वाक्यार्थ ज्ञानवाले पुरुष को संसार में दुःख नहीं भोगना चाहिए।" यह उपासना ही जिसे ध्यान, दर्शन, ध्रुवास्मृति, निदिध्यासन, प्रज्ञा आदि शब्दों से क्रमशः मुण्डकोपनिषद् २।२।६, कठोपनिषद् १।३।१५ छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२ बृहदारण्यकोपनिषद् ६।५।६ बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।२१ में कहा गया है। उपबृंहणग्रन्थों में उसे ही भक्ति शब्द से अभिहित किया गया है।

भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा—ध्येयविषयक "तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तान का ही नाम 'भक्ति' है। उपनिषदों में आत्मकल्याणकारिणी विद्या के रूप में भक्ति के ३२ भेद बतलाये गये हैं जिन्हें उपनिषदों की द्वात्रिंशद् विद्या के रूप में जाना जाता हैं। औपनिषद् द्वात्रिंशद् विद्याओं का अति संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार का है :—

१- सद्विद्या — यह छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय में वर्णित है। इस विद्या का प्रारम्भ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) श्रुति से होता है। इस विद्या में बतलाया गया है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। इस तरह यह विद्या ब्रह्म की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूप से उपासना करने का उपदेश देती है। महर्षि वादरायण ने ब्रह्मसूत्र के ईक्षत्यधिकरण (१।१।५) में इसकी चर्चा की है।

२- आनन्दमयविद्या — यह तैत्तिरीयोपनिषद् की विद्या है। इस विद्या का प्रारम्भ 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१) श्रुति से होती है। यह विद्या ईश्वर की कल्याणगुणाकर तथा आनन्दमय रूप से उपासना का उपदेश देती है। वादरायण ने उसकी चर्चा ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण (१।१।६) में की है।

३- अन्तरादित्यविद्या— छान्दोग्योपनिषद् में यह विद्या आयी है। 'य एषोन्तरादित्ये' (छा० उ० ६।१।७) श्रुति से इस विद्या का प्रारम्भ होता है। यह विद्या बतलाती है कि ईश्वर के दिव्य रूप की उपासना आत्मकल्याणकामियों को अवश्य करनी चाहिए। महर्षि वादरायण ने इसकी व्याख्या ब्रह्मसूत्र के अन्तरधिकरण (१।१।७) में की है।

४- उद्गीथाकाशविद्या— छान्दोग्योपनिषद् की 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (१।६।१) श्रुति से इस विद्या का प्रारम्भ होता है। ब्रह्मसूत्र के (१।१।८) आकाशाधिकरण में इसकी व्याख्या ब्रह्मसूत्रकारने की है। इस विद्या में ईश्वर को चराचर का प्रकाशक बतलाया गया है।

५- प्रस्तावप्राणविद्या— छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति 'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच। सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। प्राणाम्युज्जिहते' (१।११।४) से प्रारम्भ होने वाली इस विद्या में प्रतिपादित किया गया है कि 'ईश्वर ही चराचर के प्राण हैं। ब्रह्मसूत्र के प्राणाधिकरण (१।१।६) में इसकी व्याख्या वादरायण ने की है।

६-गायत्रीज्योतिविद्या— छान्दोग्योपनिषद् (३।१३।७) श्रुति अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' से इस विद्या का प्रारम्भ होता है। ब्रह्मसूत्रों के 'ज्योतिरधिकरण' (१।१।१०) में इसकी चर्चा की गयी है। इस विद्या का सारांश है कि ईश्वर की 'सम्पूर्ण जगत् में प्रकाशमान' रूप से उपासना करनी चाहिए।

७- प्रतर्दनविद्या— ब्रह्मसूत्रों के इन्द्रप्राणधिकरण (१।१।११) में व्याख्यात यह विद्या कौषीतकि ब्राह्मण की 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण च।' (३।१) श्रुति से प्रारम्भ होती है। इस विद्या में बतलाया गया है कि इन्द्रादि सभी चेतनों तथा प्राणादि अचेतनों के भी आत्मा ईश्वर ही हैं।

८- शाण्डिल्यविद्या— छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) श्रुति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानी तिशान्त उपासीत' से प्रारम्भ होनी वाली इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के सर्वत्र सिद्ध्यधिकरण (१।२।१) में की है। इस विद्या का सारांश है कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता, स्थिति और यत्न ईश्वर के अधीन होते हैं।'

९- नाचिकेतसविद्या— इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अत्त्रधिकरण (१।२।२) में की है। यह विद्या कठोपनिषद् की 'यस्यब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदनः' (१।२।२५) श्रुति से प्रारम्भ होती है। इस विद्या में बतलाया गया है कि—सम्पूर्ण जगत् को अपने में लीन कर लेने की शक्ति ईश्वर में ही है।

१०- उपकोसलविद्या— इस विद्या का प्रारम्भ छान्दोग्योपनिषद् की 'य एषोऽक्षिणिपुरुषो दृश्यते' (४।१५।१) श्रुति से होता है। इस विद्या में बतलाया गया है कि नेत्रों में ईश्वर की नित्यस्थिति का ध्यान करना चाहिए। इस विद्या की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के 'अन्तराधिकरण' (१।२।३) में की गयी है।

११- अन्तर्यामीविद्या— यह वृहदारण्यकोपनिषद् की विद्या है। इसमें जगच्छरीरक ईश्वर की उपासना बतलायी गयी है। इस विद्या का उपसंहार वृहदारण्यकोपनिषद् के 'नान्योऽस्तोऽस्तिद्रष्टा' (३।७।२३) श्रुति से होता है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्याम्यधिकरण (१।२।४) में वादरायण ने इसका विवेचन किया है।

१२- अक्षरविद्या— में बतलाया गया है कि ईश्वर के विराट् रूप की कल्पना में अग्नि आदि ईश्वर के अंग बनकर रहते हैं। यह विद्या मुण्डकोपनिषद् के 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (१।१।६) श्रुति से उपक्रान्त होती है। ब्रह्मसूत्र के 'अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरण' में यह विद्या विवेचित है।

१३- वैश्वानरविद्या— यह विद्या छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवें अध्याय के ग्यारहवें खण्ड से प्रारम्भ होती है। इस विद्या का सारांश है कि अंगी वैश्वानर ईश्वर

के स्वर्लोक, आदित्यलोक प्रभृति अंग बनकर रहते हैं।

१४- भूमाविद्या – छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय की यह विद्या है। इस विद्या में ईश्वर को अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न बतलाया गया है। इस विद्या की प्रख्यात श्रुति है 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति' (७।२४।१) इत्यादि। इसकी व्याख्या ब्रह्म सूत्र के भूमाधिकरण (१।३।२) में की गयी है।

१५- गार्ग्यक्षरविद्या – इस विद्या का प्रारम्भ वृहदारण्यक ग्रन्थ के (५।८) से होता है। इस विद्या की प्रधान श्रुति है 'स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मण अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम–लोहितमस्नेहमच्छायम्' (५।८।८)। इस विद्या का तात्पर्य ईश्वर को सम्पूर्ण जगत् का नियामक प्रतिपादन करने में है। वादरायण ने इस विद्या की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के अक्षराधिकरण में की है।

१६- प्रणवोपास्यपरमपुरुष-विद्या – यह प्रश्नोपनिषद् की विद्या है। इस विद्या का उपक्रम प्रश्नोपनिषद् के पांचवें प्रश्न में है। इस विद्या की प्रधान श्रुति है 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यतेमैवाक्षरेण परंपुरुषमभिध्यायीत' (५।५) इस विद्या में ईश्वर को मुक्तजीवोपभोग्य बतलाया गया है। ब्रह्म सूत्रों के ईक्षतिकर्माधिकरण (१।३।४) में वादरायण ने इसकी व्याख्या की है।

१७- दहरविद्या – यह विद्या छान्दोग्योपनिषद् की 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरंपुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नतराकाशः तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वा व विजिज्ञासितव्यम्' (छा० उ० ८।१।१।६) श्रुति से प्रारम्भ होती है। इस विद्या में ईश्वर को सम्पूर्ण जगत् का आधार बतलाकर जगत् और ईश्वर में आधाराधेय भाव नामक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म सूत्रों के (१।३।५) अधिकरण में इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने की है।

१८- अंगुष्ठप्रमितविद्या – कठोपनिषद् के २।१।१२, २।१।१३ तथा २।३।१७ श्रुतियों में यह विद्या वर्णित है। इस विद्या का अभिप्राय 'ईश्वर की अन्तर्यामी रूप से सबों के हृदय में विद्यमानता का प्रतिपादन है। ब्रह्म सूत्र के प्रमिताधिकरण (१।३।६) में वादरायण ने बताया है कि सबों के हृदय में सदा रहने वाले अंगुष्ठपरिमाणक, सम्पूर्ण जगत् का नियामक पुरुष ईश्वर ही है।

१९- देवोपास्यज्योतिर्विद्या -यह विद्या वृहदारण्यक आदि कई ग्रन्थों में वर्णित है। 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हो पासतेऽमृतम् (पृ० ६।४।१६) इत्यादि इस विद्या की प्रधान श्रुतियाँ हैं। इस विद्या को ब्रह्म सूत्र के देवता धिकरण (१।३।७) के माध्यम से विवेचित करते हुए वादरायण ने निर्णय किया है कि–'देवताओं को भी मनुष्य के ही समान ईश्वर की आराधना करने का अधिकार है।'

२०- मधुविद्या – यह विद्या छान्दोग्योपनिषद् की असौ वा व आदित्योदेवमधु' ३।१।१) इत्यादि श्रुतियों में वर्णित है। शारीरक मीमासा में इस विद्या की व्याख्या 'मध्वधिकरण (१।३।८) में करते हुए महर्षि वादरायण ने बतलाया है कि वसु, आदित्य, आदि के भी आत्मा ईश्वर ही हैं।

२१- संवर्गविद्या – यह छान्दोऽयोपनिषद् की विद्या है। इस विद्या का प्रारम्भ जानश्रुति किल पौत्रायणः (छा० ४।१।१ श्रुति से होता है। इस विद्या में बतलाया गया है कि 'ईश्वर की उपासना सभी जीव अपने अधिकार के अनुसार कर कर सकते हैं।' इस विद्या की व्याख्या महर्षि वादरायण ने ब्रह्म सूत्र के 'अपशूद्राधिकरण' (१।३।९) में की है।

२२- अजाशरीरक–विद्या– यह विद्या वृहदारण्यक ग्रन्थ की है। इस विद्या का प्रारम्भ वृहदारण्यक ग्रन्थ के 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाश्च प्रतिष्ठितः' (वृ० ४।४।१७) होता है। इस विद्या का प्रतिपाद्य है कि परमात्मा ही प्रकृतिशरीरक हैं। यहाँ पर अजा शब्द से प्रकृति कही गयी है। इस विद्या की व्याख्या ब्रह्म

सूत्रों के संख्योपसंग्रहाधिकरण (१।४।३) में की गयी है।

२३- बालाकिविद्या– यह कौषितकि ब्राह्मणोपनिषद् की विद्या है। इस विद्या का प्रतिपाद्य है कि 'सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का कार्य है। इस विद्या की अन्तिम श्रुति है यस्यवैतत्कर्म (कौ० ब्रा० ३०४।१६) ब्रह्मसूत्र के जगद्वाचित्वाधिकरण (१।४।५) में ब्रह्म सूत्रकार ने इसकी व्याख्या की है।

२४- मैत्रेयीविद्या– वृहदारण्यकोपनिषद् की इस विद्या का प्रतिपाद्य है कि 'ईश्वर का साक्षात्कार ही मोक्ष का साधन है। इस विद्या का प्रारम्भ 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति।' (वृ० उ० ४।५।६) श्रुति से होता है। इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने उत्तर मीमांसा के 'वाक्यान्वयाधिकरण' (१।४।६) में की है।

२५- द्रुहिणरुद्रादिशरीरकविद्या – तैत्तिरीय संहिता के ४।१।८ से प्रारम्भ होने वाले हिरण्यगर्भ सूक्त की इस विद्या में बतलाया गया है कि 'द्रुहिण (ब्रह्मा) रुद्र आदि भी उपासना के द्वारा ईश्वर को ही प्रसन्न करते हैं।' इस विद्या की चर्चा तैत्तिरीय नारायणोपनिषद् १२ में तथा 'तैत्तिरीयारण्यक षष्ठ प्रश्न' में आयी है। हिरण्यगर्भ सूक्त के प्रथम मन्त्र 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' श्रुति से इस विद्या का प्रारम्भ होता है। इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने ब्रह्मसूत्र के सर्वव्याख्यानाधिकरण (१।४।८) में की है।

२६- पञ्चाग्निविद्या– यह छान्दोग्योपनिषद् की अत्यन्त प्रख्यात विद्या है। इसका प्रारम्भ छान्दोग्योपनिषद् की 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसोऽभिलप्या भवन्ति।' (५।३।३) से होता है। इस विद्या का प्रतिपाद्य है कि 'जीवों की मुक्ति ईश्वर की इच्छा के अधीन है।' इसकी व्याख्या महर्षि वादरायण ने ब्रह्मसूत्र के 'तदन्तरप्रतिपत्यधिकरण (३।१।१) में की है।

२७- आदित्यस्थाहर्नामक विद्या– यह वृहद्रारण्यक ग्रन्थ के ५।५ में वर्णित विद्या 'सत्यं ब्रह्म' श्रुति से प्रारम्भ होती है। इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने ब्रह्मसूत्र के संबंधाधिकरण (३।३।७) में की है। इस विद्या का सारांश है कि–'आदित्यमण्डलस्थ पुरुष ईश्वर ही है। उनकी उपासना 'अहर' नाम्ना करनी चाहिए।'

२८- अक्षिस्थाहन्नामक विद्या–यह भी वृहदारण्यक ५।५ की ही विद्या है। इस विद्या की भी चर्चा वादरायण ने ब्रह्मसूत्र के संबंधाधिकरण ३।३।७ में ही की है। यह विद्या बतलाती है कि आत्मकल्याणकामी पुरुष को चाहिए कि वह अपने दाहिने नेत्र की पुतली के भीतर दिखायी देने वाली पुरुष की 'अहन्' नाम्ना उपासना करे। उपासक की दाहिनी आँख में दिखने वाले पुरुष पुण्डरीकाक्ष परमात्मा के रूप में हैं।

२९- पुरुषविद्या– यह तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् की विद्या "तस्यैवंविदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः" (मं० ७८/अनु० ६३) श्रुति से प्रारम्भ होती है। यह विद्या ईश्वर का पुरुषोत्तम रूप से प्रतिपादन करती है। इस विद्या के नाम पर ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में पुरुषविद्याअधिकरण (३।३।६) नामक एक स्वतंत्र अधिकरण ही है। इसी अधिकरण में इस विद्या की चर्चा की गयी है।

३०- ईशावास्यविद्या– यह 'ईशावास्योपनिषद्' की विद्या ईशावास्योपनिषद् की दूसरी श्रुति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' से प्रारम्भ होती है। इसकी व्याख्या ब्रह्मसूत्र के पुरुषार्थाधिकरण' (३।४।१) में वादरायण ने की है। इस विद्या में बतलाया गया है कि 'ईश्वर कर्मसहकृत उपासनात्मक ज्ञान द्वारा ही प्राप्य है।"

३१- उषस्तिकहोलविद्या – वृहदारण्यकोपनिषद् की इस विद्या का वर्णन छठे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में हुआ है। इस विद्या का उपसंहार 'न ह वा अस्यनन्नं जग्धं भवति।' (वृ० उ० ६।१।१४) श्रुति से हुआ है। इस विद्या का सारांश यह है कि 'ईश्वरप्राप्ति

के लिए साधनसप्तकानुगृहीत मन का होना अत्यावश्यक है।' इस विद्या की व्याख्या वादरायण ने 'सर्वान्नानुमत्यधिकरण' में की है।

३२- व्याहृतिशरीरकविद्या– यह वृहदारण्यकोपनिषद् की विद्या 'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः तस्य भूरितिशिरः (पृ० उ० ५।५।१) से प्रारम्भ होती है। इस विद्या में ईश्वर को ही व्याहृतिशरीरक तथा मंत्र मय बतलाया गया है। यह विद्या संबंधाधिकरण (३।३।७) में व्याख्यात है।

इन औपनिषदद्वात्रिंशत् विद्याओं में परमात्मा की बत्तीस प्रकार की उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। आत्मकल्याणकामी पुरुष इनमें से किसी एक विद्या को ही अपना कर परंनिःश्रेयस् तक की भी प्राप्ति कर सकता है। ये सभी विद्याएँ 'ब्रह्मविद्या' के नाम से अभिहित की जाती हैं। इन्हीं ब्रह्मविद्याओं का ज्ञाता भारतवर्ष विश्व के अध्यात्मगुरु के नाम से अभिहित किया गया है।

मोक्षाधिगम–अमोघसाधनभूत 'व्यासविद्या'— का वर्णन तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् में उपलब्ध है। भक्ति के आचार्यों ने इसे राजमार्ग के समान बतलाया है। यह सीधे वैकुण्ठपर्यन्त पहुँचने का अपाय रहित साधन है। इस विद्या का सविस्तार वर्णन 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में है। किन्तु तैत्तिरीयारण्यक की तैत्तिरीयनारायणोपनिषद् की 'सत्यं परः परः सत्यम्' (मं० ७६ अ०, -६२) श्रुति से इस विद्या का प्रारम्भ होता है। इस मन्त्र के अन्त में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि 'न्यास' सर्वोत्कृष्ट विद्या है, स्वयं यह ब्रह्म के समान होने से मोक्षाधिगम का सर्वोत्कृष्ट साधन है तथा एतदपेक्षया सभी विद्याएं अवर साधन हैं। 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्माहि परः, परोहि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणितपांसि, न्यास एवात्यरेचयत्।" (तै० ना० उ० ७७ मंत्र ६२ अनु०) न्यास करते समय बोले जाने वाले मन्त्र में शरणागत कहता है कि —हे भगवन्! आप देवताओं के उपास्य, व्यापक, प्राणादि के संघाता, विश्व के स्रष्टा, अग्नि को तेज, सूर्य को वर्चस तथा चन्द्रमा को कान्ति प्रदान करने वाले सुदीर्घ कालान्तर में मेरे द्वारा देखे गये हैं; आपकी प्राप्ति के लिए मैं आपकी शरण में आया हूं, ऐसा कहकर उपासक को चाहिए कि वह अपने आत्मा का समर्पण करे। इस तरह की यह अत्यन्त रहस्यमयी 'न्यास विद्या' देवताओं को भी दुर्विज्ञेय है। 'वसुरण्वो विभुरसि प्राणे त्वमसि संधाता, ब्रह्मंस्त्वमसि विश्वसृक्तेजो दास्त्वमस्यग्नेर्वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य, द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमसः, उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणेत्वामहस ओमित्यात्मानं युञ्जीतैतद्वै महोपनिषदं देवानांगुह्यम् य एवं वेद, ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति, तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्।" (मं० ७८। अनु० ६३), इस उपनिषद् के ७९ वें मन्त्र में 'न्यास' को सर्व निरपेक्ष बतलाकर इसके फलरूप में मोक्षाधिगम का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त विद्याओं के अतिरिक्त 'काम्य विद्या' के रूप में, 'उद्गीथ विद्या' 'नामादि प्रतीक विद्या,' 'भार्गवीवारुणीविद्या', 'मनश्चितादि विद्या' आदि का वर्णन भी पाया जाता है।

इस तरह उपनिषदें दर्शनशास्त्र की सर्वस्व है। इनको ही अपनाकर भारत में विभिन्न दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। विशेष रूप से आस्तिक दर्शनों का का आधार तो उपनिषदें हैं ही।

प्रसिद्ध उपनिषदों का परिचय :—

मुद्रित उपनिषदों की संख्या आज २२४ तक पहुँच गयी है। इनमें से केवल दस उपनिषदों का जो ब्रह्म विद्याओं की प्रधानमातृका मानी जाती है, संक्षिप्त परिचय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) ईशावास्योपनिषद्—यह शुक्लयजुर्वेद की काण्वशाख' की 'उपनिषद्' उपनिषद्निकाय में सर्व प्रथम मानी जाती है। इसका संग्रह 'शुक्लयजुर्वेद' के अन्त में चालीसवें अध्याय के रूप में हुआ है। यह उपनिषद् सम्पूर्ण संहिता को भगवदुपासनोपयोगी रूप से सूचित करती है। इसमें परमात्मा को सम्पूर्ण

जगत् में व्यापक तथा सम्पूर्ण जगत् का आधार बतला कर भगवदाराधना के लिए ही अपने वर्णों एवं आश्रमों के अनुसार विहित कर्मों का आजीवन अनुष्ठान करने की अनुमति दी गयी है। इस उपनिषद् में बतलाया गया है कि कर्मसहकृत ज्ञानयोगरूपी भक्ति के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्त की जा सकती है। नियामकत्व के वाचक ईश् शब्द के तृतीया के रूप 'ईशा' शब्द से प्रारम्भ होने के कारण इस उपनिषद् का नाम 'ईशा' भी है।

२- केनोपनिषद्— 'ईशा' पद के ही समान केन पद से प्रारम्भ होने के कारण इस उपनिषद् का नाम 'केन' है। यह सामवेदीय 'तलवकार' शाखा की उपनिषद् है। इस उपनिषद् का उपक्रम मन आदि के नियामक-संबंधी शिष्य की 'जिज्ञासा' से होता है। आचार्य बतलाते हैं कि परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् का नियामक है। परमात्मा अनन्त है। अतएव उसको पूर्ण रूप से (इदन्तया तथा इत्थन्तया) अग्नि, वायु इन्द्र देवता भी नहीं जान सकते। 'ईश्वर' का ज्ञान परमात्मा की कृपा से सम्भव है।

३- कठोपनिषद्— कृष्णयजुर्वेद की 'काठकशाखा' की उपनिषद् है। इसका प्रारम्भ नाचिकेतसोपाख्यान से होता है। सर्वदक्षिणयाग में अपने पिता को बूढ़ी गाय को दक्षिणा के रूप में देते हुए देखकर आस्तिका प्रेरित नचिकेता ने कहा—पितः, मैं आपका धन हूँ, मुझे किसे देंगे। तीन बार पूछने पर क्रुद्ध होकर पिता ने अपने इकलौते पुत्र से कहा—तुम्हें यमराज को दूँगा। पिता से आज्ञा लेकर नचिकेता यमलोक में जाकर भूखे-प्यासे तीन दिन तक यमराज की प्रतीक्षा करता रहा और प्रवास से लौटे यम से तीन वरदान को प्राप्त किया। उनमें तीसरा वरदान 'आत्मा के स्वरूपयाथात्म्य'-विषयक था। परीक्षा लेने पश्चात् यमराज ने नचिकेता को आत्मज्ञान का उपदेश दिया। इसमें दो अध्याय और छह वल्लियां है।

४- प्रश्नोपनिषद्— यह अथर्ववेदीय पिप्पलादशाखा की उपनिषद् है। इसके छह खण्डों में क्रमशः कबन्धी, वैदर्भि, कौसल्य, आश्वलायन, गार्ग्य सौर्यायणी, शैब्य सत्यकाम तथा सुकेश भारद्वाज के छह प्रश्नों का महर्षि पिप्पलाद् ने उत्तर दिया है। इन आत्मा-सम्बन्धी छह प्रश्नों के ही नाम पर इस उपनिषद् का प्रश्नोपनिषद् नाम पड़ा। इस उपनिषद् में प्रजापति द्वारा रयि और प्राण की सृष्टि, प्रजापति की संवत्सरात्मकता, इस ब्रह्मलोक तथा विरज ब्रह्मलोक के अधिकारी का वर्णन, प्राण की श्रेष्ठता, प्राण के पाँच प्रकार और उनके कार्यों का भेद तथा उसका ब्राह्म तथा आध्यात्मिक भेद बतलाकर प्राणादि से विलक्षण आत्मा का प्रतिपादन एवं आत्मा से भिन्न परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है। फिर प्रणव की उपासना भी बतलायी गयी है।

५- मुण्डकोपनिषद्— यह अथर्ववेदीय मुण्डकशाखा की उपनिषद् है। इस उपनिषद् में तीन मुण्डक है। प्रत्येक मुण्डक दो-दो खण्डों में विभक्त है। उपनिषद् का प्रारम्भ अङ्गिरा ऋषि के उपदेश से होता है। ऋषि, शौनक को परा और अपरा दो विद्याओं का वेदितव्य रूप से उपदेश देकर बतलाते हैं कि परा विद्या ही ब्रह्मप्राप्ति की साधकतमा है। अपने वर्णों एवं आश्रमों के अनुसार विहित कर्मों का परमात्ममुखोल्लासार्थ अनुष्ठान संसारचक्र से मुक्तिप्राप्त का प्रयोजक होता है। अन्त में प्रणवोपासना के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति का प्रकार वर्णित है। इस उपनिषद् में आए हुए चार पुरुषों के नाम निम्न है—

(१) ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा (२) अङ्गी
(३) भारद्वाज सत्यवाह (४) शौनक महाशाल।

६- माण्डूक्योपनिषद्— यह अथर्ववेदीय माण्डूक्य-शाखा की उपनिषद् है। इसमें चार खण्ड हैं। उपनिषद् ओंकार की सर्वस्वरूपताप्रतिपादन के साथ उपक्रान्त होती है। चतुष्पादात्मक ओम् चतुर्व्यूहात्मक परमात्मा का वाचक है। वह चतुर्व्यूहात्मक परमात्मा ही जीव की चार अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तथा तुरीय अवस्थाओं—में वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा

अन्तर्यामी रूप से रहता है। ओंकार–वाच्य परमात्मा को ही अपने सभी कार्यों का निर्वाहक मानकर उसकी उपासना करने वाला जीव संसार–सागर को पारकर जाता है।

७- तैत्तिरीयोपनिषद्– यह 'कृष्ण - यजुर्वेद' के तैत्तिरीयारण्यक की उपनिषद् है। इस उपनिषद् में तीन वल्लियाँ हैं—शीक्षावल्ली, आनन्दवल्ली और मृगुवल्ली।

शीक्षावल्ली– इस वल्ली में 'शिक्षा' नामक वेदांग के विषयों के संग्रह के पश्चात् शिष्य और आचार्य साथ ही साथ दोनों के यश तथा ब्रह्मवर्चस् दोनों की वृद्धि की कामना करते हैं। तदनंतर लोक, ज्योति. विद्या, प्रजा तथा शरीररूपी पाँच अधिकरणों में संधि-विषयक रहस्यों का उपदेश पाकर शिष्य विद्योपयोगी प्रणव की प्रार्थना करता है—और आचार्य शिष्य से होमोपयोगी मंत्रों का उच्चारण करवाते हैं। इसके पश्चात् व्याहृतियों की उपासना, पराविद्या तथा अर्चिरादिगति का उपदेश देकर आचार्य स्वाध्याय, प्रवचन आदि विद्याङ्ग का उपदेश देते हैं। अन्त में आचार्य शिष्य को गृहस्थाश्रम में पालनीय नियमों का उपदेश देते हैं।

आनन्द वल्ली– का उपक्रम 'आनन्दमयविद्या' से होता है। आचार्य बतलाते हैं कि जगत् ब्रह्मका कार्य है। इसी विद्या के अन्तर्गत आचार्य बतलाते हैं कि ब्रह्म प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय से भिन्न आनन्दमय है। इस वल्ली का उपसंहार आनन्द–पदार्थ की मीमांसा से होता है।

भृगुवल्ली–इसमें पिता वरुण अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म को जगत् का कारण बतलाकर ब्रह्मतत्त्व का उपदेश देते हैं।

८- ऐतरेयोपनिषद्– किसी ऋषि की दो पत्नियां थी। एक का नाम इतरा था। ऋषि इतरा की उपेक्षा कर अपनी दूसरी पत्नी का ही बहुत सम्मान करते थे। इतरा ने अपनी सपत्नी के ही पुत्र के प्रेम में प्रवण-ऋषि को देखकर अपनी शक्ति से पृथिवी का साक्षात्कारकर, उनकी कृपा से अपने पुत्र को विलक्षण वैदिक विज्ञान से सम्पन्नकर दिया। उन्हीं का नाम ऐतरेय महिदास पड़ा। ऐतरेय–प्रोक्त ऋग्वेद–ब्राह्मण का नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण' है। इस ब्राह्मण का आरण्यक ग्रन्थ 'ऐतरेय आरण्यक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें पाञ्च आरण्यक हैं। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय, तृतीय आरण्यक भी उपनिषद्–संज्ञक हैं। किन्तु, इन दोनों के मध्यभागरूप 'आत्मषट्कोपेत' छह खण्डों में विभक्त 'ऐतरेय उपनिषद्' भाग पर ही श्रीशंकराचार्य आदि आचार्यों ने भाष्य लिखा है। अतएव उसीका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

इस उपनिषद् का प्रारम्भ प्रलयकाल में आत्मा (परमात्मा) मात्र की स्थिति बतलाकर चतुर्विधलोक की सृष्टि के प्रतिपादन से होता है। पुरुष तथा उसके मुखादि अंग, इन्द्रियाँ, भूख–प्यास की सृष्टि, अन्न की सृष्टि, आत्मा का शिरोभाग से शरीर में प्रवेश का प्रतिपादन, इन्द्र शब्द का परमात्मवाचकत्व–समर्थन, मानव के तीन प्रकार के जन्मों का ज्ञान प्राप्तकर महर्षि वामदेव द्वारा मुक्ति की प्राप्ति, परमात्मा के सम्पूर्णजगत्नियामकत्व आदिका प्रतिपादन आदि इस उपनिषद् के प्रधान प्रतिपाद्य हैं।

९- छान्दोग्योपनिषद्– यह सामवेदीय "ताण्डि" शाखा की उपनिषद्– है। छन्दोबद्ध सामगान करने वालों को छन्दोग कहा जाता है। छन्दोगों की उपनिषद् को छान्दोग्योपनिषद् कहा जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में आठ अध्याय हैं।

उद्गीथ भक्ति के अङ्गभूत प्रणवोपासना को प्रथम अध्याय के सात खण्डों में वर्णन करके आठवें तथा नवें खण्ड में शिलक, शालावत्य, चैकितायनदाल्भ्य तथा प्रवाहण जैबलि द्वारा 'उद्गीथ' का व्याख्यान किया गया है। इस अध्याय के शेष खण्डों में उद्गीथ भक्ति के अंगभूत 'प्रस्तावप्राणविद्या' का वर्णन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् के दूसरे अध्याय में पञ्च-विध एवं सप्त-विध सामोपासना का वर्णन है। तीसरे

अध्याय के ग्यारहवें खण्ड तक 'मधुविद्या' का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में क्रमशः 'गायत्री-विद्या', 'शाण्डिल्य-विद्या', कोशदिग्वत्स विद्या तथा पुरुषविद्या का भी वर्णन आया है। इस उपनिषद् का चौथा अध्याय जानश्रुत्युपाख्यान के माध्यम से 'संवर्गविद्या' के वर्णन द्वारा उपक्रान्त होता है। इस अध्याय के 'उपकोसलविद्या' अर्चिरादि गति आदि का वर्णन दूसरे मुख्य विषय हैं। पाँचवें अध्याय के प्रमुख विषय– 'प्राणविद्या', पञ्चाग्नि-विद्या' तथा 'वैश्वानरविद्या' के विवेचन हैं। छठें अध्याय में 'आत्मविद्या' तथा 'सद्विद्या' का वर्णन है। आत्मविद्या के ही प्रसंग में एक विज्ञान से सर्व-विज्ञानप्रतिज्ञा का समाधान किया गया है। सातवें अध्याय में 'भूमाविद्या' का वर्णन है। आठवें अध्याय में 'दहर विद्या' तथा 'पुरुष विद्या' (नं० २) का वर्णन एवं मुक्तपुरुष का ऐश्वर्य प्रतिपादित किया गया है।

१०- वृहदारण्यकोपनिषद्– शुक्लयजुर्वेदीय काण्व संहिता के काण्व शतपथब्राह्मण के सत्रहवें काण्ड को 'वृहदारण्यकोपनिषद्' कहते हैं। इस उपनिषद् में छह अध्याय हैं। इस उपनिषद् के पहले अध्याय में अश्वमेध के मेध्य पशु में जगत् की दृष्टि का विधान, उद्‌गीथ का वर्णन, साम का वर्णन, सृष्टि से पूर्व केवल ब्रह्म की स्थिति का वर्णन, ब्रह्म से जगत् की सृष्टि का वर्णन है। दूसरे अध्याय में 'दृप्तबालाकिविद्या' का वर्णन, याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी को ब्रह्म का उपदेश तथा मधुविद्या का वर्णन है। तीसरे अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा जनक के दरबार में ऋषियों के समक्ष ब्रह्मतत्त्व का निरूपण वर्णित है। चौथे अध्याय में याज्ञवल्क्य ने जनक विदेह को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश दिया है। इसी अध्याय में 'मैत्रेयीविद्या' का वर्णन है। पांचवे अध्याय में 'व्याहृतिशरीरकविद्या' का वर्णन तथा देवताओं, मनुष्यों तथा राक्षसों के लिए ब्रह्मा द्वारा 'द' अक्षर का उपदेश दिया गया है। अध्याय के अन्त में गायत्री का तात्त्विक वर्णन है। वृहदारण्यकोप-निषद् के छठे अध्याय में 'प्राणविद्या' का सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है।

इन दस उपनिषदों की ब्रह्मसूत्र के सभी व्याख्याकार आचार्यों ने व्याख्या की है। इनके अतिरिक्त भी सभी उपनिषदें अध्यात्मज्ञान का भाण्डार है। इनके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

— वेदान्तविभागाध्यक्ष,
श्रीहनुमत्संस्कृतमहाविद्यालय,
हनुमानगढ़ी,
अयोध्या (फैजाबाद)

वैष्णव भक्ति-दर्शन : चिन्तन-अनुचिन्तन

— डॉ० तपेश्वरनाथ

अत्यन्त प्राचीन युग से ही भगवान् राम और कृष्ण भारतीय धर्म-भावना के आधार-स्तम्भ रहे हैं। जब से वैदिक धर्म का परिष्कृत स्वरूप भगवान् विष्णु के चरित्र को केन्द्रवर्ती बनाकर अपने नवगठित रूप 'वैष्णव धर्म' के नाम से विकसित हुआ, उसके बाद से ही क्रमशः कृष्णभक्ति और रामभक्ति की दो समर्थ भाव-धाराओं में उसका उत्तरोत्तर प्रचार-प्रसार होता गया। राम और कृष्ण इन दो विराट् चरितों का अवलंबन पाकर ही वैष्णवधर्म लोकधर्म बना और सगुणभक्ति समस्त आर्यावर्त के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गयी। सामान्यतः रामायण और और महाभारत में राम-कृष्ण का चरित-गान हुआ है, पर लीलागान परवर्ती पौराणिक युग की उपलब्धि है।

महाभारत के गीता व नारायणीय अंश में कृष्णावतारवादी धारणा की प्रतिष्ठा हुई। वासुदेव कृष्ण भगवान् विष्णु के स्थानापन्न हुए। श्रीमद्भगवद्गीता, आलवार-प्रबन्धम्, श्रीमद्भागवत महापुराण, गीतगोविन्द, कृष्णकर्णामृत आदि भगवान् कृष्ण की भगवत्ता, महिमा और लीलागान से गुंजित हैं। उधर वाल्मीकि रामायण में रामावतार व रामभक्तिवादी धारणा पुष्ट नहीं है। इस भक्ति की गुणगाथा आलवार 'सहस्रगीति', श्रीवैष्णवों के भाष्य, वैष्णव संहिताओं, तन्त्रों, रामगीतगोविन्द, रामकर्णामृत व आनन्दादि रामायणों में अनुगुंजित है। राम और कृष्णभक्ति की यही वह समर्थ पृष्ठभूमि है जिसके आधार पर मध्ययुग के दाक्षिणात्य वैष्णवाचार्यों (रामानुज, मध्व, निम्बार्क व वल्लभादि) ने नये सिरे से भक्तिआंदोलन छेड़ा और उन्हीं के नेतृत्व में सूर, तुलसी आदि हिन्दी के भक्तकवियों ने क्रमशः सूरसागर व रामचरितमानस जैसे गौरव-ग्रन्थ रचकर कृष्णभक्ति और रामभक्तिशाखा के साहित्य का पौरोहित्य किया। इस युग की भक्तिरचनाओं में सामान्यतः कृष्णाश्रयी शाखा में रागानुगा भक्ति और रामाश्रयी शाखा में वैधी भक्ति का प्राधान्य रहा। इसी के आधार पर कृष्ण 'लीलापुरुषोत्तम' और राम 'मर्यादापुरुषोत्तम' रूपों मेंजनमानस में प्रतिष्ठित हो गये। पहले में भगवान् के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का पक्ष पुष्टतर सिद्ध हुआ तो दूसरे में माधुर्य की अपेक्षा माहात्म्य का पक्ष प्रबलतर। और इस प्रकार अवतारवादी दर्शन में रक्षण (माहात्म्य) और रंजन (लीला) के दो मूलभूत प्रयोजनों में से कृष्ण मुख्यतः रंजन (सौन्दर्य) के देवता और राम मूलतः रक्षण (सत्यं+शिवं) के प्रभु—रूप में हमारे चिर संस्कार में बस गये। विष्णु के दोनों ही सांवले—सलोने अवतार-स्वरूपों में वंशीधर कृष्ण और धनुर्धर राम का यही प्रायोजनिक भेद है। स्वभावतः वंशी और बाण इन दो भिन्न प्रतीकों की साभिप्राय उद्भावना हुई। पीछे जब उपासना में माधुर्य-भाव अग्रसर हुआ और भगवदैश्वर्यों में सौन्दर्य की सर्वोपरिता मान्य हुई—रमणीय राम और कमनीय कृष्ण के भुवन-विमोहन रूपों का एक-सा निदर्शन हुआ। फिर भी विद्वानों की सूक्ष्म दृष्टि में इन दोनों रूपों में किंचित् अंतर प्रतीत हुए बिना न रहा। तदनुसार—"राम की सुन्दरता पर सौम्य शील का आवरण है। कृष्ण की सुन्दरता में लीला-विलास का बाँकपन है। राम लोकाभिराम हैं—

कृष्ण लोकललाम। राम की मुखाम्बुजश्री में जो प्रसन्नता की कान्ति है, वह शीतल है। कृष्ण के मन-मोहन मुखड़े पर जो आनंदोल्लास की कमनीय किरणें किलोलती हैं, वे दीप्तिमन्त हैं।..............इसीलिए, उपासक भक्त की मधुर भावना को जितना कृष्ण उकसाते हैं, उतना राम नहीं। क्यों कि राम के रमणीय रूप में जो सुहावन भोलापन है, उसमें भक्त की मधुर भावना को छेड़ने की शोखी नहीं है। किन्तु कृष्ण की चंचल-चटुल और मंजुल-मृदुल मूर्ति तो उपासक की मधुर भावना को बरबस गलवहियों में समेट ले जाती है॥"[1]

भक्तियुग के बाद रीतियुग में विलासिता के अति-रेक से धीरे-धीरे रामकृष्ण के अवतार-स्वरूपों में अवतरण-प्रयोजन के पूर्वप्रतिष्ठित मूलों में भी अव-क्रमण प्रारंभ हुआ। रंजन की सर्वग्रासिनी प्रवृत्ति ने रक्षण की लोक-संग्रहवृत्ति को भी राग-रंजित कर दिया और उत्तरवर्ती साम्प्रदायिक भक्ति में ज्ञान, वैराग्य आदि के स्थान पर सौन्दर्य-माधुर्य का ही अतिरेक हो चला। भगवान की ऐश्वर्यलीलाएँ अंतर्हित हो गयीं और माधुर्य-लीलाओं में विशेषत: कुंज-लीला, निकुंज-लीला व रासलीला का ही सहकार होने लगा। निष्क्रिय पुरुष-तत्व के स्थान पर सक्रिय प्रकृति-तत्त्व की वरिष्ठता सिद्ध हुई और राम-कृष्ण की हृदय-स्वामिनी राधा और सीता की ह्लादिनी प्रकृति की रमणीयता का पादादिकेशान्त वितान हुआ। अब उनके युगल विहारार्थ सखियों-सहचरियों-मंजरियों का कामद यूथ संगठित हुआ जिनके कड़े पहरों में रसिक विहारी और रसिकलाल जी की युगल जोड़ी के जाग-रण से लेकर शयन तक की अष्टकालीन चर्याओं का नित्य संयोगमय संविधान किया गया। इस प्रकार प्राचीन और मध्ययुग के रावण-संहारक राम और कंस-निकन्दन कृष्ण की भक्तिभावना उत्तरमध्ययुग में वृंदावन से चलकर साकेत तक रंगीले लाल (राम) के युगल विहारार्थ सखी और रसिक भाव-भावित दोनों ही भक्ति-संप्रदायों में फूलती-फलती रही है। इस सुदीर्घ साधना व साहित्यावधि के सर्वेक्षण से ऐसा प्रतिभासित होता है कि उक्त दोनों ही अवतारों के चरितों, लीलाओं और उनके अवतरण-प्रयोजनों में पहले मूलभूत अंतर था। इस मूलभूत अंतरावलंबन पर ही प्रारंभ से लेकर मध्ययुग तक की साहित्य-साधना टिकी है। मध्ययुग के बाद से अद्यपूर्व तक की यह (साहित्य) साधना मधुरोपासना में पर्यवसित हो जाने के कारण अपने लीला-वैचित्र्य व भिन्नधर्मत्व को तजकर नितान्त एकरस हो गया है।

रामभक्ति और कृष्णभक्ति में साम्य-वैषम्य निरू-पित करने के पूर्व इन दोनों के स्वरूपों पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि लीलावाद अवतारवादी धारणाओं का कुसुम-विकास है।

अवतार-स्वरूप— यह पहले संकेत किया जा चुका है कि महाभारत के गीता पर्वाध्याय[2] में ही अवतार-वाद का बीज और नारायणीयोपाख्यान में ६ अवतारों में दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण की चर्चा है। पीछे पौराणिक युग में दशावतारों की मान्यता सुदृढ़ हुई और उनमें राम और कृष्ण पूर्णावतार के रूप में सर्वमान्य हुए। विष्णुपुराण में सर्वप्रथम युगलावतार (विष्णु-लक्ष्मी) की भावना का विकास दृष्टिगत होता है। यही त्रेता में सीताराम और द्वापर में रुक्मिणी-कृष्ण के युगलस्वरूप में मान्य हुए। भागवतपुराण में इस विषय का सुंदर विन्यास मिलता है। यों तो इसमें अवतार-प्रसंग अनेक हैं, पर प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय (२३ वें श्लोक) में राम के साथ कृष्णावतार की चर्चा है। इसके आगे (२८ वें सूत्र) कृष्ण को स्वयं

१— आचार्य शिवपूजनसहाय—'रामभक्तिसाहित्य में मधुर-उपासना'—डॉ भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के ग्रंथ का 'वक्तव्य'—पृ० ३

२— गीता-अध्याय—४।६-९

पूर्ण भगवान्[1] मानकर अन्य अवतारों को उन्हीं का अंश या कलात्मक रूप में माना है। नवम स्कन्ध के दसवें अध्याय (२ रा श्लोक) में उन्हें देवताओं की प्रार्थना से साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि रूप में स्मरण किया गया है जो अपने ही अंशांशों से ४ रूप धारण कर—राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न —नाम से राजा दशरथ के पुत्र हो अवतरित हुए।[2] इसके पूर्व नारायणीयोपाख्यान में पांचरात्र मत के संदर्भ में चतुर्व्यूह की कल्पना हो चुकी थी जिसके अनुसार स्वयं क्षेत्रज्ञ भगवान् वासुदेव ही जीव-रूप में संकर्षण, मन—रूप में प्रद्युम्न और अहं-रूप में अनिरुद्ध कहलाते हैं। कदाचित् इसी चतुर्व्यूह की समन्वित कल्पना हम भागवत के पुरुषावतार में देख सकते हैं। और इसे राम-व्यूह में भी ढूंढ़ा जा सकता है। तदनुसार, स्वयं भगवान् राम परब्रह्म परमात्मा हैं। अन्य व्यूह उपरिवत् हैं। प्रथम पुरुष संकर्षण (लक्ष्मण), द्वितीय पुरुष प्रद्युम्न (भरत) और तृतीय पुरुष अनिरुद्ध (शत्रुघ्न) हैं। भागवत में इसके अतिरिक्त जिस धर्ममत पर विशेष बल दिया गया है, वह है ऐकान्तिक भक्तिमार्ग। ११ वें स्कन्ध के २९ वें अध्याय में भगवान् ने (उद्धवको) बतलाया है कि ऐकान्तिक भक्त स्वर्ग, अपवर्ग नहीं नही चाहते, प्रत्युत वे केवल भक्ति ही चाहते हैं। 'ज्ञानामृतसारसंहिता' में जिन ६ प्रकार की भक्ति-पद्धतियों का उल्लेख किया गया है, भागवत में आकर ये ही—स्मरण, कीर्त्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन, आत्मनिवेदन, श्रवण, दास्य और सख्य—नवधा-भक्ति में परिणत हो गयी हैं। 'नारदभक्ति—सूत्र में ये ११ आसक्तियों के रूप में प्रलम्बित हैं। इसमें भी ऐकान्तिक भक्ति सर्वोपरि है। किन्तु, माधुर्यलीला के प्राधान्य-क्रम से यह पंच-भावोपासना--शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर—में उत्तरोत्तर राग-गरिष्ठ होती गयी है। कृष्ण—भक्तिशाखा भगवान् के लीला-चित्रण में इसी पंचभावोपासना के माध्यम से अग्रसर हुई है। इनमें वल्लभसंप्रदाय अग्रणी है। किन्तु चैतन्य-मत में माधुर्य का ही एकनिष्ठ चिन्तन है। राधा-वल्लभ और हरिदासी मत में भी यही ऐकान्तिक रुझान है।

रामभक्ति-शाखा में तुलसी यद्यपि पंचभावो-पासना से सामान्यतः प्रभावित जान पड़ते हैं, किन्तु उनके पीछे राम-काव्य के साधकों में भी सखी संप्रदाय की नाईं एकान्त रसिकोपासना दृष्टिगत होती है।

सारांशतः, मध्यकालीन (विशेषतः उत्तरमध्य-काल) साधना-साहित्य में इसी मधुराभक्ति का वितान है। इस भक्ति के लिए भगवान् के अवतार की कल्पना अनिवार्य है। अवतारों से ही लीला-परिकरों का विस्तार होता है। लीलार्थ भक्त-भगवान् का वैयक्तिक सम्बन्ध अपेक्षित है और अवतारवाद इसी सम्बन्ध-निरूपण के लिए उपयुक्त मनोभूमि तैयार करता है। 'लघुभागवतामृत' में एतद्विषयक एक श्लोक है —

> स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया ।
> अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः ॥

अर्थात् भक्तों पर अनुग्रह की इच्छा से ही लीला का विस्तार करना भगवान् के प्रकट होने का (अवतरण का) उत्तम हेतु है। अस्तु, रामलीला व कृष्णलीला के सम्बन्ध में विवेचन करने के लिए अवतारवाद की पृष्ठभूमि का अवलोकन क्यों आवश्यक था, यह उपर्युक्त श्लोक से ही सिद्ध है।

समासतः, राम और कृष्ण का आदर्श चरित प्राचीन वाङ्मय में लोक-मंगलकारी स्वरूप में ही आविर्भूत हुआ, किन्तु तन्त्रों से प्रभावित पौराणिक युग में, पुरुष में शक्ति-तत्त्व के युगलत्व से उनमें शनैः शनैः लोकरंजन व लीला की भावना बद्धमूल होती गयी। इसी क्रम में कृष्णावतार-चरित अपनी नैसर्गिक प्रकृति व स्वच्छन्द वन्य-विलासिता के सहजात गुण के

१— भागवत—१।३।२८—एते 'चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। इसे ही रामभक्ति के परवर्त्ती रसिक-आचार्य मधुराचार्य—'रामस्तु भगवान् स्वयम्' रूप में अन्वित कर राम की महत्ता सिद्ध करते हैं।

२— वही—९।१०।२। (द्रष्टव्य—श्रीमधुराचार्य—श्रीरामतत्त्वप्रकाश, पृ० २१)

कारण लीला या रमणेच्छा के सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ और रामावतार-चरित राजसी संभ्रांतता तथा आत्मत्याग की वेदी पर लोकमंगल की प्रतिष्ठा के कारण लीला या विलासेच्छा की उन्मुक्त प्रवृत्ति के अनुरूप न ढल सका। अतः जहां साधना और साहित्य में कृष्णचरित अवतार-माध्यम से (कृष्ण-) लीला-लोक में पहले से ही रूपान्तरित होकर आ गया, वहाँ रामचरित का अवतार-माध्यम से (राम-) लीला में रूपान्तर विलंब से हुआ। इसका स्पष्ट संकेत हमें भागवतवर्णित राम-कृष्ण-लीला में ही मिल जाता है। यद्यपि भागवत में दोनों ही परब्रह्म परमेश्वर रूप में संपूज्य हैं, तथापि जहां रामचरित के चित्रण में उनकी ऐश्वर्यलीला का बखान कर अवतार-प्रयोजन रूप में लोक-मंगलत्व की प्रतिष्ठा कराई गयी है, वहां कृष्णलीला में ऐश्वर्य की अपेक्षा उनकी व्रजाश्रित माधुर्यलीला का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत कर रंजन के अवतार-हेतु की संसिद्धि की गयी है। इस प्रकार भागवत की राम-कृष्ण-लीला परस्पर भिन्नहेतुक है और फलतः तत्प्रभावित कृष्ण-काव्यों में भी रामकाव्यों के समानान्तर यही प्रायोजनिक भिन्नता (सूर-तुलसी के) मध्ययुगीन साहित्य तक भी न्यूनाधिक रूप में बनी रही। यहाँ तक तो राम और कृष्णलीला में प्रकट और अप्रकट हेतु— लीला-माधुर्य का परम रंजक और गोपनीय वितान तन गया। अतएव, यहीं से दोनों में पुनः साम्य की यत्किंचित् प्रतिष्ठा होती है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि का सारांश यह कि राम और कृष्ण दोनों तत्त्वतः अभिन्न व विष्णु के ही अवतार होने पर भी, विद्वानों की मान्यता के अनुसार कृष्ण-भक्ति और कृष्णावतार की लीलाओं की अपेक्षा राम-भक्ति और रामावतार की लीलाएं परवर्ती हैं।[1] रसिक-रामभक्ति के ही पंडितों की धारणा में "कृष्णा-वतार की उपासना रामावतार की अपेक्षा पुरानी और व्यापक है।"[2] इतना ही नहीं, बल्कि वे स्पष्ट शब्दों में घोषित करते है कि— "अवश्य ही रामभक्ति कृष्णभक्ति की अपेक्षा आधुनिक है।[3] विद्वानों ने इस रामभक्ति का प्रथम आचार्य प्रसिद्ध आल्वार सन्त शठकोप को मानकर उनकी 'सहस्रगीति' की रचना (९वीं शती) से ही इस धारा को प्रवाहित माना है।[4] इसी परम्परा में आगे चलकर रामानुज और रामानंद रामभक्ति के आचार्य हुए। स्वामी रामानंद और उनके भक्त कबीर से आगे अग्रदास जी से लेकर प्रेमलता जी तक रामोपासना की शृंगार-धारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। अस्तु, चूंकि कृष्ण के अनन्तर ही रामावतार और रामभक्ति की धारा प्रवाहित हुई, इसलिए कृष्णलीला के अनन्तर ही राम के लीलागान की भी परम्परा चली। कृष्ण की मधुर लीलाओं का आगार स्वयम् आल्वारप्रबंधम् और श्रीमद्भागवत है, तथा हिन्दी में उसका समर्थ प्रस्तवन सूरसागर में हुआ है। इसे हम पहले भी देख आए हैं। किन्तु, राम की ऐश्वर्यलीला के अतिरिक्त माधुर्यलीला १५वीं शताब्दी के बाद ही काव्यसाहित्य में पुरस्सर हुई। यों, इसके पूर्व विद्वान् संस्कृत के राम-काव्यों में उसकी छिटफुट झलक देखते हैं, तथापि हिन्दी में उसके प्रवर्तन की विधिवत् घोषणा वे १६वीं शताब्दी के बाद (विशेषतः ध्यान-मंजरीकार अग्रदास जी के समय) से ही करते हैं।[5]

१— (क) म०म०पं० गोपीनाथ कविराज—रा०भ०र०स०—डॉ० भ०प्र० सिंह के प्रबंध की भूमिका—पृ०—४, ५, ६, ७
(ख) डॉ कामिल बुल्के—राम-कथा—पृ० ७३७—७३८

२— डॉ० भु० ना० मिश्र 'माधव'—रा० भ० सा० म० उ०, पृ० १०३

३— डॉ० भु० ना० मिश्र 'माधव'—रा० भ० सा० म० उ०—पृ० ९७

४— डॉ० भ० प्र० सिंह—रा० भ० र० सं०—पृ० ५१

५— (क) वही—वही—पृ० ८८
(ख) —डॉ० माधव—रा० भ० सा० म० उ०—पृ० ९५

ऊपर अवतारवाद को लीलावाद की पृष्ठभूमि के रूप में उल्लिखित किया गया है। पर साथ ही, ब्रह्म के अवतारत्व से लीलावादी धरातल पर रमने के लिए एकाकी ब्रह्म में जाग्रत रमणेच्छा (रिंरसा) शक्ति का उल्लेख अपेक्षित है जिसके बल पर ही उसमें युगलावतार के साथ-साथ लीला-विस्तार की अनन्त स्फूर्ति का संचार होता है।

युगलावतार— परम पुरुष में रमणेच्छा जगते ही वह द्विधाविभक्त हो जाता है और उस ब्रह्म की माया से ही सृष्टि–लीला का विस्तार होता है। सृष्टि-लीला के अनन्तर स्वरूप–लीला का आश्रय ग्रहण कर ही 'युगलवाद' या 'युग्मवाद' की धारणा विकसित हुई है। स्वरूप-लीला के ही अंतर्गत भगवान् विष्णु के लक्ष्मी–सहित नाना अवतारों की उद्भावना विकसित हुई है। विष्णु के कृष्णावतार में वही लक्ष्मी रुक्मिणी, गोपी व राधा बनीं। रामावतार में सीता कहलायीं। गीता में जिस प्रकृति को श्रीभगवान् की 'आत्ममाया' कहा गया है, पुराणों में उसे ही 'विष्णु-माया' कहा गया। श्रीमद्भागवत में योगमाया के आश्रय से ही भगवान् कृष्ण ने बहुविचित्र लीलाएँ कीं।[1] इसी माया के द्वारा देवकी के ८वें गर्भ का आकर्षण हुआ, सद्यःजात कृष्ण के रक्षार्थ माया-कन्या ने ही कंस को धोखा दिया, बालमुख में यशोदा को त्रिलोक-दर्शन हुआ, ब्रह्मा-वत्स-हरण के अनन्तर मायारचित गो–वत्सों की प्राणप्रतिष्ठा हुई और अनेक लीलाओं के सूत्रधार कृष्ण अनवरत गोपालों के सौम्य सखा बने रहे। निष्कर्षतः, यह योगमाया कृष्ण-लीला की प्रेरक शक्ति है। इसी कारण, वैष्णवों ने मायावाद से संबंधित शांकर-मत को चुनौती देते हुए इसे परब्रह्म विष्णु के विलास का एक विचित्र शक्ति-शाली उपकरण माना है। इसी की दिव्य प्रेरणा से 'युगलवाद की कसौटी पर ऊपर से भिन्न लगने वाले शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवता तथा दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदि देवियाँ— जातीय संघ-भावना व धर्म-चेतना के समक्ष 'अद्वय युग्मवाद' में परिणत होकर लीलारत हुए हैं। परवर्ती पुराणों और काव्यों में राधा–कृष्ण और सीता–राम इसी युगल-भावना के प्रतिनिधि हैं।[2] राम और कृष्ण की लीलाओं में सीता और राधा इसी ह्लादिनी शक्ति के रूप में परिसंज्ञात हैं। आल्वारप्रबंधम् व मराठी भक्ति-गीतों में इनकी समवेत स्तुति मिलती है। क्या राधाकृष्ण और क्या सीताराम, सब पर उस आदिम युगलवादी विश्वास का ही प्रभाव है। पर यह द्रष्टव्य है कि जहाँ अन्य युग्मों पर तत्त्ववाद हावी है, वहाँ कृष्णचरित अवैदिक स्रोतों से सम्बद्ध होने के कारण विशेष ऐहिक, प्रेमपरक व श्रृंगारिक है। इसमें चरितत्व और प्रबंधत्व के स्थान पर प्रेमाख्यानों और जनगीतों का माधुर्य है। इस विषय में पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि की स्थापना ही यह है कि राधा के समान न कोई नारी है और न कृष्ण के समान कोई पुरुष[3]— 'न राधिकासमा नारी न कृष्ण-सदृशः पुमान्।'

लीलावाद व लीलावतार—रामभक्ति के मधुरोपासक आचार्यों ने भी सीताराम–युग्म के सम्बन्ध में इसी केवलत्व का उद्घोष किया। 'न सीतासमा नारी न रामसदृशः पुमान्।' और फलतः उनके साम्प्रदायिक ग्रन्थों में क्रमशः कृष्ण और राम के स्वयं या पर रूप की प्रतिष्ठा हुई जिसकी पराकाष्ठा उनके अवतारी स्वरूप की घोषणाओं में अलग-अलग हुई। भागवत के कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। उनकी सर्वोपरि भगवत्ता को सिद्ध करने के लिए ही ब्रह्मत्व से ऊपर परब्रह्म-रूप का

१— भागवत—१०।१४।२१—'विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्।'
२— पद्मपुराण, उत्तरखण्ड—२४३।३१–३७ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखंड, राधामहिमा।
३— वही–श्लोक–५१ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण–६७।८०—
"या योषिता स च भगवती यः पुमान् सोऽहमेव च"
अर्थात् जो स्त्री है वह तुम्हारी मूर्ति है, जो पुरुष हैं वे मेरे ही स्वरूप हैं।

अभिधान है। वे त्रिगुण-विशिष्ट पूर्णानन्द-घन-विग्रह हैं। भक्तों के चरम आस्वादन के लिए ही वे नाना लीलाओं का प्रसार करते हैं। यह लीला परमानंद-हेतुक है। इसीलिए भक्त स्वर्ग-अपवर्ग की कामना नहीं करता। लीला के पूर्ण प्रसार के लिए ही पुरुषोत्तम कृष्ण में पूर्णत्व की कल्पना हुई, यानी कृष्ण पूर्ण सच्चिदानन्दघनविग्रह हैं। इसी पूर्णत्व की संसिद्धि के लिए उनके चरित्र में विरुद्धधर्मत्व व सर्वकर्तृत्व की शक्ति प्रदर्शित है। इसीलिए, उनकी लीलाओं में शृंगार का भी अशेष प्रसार है। स्थान-भेद से कृष्णलीला के ३ हैं-- खण्ड (१) वृन्दावन-लीला, (२) मथुरालीला और (३) द्वारिका-लीला। वृंदावन-लीला कृष्णलीलाओं में सर्वोपरि है।

रामलीला का भी वर्गीकरण प्रायः इसी भांति हुआ है। नित्य या अप्रकट लीला गोलोक के मध्य 'साकेतधाम' में होती है। साकेतधाम (में सहस्रार कमलवाले सिंहासन) का वर्णन वैसा ही है।[1] यहां सीता-राम का नित्यसंयोग है। यहां के सभी परिकर-सखी, सरयू, कामद वन या अशोक वन सब नित्य हैं। यही दिव्य साकेतधाम प्रकट या अवतरित लीला में भूतल पर अयोध्या या अवध में उतर आता है। अयोध्या नित्यमधुर साकेतधाम का ही ऐश्वर्यस्वरूप है। अयोध्या की प्रकटलीला मर्यादा-पुरुषोत्तम की ऐश्वर्यलीला है किन्तु साकेत की अप्रकटलीला पुरुषोत्तम राम की मधुरलीला है। राम की अवतारलीला में उनका ऐश्वर्य प्रधान (शत्रु-संहारक, धर्म-संस्थापक रूप) व माधुर्य गोपनीय रहता है। यह कृष्णलीला से किंचित् भिन्न है। कृष्णलीला के त्रिविध क्षेत्रों की नाईं रामलीला में भी मिथिला, अयोध्या व चित्रकूट का महत्व है। जैसे भक्तों ने भगवान् कृष्ण को मथुरा में पूर्ण, द्वारका में पूर्णतर और वृन्दावन में पूर्णतम माना है, उसी प्रकार यहां भी भगवान् राम को अवध में पूर्ण, मिथिला में पूर्णतर और चित्रकूट में पूर्णतम माना गया है।[2] जैसे कृष्णभक्तों के लीलानायक वृंदावन को छोड़कर एक पग भी अन्यत्र नहीं बढ़ाते, वैसे ही रामरसिकों की दृष्टि में नित्य साकेतविहारी जानकी-प्रेम-लम्पट राम चित्रकूट से आगे एक पग भी नहीं जाते[3]। ईश्वरत्व राम का बहिरंग स्वरूप है, लीला-नायकत्व उनका अंतरंग आत्मरूप या 'स्वयंरूप'। रामभक्तों ने लीला को प्रकट और अप्रकट भेद के ही समानान्तर सगुण और निर्गुण भेदों में भी बांटा है। तदनुसार, प्रकटलीला सगुणलीला और अप्रकटलीला निर्गुणलीला है।

गौड़ीय वैष्णव रूपगोस्वामी ने नायक-शिरोमणि कृष्ण के-सुंदरांग, रुचिर, किशोर, प्रेमवश्य, नारीगण-मनोहरी, नित्यनूतन, मुरलीवादक, चराचरमोहन आदि ६४ गुणों का उल्लेख किया है। तद्वत् रामरसिक युगलानन्यशरण ने राम के ८ ऐश्वर्यगुण, ८ भजन गुण, २४ शरणगुण, १८ रसिकगुण और ४ विशिष्ट गुणों को मिलाकर कुल ६२ गुणों की गणना की है। इनमें १८ रसिकोपयोगी गुण प्रायः वे ही हैं जिनका उल्लेख ऊपर कृष्ण के गुणों में किया गया है। केवल कृष्ण का वंशीवादक रूप अपर है। पीछे राम के धनुर्धर रूप के स्थान पर वेणुधर रूप का आरोप भी कर लिया गया[4] जिस पर कदाचित् 'कृष्णकर्णामृत' (१२ वीं शती) की निम्नपंक्तियों की प्रेरणा हो[5]—

१— पं० गोपीनाथ कविराज —"रामभक्ति में रसिक संप्रदाय" की भूमिका,—पृ० १५
२— डॉ० माधव, रामभक्ति में मधुरोपासना, 'निवेदन', पृ० ११
३— डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, रामभक्ति में रसिकसंप्रदाय—पृ० २८१—८२
४— शुकसंहिता—प्रथम अध्याय—चतुर्थ पाद
५ — यह श्लोक तत्परवर्ती काव्य 'रामकर्णामृत' प्रथमाश्वास—६१ में भी मिलता है। लगता है— 'कृष्णकर्णमृत' में यहीं से प्रक्षेपित हुआ है। — लेखक

विहाय कोदंडशरौ मुहूर्तं गृहाण पाणौ मणिचारु वेणुम् ।
मायूरवर्हं च निजोतमाङ्गे सीतापते त्वां प्रणमामि पश्चात् ॥ ९४ (तृतीयाश्वास) । वय-भेद से लीला के ४ खंड हो जाते हैं—१. बाल २. पौगण्ड ३. कैशोर ४. यौवन । उक्त चारों में भी 'नित्य कैशोर' सर्वोपरि है । यह राम–कृष्ण दोनों ही लीलाओं में समान है । इसी दृष्टि से इसे नित्य किशोर और किशोरी जी की प्रेमलीला भी कहते हैं ।

ईश, जीव, लीला और धाम के विवेचनोपरांत अंत में पंचभावोपासना पर भी विचार कर लेना चाहिए । सगुण वैष्णवों की भावोपासना भगवान् के साथ भक्त के व्यक्तिगत संबंध पर आधारित है । संबंध-भाव से अभाव विभाव बन जाता है । इसी हेतु भागवत और उत्तरवर्ती साधना-साहित्य में कृष्ण की पूर्वोक्त पंच-भावोपासना का रसमय संविधान हुआ । रसदृष्टि से शांत भाव अनुर्वर है । वल्लभ-मत में बाल्य और सख्य भाव मुख्य था। पीछे मधुरभाव का भी समावेश हो गया । चैतन्यमत में यद्यपि पंचभावों का विवेचन (भक्तिरसामृतसिन्धु में) हुआ, पर मूलतः माधुर्य की ही (उज्ज्वलनीलमणि में) रस-साधना हुई । व्रज के राधावल्लभ, सखी आदि मतों में मधुर रस ही प्रवाहित हुआ । कृष्णलीला में दास्यभाव गौण है, पर रामलीला में यही मुख्य है । यहाँ माधुर्य में भी दास्य का वैशिष्ट्य है ।

— रीडर, हिन्दी विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर (विहार)।

शैव—शाक्त दर्शन : विहगावलोकन

□ डॉ० जितेन्द्रचन्द्र भारतीय

आनन्द की बलवती जिज्ञासा ने जब मानव के मन और मस्तिष्क का अन्तर्मंथन कर डाला तब उसकी विवेचना की कार्यशैली ने आनन्द की गवेषणा आरम्भ की। प्रश्न उठा-किसकी प्राप्ति पर मानव आनन्दी हो सकता है ? और इसी समस्या को हल करने के लिए भारतीय अध्यात्मवाद की नींव पड़ी।

आनन्द की इस गवेषणा ने मानव के सामने जटिल-से-जटिल और सरल-से-सरल साधनमार्गों का जाल बिछा दिया। सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन किया जाने लगा। अपनी-अपनी अनुभूति के बल पर लोकमंगल भावना की को विस्तार दिया जाने लगा। साधना वेगवती होती रही। निगम, आगम, स्मृति, पुराण आदि का आलोड़न होने लगा। एक में अनेक और अनेक में एक देखा जाने लगा, विशेषकर शक्तिवाद का बोलवाला लगा। इसके साथ-साथ शाक्त और शैव आगमों ने अपना होने विस्तार करना आरंभ कर दिया।

शैवागमों में पाशुपतदर्शन, सिद्धान्तशैवदर्शन, वीर-शैव दर्शन, नन्दिकेश्वर दर्शन, रसेश्वर दर्शन, क्रम दर्शन, कुल दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, कालदमन दर्शन, कालमुख दर्शन, कापालिक दर्शन, कारुणिक दर्शन, आदि दर्शनों में शिवशक्ति के समन्वय की बातें मिलने लगीं और प्राय: इन्हीं को आधार बनाकर शिवशक्ति-साधना का विस्तार होने लगा। शैव दर्शनों के गहन विवेचन एवं अनुभूति के बल पर यह निष्कर्ष निकला कि दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए, उनकी व्यापक अनुभूति के लिए, शिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व पर विचार-विमर्श होने लगा। शक्ति और शक्तिमान् दोनों का एक शाश्वत सत्य रूप है। कहा जाने लगा कि शक्ति और शक्तिमान् में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

शिवतत्त्व अपनी शक्ति से सबमें आभासित हो रहा है। वही संयोजन-वियोजन का कारण है। उसकी सर्वकारिणी शक्ति चित् शक्ति है। उसी को संवित् शक्ति कहते हैं। उसी से कला, विद्या, राग, कला एवं नियति आदि पञ्चमायाकञ्चुकों की सृष्टि होती है। यही प्रकृति - पुरुष का समागम है। आनन्दशक्ति और चमत्कारवाली इच्छाशक्ति, प्रकाशरूपा चित्शक्ति, अभिमर्शात्मिका ज्ञानशक्ति, सर्वकारोपयोगिनी क्रिया-शक्ति, इन शक्तियों का स्वामी ही शिव है। संकल्प-भावाभियुक्त तत्त्व ही शिवतत्त्व है। इसीलिए आगम शास्त्रों में यह कहा गया है :—

शिवो बीज इति प्रोक्तो शिवा योनि: प्रकीतिता।

शिव को बीज और शिवा को योनि कहा जाता है। यही शिव का लिंग रूप और शक्ति का योनि रूप है।

शिवतत्त्व शक्तितत्त्व का उन्मेष कराता है। शिवतत्त्व में रहने वाली महाशक्ति को पराशक्ति कहते हैं। शिव शक्ति का चिदात्मक रूप है। शक्ति इच्छा की उद्वेलिका है। यही पूर्णशक्तियों की सृष्टिरूपा है। जिस प्रकार एक अंगार से कई अग्निकण प्रस्फुटित होते हैं, उसी प्रकार एक ही शक्ति से अनेक शक्तियां उत्पन्न होकर कार्यभेद से विभिन्न रूप धारण कर लेती हैं। इसी शक्ति को शक्तिकुण्डलिनी या कुण्डलिनी कहते हैं। यही सृष्टि-रूपा है। कलाविद्यादि इसी के कञ्चुक हैं। यही मायाशक्ति है, जो जीव को जाल में फँसाती है।

शक्ति के ही कारण शिव को शक्तिमान् कहा गया है और फिर आगे चलकर शैव-शाक्तागमों ने बलवती साधना को ग्राह्य बनाते हुए शिवशक्ति का समन्वय किया। यथा :-

न शिवेन विना शक्तिः न च शक्त्या विना शिवः ।
न तयोरन्तरं मन्ये चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

और कालीविलासतन्त्र में लिखा गया है कि:-

यः शिवः सैव दुर्गा स्यात् या दुर्गा शिव एव सः ।
तत्र यो कुरुते भेदं स एव नारकी भवेत् ॥

यही अभेद की प्रतीति अद्वैतवाद की मूल भित्ति रही । "भवंभवानीमयमेव विश्वम्" कहकर शिवपुराण-वायुसंहिता में कहा गया है कि:—

शक्तिः साक्षात् महादेवि महादेवश्च शक्तिमान् ।
तयोर्विभूतिलेशो वै सर्वमेतच्चराचरम् ॥
अपरञ्च परञ्चैव द्वयं चिदचिदात्कम् ।
शिवस्य च शिवायाश्च साम्यं चैतत् स्वभावतः ॥
"शिवयोर्वै वशे विश्वं, स विश्वस्य वशे शिवौ ।
इशितव्यमिदं यस्मात् तस्मात् विश्वेश्वरौ शिवौ ॥
यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः ।
नानयोरन्तरं विद्यात् चन्द्रचन्द्रकियोरिव ॥
भ्रमया न यथा यद्वत् भानुर्यस्य न विद्यते ।
प्रभा च भानुना तेन सुतरां तदुपाश्रया ॥"

शिव पुरुष है तो शिवा प्रकृति है, शिव रुद्र है तो शिवा रुद्राणी है, "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" । इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् परस्पर-सापेक्ष और नित्यसम्वद्ध हैं । तन्त्रसार में लिखा है :-

परांशो मातृरूपोऽत्र प्रमाणांशः परापरः ।
मेयोपरः शक्तिमांश्च शक्तिस्त्वंशरूपनित्यदः ॥

इस प्रकार, हमदेखते हैं कि शक्ति और शक्तिमान् के अद्वैत रूप को ज्ञानी और योगी अपनाते चले गये हैं । इसी से प्रत्येक का साधनापथ प्रशस्त होता गया और उपासनापद्धति एवं आचारपद्धति के कुछ भिन्न होते हुए भी लक्ष्य सबका एक ही रहा, क्योंकि ध्येय सबका आनन्दोपलब्धि ही था ।

पाशुपत दर्शन :- पूर्व में शैवागमों की दृष्टि से पाशुपत दर्शन का उल्लेख किया था । इस दर्शन में पशु, पाश और पशुपति स्वरूपों की विवेचना की गयी है । इन्हीं को प्रकृति, जीव और परमेश्वर कहा गया है । इन्हीं को अक्षर (पशु), क्षर (पाश) और क्षराक्षर (पशुपति) कहा गया है । पशु को पाशविमुक्त करना ही पशुपति का कार्य है । पाश नाम मल और माया का है । इस मलापसरण के लिए ही दीक्षा का विधान किया गया है । तन्त्रालोक के अनुसार :—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनैह कीर्तिता ॥

इसमें पशुवासना के क्षय करने की ओर संकेत दिया गया है । पाशुपतमतावलम्वी कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त पाँच क्रियाएँ मानते हैं : इस मत में शिव को कारण माना गया है ।

कारण – शिव ही कारण है ।

कार्य – कारण कार्य के अधीन है ।

योग – दो प्रकार का कहा गया है : ध्यानरूप और शरणागतरूप ।

विधि – साधनाविधि । इसको चर्या कहते हैं ।

दुखान्त – इस पाँचवे दुःखान्त के लिए ही शक्तिपात-वेधदीक्षा की परमावश्यकता होती है । शक्तिपात-दीक्षा से कुण्डलिनीशक्ति जागृत होती है । कुण्डलिनी-शक्ति के जागृत एवं क्रियाशील होने से पशु के सारे पाश कटने प्रारम्भ हो जाते हैं ।

सिद्धान्तशैव दर्शन :- सिद्धान्तशैव दर्शन के प्रतिपादकों में आचार्य 'सद्यःज्योति' का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इन्होंने 'रौरवागम' की वृत्ति एवं 'स्वायंभुवआगम' पर 'मोक्षकारिका' लिखी । उनके कार्य को रामकण्ठाचार्य ने आगे बढ़ाया और द्वैताद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि की । पाशुपतों में और इनमें थोड़ा-सा भेद है । वह पाँच पदार्थों को मानते हैं, जब कि यह केवल तीन की ही सत्ता स्थापित करते हैं : पशु, पाश एवं पति ।

शरीरेन्द्रियसम्बद्धः जीवः साञ्जनशब्दितः ।
ताभ्यां च रहितो यस्तु सः निरञ्जनविधेयकः ॥

यह जीव को साञ्जन से निरञ्जन बनाना साध्य मानते हैं । विशेषकर इस मत में नाद और बिन्दु को महत्त्व दिया गया है ।

द्वैताद्वैतलकुलीशपाशुपत–दर्शन– इस सिद्धान्त के प्रवर्तक का नाम 'नकुलीश' या 'लकुलीश' था। इनके मत में क्रिया को महत्ता दी जाती है। क्रिया साधना–परक होती है। उसके लिए कुण्डलिनीशक्ति के जागरण की आवश्यकता होती है। क्रिया से मुक्ति होती है! यह सान्निध्य और सायुज्य-मुक्ति ही मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत-दर्शन — इस दर्शन की दृष्टि से शिव, शक्ति और विन्दु, ये तीन तत्त्व हैं। शुद्धतत्त्व में जगत् के कर्ता शिव हैं, शक्ति करण है, और विन्दु उपादान है। इस मत में विन्दु ही शब्दब्रह्म है और शक्ति ही कुण्डलिनी है। क्रिया के द्वारा ही मलशुद्धि होती है। बद्धजीव दीक्षा के द्वारा शिवत्व को प्राप्त होता है। उसकी जागृति दीक्षा से होती है। यही इसका सारांश है।

वीरशैवदर्शन [लिङ्गायत] — इस परम्परा को दाक्षिणात्य विजुल राजा के ब्राह्मण मन्त्री ने चलाया। उसका नाम वसव था। उसने राजा के अत्याचारों से पीड़ित शैवों का संगठन किया और प्रतिज्ञा की कि हम शिवलिङ्गों को अपने शरीर पर तब तक धारण करते रहेंगे, जब तक इस राजा का विनाश न हो जाय। इन्होंने अपने प्राणों की वाजी लगाकर शिव–लिङ्ग की रक्षा की। इसलिए इन शैवों का नाम वीर शैव रख दिया गया। इसके आचार्य हैं रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एङ्कोरमाचार्य, पण्डितराज इत्यादि। इस मत का ग्रन्थ "सिद्धान्तशिरोमणि" है। यह शुद्ध द्वैताद्वैत मत है। ये मानते हैं कि शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव का एकाकार होना ही साम-रस्य है। अग्नि और अग्नि की दाहिकाशक्ति का जिस प्रकार संयोग है। इन्होंने भी सिद्धान्तशिरोमणि में कहा है कि —

न शिवेन विना देवी न च देव्या विना शिवः ।। शि. श. ३७। दीक्षा से यह भी जीव की शिवत्वप्राप्ति मानते हैं। शिवलिङ्ग धारण करने के कारण इन्हें लिङ्गायत भी करते हैं।

नन्दिकेश्वरशिवाद्वैत–दर्शन — इस मत के प्रव–र्तक नन्दिकेश्वराचार्य हैं। इस मत को आभासवाद या प्रत्याभासवाद भी कहते हैं। शिव अव्यय है, वह शक्ति-समन्वित होता है, उसी से वह सृष्टि करता है। यह सब कुछ आभासित रूप में मानते हैं।

रसेश्वर-दर्शन — इस संप्रदाय के लोग भौतिक समृद्धि एवं कायसम्पत्ति को विशेष महत्त्व देते हैं। रुग्णता पाप है, अतः शरीर को पुष्ट करना चाहिए। स्थिर देह के लिए रसेश्वर का सेवन करना चाहिए। पारद ही रसेश्वर है। पारद शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रज है। इस रजवीर्य के भस्म का सेवन करने से पुष्टि आती है। इससे शिवतादात्म्य की स्थिति आती है।

"रसो वै सः" रस ही ईश्वर है।

'रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति'। यह दर्शन भी अद्वैतवादी दर्शन है। श्रीमच्छङ्कराचार्य आदिगुरु के गुरु के गुरु 'श्रीभगवद्गोविन्दपाद' ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में 'रसहृदय' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।

काश्मीरशैव–सिद्धान्त — शैवागमों का चालीस-पचास वर्षों तक निरन्तर अध्ययन करने वाले स्व० डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय महोदय ने लिखा है कि मैंने प्रमुख रूप से तीन काश्मीरी शैव दर्शनों को पाया। पहला क्रम दर्शन, दूसरा कुल दर्शन, तीसरा प्रत्यभिज्ञा दर्शन।

१–क्रम-दर्शन — इस दर्शन में विकल्प संसार ही परमतत्त्व के साथ साक्षात्कार का उपाय है। यह क्रमपूर्वक होता है। इसलिए इस दर्शन को 'क्रमदर्शन' कहते हैं। इसके निर्माता शिवानन्द सोमानन्द के 'परमेष्ठि' गुरु हैं। इसका प्रतिपादन दस ग्रन्थों में हुआ है। क्रमसद्भाव, क्रमसूत्र, क्रमोदय, क्रमकेलि इत्यादि। इसकी दो परम्पराएँ हैं – एक में शिव को परमतत्त्व माना गया है और दूसरे में काली को। क्रम ईश्वर को कहते हैं। यह मकारत्रय को मानते हैं। लेकिन उसका शुद्ध-सात्त्विक रूप लेते हैं। जैसे मद्य का अर्थ 'खेचरी-

मुद्रा' से टपकने वाला रस है ; गुड़ की मदिरा नहीं।
मांस – 'अज्ञानभक्षणं प्रोक्तं तत्तु मांसस्य भक्षणम्'।
अज्ञानसंभूत मल का नाश ही मांसभक्षण है और–
मैथुन – सहस्रारोपरिबिन्दौ कुण्डल्या: मेलनं शिवे।
मैथुनं शमनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्॥

मैथुन का दूसरा नाम ही सुरत है। ये पांच शक्तियों को मानते हैं। उसे पाँच पदवी भी कहते हैं — व्योमचरी, खेचरी, स्वचरी, गोचरी और भूचरी। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया इनको भी क्रमदर्शन मानता है। परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन वाणियों को महत्त्व देता है। इसमें भी शिवशक्ति को अद्वैतवाद ही प्रधान माना गया है।

२–कुल-दर्शन – कुलदर्शन का और क्रमदर्शन का परम्परागत घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद 'क्रमदर्शन' और 'कुलदर्शन' को सहोदर कहते हैं। इसका प्रादुर्भाव 'मत्स्येन्द्रनाथ' के मुख से हुआ। कुलदर्शन का उद्भव त्र्यम्बक की पुत्री के वंश में हुआ। इसलिए इसको कुलत्र्यम्बक भी कहते हैं। पर आचार्य मत्स्येन्द्र ही हैं।

भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं प्राप्य ततः प्रिये।
तत् सकाशात् तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने॥
कामरूपे महापीठे मत्स्येन्द्रेन महात्मना॥

कुल शब्द के कई अर्थ हैं। कुल का अर्थ कार्य–कारण भाव होता है। कुल परमेश्वर की शक्ति को कहते हैं। कुल शिवाशक्ति को भी कहते हैं।

कुलः शक्तिसमाख्याता अकुलः शिव उच्यते।
तस्यां लीनो भवेत् यस्तु स कुलीनः प्रकीर्तितः॥

अकुलः शिव इत्युक्तः कुलः शक्ति प्रकीर्तिता।
कुलाकुलानुसन्धानात् निपुणाः कौलिकाः प्रिये॥

कुलदर्शन के मानने वालों को कुलीन या कौल भी कहा जाता है। उनका कहना है कि कीचड़ या चंदन में, मित्र में या शत्रु में, भवन में या श्मशान में, काञ्चन में या तृण में जो कोई भेद नहीं मानता है, वह है कौल।

इसमें दो मार्ग हैं : दक्षिण मार्ग तथा वाम मार्ग। कुलदर्शन में शिवशक्ति दोनों का सामञ्जस्य मोक्षप्रद माना गया है। इसमें योग और मोक्ष दोनों की समान सत्ता मानी गयी है। कुलदर्शन में देवनागरी लिपि के जितने भी अक्षर हैं, उनकी व्याख्या दार्शनिक ढंग से की गयी है। उन्ही में शिवशक्ति का पूर्णत्व दर्शित किया गया है। इनका प्रधान ग्रन्थ परोन्मेपिका या परामर्शिका है।

कौलों का कोलाचार अद्वैतभाव से पूर्ण है। इनमें कई भेद है। महाकौल, सिद्धकौल, ज्ञान-निष्णात कौल, सिद्धामृत कौल, योगिनी कौल इत्यादि। कुलदर्शन में योग की विशेषता बताई गई है। यह योग शिवशक्ति का सम्मिलन है। कुण्डलिनीजागरण से ही शिवशक्ति का सम्मिलन होता है। वही समरसावस्था है। 'आधारचक्र' को भी कुल कहते हैं।

'या शक्तिः परमाधारा मूलाधारे च विद्यते।' तथा-
तत्र मूले परावाणी महाशक्ति विमण्डिता।

इसमें भी क्रमदर्शन की भाँति तीन मकार की अपेक्षा पाँच मकार को महत्त्व दिया जाता है। मद्य – इड़ा, पिङ्गला के साथ सुषुम्नासंयोग। मांस – अज्ञान-भक्षण। मीन – श्वास-प्रश्वास का भक्षण। मुद्रा-ब्रह्मरन्ध्र तक कुण्डलिनी को पहुंचाना इत्यादि। पान-आत्मतत्त्वज्ञान, भक्षण– विद्यातत्त्व का ज्ञान और मैथुन– शिवतत्त्व का बोध। आत्मतत्त्व की अवस्था में पंचभूतों की क्रियाएं, विद्यातत्त्व की अवस्था में सुप्तकुण्डलिनी का जागरण और शिवतत्त्व की अवस्था में सहस्रदलकमल में शिवशक्तिसंगमात्मक क्रियाएं। कुलाचारी प्रायः इनको गुप्त रखते हैं।

सुगुप्तं कौलिकाचारं अनुगृह्णन्ति देवताः।
वाञ्छासिद्धिं प्रयच्छन्ति नाशयन्ति प्रकाशकान्॥

ये लोकतत्व की संख्या भी २६ मानते हैं।

३–प्रत्यभिज्ञादर्शन [अभिनवगुप्ताचार्य]–'प्रत्यभिज्ञादर्शन' भारतीय शैवागमपरम्परा की अद्भुत चिन्तन प्रणाली का परिष्कृत रूप है। काश्मीर के धर्मप्राण शिवभक्तों ने शैवधर्म की रक्षा का पूर्णभार

उठाया। इसमें प्रत्यभिज्ञादर्शन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

काश्मीरी शैवागम में 'स्पन्दशास्त्र' और 'प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र' विशेष महत्त्व के हैं। स्पन्दशास्त्र के प्रवर्तक वसुगुप्त हैं और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सोमानन्द। प्रत्यभिज्ञादर्शन विशुद्ध अद्वैतवादी दर्शन है। इसमें महेश्वर सब कुछ को आभासित करता है।

'जलदर्पणवत् तेन सर्वव्याप्तं चराचरम्।'

प्रत्यभिज्ञा में 'श्रीविद्या' की उपासनापद्धति भी मिलती है। शिव और शक्ति, इनका अभेदप्रतिपादन ही प्रत्यभिज्ञादर्शन का ध्येय रहा है। उसी मत के 'क्षेमराज' ने कहा है–

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोः यज्जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥

शिव बीज है। शक्ति योनि है। दोनों के सामरस्य के बिना सृष्टि नहीं हो सकती। उन्होंने कहा है कि :–

सुख–दुःखादिविज्ञान–विकल्पात्मककल्पितम्।
भित्वाद्वैतमहामोहं योगी योगफलं लभेत्॥

द्वैतमहामोह को दूर करना ही योगी का ध्येय है। प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है :—

प्र = प्रकर्षरूपेण, ति = तिष्ठति, सर्वत्र विराजते, तस्य अभि = समन्ततः, ज्ञा = ज्ञानं परिचयो वा येन शास्त्रेण, ज्ञायते = प्राप्यते उपलभ्यते; तत् शास्त्रं प्रत्यभिज्ञाशास्त्रम्।

आभास के कारण शिव और शक्ति दो रूपों में मिलते हैं। आभास मात्र होने वाली शक्ति उससे अभिन्न है। अज्ञान के भेद के कारण वह द्वैतबुद्धि से देखा जाता है। इस मतवाले भी मानते हैं :—

न शिवेन विना देवी न च देव्या विना शिवः।
एवं शिवत्वं शक्तित्वं परमात्मनि दर्शितम्॥
शिवशक्तयोस्तु संयोगात् आनन्दः सततोदितः॥

इस प्रकार, हम देखते हैं कि शैव दर्शनों ने शिव एवं शक्तितत्त्व को संगमित करके अध्यात्मसाधना पर बल दिया है।

एवं शक्तिसमायोगात् शक्तिमान् उच्यते शिवः।
शक्तिः शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत्॥

जिस प्रकार दीपशिखा स्वयं दीप्त होकर अन्य वस्तुओं को भी दीप्त कर देती हैं, उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् के तेज से यह विश्व भी जीविन हो रहा है।

इन सारे सिद्धान्तों के मूल में शैवशक्तिसाधना को बलवती बनाने के लिए 'कुण्डलिनीशक्ति' के जागरण की चर्चा सब जगह की गयी है। इसलिए 'शिवशक्ति' के परम रहस्य को जानने के लिए, आत्मसाक्षात्कार करने के लिए, अध्यात्मसाधना को बलवती बनाने के लिए शक्तिपातमहायोगकुण्डलिनीसाधक होना चाहिए। शास्त्र में कहा गया है —

मूले पद्मे कुण्डलिनी यावत् निद्रायते प्रभो।
न तावत् किञ्चित् सिद्धेत् तन्त्रमन्त्रयन्त्रादिकम्॥
यदा जागर्ति सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः।
तदा प्रसादमायाति तन्त्र–मंत्र–यंत्रादिकम्॥

इसलिए शैवशाक्तसाधना के उपासकों को जागृत-कुण्डलीक होकर, गुरुशरण में जाकर शक्ति जागृत कर लेनी चाहिए।

— सी०–१०६५,
गोदा-निकुञ्ज,
महानगर, लखनऊ।

विशिष्टाद्वैत-दर्शन

□ डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे

श्रीरामानुजाचार्यद्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत-दर्शन वैष्णव दर्शनों में सर्वप्रमुख है। यह ईश्वरवादी दर्शन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ईश्वर की पुरुषवादी धारणा को ब्रह्मवादी दर्शन से संयुक्त कर देता है। यहां बहुत प्राचीन काल से आने वाली धाराएं समाहित हो जाती हैं और विचाराभिजात्य-सम्पन्न जन एवं सामान्य जन में सामान्यतः इसकी लोकप्रियता का कारण भी यही है। इस दृष्टि से यह गीतोपदेश के समान ही है। हाँ, धार्मिक और दार्शनिक दोनों पक्षों की दृष्टि से इसमें तन्त्र-बद्धता अधिक है।[1]

रामानुज का दर्शन भक्तिवादी दर्शन है। रामानुज ने—जो शङ्कर के तीन सौ वर्षों के पश्चात् आविर्भूत हुए—शङ्करद्वारा प्रतिपादित अद्वैतदर्शन का खण्डन करते हुए अपनी विशिष्टाद्वैतदर्शन की प्रतिस्थापना की। इन्होंने शङ्कर की भांति मात्र ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य एवं जीवजगत् को मिथ्या नहीं घोषित किया, अपितु जीवजगत् को ब्रह्म का विशेषण बताते हुए उनकी भी सत्यता निर्धारित की। जीव (चित्) जगत् (अचित्) ब्रह्म या विष्णु के विशेषण होते हुए भी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं। यद्यपि तीनों की परस्परअपृथक् सिद्धि है। यहां अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ माना गया है और जीव तथा प्रकृति उसके विशेषण हैं। इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही प्रधान तत्त्व है। आचार्य वेदान्तदेशिक के अनुसार विशिष्टाद्वैत का अर्थ है—विशिष्टमद्वैतम्।

विशिष्टाद्वैत के आधारभूत सिद्धान्त—

१— मोक्षप्राप्ति का एकमात्र साधनः भक्ति- शंकर की भाँति रामानुज मोक्षप्राप्तिहेतु ज्ञान को परम साधन नहीं मानते, अपितु उनके मत में ईश्वर की प्राप्ति का एकमेव उपाय भक्ति ही है।[2] कर्म एवं ज्ञान भक्तिप्राप्तिहेतु पूर्वापेक्षित साधनों के रूप में आते हैं।

२— प्रमाणत्रय— शंकर और रामानुज के ब्रह्म के स्वरूपविषयक मतों में परस्पर महद् अन्तर है। शंकर ब्रह्म को निर्गुण एवं निराकार मानते हैं, जब कि रामानुज उसे सगुण एवं साकार। रामानुज ब्रह्म को विशेषणविशिष्ट मानते हैं। जीवजगत् उसके विशेषण हैं। रामानुज ने ब्रह्मसम्बन्धी दर्शन की पुष्टि के लिए तीन प्रमाणों-प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द (श्रुति) को माना है।[3] इनमें भी प्रथम और तृतीय प्रमाण को विशेष महत्व प्राप्त है।

प्रत्यक्षप्रमाण जीवात्मा ही वस्तुतः पदार्थों का स्पर्श-कर्ता एवं द्रष्टा है—ऐसा श्रुति का कथन है। रामानुज-दर्शन में आत्मा को ही वस्तुओं का साक्षात्कारकर्ता

१—प्रो० एम० हिरियन्नाकृत भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), हि० सं०, पृ० ३८०।
२—रामानुजकृत गीताभाष्य १८।५५।
३—प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातम्—श्रीभाष्य – १।१।१

माना गया है। आत्मा ही मन और इन्द्रियों के साहचर्य से विषयों का साक्षात्कार करता है ।

रामानुज का मत है कि ज्ञान सविशेष वस्तु का ही होता है। उन्होंने ज्ञान की सविकल्पक (डिर्टमिनेट) और निर्विकल्प (इनडिर्टमिनेट) दो कोटियों द्वारा सविशेष वस्तु का ही साक्षात्कार सिद्ध किया है। सविकल्पप्रत्यक्ष में अनुगतधर्म की प्रतीति होती है और निर्विकल्पप्रत्यक्ष में प्रतीयमान धर्म की अनुगतता नहीं प्रतीत होती है। यही सविकल्प और निर्विकल्पप्रत्यक्ष में अन्तर है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सत्य ही होता है। यह दर्शन अद्वैतदर्शन की भाँति वस्तु की पारमार्थिक, प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ताएं नहीं मानता है। रामानुज के अनुसार भ्रमज्ञान का विषय भी सत्य ही होता है। शुक्ति में जो रजत का दर्शन होता है वह इसी कारण कि शुक्ति में भी पंचीकरण के सिद्धान्तानुसार रजत का कुछ अंश वर्तमान रहता है। पंचीकरण सिद्धान्त के अनुसार जिन महाभूतों (स्थूल भूतों) का प्रत्यक्ष होता है, उनमें से प्रत्येक में दूसरे भूत मिले रहते हैं। स्थूल पृथ्वी में आठवाँ-आठवाँ भाग जल, वायु, अग्नि और आकाश का है और शेष उसका अपना। प्रत्येक भौतिक पदार्थ में भी अपने कारणभूत महाभूतों के समान भूतान्तर विद्यमान रहते हैं।[1]

रामानुज स्वाप्न पदार्थों की सत्यता सिद्ध करते हुए कहते है कि वृ० उ० ६।३।१० के अनुसार जीवों के प्राचीन शुभाशुभ कर्मकृत अदृष्ट के अनुसार परमात्मा तत् तत् पुरुषामात्रानुभाव्य तत् तत् कालावसायी तत् तत् स्वाप्न पदार्थों की सृष्टि कर देते हैं।

श्रुतिप्रभाव– रामानुज भी अन्य आस्तिक दर्शनों के आचार्यों की भाँति वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका यह मत है कि ईश्वर प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ब्रह्मा को वेद–ज्ञान कराता है।[2]

रामानुज के अनुसार वेदकथन स्वतःप्रमाण हैं। वेदों के ही वाक्य आध्यात्मिक क्षेत्र में हमारे आधार हैं। वे वेदों के अतिरिक्त शब्दप्रमाण के अन्तर्गत तदुपवृंहण ग्रन्थों (स्मृति, इतिहास, पुराणादि[3]) तथा आप्तवाक्य को भी मानते हैं।

रामानुज का प्रकार और प्रकारी भाव – श्रुति का कथन है कि ब्रह्म एक और अद्वितीय है।[4] परन्तु रामानुज के अनुसार उक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि जीव और प्रकृति का अस्तित्व नहीं है। अपितु ब्रह्म को एक-अद्वितीय कहने का सर्वथा यही अभिप्राय है कि ईश्वर एक ही है, उसके समान अन्य कोई नहीं है। वह अप्रमेय है। रामानुज ब्रह्म का अद्वैतभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं कि सभी चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) ईश्वर के ही प्रकार या रूप हैं।[5] उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म के ये प्रकार उसके विशेषण हैं, परन्तु उनकी स्थिति एवं स्वरूप भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म तथा जीव एवं अचित् का प्रकारित्व एवं प्रकारत्व शरीरात्मभाव-सम्बन्ध को लेकर निष्पन्न होता है। जिस प्रकार जीव के शरीर का नियन्ता आत्मा है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवात्मा का आत्मा है। जीव ईश्वर का अंश है।

१— यतीन्द्रमत-दीपिका, प्रथम अवतार

२— यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै— श्वेताश्वतर उप० ६।१८

३— इतिहासपुराणयोर्वेदोपवृंहणयोश्चार्थमर्थ उच्यते। – वेदान्तसंग्रह, पृ० २४२

४— एकमेवाद्वितीयम् — छान्दोग्योपनिषत् ६।२।१

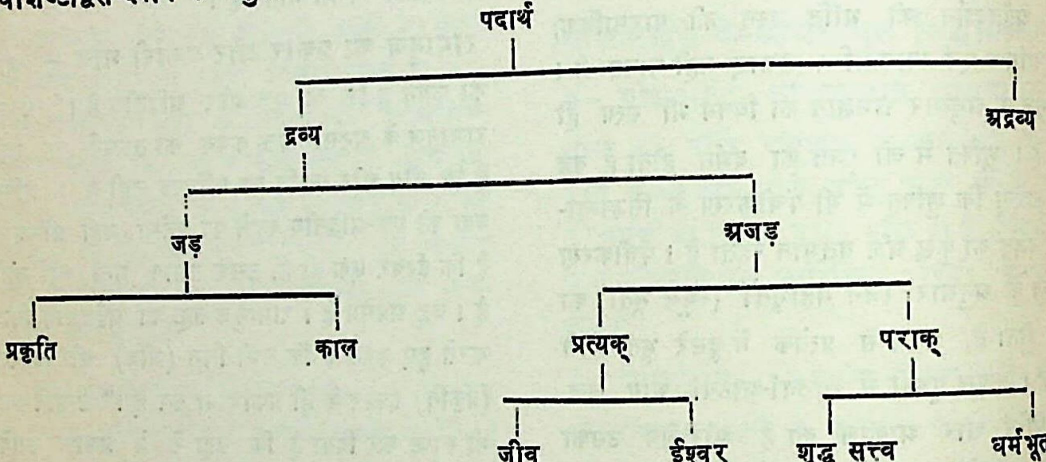
५— अतः प्रकृतिप्रकारसंस्थिते परमात्मनि प्रकारभूतप्रकृत्यंशे विकारः। प्रकार्यंशे च विकारः —
वेदार्थसंग्रह, पृ० ११६

ब्रह्म अंशी है। रामानुज के मत में जीव उसी प्रकार ईश्वर का अंश है, जैसे प्रकाश सूर्य का अंश है।

प्रकार एवं प्रकारी सम्बन्ध को द्रव्य और उसके गुण के उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। रामानुज के अनुसार द्रव्य एवं गुण में अपृथक् सिद्ध–सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, सोना (द्रव्य) गुणी है और पीलापन उससे अपृथक् है, तथापि सोना पदार्थ अलग है और उसका पीलापन अलग। ठीक यही सिद्धान्त ब्रह्म एवं जीव–जगत् के सम्बन्ध में लागू होता है। ब्रह्म धर्मी है और जीव–जगत् उसके धर्म हैं।[1]

रामानुज के सुप्रसिद्ध अनुयायी श्री वेंकटनाथ के अनुसार पदार्थ मुख्यतः दो प्रकारों में विभक्त हैं—द्रव्य एवं अद्रव्य। पुनः द्रव्य दो–दो भागों में विभक्त किया जाता है— १. जड़, २. अजड़। पुनः जड़ के दो आभ्यंतर भेद हैं— एक प्रकृति, दूसरा काल। उसी प्रकार अजड़ तत्त्व के भी दो भेद हैं— प्रत्यक् एवं पराक् और इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं। प्रत्यक् अजड़ तत्त्व के अन्तर्गत 'जीवात्मा' और 'ईश्वर' आते आते हैं। 'पराक्' तत्त्व के भी दो उपभेद हैं — 'शुद्ध सत्त्व' और (धर्मभूत) 'ज्ञान'।[2] निम्नलिखित सूची से यह द्रव्य विभाजन स्पष्ट हो जाता है।

विशिष्टाद्वैत-दर्शन के अनुसार द्रव्य-विभाग –



जड़ द्रव्य – विशिष्टाद्वैत–मत के अन्तर्गत जड़ द्रव्य उन सभी पदार्थों को कहते हैं, जो ज्ञानशून्य हैं। इसके दो मुख्य भेद 'प्रकृति' एवं 'काल हैं जिनका ऊपर भी उल्लेख किया जा चुका है।

प्रकृति – रामानुज के अनुसार प्रकृति अनादिजड़ा और विकारास्पद है। यह सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त है।[3] सृष्टि के आरम्भकाल में प्रकृति ईश्वर की अध्यक्षता में समस्त चराचर का सृजन करती है।[4] प्रकृति जीव को स्वस्वरूप–याथार्थ्य के विषय में अज्ञ बनाकर अपने में भोग्यत्व-बुद्धि को उत्पन्न करती है।[5]

काल – काल जड़ द्रव्य है। यह भूत, वर्तमान और

१—श्रीभाष्य, २।३।४५

२— द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्वितस्तत्त्वमाहुः।
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ।
अन्त्यं प्रत्यक्पराक् च प्रथमुभयथा तत्र जीवेशभेदात्।
नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह जडामादिमां केचिदाहुः। (तत्त्व० मु० क० १।६)

३— सत्वरजस्तमांसि त्रयोगुणाः, वही १५।५।

४— मदीया प्रकृतिः सत्यसंकल्पेन मयाध्यक्षेणेक्षिता सचराचरं जगत् सूयते – वही, ९–१०।

५— अस्याः कार्यं भगवत्स्वरूपतिरोधानं स्वरूपभोग्यत्वबुद्धिश्च–वही, ७–४।

भविष्य इन तीनों भागों में विभक्त है। क्षण, घण्टे, पक्ष, वर्ष, युग, मन्वन्तर एवं कल्पादि काल के ही विभाग है।

अजड़ द्रव्य — जैसा कि पूर्वतः बताया गया है कि 'अजड़ द्रव्य' स्वयं ज्ञानयुक्त होता है। इसके दो प्रकार होते हैं — प्रत्यक् एवं पराक्। इनमें प्रत्यक् द्रव्य स्वयंप्रकाश होता है। उसकी सत्ता स्वयं अपने हेतु ही होती है। पराक् द्रव्य स्वयंप्रकाश होता है, परन्तु वह अपने लिए नहीं होता। प्रथमतः हम पराक् तत्त्व का वर्णन कर रहे हैं।

पराक् तत्त्व — पराक् तत्त्व के दो भेद होते हैं — प्रथम 'शुद्ध सत्व' एवं द्वितीय (धर्मभूत) ज्ञान।

शुद्ध सत्व — नित्य विभूति का वाचक है। यहाँ पर रूप से परमात्मा नित्यमुक्त जीवों के साथ रहा करते हैं। इसे त्रिपाद्विभूति भी कहते हैं।

ज्ञान — विशिष्टाद्वैत के अन्तर्गत ज्ञान को ज्ञान-स्वरूप आत्मा का धर्मभूत माना जाता है। यह आत्मा का गुण उसी प्रकार से है जिस प्रकार मणिप्रभा मणि की। यह आत्मा के मध्य से विकीर्ण होकर मन - इन्द्रियों के साहचर्य से सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष कराता है।[1] ज्ञान जीव एवं ईश्वर का नित्य गुण है। ज्ञान जीव एवं ईश्वर पर अवलम्बित है।

प्रत्यक् तत्त्व — प्रत्यक् तत्त्व के दो भेदों में एक स्वयं ब्रह्म या ईश्वर है और दूसरा जीव है।

ब्रह्म — विशिष्टाद्वैत के अन्तर्गत ब्रह्म से तात्पर्य ईश्वर से माना जाता है। यह सकल शुभ गुणों का निधान है।[2] इसमें अपार शक्ति है, अनन्त सौंदर्य है, महती करुणा है। वह सकल ऐश्वर्यों का अधिष्ठाता है। सत् - चित् - आनन्द - घन है। उसमें समस्त अशुभ (प्राकृत) गुणों का अभाव है। वह आप्तकाम है।[3] वह जीव - जगत् का विशेष्य है। वह जीव एवं प्रकृति का नियन्ता है। वह जीवों का कर्माध्यक्ष है। उसी की इच्छा के अनुकूल प्रकृति उसकी माया का कार्य करती है। विष्णु हमारा परम आराध्य है। वह हमारा स्वामी है, हम उसके सेवक हैं।[4] ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है।

ब्रह्म के स्वगत भेद हैं। ब्रह्म के ५ रूप विशिष्टाद्वैत के अन्तर्गत माने गये हैं — १- पर, २- व्यूह, ३- विभव, ४- अन्तर्यामी, ५- अर्चावतार। पर—रूप से परमात्मा नित्यविभूति में विराजमान रहते हैं। यहाँ पर वे अपनी अभिन्नशक्ति लक्ष्मी से सदा संयुक्त रहते हैं। व्यूह रूप के चार भेद हैं — वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। जो क्रमशः मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के अधिष्ठाता हैं। विभवरूप ब्रह्म के राम—कृष्णादि अवतारों के रूप में हमें प्राप्त होते हैं। प्रत्येक वस्तु में अन्तर्नियामकरूप में स्थित ब्रह्म अन्तर्यामी है। देवालयों में विष्णु की मूतयों को अर्चाविग्रह कहते हैं। एकमेव भक्ति ही ब्रह्म को प्रसन्न करने का साधन है। अकारणकृपालु ईश्वर भक्त के सारे अपराधों को क्षमा कर देता है। वह महदैश्वर्यशाली ब्रह्म भक्त के पत्र-पुष्प एवं जल के समर्पण को बड़ी रुचि से ग्रहण कर लेता है। ब्रह्म की निष्काम भक्ति करके हम उसके परमधाम को प्राप्त कर सकते हैं।

जीव — जीव विभु (व्यापक) नहीं, अपितु अणु है।[5] यह ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानवान् जीव ही सभी तत्त्वों का ज्ञाता है, द्रष्टा है, वक्ता है। जीवात्मा

१— श्रीभाष्य — १।१।१, पृ० ४३

२— यतः सर्वत्र श्रुति–स्मृतिषु परं ब्रह्मोभयलिंगमुभयत्रक्षणममिधीयते, निरस्तनिखिलदोषत्व–कल्याणगुणा-करत्व–लक्षणोपेतमित्यर्थः।' — श्रीभाष्य, ३।२।११

३— गीता, १६।१०

४— श्रीभाष्य, २।२।४१

५— अतोऽणुरेवायमात्मा — श्रीभाष्य, २।३।२३

नित्य एवं अनन्त है। आत्मा का निवासस्थान हृदय है। आत्मा का स्वरूप बड़ा ही विलक्षण है। जीव ईश्वर की माया से आवद्ध हो विकारग्रस्त हो जाता है। जीव एवं ईश्वर की सत्ता भिन्न–भिन्न है। यद्यपि दोनों में 'अपृथक्सिद्ध' सम्बन्ध है। वह कर्म का कर्ता-भोक्ता है। ईश्वर उसे कर्महेतु प्रेरित करता है। जीव अपने प्रारब्ध–शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभ–अशुभ ऊंची–नीची योनियों में जन्म लेते हैं।[1]

जीव की कोटियाँ — विशिष्टाद्वैत-मत में जीव की तीन प्रधान कोटियाँ हैं— नित्य, मुक्त एवं बद्ध।

नित्य जीव–ये जीव सदा ब्रह्म के साथ नित्यविभूति में रहा करते हैं। वे कभी भी इस संसार में नहीं आते। वे कर्म–जाल से सदैव विनिर्मुक्त रहते हैं। गरुड़, हनुमानादि को ऐसा जीव माना जा सकता है।

मुक्त जीव — वे हैं जो विद्या प्राप्त कर संसार–बन्धन को काट चुके हैं।

बद्ध जीव — इस वर्ग में वे जीव आते हैं जो अपने अज्ञान एवं अशुभ कर्मों के कारण संसार के आवागमन-चक्र में पड़े हुए हैं।

जीव के लिए परमकाम्य वस्तु संसारसमुद्र को पारकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही है। इस हेतु उसे ब्रह्म की उपासना करना आवश्यक है। भक्ति ही के बल पर जीव ब्रह्म को प्रसन्न कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

विशिष्टाद्वैत - मत का साधना-पक्ष— विशिष्टाद्वैत के अन्तर्गत भक्त की साधना पर विशेष विचार किया गया है। साधक को प्रथमतः विवेक, विमोक आदि का पालन करके अपने हृदय को विशुद्ध कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् वह अर्थ-पंचक-विज्ञान का चिन्तन करे। रामानुज का कथन है– जीव को प्राप्य परब्रह्म प्राप्त तभी हो सकता है, जब वह स्व-स्वरूप को जान ले। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान उसकी भक्ति से ही हो सकता है। भक्ति सर्वश्रेष्ठ साधन है। रामानुज के अनुसार भक्ति प्रेमपूर्वक ईश्वर का ध्यान-स्मरण ही है।[2] ब्रह्म का यह ध्यान प्रेम से संयुक्त होने के कारण बड़ा ही प्रिय एवं सुखदायक होता है।[3] इसमें रागानुगा भक्ति श्रेष्ठतर है। भक्त को सर्वविधि भगवान पर ही निर्भर रहना चाहिए। भक्ति स्वयं साधन और साध्य दोनों है। भक्ति फल–स्वरूप है। भक्ति की प्राप्ति ही साधक के जीवन का एक-मात्र उद्देश्य है। रामानुज वेदों और धर्मग्रन्थों के पठन-मनन तथा मंदिरों में देवार्चन का अधिकार मात्र द्विजातियों को ही देते हैं। विशिष्टाद्वैत में प्रपत्ति का उपदेश सभी वर्गों के वैष्णवों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

रामानुज प्रपत्ति को इतना महत्त्व देते हैं कि भक्ति के अन्तिम चरणों में वह अपरिहार्य हो जाती है। भगवान् की सर्वातिशायी सत्ता के समक्ष अपने अहं के निगलन के लिए यह वृत्ति आवश्यक है। 'व्यक्ति' सत्ता के सशक्त पक्षधर होते हुए भी स्व का परमात्मा के लिए समर्पण ही प्रपन्नता है। अपने को सर्वविधि भगवत्-शरण में डाल देना ही 'प्रपत्ति' है। ऐसा करने पर साधक शीघ्र ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। रामानुजसम्प्रदाय में आगे चलकर वेंकटनाथ–सदृश आचार्यों ने इस प्रपत्ति के स्वरूप पर विशेष प्रकाश डाला।

मोक्ष — रामानुजदर्शन के अन्तर्गत मोक्ष का सिद्धान्त अन्य दर्शनों से भिन्न है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार मोक्ष–दशा में भी मुक्त शरीर और ज्ञान-आनन्द सभी का भाव होता है, अभाव नहीं।

१— श्रीभाष्य, २।३।३३

२— गीता (रामानुजभाष्य) —७।१

३— परमपुरुषः स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशय–सुखस्यन् परस्यापि सुखं भवति।

— वेदार्थसंग्रह, पृ० २६१

मोक्ष का तात्पर्य है---भक्त का अपनी साधना के बल पर अपना अभ्युदय कर भगवत्–लीला–भूमि---वैंकुण्ठ में प्रवेश।[1] नित्यविभूति में प्रवेश करने पर वह परमात्मा के ही समान आविर्भूतगुणाष्टक हो जाता है। वहाँ वह वैंकुण्ठ के दिव्यानन्द का भगवान् के साथ ही भोग करता है। मुक्तपुरुष भगवान् के समान ही हो जाता है। परन्तु वह भगवान् के सभी अधिकारों को कभी नहीं प्राप्त कर सकता। वह ईश्वर के समान न जगत् की उत्पत्ति–प्रलय कर सकता है और न संसार का नियमन ही।[2]

१— गीता (रामानुजभाष्य), ६–३४

२— श्रीभाष्य – ४।४।१७

— मानस-सदन,
पोस्ट – पयागीपुर,
सुलतानपुर (अवध)

वेदान्तदर्शन

□ डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी

विद्या, उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या और वेदान्त ये अनर्थान्तर या पर्याय हैं। सुरेश्वराचार्य ने 'तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक' में लिखा है :—

"विद्या प्रस्तूयतेऽथोर्ध्वं यथाभूतार्थबोधिनी ।
कर्मोपादानहेतूंस्तान् सैवोच्छेत्तुमलं यतः ॥५॥
— प्रथम अनुवाक ।

"दुरितक्षयहेतुक कर्मकाण्ड के प्रयोजन के उल्लेख के अनन्तर यथाभूत अर्थ या ब्रह्मात्मैकत्व की बोधिका "विद्या" का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। क्योंकि कर्मानुष्ठान के हेतुभूत अविद्या और कामादिकों का उच्छेद करने के लिए वही समर्थ है।"

आगे चलकर वे 'उपनिषद्' शब्द की व्याख्या करते हैं :—

विद्यासंशीलिनां यस्माद्गर्भजन्माद्यशेषतः ।
उपमृद्नाति विद्येयं तस्मादुपनिषद्भवेत् ॥३५॥
उपेत्य वा निषण्णं तच्छ्रेय आत्यन्तिकं यतः ।
तस्मादुपनिषज्ज्ञेया ग्रन्थस्तु स्यात्तदर्थतः ॥३६॥

विद्या का परिशीलन करने वाले जनों की गर्भ-स्थिति एवं जन्मादि का पूर्णरूप से उपमर्दन (विनाश) करने के कारण इस विद्या को उपनिषद् कहा जाता है। अथवा आत्मा में स्थित आत्यन्तिक श्रेयरूप ब्रह्म का जो बोध कराती है, वह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् शब्द का वाच्य है। एतदर्थ होने से ग्रन्थ भी उपनिषद्[1] कहे जाते हैं। ब्रह्मविद्या के विना अविद्या की निवृत्ति नहीं :—

"न चाविद्याप्रहाणं स्याद् ब्रह्मविद्यामृते क्वचित्"। ३३॥
— सुरेश्वर।

आत्मविद्या[2] और वेद का चरमसिद्धान्तरूप वेदान्त[3] अत्यन्त प्रसिद्ध है। उपनिषदों में, ऋषियों ने अपनी अनुभूति एवं युक्तियों द्वारा (१) जगत् (२) जीवन (३) दोनों का चिदानन्दमय महास्रोत–रूप आत्मा तथा (४) उसकी उपलब्धि के उपायों का शिष्यों के प्रति जो उपदेश दिया था, वह सब सङ्कलित है। यह औपनिषद ज्ञान–धारा बहु–आयामी रूपों में बिखरी हुई पौराणिक साहित्य में भी उपलब्ध होती है। महामति वेदव्यास ने, इस परम्पराप्राप्त ज्ञान को, कृष्णार्जुन-संवादरूप में महाभारतान्तर्गत गीता में निबद्ध किया

१— सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उप-नि-पूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। तादर्थ्याद् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते। — वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य–शङ्कराचार्य

२— सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्या तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥१६॥
— श्वेताश्वरतर उ०, प्र० अध्याय।

३ — वेदान्ते परमं गुह्यम्—श्वेताश्वतर उ०, अध्याय ६,२२। 'वेदान्त इति जातावेकवचनम्। ईशावास्यादि मुक्तिकोपनिषदन्ताष्टोत्तरशतोपनिषत्सु परमं परमात्मतत्त्वं गुह्यम्।
—उपनिषद्ब्रह्मयोगी।
"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः"—मुण्डकोपनिषद्

था, जो आज भी हमारे मनीषियों के बीच सही जीवन जीने की दिशा का निर्देश करती हुई विद्यमान है। कर्तव्यविमुखता को प्रज्ञावाद से पुष्ट करने वाले, फिर भी श्रद्धालु, अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से पूछा था :—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां-
त्वां प्रपन्नम् ॥

तो उन्होंने जो उत्तर दिया था, उसमें समग्र औषनिषद ज्ञान का निष्कर्ष सन्निहित है। इस द्वन्द्वमय वैषम्यपूर्ण जगत् में वास्तविक जीवन जीने के लिए अप्रतिम व्यावहारिक विद्या मानकर ही उन्होंने इस ज्ञान का उपदेश दिया था। जगत् और जीवन के बीज अन्तर्यामी-रूप से वर्तमान सद्रूप ज्योतिर्मय अमृतात्मा औपनिषद पुरुष (यज्ञो वै विष्णु.) के लिए मुक्त-सङ्ग होकर कर्तव्य-कर्म का आचरण करना कर्मयोग है। यज्ञपुरुष के लिए ही कर्म करने वाले व्यक्ति को सिद्धि और असिद्धि से कुछ लेना-देना नहीं रहता। वह समत्वयोग या बुद्धियोग में स्थित होकर जिस कर्म-सम्बन्धी कौशल को उपलब्ध करता है, इस विषम संसार में वह उसकी जीवन-यात्रा का परम पाथेय है।[1] जब श्रीकृष्ण यह उपदेश दे रहे थे कि :--

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥३।९॥

—तो उनकी आँखों के समक्ष यह औपनिषद ज्ञान का सार नाच रहा था —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस त्रिलोकी में जो कुछ जड़-जङ्गमात्मक, ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त, पदार्थ है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है। (मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना — गीता ९।४) अतः विश्वात्मा परमेश्वर में अर्पण-पूर्वक पदार्थों का उपभोग करो। काम या फलाकांक्षा और संकल्पों को त्याग दो —मा गृधः। धन किसका है ? अतः उसमें आसक्ति अनुचित है। इस प्रकार कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस विधि से मनुष्य पुण्यात्मक कर्मों से भी लिप्त नहीं होता। कर्मबन्धन से मुक्त होने का इससे भिन्न कोई मार्ग नहीं।

रथ्यापुरुष या सामान्य व्यक्ति के समक्ष सब से बड़ा प्रश्न यह है कि किसी विधि से उपार्जित दृष्ट या प्रत्यक्ष धन और धरती-जैसे सुख साधनों की उपेक्षा करके अदृष्ट या परोक्ष आत्मा के पीछे वह क्यों भटके ? जो लोग शास्त्रज्ञान से तो सम्पन्न हैं, किन्तु क्रियाद्वारा प्रसूत विज्ञान या अनुभूति से विरहित हैं, वे भी रथ्यापुरुष की ही कोटि में आते हैं। तथाकथित आत्मा और आत्मविद्या व्यावहारिक भी हो सकती है — यह कटु बात, सुमधुर पदवी और पदार्थों से सिक्त, उनके गले से नीचे नहीं उतरती। धन और धरती के अर्जन में साधनों की शुचिता और अशुचिता का उल्लेख उनके लिए व्यर्थ है। उनका कहना है कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में सोचना-विचारना संन्यासियों का काम है।

किन्तु संन्यासी भी तो समाज की उपज है। वह आकाश से नहीं उतरता। और ऐसा भी नहीं है कि संन्यास लेने के अनन्तर ही उसके मन में आगन्तुक रूप से आत्मासम्बन्धी विचार अवतरित होता है। उसका संन्यास लेना वस्तुतः आत्मसम्बन्धी विचार की परिपक्वता का परिणाम है। संन्यासी होने के अनन्तर उसे आत्म-विचार से कुछ लेना-देना नहीं।

१— यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं जनाः॥ १९ ॥ अ० ४। गीता
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

जो ढोंगी हैं, विना कार्य किए उत्तम भोजन एवं आच्छादन के अभ्यर्थी हैं, उनकी बात पृथक् है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा था :—

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

जो व्यक्ति (गृहस्थ) कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्तव्यकर्म का आचरण करता है, वही संन्यासी और योगी है, निरग्नि अर्थात् गार्हस्थ्य से विरहित तथा कर्त्तव्य कर्मों का न करने वाला पुरुष नहीं।

किन्तु मूल प्रश्न—'अदृष्ट आत्मा का अनुसन्धान क्यों ?'—यह अब भी अनुत्तरित है। इसका उत्तर वेदान्त में ही विवृत है। प्रत्येक व्यक्ति—आपामर-विदग्ध—अपने को चिरस्थायी, चिरचेतन एवं निरतिशय आनन्द से सम्पन्न देखना चाहता है। उसकी यह अभीप्सा स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं। अपने अन्तराल से उद्भूत यह इच्छा रह-रह कर उसे स्वकीय ऐश्वर्य के प्रति जागरूक करती है; किन्तु जन्म-जन्मान्तर के कलुष से आच्छादित व्यक्ति पाता है, जैसे वह सर्वथा असहाय है। सुखसाधनों से सम्पन्न होकर भी अपने से अधिक सुखसाधनसमृद्ध व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या की आग में झुलसता है। तृष्णा के अतिरेक से आकुल उसके प्राण निरन्तर हाहाकार करते रहते हैं। साधनहीन दशा में व्यक्ति की दीनता की कोई सीमा नहीं। अर्थ के पिशाच से ग्रस्त मानव कार्याकार्य में विवेक को तिलाञ्जलि देकर समाज एवं राष्ट्र में अव्यवस्था का उत्पादन करता है। अपनी अहन्ता को तृप्त करने के लिए वह कभी-कभी ऐसे अनर्थ करता है जिससे उसकी शान्ति तो भग्न होती ही है, समूचा समाज अशान्ति एवं अस्तव्यस्तता के आवर्त में जा फँसता है। कोई भी व्यवस्थापकतन्त्र कितना ही प्रेष्ठ और श्रेष्ठ हो, किन्तु वह अपनी पावनता, औदार्य एवं बलवती सुशृङ्खलता से समूचे समाज को बाँध कर सही दिशा की ओर ले चल सकता है, इस विषय में 'ननु' और 'नच' का पर्याप्त अवसर है। व्यक्ति के सुधरे विना समाज का सुधार असम्भव है। और तब ? व्यक्ति के सुधार के लिए, व्यक्ति की शान्ति और समृद्धि के लिए, व्यक्ति की निष्कलुष जिजीविषा को समाजव्यापी बनाने का सच्चा समाधान प्रस्तुत करने के लिए वेदान्त ही सामने आकर कह सकता है—'अयमहं भोः !'

वादरायण का ब्रह्मसूत्र समग्र वेदान्तदर्शन का मेरुदण्ड है। एक ओर जहाँ वह अपने शीर्षस्थानीय उपनिषदों एवं उनके व्याख्याता आचार्यों के मतों का स्पर्श करता है, वहीं परवर्ती भाष्यकारों की वैविध्यपूर्ण व्याख्याओं से भी सम्बद्ध है। कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्र वेदव्यास की ही रचना है। वादरायण उनका अपर नाम है। सामविधान ३।९।३ में एक वंशतालिका उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है :—

१– प्रजापति २– बृहस्पति ३– नारद ४– विष्वक्सेन
५– व्यास पाराशर्य ६– जैमिनि ७– पौष्पिञ्ज्य
८– पाराशर्यायण ९– वादरायण १०– ताण्डि
११– शाट्यायनि

यह शिष्यपरम्परा प्रतीत होती है। इसमें वादरायण का नाम व्यास की चौथी पीढ़ी में आता है। किन्तु जैमिनि ने मीमांसादर्शन के सूत्र "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्[1]।"

१–"शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक अर्थात् स्वाभाविक या नित्य है, उसका उपदेश (वेदात्मक) या ज्ञान अबाधिक रूप में अलौकिक यज्ञात्मक अथवा ब्रह्मात्मक विषय में स्वतःप्रमाण है — ऐसा आचार्य वादरायण का मत है। वेद के प्रामाण्य में पर की अनपेक्षा है।"

वादरायण के अन्य मत भी पूर्वमीमांसा सूत्रों में उपलब्ध होते हैं। यथा—
"जातिं तु वादरायणोऽविशेषात्तस्मात्स्त्री अपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्।" पूर्वमीमांसा ६।१।८
"यज्ञ में पुरुष को ही अधिकार है, ऐसी बात नहीं; भगवान् वादरायण जाति को मानते हैं, यजेत् शब्द के अविशिष्ट होने से स्त्री की भी प्रतीत होती है।"

"विधिं तु वादरायणः।" मीमांसा १०।८।४४। इस से ज्ञान होता है कि वादरायण ने पूर्वमीमांसा पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था।

(१।१।५) में शब्दप्रमाण के सम्बन्ध में वादरायण का नाम लेकर उनके मत को उद्धृत किया है । जो भी हो, यदि वादरायण जैमिनि से परवर्ती और व्यास से भिन्न हों, तो भी वे गौतम बुद्ध से बहुत पूर्ववर्ती हैं ।

वादरायण ने भी ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप का निरूपण तथा उपनिषदों में आये हुए आकाश, प्राण, ज्योति, आनन्दमय और प्रकृति आदि शब्दों को ब्रह्मपरक बताकर श्रुतिवचनों में समन्वय स्थापित किया है । प्रस्तुत अध्याय के चतुर्थ पादस्थ सूत्र (२६) में प्रकृतिरूप ब्रह्म जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है, इसे इस प्रकार प्रमाणित किया है — "आत्मकृतेः परिणामात् ।" अर्थात् श्रुति में ब्रह्म ही प्रकृति के नाम से कहा गया है । यथा 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक ७) । उस प्रकृतिरूप ब्रह्म ने स्वयं ही कर्तारूप से अपने को ही कर्मात्मक जगत् के रूप में परिणत किया । 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै०उ० २।६) वही मूर्त और अमूर्त पदार्थ बना । इस सूत्र[1] से स्पष्ट है कि ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत हुआ है । जैसे एक ही मिट्टी से नाना घट, शराव आदि उत्पन्न होते हैं अथवा एक ही सुवर्ण से जैसे कंकण, कुण्डल आदि अनेक आभूषण बनते हैं; किन्तु इनमें मिट्टी और सोना ही सत्य है और मिट्टी तथा सोना की सत्यता से घट एवं कङ्कणादि की भी सत्यता है । असत्य है तो एकमात्र वस्तुभेद । यही औपनिषद मत है । आरुणि ने अपने विद्याभिमानी अविनीत पुत्र श्वेतकेतु से यही तो कहा था कि —

"उत तमादेशमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुत भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।"

—'क्या तुमने उस वस्तुविशेष के सम्बन्ध में अपने आचार्य से पूछा था कि जिस एक के सुन लेने पर अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अमत भी मत हो जाता और अविज्ञात भी ज्ञात हो जाता है ।'

और तब श्वेतकेतु के द्वारा आदरपूर्वक उक्त आदेश के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर आरुणि ने उक्त प्रतिज्ञा को प्रस्तुत दृष्टान्त द्वारा समझाया था :—

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणंविकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।५।
यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायस—मित्येव सत्यम् एवं सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥
—छान्दो० उ०, अ० ६, खण्ड १ ।

—हे प्रिय, जैसे एक मात्र मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से सम्पूर्ण मिट्टी से बने हुए पदार्थ जान लिए जाते हैं, अर्थात् घट, शराव, उदञ्चन आदि विकार (मृत्कार्य), वाणी द्वारा आरब्ध नाममात्र है, इनमें सत्य केवल मिट्टी ही है ।

हे प्रिय, जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्णपिण्ड) से समस्त कटक, कुण्डल, मुकुट आदि स्वर्णविकार जान लिए जाते हैं, अर्थात् स्वर्ण के विकार वाणी के द्वारा आरब्ध नाममात्र हैं, इनमें सोना ही सत्य है ।

हे प्रिय, जैसे एक नखनिकृन्तन (नहरन) से समस्त लोहे से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् ये लोहे से निर्मित विकार, वाणी द्वारा आरब्ध नाममात्र हैं, इनमें लोहा ही सत्य है । यही वह आदेश है ।'

वादरायण का सूत्र है— "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दा-

१— इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी यही बात कही है :— "इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म प्रक्रियां तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै०) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति ।" "पूर्वसिद्धोऽपि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः ।" 'परिणामात्' इसे यदि पृथक् सूत्र माना जाय तो अर्थ होगा—इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मना परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत् ।' निरुक्तं चानिरुक्तं च

दिभ्यः' (२।१।१४)। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि 'वाचारम्भणं' — आदि श्रुतिशब्द इसमें प्रमाण हैं। पूर्वोक्त श्रुति के आधार पर ही उपर्युक्त सूत्र बना है। 'आत्मकृतेः'[1] — इस सूत्र में तो नहीं, किन्तु प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने रज्जु-सर्प की बात उठाई है। वे कहते हैं—

१– श्रीवल्लभाचार्य ने लिखा है :– "आत्मकृतेः – तदात्मानं स्वयमकुरुतेति स्वस्यैव कर्मकर्तृ भावात्। परिणामात्-परिणमते कार्याकारेणेति। अविकृतनेव परिणमते सुवर्णम् सर्वाणि च तैजस्मनि।"

— अणुभाष्य १।४।२६

अर्थात् "ब्रह्म ने स्वयं अपने को जगत् के रूप में निर्मित किया" इस श्रुति के अनुसार सूत्रकार ने 'आत्मकृतेः' ऐसा कहा, इस से ब्रह्म स्वयं कर्म और कर्ता है, यह स्पष्ट है। 'परिणामात्' का आशय यह है कि कार्य के आकार में वह परिणत होता है। सुवर्ण अविकृत रूप में ही नाना रूपों में परिणत होता है और समस्त तैजस पदार्थ भी।

रामानुजाचार्यः – "भगवता व्यासेनापि "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" (ब्रह्म-सू० १।४।२३) इत्यस्मिन्नधिकरणे एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञां, मृद्घट - नखनिकृन्तनादिदृष्टान्तं "बहु स्यां प्रजायेय" (तै० उ० २।७) इत्यभिध्योपदेशादिकं चानुसन्दधानेन परिणामवाद एवाभिप्रेतः कण्ठरवेणोक्तश्च 'आत्मकृतेः परिणामात्' इति सूत्रे॥

—श्रीभाष्य।

— भगवान् व्यास ने भी – 'प्रकृतिश्च–' इस अधिकरण में एक वस्तु के ज्ञान से सर्वज्ञान की प्रतिज्ञा तथा मिट्टी से घटादि एवं लोहे से नहरन आदि दृष्टान्त, 'मैं बहुत हो जाऊँ' इस अभिध्या या स्रष्टव्यविषयक संकल्पसम्बन्धी श्रुति के उपदेश का अनुसन्धान करते हुए 'आत्मकृतेः परिणामात्' इस सूत्र में परिणामवाद को ही कण्ठरव से अर्थात् नाम लेकर कहा है और यही उन्हें अभीष्ट है।

निम्बकाचार्य ने भी वेदान्तपारिजात में स्पष्ट किया है :— "सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमताऽपरिणतमेव भवति।" सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिशाली ब्रह्म अपनी शक्ति का निक्षेप करके अपने को जगत् के आकार में परिणित करते हैं और अव्याकृत स्वरूप से शक्तिमान् एवं कृतिमान् होते हुए अपरिणत रहते हैं।

भास्कराचार्य का इस सम्बन्ध में कथन है :— "परमात्मा स्वयमात्मनं कार्यत्वेन परिणमयामासेत्यर्थः शक्तिविक्षेपं कृतवान्। अनन्ता हि तस्य शक्तयोऽचिन्त्याश्च।" परमात्मा ने स्वयं अपने को कार्य या जगत् के रूप में परिणत किया। शक्तियों का निक्षेप किया। उसकी शक्तियाँ अनन्त एवं अचिन्त्य हैं।

वीरशैव श्रीपतिपण्डिताचार्य ने श्रीकरभाष्य में लिखा है :— चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चाकारेण परिणामात्। ननु दधिक्षीरन्यायवत् स्वस्वरूपपरित्यागपूर्वकरूपान्तरप्राप्तिरेव परिणामः। नित्यशुद्धस्य महेश्वरस्य परिणामित्वेन स्वस्वरूपनाशित्वं विकारगुणप्रसङ्गश्च स्यादिति चेन्न, निमित्तभूतस्योपादानत्वेऽपि न विकारादि स्पर्शः।

"ब्रह्म, चेतन और अचेतन जगत् के रूप में परिणित होता है। यहाँ शंका होती है कि दधि और दूध के स्वस्वरूप के परित्यागपूर्वक रूपान्तर की प्राप्ति ही परिणाम है। और यदि नित्य और शुद्ध महेश्वर परिणामी होगा तो उसके स्वरूपनाश और विकारगुण का प्रसङ्ग हो जायगा, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, निमित्त कारण होने पर भी ब्रह्म के उपादान कारण होने से विकार का स्पर्श नहीं।

शक्तिविशिष्टशिवाद्वयवादी श्रीकण्ठाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखा है :—"हन्त कारणविकाररूपो हि परिणामः, पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः परिणामः इति कथं परमेश्वरोऽनर्थधर्मात् परिभूयत इति

"मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् । वाचारम्भणशब्देन च विकार जातस्यानृतत्वाभिधानात् ।"

"अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति यत्प्रसिद्धये नानात्वांशो ब्रह्मणः कल्प्येत ।"

'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस कथन से प्रकृति मात्र में ही सत्यत्व का ज्ञान होता है और वाचारम्भण शब्द से समस्त विकार झूठे हैं, ऐसा कहा गया है ।

इसलिए यह शास्त्रीय ब्रह्म का आत्मा-रूप ज्ञान स्वाभाविक या अविद्याजन्य शरीर में विद्यमान जीवात्मा का बाधक बन जाता है । जैसे रज्जु आदि बुद्धियाँ (ज्ञान) सर्पादि बुद्धियों की बाधक बन जाती हैं ।"

वस्तुतः इस कथन के द्वारा शङ्कराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आगमविद्, ब्रह्मवादी आचार्य भर्तृप्रपञ्च के अधोलिखित बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य के खण्डन का प्रयत्न किया है ।

ननु "अनेकात्मकं ब्रह्म, यथानेकशाखो वृक्षः एवमनेकशक्तिप्रयुक्तं ब्रह्म । अत एकत्वम् नानात्वं चोभयमपि सत्मेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं, फेनतरङ्गाद्यात्मनो नानात्वम् । तत्रैकत्वनांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानांशत्वेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लोकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्ति इति ।"—भर्तृप्रपंच, (ब्रह्मसूत्र के शङ्कराचार्यभाष्य में उद्धृत)

—ब्रह्म अनेकात्मक है; जैसे एक वृक्ष अनेक शाखा वाला होता है, इसी प्रकार ब्रह्म अनेक शक्तियों से युक्त है । अतः एकत्व और नानात्व दोनों सत्य ही हैं । जैसे वृक्ष से एकत्व की प्रतीति होती है और शाखाओं से नानात्व की और जैसे समुद्र से एकत्व की प्रतीति होती है और फेन, तरङ्ग आदि से नानात्व की । जैसे मिट्टी से एकता और घट, शराव आदि से अनेकता । एकत्व के अंश से, ज्ञान द्वारा मोक्षव्यवहार की सिद्धि होगी, नानात्वरूप अंश से कर्मकाण्ड के आश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध हो जाएँगे । इस प्रकार मिट्टी आदि के दृष्टान्त अनुरूप हो जाएँगे ।" अस्तु ।

चेत् सत्यम्, यथा निमित्तस्य प्रकृतित्वेऽपि यथा न विकारादिस्पर्शः तथा परिणामः सम्भवति । (१।४।२७)

पुरुषोत्तम ने प्रकाश नामक अणुभाष्य की टीका में द्वैतवादी मध्वाचार्य का इस प्रकार मत पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किया है :— "माध्वास्तु × × × आत्मकृतिसूत्रे प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिरिति प्रयोगात् प्रकृतावनुप्रविश्य तां परिणाम्य तत्परिणामनियामकत्वेन तत्र स्थित्वाऽत्मनो बहुधा करणात् प्रकृतिवाच्यतां स्थापयित्वा "अथ हैष आत्मा प्रकृतिमनुप्रविश्यात्मानं बहुधा चकार तस्मात्प्रकृतिरित्याचक्षते" इति माल्लवेयश्रुतिं "अविकारोऽपि परमः प्रकृतिं तु विकारणीम्, अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते" इति नारदीय वाक्यं च तदुपष्टम्भायोदाहरन्ति । तच्चिन्त्यं श्रुतेरप्रसिद्धत्वात् ।" अर्थात् मध्वाचार्य के मत को मानने वालों का कथन है :—'आत्मकृतेः' —इस सूत्र में 'प्रकृष्ट रूप से करती है' अतः उसे प्रकृति कहते है– ऐसा प्रयोग है, प्रकृति में पैठकर उसे परिणत करके और उस परिणाम का नियामक बनकर एवं उसमें स्थित वह परमात्मा अपने को अनेकधा करता है । अतः उसे प्रकृति के नाम से कहा जाता है । इस विषय में "यह आत्मा प्रकृति में पैठकर अपने को अनेकधा करता है, अतः उसे प्रकृति के नाम से कहा जाता है"—यह माल्लवेय श्रुति तथा 'अविकार परमात्मा गोविन्द विकारयुक्त प्रकृति में पैठकर प्रकृति कहलाता है', इस नारदवाक्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं । यह चिन्त्य है, क्योंकि इस प्रकार की कोई श्रुति प्रसिद्ध नहीं है । यह ध्यान रहे कि मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं । ये परमेश्वर को निमित्त तथा उनसे भिन्न प्रकृति को उपादान कारण मानते हैं । जीव भी परमेश्वर से सर्वथा भिन्न है ।

वादरायण का नाम लेकर उल्लेख शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में दो स्थानों पर किया है :—
'आत्मैकपरां (पदां) वादरायणः' (अध्याय २, आह्निक १४), "फलमस्मादिति वादरायणो दृष्टत्वात्" (३।१।७)

प्रथम सूत्र में यह मान्यता प्रस्तुत की गयी है कि वादरायण अखण्डार्थ या अभेदात्मवादी थे। स्वप्नेश्वर ने अपने भाष्य में तथा नारायणतीर्थ ने भक्तिचन्द्रिका टीका में प्रमाणरूप से 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च' (४।१।३) इस ब्रह्मसूत्र को उद्धृत किया है।

"वादरायण आचार्यः पुनः शुद्धात्मविषयिणीमेव मनुते तथा च सूत्रम्— "आत्मेति त्ववगच्छन्ति—"। एतन्मते जीवब्रह्मत्वकल्पनाया मिथ्यात्वाच्छुद्धचिदात्ममात्रबुद्धेः तत्त्वज्ञानत्वात् तदेव मुक्तिफलायेति।

—स्वप्नेश्वर।

आत्मा सर्वाधिष्ठानमेकोऽद्वितीयः पदं विषयो यस्याः तादृशीमखण्डार्थविषयिणीमिति यावत्। वादरायण अचार्यो भगवान् मनुते व्यासः। 'आत्मेति तूपगच्छन्ति इति सूत्रैरित्यर्थः।

स्वप्नेश्वर प्राचीन हैं। ये वादरायण को आचार्य मात्र कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है। और नारायणतीर्थ उन्हें भगवान् व्यास मानते हैं।

द्वितीय सूत्र में शाण्डिल्य ने कहा है कि निहित और निषिद्ध कर्मों का फल तुष्ट या रुष्ट परमेश्वर द्वारा ही मिलता है — यह वादरायण का मत है। ब्रह्मसूत्र ३।२।३७ में आये हुए "फलमत उपपत्तेः"—इस सूत्र में पूर्वोक्त मत का प्रतिपादन मिलता है। जैमिनि धर्म को श्रुति के आधार पर फलदाता मानते हैं'—यह बात वादरायण ने 'धर्मं जैमिनिरत एव' (ब्र० सू० ३।२।४०) इस सूत्र में कही है।

वादरायण ने औपनिषद अनुश्रुति के अनुसार ब्रह्म और आत्मा को एक माना है। इस सम्बन्ध में वे अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक आचार्य आश्मरथ्य, आचार्य औडुलोमि, आचार्य काशकृत्स्न, और आचार्य जैमिनि का उल्लेख करते हैं। यथा—

"प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः" (ब्र० सू० १।४।२०)

"उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः"[1] (ब्र० सू० १।४।२१)

"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः[2]" (ब्र० सू० १।४।२२)

'एक के ज्ञान से सब जाना जाता है' इस औपनिषद प्रतिज्ञा की सिद्धि का यह आत्मा सूचक है, ऐसा आचार्य आश्मरथ्य का मत है। जैसे अग्नि और उससे निर्गत स्फुलिङ्ग में न तो अत्यन्त भेद है, और न अभेद ही—अतः इनका मत अंशी और अंश को लेकर अभेदांशवाद है, ऐसा शङ्कराचार्य के व्याख्यान से प्रतीत होता है।

१. "आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते"

— शङ्कराचार्य

२. "औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते।" इनका पक्ष भेदाभेदवाद है।

३. "काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्"। — शङ्कराचार्य

काशकृत्स्न सर्वथा अभेदवादी हैं। वल्लभाचार्य ने प्रस्तुत सूत्रों की अधोलिखित व्याख्या की है :—

१. तत्र जीवो नाम स्वस्य भोगनिष्पत्त्यर्थं स्वांशो भगवता कृतो विस्फुलिङ्गवदित्याश्मरथ्यो[3] मन्यते।

---

१. एवम्भावात् अर्थात् देहेन्द्रियादिसंघात से ऊपर उठकर जब जीव परमात्मा के साथ ऐक्यलाभ करता है, तब उसकी अभेददशा होती है। देहादिसंघात की उपाधि से कलुषित संसारी अवस्था ही भेददशा है—ऐसा आचार्य औडुलोमि मानते हैं।

२. संसारदशा में या जीवदशा में भी परमात्मा ही अवस्थित रहता है—यह काशकृत्स्न का मत है।

३. अपने भोगसम्पादन के लिए स्वकीय अंश को, भगवान् ने अग्नि से चिनगारी के समान, जीव के रूप में निर्मित किया—ऐसा आचार्य आश्मरथ्य मानते हैं।

२. अनादिसिद्ध एव जीवश्चैतन्यमात्रं शरीरादिसंघाते प्रविष्ट इति, चितितन्मात्रेण प्रवेशे च मोक्ष इति च औडुलोमिराचार्यः[१] ।

३. काशकृत्स्नस्तु[२] आसक्त्या विषयभोक्तृरूपं भगवत एव जीव इति ॥

ब्रह्मसूत्र १।२।२९ में भी आश्मरथ्य का उल्लेख है। इनका मत है कि अनन्त भी परमात्मा उपासकों के लिए प्रादेशमात्र परिमाण वाला होकर अभिव्यक्त होता है :—

"अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।"

— वैश्वानराधिकरण ।

औडुलोमि मानते हैं कि यतः चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है, अतः मुक्तावस्था में वह चिन्मात्ररूप में ही अवस्थित होता है:

"चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।"

(ब्र० सू० ४।४।६)

किन्तु जैमिनि का मत है कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने ब्राह्मरूप अर्थात् पापलेशशून्यत्व, सत्यकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्वादि गुणगणों से सम्पन्न रूप को प्राप्त करता है। औडुलोमि मुक्तात्मा को धर्मी या चिन्मात्ररूप में स्वीकार करते हैं और जैमिनि समग्र शुभधर्मों से सम्पन्न धर्मी को। बादरायण ने दोनों मतों में यह कहकर समन्वय स्थापित किया है कि पारमार्थिक चैतन्यमात्र स्वरूप स्वीकार करने पर भी श्रुतियों में ब्राह्म ऐश्वर्य का उपन्यास भी उपलब्ध होता है, प्रत्याख्यान नहीं। अतः कोई विरोध नहीं।

"ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः" (ब्र० सू० ४।४।५

"एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं ।" बादरायणः (ब्र० सू० ४।४।७)

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि पूर्वमीमांसाकार जैमिनि भी ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं; भले ही कर्मकाण्ड में उन्होंने धर्म का सर्वोपरि व्याख्यान किया हो।

वीरशैव श्रीपतिपण्डिताचार्य ने ब्रह्मसूत्र के शिवाद्वैत अथवा द्वैताद्वैतवादी-श्रीकरभाष्य में आश्मरथ्य को भेदवादी, औडुलोमि को भेदाभेदवादी और काशकृत्स्न को अभेदवादी स्वीकार किया है।

"यतो वा—" (तै०) इत्यादिना द्वैताद्वैतात्मक-प्रपञ्चब्रह्मणो कार्यकारणत्वदर्शनात् 'प्रतिज्ञासिद्धे-रित्यादिसूत्रत्रयेण भेदादिमतत्रयस्यैवात्र विवक्षित-त्वात् ।"—— (ब्र० सू० भाष्य १।१।१)

श्रीपति ने स्वयं कहा है कि मैंने अगस्त्य मुनि द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र की वृत्ति के आधार पर अपना भाष्य लिखा है :—

"अगस्त्यमुनिचन्द्रेण कृतां वैयासिकीं शुभाम् ।
सूत्रवृत्तिं समालोक्य कृतं भाष्यं शिवङ्करम् ॥

— श्रीकरभाष्य ।

जैमिनि ब्रह्मवादी थे, इसमें सन्देह का अवसर नहीं है। न केवल उपर्युक्त सूत्र, अपि तु ब्रह्मसूत्र के अनेक सूत्र इस बात को प्रमाणित करते हैं।

"पुरुषविधं—अन्तः प्रतिष्ठितं वेद" (शतपथब्राह्मण १०।६।१।११) इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मसूत्र के वैश्वानराधिकरण में जाठराग्नि को परमेश्वर का प्रतीक मान कर अथवा उपधि मान कर इसकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा पहले कहा गया। इस पर जैमिनि का मत है कि पूर्वोक्त कल्पनाओं से भिन्न

---

१. अनादिसिद्ध ही जीव, जो चिन्मात्र है, शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के संघात में प्रविष्ट होकर जीव कहलाता है तथा चिद्रूप ब्रह्म में चिन्मात्ररूप से प्रवेश, उसका मोक्ष है। वल्लभ 'चिति तन्मात्रेण' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं। अन्य आचार्य 'चितितन्मात्रेण' ऐसा समस्तपद।

२. आचार्य काशकृत्स्न मानते हैं कि भगवान् का आसक्ति से विषयभोग करने वाला रूप ही जीव है। भगवान् की ही एक अवस्था जीव है।

वैश्वानर[1] अग्नि को साक्षात् परमेश्वर समझ कर यदि उपासना की जाय, तो कोई विरोध नहीं।

"साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।" (ब्र० १।२।२८) इस सम्बन्ध में आश्मरथ्य का मत बताया जा चुका है। एक अन्य आचार्य वादरि का इस विषय में कहना है कि प्रादेशमात्र हृदय में प्रतिष्ठित मन के द्वारा परमात्मा का स्मरण किया जाता है, अतः अनुस्मृति निमित्तक प्रादेशमात्र श्रुति उचित है :

"अनुस्मृतेर्बादरिः" (ब्र० १।२।३०)। किन्तु जैमिनि कहते हैं कि प्रादेशमात्र श्रुति सम्पत्तिनिमित्तक है। वाजसनेयि ब्राह्मण में द्युलोक से लेकर पृथ्वी-लोक-पर्यन्त त्रैलोक्यात्मक वैश्यानर के अवयवों को, शिर से लेकर चुवुक (ठुड्ढी) पर्यन्त मनुष्य के देहावयवों में अनन्त अप्रादेशमात्र परमेश्वर का प्रादेशमात्र दिखाया गया है, अतः उक्त श्रुति को सम्पत्तिनिमित्तक कहना युक्ततर है।

"सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति।" ३१। कौषीतकि ब्राह्मण में वालाकि और अजातशत्रु के बीच जो संवाद आया है, उसमें कहा गया है- "यो वै वालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्यः" (४।१९)। राजा अजातशत्रु ने कहा— हे वालाके, सूर्य और चन्द्रादि में विद्यमान जो पुरुष है उनका कर्ता और जिसका यह जगत् कर्म है, उसे जानना चाहिए।

यहाँ यह शंका होती है कि जीव को जानना चाहिए अथवा मुख्य प्राण को? यहाँ जैमिनि कहते हैं कि यह श्रुतिजीव व्यतिरिक्त (अन्यार्थं) परमात्माविषयक है, ऐसा प्रश्न और प्रतिपादन द्वारा ज्ञात होता है तथा कुछ वाजसनेयि शाखानुयायी भी ऐसा ही कहते हैं- सर्वं एत आत्मनो व्युच्चरन्ति।'

जैमिनि परब्रह्म या सगुण ब्रह्म दोनों को मानते हैं। अर्चिरादिमार्ग या देवयानमार्ग से ऊर्ध्वगति को जाने वाला व्यक्ति अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है, ऐसा औपनिषद श्रुति में कहा गया है। यह अपर ब्रह्म है अथवा परब्रह्म --इस आशङ्का पर वादरायण ने आचार्य वादरि के मत का पहले उल्लेख किया है। उनका मत है कि अमानव पुरुष इस योगी को सगुण,अपर या कार्यब्रह्म के प्रति ले जाता है, क्योंकि सर्वगत होने के कारण परब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व और गतित्व सम्भव नहीं। कार्य ब्रह्म में गन्तव्यत्व है।

"कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः।" — ब्र० ४।३।७

किन्तु जैमिनि का कथन है कि 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (छान्दोग्य उ० ६।२।१५)। यहां ब्रह्म शब्द से परब्रह्म ही अभीष्ट है, क्योंकि परब्रह्म[2] ही ब्रह्म शब्द का मुख्य आलम्बन है।

१- शङ्कराचार्य के अनुसार वैश्वानर-अग्नि की परमेश्वरवाचिका व्युत्पत्तिः- १. विश्वश्चायं नरश्चेति २. विश्वेषां वायं नरः ३. विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः। अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।

वल्लभाचार्य ने अपने भाष्य में जैमिनि को साकार ब्रह्मवादी बताया है :— परमात्मा विष्णु के पुरुषाख्य तीन रूप हैं। एक महत्तत्त्व का स्रष्टा, दूसरा ब्रह्माण्डव्यापी, तीसरा सर्वप्राणियों में स्थित। प्राणियों में पञ्चधा स्थित है :- (१) उदरेङ्गुष्ठमात्रः (२) हृदये प्रादेशोमूर्धनि च (३,४) मनसीन्द्रियेषु चाणुः (५) चित्ते व्यापकः।

अतः साकार ब्रह्मवाद एव जैमिनेः सिद्धान्तः — अणुभाष्य।

२- वादरायण ने दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया है। उनका कथन है कि यदि व्यक्ति ने प्रतीक का आलम्बन न लिया हो, तो वह परब्रह्म को ही प्राप्त होता है और प्रतीकों के तारतम्य से वह उन-उन देवों को प्राप्त होता है-इस प्रकार उभयथा स्वीकृति में कोई दोष नहीं।

"अप्रतीकालम्वनान्नयतीति वादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ ४।३।१५।

'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।' (४।३।१२)

मुक्तावस्था में मुक्त पुरुष के शरीर, इन्द्रिय आदि रहते हैं या नहीं ? इस शंका पर बादरि का मत है कि मुक्त पुरुष के शरीरादि नहीं रहते, क्योंकि श्रुतिवचन है कि "मनसैतान्कामान् पश्यन् रमते।" (छा० उ० ८।१२।५)

"अभावं बादरिराह ह्येवम् ।" ४।४।१० ।

जैमिनि का मत है कि मुक्त पुरुष के शरीरेन्द्रियाँ रहती हैं, क्यों कि श्रुति में वैसे भी वचन मिलते हैं। "स एकधा भवति त्रिधा पञ्चधा"--- (छा० उ० ७।२६।२)

जो लोग ऐसा कहते हैं कि प्राचीन काल में ब्राह्मण यज्ञादि कर्मकाण्ड-परायण थे, उन्हें आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान नहीं था; पश्चात् क्षत्रिय राजाओं में आत्म-विद्या का आविर्भाव हुआ, यह उनका भ्रम है। बादरायण के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि कर्ममीमांसा के रचयिता जैमिनि आत्मा के विषय में वैसे ही जानकार थे, जैसे अन्य आत्मवादी। पीछे बताया जा चुका है कि बादरायण के मत में इष्ट, अनिष्ट और व्यामिश्र कर्मफल देने वाला ईश्वर है, किन्तु जैमिनि धर्म को उसका कारण बताते हैं। इस प्रमाण के द्वारा तथा साधनपाद (ब्रह्मसूत्रगत) में आये हुए अन्य सूत्रों से भी यह स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्रों से उद्धृत जैमिनि पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ही हैं। यथा--

तीसरे अध्याय के चौथे पाद के प्रारम्भ में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि औपनिषद आत्मज्ञान स्वतन्त्ररूप से मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधन है अथवा कर्म के साथ अङ्ग बनकर ? बादरायण का सिद्धान्त पक्ष है कि वेदान्तविहित स्वतन्त्र आत्मज्ञान से मोक्ष-रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है। क्योंकि एतद्विषयक श्रुति-वचन उपलब्ध होते हैं। यथा--

"तरति शोकमात्मवित् ।" (छान्दोग्य उ० ७।१।३)
"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।" (मु० उ० ३।२।९) आदि।

'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।" १। इस पर जैमिनि का कथन है कि मोक्ष की प्राप्ति में ज्ञान और कर्म का अङ्गाङ्गिभाव-समुच्चय ही साधन है। कर्मशेष होने के कारण आत्म-ज्ञान कर्म से सम्बद्ध रहता है। स्वतन्त्र आत्म-ज्ञान से मोक्षरूप फलश्रुति अर्थवाद मात्र है। जैसे अन्य — व्रीहिप्रोक्षणादि से सम्बद्ध 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' आदि फलश्रुति अर्थवाद मात्र है।

'शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।"२।
"[१]आचारदर्शनात्" ।३।
'तच्छ्रुतेः' ।४।
समन्वारम्भणात् ।५।
तद्वतो विधानात् ।६।
"नियमाच्च" ।७।

---

१ (क) जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेन ईजे (बृ० ३।१।१) 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५। ११५) ब्रह्मवेत्ताओं के भी आचरण इसी प्रकार (कर्म से सम्बद्ध) देखे जाते हैं।

(ख) श्रुति में भी ज्ञान और कर्म का सहकारित्व देखा जाता है :– 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।' छा० १।१।१०

(ग) "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) यहां विद्या और कर्म का सहकार स्पष्ट है, स्वतन्त्र विद्या नहीं।

(घ) "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य---" (छा० ८।१५।१) इस प्रकार की श्रुति में समस्त वेदार्थ जाननेवाले व्यक्ति का कर्म में अधिकार दिखाया गया है।

(ङ) श्रुति में कर्म का नियम भी देखा जाता है :—
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।" (ईशा०२)

जैमिनि आदि के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र में अधोलिखित अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख नाम लेकर हुआ है :

बादरि आचार्य

आत्रेय आचार्य

कार्ष्णाजिनि आचार्य

काशकृत्स्न आचार्य

आचार्य बादरि का उल्लेख पीछे हो चुका है। जैमिनि के मीमांसादर्शन में भी बादरि का उल्लेख हुआ है। मीमांसादर्शन, सूत्र ६।१।२७ में पूर्व पक्षरूप में कहा गया है कि यज्ञकर्म में चतुर्वर्ण का अधिकार है, ऐसा बादरि मानते हैं :—

"निमित्तार्थेन बादरिः तस्मात्सर्वाधिकारं स्यात् ।"

(पूर्वमीमांसा ६।१।२७)

पूर्वसूत्र में आत्रेय का मत दिखाते हुए कहा गया है कि श्रुति में "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' आदि में अग्न्याधान तीन वर्णों तक ही सीमित है, अतः शूद्र का यज्ञ में अधिकार नहीं :—

"निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ।" (मीमांसादर्शन, अ० ६, पा० १, सूत्र २६)

ब्रह्मसूत्र में उद्धृत बादरि के वचनों से ज्ञात होता है कि वे विद्या (ज्ञान) और कर्म के महान् ज्ञाता थे।

छान्दोग्य उप० ५।१०।७ में पठित 'तद्य इह रमणीय चरणाः—' इस सन्दर्भगत 'चरण[1]' शब्द को लेकर आचार्यों में मतभेद देखा जाता है। आचार्य बादरि ने चरण का अर्थ सुकृत और दुष्कृत किया है :—

'सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।" (३।१।११)

किन्तु आचार्य कार्ष्णाजिनि चरण का अर्थ 'अनुशय'[2] करने के पक्ष में हैं।

"चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः[3]"

—(ब्र० ३।१।९)

आचार्य आत्रेय को बादरायण ने केवल एक स्थान पर उद्धृत किया है :—

'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' (ब्र० ३।४।४४)

आत्रेय का मत है कि फलश्रुति (वर्षत्यस्मै य उपास्ते) के आधार पर उपासना के अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान यजमान को ही करना चाहिए, पुरोहित को नहीं। आचार्य औडुलोमि का मत है कि पुरोहित भी कर सकता है, क्योंकि पारिश्रमिक देकर वह इस कार्य के लिए परिक्रीत होता है। इस स्थिति में कर्म का फल यजमान को ही मिलता है :—

'आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते।'

—(ब्र० ३।४।४५)

प्रसिद्ध आचार्य काशकृत्स्न का वेदान्तसूत्र में केवल

१— चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम् । चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्—" — शङ्कराचार्य। चरण चरित्र, आचार और शील ये पर्याय हैं। चरण, अनुष्ठान और कर्म ये एकार्थक है।

२— अनुशयस्तु —भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम् ।
भुक्त फल वाले कर्म से अतिरिक्त कर्माशय। — शङ्कराचार्य।

३— कार्ष्णाजिनि का उल्लेख मीमांसादर्शन में दो स्थानों में मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि ये पूर्वमीमांसा के विद्वान् थे।

(क) "क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः" ४।३।१७
रात्रिसत्र के सम्बन्ध में जो श्रुतियां हैं, वे फलविधि हैं अथवा फलार्थवाद — यह सन्देह है, इस पर कार्ष्णाजिनि का मत है कि वे फलार्थवाद मात्र हैं।

(ख) "स कुलकल्प. स्यादिति कार्ष्णाजिनि एकस्मिन्नसम्भवात् ।" (६।७।३५) सहस्रसंवत्सर तक चलनेवाले यज्ञ में मनुष्य का अधिकार नहीं है, क्योंकि उसकी आयु उतनी नहीं होती। किन्तु उक्त आचार्य का मत है कि यह एक मनुष्य का कर्म न होकर कुल (वंश) का कर्म है, अतः सम्भव है।

एक स्थान में उल्लेख मिलता है :—

"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः।" — (१।४।२२)

परमात्मा ही विज्ञानात्मा (जीवात्मा) के रूप में अवस्थित होता है। शङ्कराचार्य का कथन है कि "काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्।" वल्लभाचार्य ने भी अणुभाष्य में लिखा है :– "भगवत एवावस्था जीव इति। अतः संसारदशायामपि जीवो ब्रह्मेति नात्रोत्क्रमणमुपचारो वा।"

आचार्य काशकृत्स्न पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण हैं। इन्होंने भी सूत्रबद्ध व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था। इनके कुछ सूत्र उपलब्ध हो गये हैं। इनके द्वारा निर्मित सम्पूर्ण धातुपाठ प्राप्त हुआ है जिसमें पाणिनि के धातुपाठ से ४५० धातुएँ अधिक हैं। पतञ्जलि के साक्ष्य के अनुसार काशकृत्स्न या काशकृत्स्नि ने मीमांसाशास्त्र का निर्माण किया था। सम्भव है, इस आचार्य ने पूर्वोत्तर दोनों मीमांसाओं पर सूत्र बनाये हों।

"एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसाकाशकृत्स्नी काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी, अत्र प्राप्नोति।" —(महाभाष्य ४।१।१४)

भास कवि ने अपने 'यज्ञफल' नामक नाटक के चौथे अंक में 'काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम्' इस प्रकार का उल्लेख किया है। उपनिषदों एवं बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र के बीच कर्म एवं आत्मविद्याशास्त्र के प्रणेता आचार्यों की एक अविच्छिन्न परम्परा रही है, जिनमें कुछ भेदवादी, कुछ अभेदवादी एवं अन्य भेदाभेदवादी थे। कहा जाता है कि आचार्य बोधायन[1] ने पूर्वमीमांसा और ब्रह्मसूत्र दोनों पर कृतकोटि नामक विस्तृत वृत्ति की रचना की थी; आगे चलकर जिसका संक्षेप आचार्य उपवर्ष के किया। आचार्य रामानुज ने अपना श्रीभाष्य बोधायन की वृत्ति के अनुसार ही लिखा था। श्रीभाष्य में बोधायन के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। आचार्य उपवर्ष, जो बृहत्कथा के अनुसार पाणिनि के गुरु वर्ष[2] के अनुज थे, शबरस्वामी तथा शङ्कराचार्य के द्वारा भगवान् इस विशेषण के साथ नाम लेकर उद्धृत किए गये हैं। यथा—

"अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः। गकारौकार विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः।" मीमांसाभाष्य (१।१।५)

"वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः"
(ब्रह्मसूत्र १।३।२८) — शाङ्करभाष्य

"इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ 'शारीरके वक्ष्याम' इत्युद्धारः कृतः।"

प्रवरमञ्जरी नामक धर्मग्रन्थ में भी उपवर्ष मुनि का उल्लेख मिलता है :—

द्विविधानपि गर्गांस्तानुपवर्षो महामुनिः।
अनुक्रम्य त्ववैवाह्यान् भरद्वाजतया जगुः॥
— वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश

शङ्कराचार्य से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र, गीता या उपनिषदों पर अपने भाष्य लिखे थे, जो आज उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी उनके मतों का यत्किञ्चित् निर्देश परवर्ती टीकाओं में मिलता है। उन आचार्यों में ब्रह्मनन्दी, द्रविडाचार्य, भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मदत्त एवं सुन्दर पाण्डय प्रमुख हैं।

यह ध्यान रहे कि उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म को जगत् का निमित्त एवं उपादानकारण स्वीकार किया गया है। ब्रह्मसूत्र में 'परिणाम' शब्द का स्पष्ट

---

१. भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते।
— (श्रीभाष्य १।१।१)

तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थबाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित्संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम्। — प्रपञ्चहृदय, उपाङ्गप्रकरण

२. अर्थ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम — ॥ लम्बक १, तरङ्ग ४, श्लोक २०।

उल्लेख है। वहाँ अध्यास, अध्यारोप या तथाकथित विवर्त की कोई चर्चा नहीं मिलती।

उपनिषदों के अधोलिखित उद्धरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म सत्य है और ब्रह्म का यह अविकृत परिणाम रूप जगत् भी सत्य[1] है। केवल आकार और जागतिक वस्तुभेद ही मिथ्या है। इस आकार और नामभेद से वस्तु (पदार्थ)–सम्बन्धी लौकिक और वैदिक व्यवहार चलता है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।"
छान्दोग्य उ०, अ० ३, ख० १४

यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि यह उससे उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है और स्थितिकाल में उसी में चेष्टा करता है। अतः रागद्वेषरहित होकर उसकी इस रूप में उपासना करनी चाहिए।

"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति, तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति; प्राणा वै सत्यं, तेषामेष सत्यम्।"
— (वृहदारण्यक उ०, अ० २, ब्रा० १।२०)

जैसे मकड़ी तन्तु के रूप में स्वयं उद्गत होती है और जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, सब लोक, सारे देव, समग्र प्राणी निर्गत होते हैं। उसका यह रहस्य है कि वह सत्य का भी सत्य है। प्राण ही सत्य है और उनका भी सत्य आत्मा।

"तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेनैव शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥४॥
— (छान्दोग्य उप०, अ० ६, खं० ८)

––उस शरीर का मूल अन्न से अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इसी प्रकार, हे सोम्य, अन्नरूप शुङ्ग (अङ्कुर) से जलरूप मूल को खोजो, जलरूप शुङ्ग से तेजस्रूप मूल को खोजो, तेजरूप (कार्यात्मक) शुङ्ग से सद्रूप मूल को खोजो। हे सोम्य, यह सारी प्रजा (जगत्) सन्मूलक है, सद्रूप आत्मा ही इसका आश्रय है और अन्त में यह सद्रूप में ही प्रतिष्ठित होती है।

"कथमसतः सज्जायेत" — (वृहदारण्यक उ०) यह सद्रूप संसार असत् से कैसे उत्पन्न हो सकता है।

इन औपनिषद वचनों से रज्जु–सर्प वाली वार्ता का पोषण नहीं होता। शङ्कराचार्य और उनके दादा गुरु गौड़पादाचार्य[1] को छोड़कर किसी ने नहीं कहा। हाँ, बौद्धग्रन्थों में रज्जु–सर्प–सम्बन्धी वार्ता अवश्य मिलती है। ये लोग जगत् को गन्धर्वनगर, स्वप्न और इन्द्रजाल के सदृश मानते हैं।– "मायास्वप्नोपमं दृश्यम्।" ११।
"गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माणसदृशाः।" १४४।
— लङ्कावतारसूत्र

अतात्त्विक अन्यथाभावरूप विवर्त की कल्पना, अत्यन्त परवर्ती सदानन्द यति के वेदान्तसार में उपलब्ध होती है। प्राचीन लोग विवर्त और परिणाम को एक ही मानते थे। बौद्ध लोग भी विवर्त और परिणाम को पर्याय मानते हैं—

१– अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ गौड़पादकारिका (द्वि० प्रकरण, श्लो० १७)। – जैसे रस्सी अन्धकार में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होती; अपितु उसकी, सर्प, जलधारा, भूविवर और दण्डादि पदार्थों के रूप में कल्पना की जाती है, वैसे ही आत्मा में अनेक भाव कल्पित हैं। यहां 'विकल्प' शब्द का उल्लेख हुआ है, 'विवर्त' का नहीं। विवर्त शब्द का अर्थ परिणाम है, ऐसा शङ्कराचार्य मानते हैं – "त्रिगुणं प्रधानं–विचित्रेण विकारात्मना विवर्त इति। ब्र० सू० भाष्य २।२।१।

आनन्दगिरि ने "ऋजुवक्रादिका भासमलातस्पन्दितं यथा–" प्र० ४।४७ इस कारिका के भाष्य की व्याख्या में अवश्य लिखा है–– अप्रच्युतपूर्वस्वरूपस्यासत्यनानाकारावभासो विवर्तः तदत्र विज्ञानस्य स्पन्दितत्वम्।"

"नित्यंज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकम् ।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात्सर्वः समीक्षते ॥"

—औपनिषद सिद्धान्तरूप में कमलशील द्वारा शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका में उद्धृत ।

व्याकरणदर्शन भी दोनों को पर्याय मानता है :– "शब्दतत्त्वं यदक्षरं विवर्ततेऽर्थभावेन" शब्दस्य परिणामोऽयम् ।" — वाक्यपदीय ।

आचार्य ब्रह्मनन्दी शङ्कराचार्य से अधिक पहले हुए थे । इन्होंने सम्भवतः छान्दोग्य उ० पर भाष्य लिखा था । इस भाष्य की व्याख्या द्रविडाचार्य ने लिखी थी जिन्हें शङ्कराचार्य ने उद्धृत किया है । ब्रह्मनन्दी के अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनमें एक है – 'परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवत्" । भास्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में लिखा है कि "योनिरिति परिणामादिति च सूत्रनिर्देशाच्छान्दोग्यवाक्यकारेण ब्रह्मनन्दिना 'परिणामस्तु स्यादित्यभिधानाच्च परिणामवादो वृद्धसमतः ।"

भामती की टीका कल्पतरु में अमलानन्द इस सम्बन्ध में भास्कर को भ्रान्त बताया है तथा लिखा है—

'परिणामस्तु' इति भास्करोदाहृत ब्रह्मनन्दिवाक्यं मिथ्यापरिणामाभिप्रायम् ।" यह अमलानन्द की कल्पना है । ब्रह्मनन्दी परिणामवादी ही थे ।

द्रविणाचार्य ने ब्रह्मनन्दी के छान्दोग्यभाष्य की व्याख्या के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रों पर भी व्याख्या–ग्रन्थ लिखा था, ऐसा उनके श्रीभाष्यादि में उपलब्ध उद्धरणों से प्रतीत होता है ।

श्रीभाष्य के प्रस्तुत उद्धरणों से उनका ब्रह्म परिणामवादी या अभिन्ननिमित्तोपादानवादी होना सिद्ध होता है—

यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्व प्रतीतितः ॥१॥
बहु स्यामिति संकल्पपूर्वसृष्ट्याद्युपक्रमे ।
× × ×
एवं सर्वस्व सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः ॥१५॥

श्रुति और स्मृति के द्वारा तथा समस्त पदार्थों की सर्वात्मकता की प्रतीति से समस्त ज्ञान यथार्थ है, ऐसा वेदवेत्ताओं का मत है । एक मैं बहुत हो जाऊं, इस संकल्पपूर्वक सृष्टि के उपक्रम में एक–एक को त्रिवृत किया, ऐसा श्रुति का कथन है । × × × इस प्रकार, सब पदार्थों के सर्वात्मक होने से व्यवहार की व्यवस्था बनती है ।

योगदर्शन का भी यही सिद्धान्त है—शान्तोदिताव्यपदेशधर्मानुपाती धर्मी' (३।१४) व्यासभाष्य में कहा गया है–'सर्वं सर्वात्मकमिति ।'

आचार्यभर्तृहरिने,[1] जिन्हें वेदान्तसूत्रवृत्ति का प्रणेता कहा जाता है, वाक्यपदीय, ब्रह्मकान्ड की कारिका ९ की वृत्ति में कहा—"अपि खलु ब्रह्मविद आहुः —"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च ।"

घट या पटरूप ब्रह्म का एकदेश भी सकल पदार्थरूपता को लिये रहता है । अर्थात् सर्वरूप ब्रह्म से अनन्य होने के कारण वह सर्वरूप होता है तथा अविकल्प अर्थात वस्तु की वस्त्वन्तर से जो भेद कल्पना है, वह भी इस में नहीं हैं ।

भगवान् भर्तृहरि भी अभिन्ननिमित्तोपादानवादी या परिणामवादी[2] थे, इससे यह ध्वनित होता है । उद्धृत सूत्र किस वेदान्तसूत्र का है, यह अज्ञात है । सम्भवतः इसी वेदान्तसूत्र पर इन्होंने वृत्ति लिखी

१—यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय में लिखा है :— "तथापि आचार्यटङ्क–भर्तृप्रपञ्च–भर्तृमित्र–भर्तृहरि–ब्रह्मदत्त शङ्कर–श्रीवत्साङ्क–भास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो··· ···· ··· ···· ॥"

२—"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्य विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः–(भर्तृहरि, वाक्यपदीयवृत्ति) इस पर नागेश का कथन है "पयसो दधि तु न विवर्तः तत्त्वात्प्रच्युतेः । स्वर्णादेः कुण्डलादि तु विवर्त एव ।" — (लघुमञ्जूषा)

होगी।

आचार्य भर्तृप्रपञ्च, जिनकी चर्चा पीछे आयी है, भेदाभेद या अनेकान्तवादी थे। ये मुक्ति के लिए ज्ञान और कर्म का समुच्चय स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने वृहदारण्यक उपनिषद् एवं काठकोपनिषद् पर भाष्य लिखा था। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य एवं वृहदारण्यकभाष्य में 'अपरे वर्णयन्ति' 'केचित्तु मन्यन्ते' ऐसा कहकर इनके मत को उद्धृत किया है। वृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में सुरेश्वर ने भी 'केचिद् व्याचख्युः ब्रह्मवादिनः' आदि वचनों से उनका स्मरण किया है। ये वचन भर्तृप्रपञ्च के ही हैं, इसका पता तत्तद्भाष्य एवं वार्तिक की व्याख्या में आनन्दगिरि "स्वमतमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चप्रक्रियामवतारयति' 'इदानीं भर्तृप्रपञ्च–प्रस्थानमुत्थापयति' आदि वाक्यों से देते हैं। भर्तृप्रपञ्च जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं और इसे (जगत् को) त्रिधा विभाजित करते हैं। इसे राशित्रयवाद के नाम से जाना जाता है। पुनः इसे आठ अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है :— औपनिदम्मन्या अपि केचित्प्रक्रियां रचयन्ति मूर्तामूर्तराशिरेकः, परमात्मराशिरुत्तमः, ताभ्यामन्योऽयं किल तृतीयः।" वृहदा० उ० २।३।६। शाङ्करभाष्य।

"अत्र केचिदाचक्षते — परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्य अप्रचलितत्वरूपस्येषत्प्रचलितावस्थान्तर्यामी, अत्यन्तप्रचलितावस्थाक्षेत्रज्ञः, यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्, तान्याः पञ्चावस्थाः परिकल्पयन्ति, तथा अष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति।"

— (वृ० उ०, शा० भाष्य ३।८।१२)

—अपने को औपनिषद मतावलम्बी मानने वाले कोई आचार्य (भर्तृप्रपञ्च) ऐसी प्रक्रिया रचते हैं,—

मूर्तामूर्तराशि एक, परमात्मराशि दो और इन दोनों से भिन्न मध्यमराशि है जीव, जो विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का समुदायमात्र है तथा जो कर्ता, भोक्ता और विज्ञानमय है। भावना (पूर्वप्रज्ञा), ज्ञान और कर्म आदि का समुदाय अर्थात् जीव प्रयोजक है तथा मूर्तामूर्तराशि प्रयोज्य तथा साधन। मूर्त — पृथिवी, जल, तेज, वायु; अमूर्त — आकाश — शरीर में पार्थिव पदार्थ मूर्त और प्राणादि अमूर्त।

अक्षर परब्रह्म महासमुद्रस्थानीय है। उसका रूप अविचल है। इसकी किञ्चित् चलित अवस्था का नाम अन्तर्यामी है तथा अत्यन्त चलित अवस्था क्षेत्रज्ञ या जीव है। बीच की तीन अवस्थाएँ हैं —— सूत्रात्मा, विराट् और देवता और अन्तिम अवस्थाएँ हैं — जाति और पिण्ड। इस प्रकार ब्रह्म की आठ अवस्थाएँ हैं। इसके लिए सुरेश्वर का वृहदारण्यक भाष्यवार्तिक और उसपर आनन्दगिरि की टीका द्रष्टव्य है।

"कुछ आचार्य इन अवस्थाओं को परब्रह्म की शक्ति रूप मानते थे, ब्रह्म अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है- ऐसा उनका मत था।" अन्य आचार्य इन्हें अक्षर तत्त्व के विकाररूप में स्वीकार करते हैं —— ऐसा शङ्कराचार्य ने लिखा है।

"अन्येऽक्षरस्य शक्तय एता इति वदन्ति, अनन्तशक्तिमदक्षरमिति च।"

"अन्ये तु अक्षरस्य विकारा इति वदन्ति।" इन आचार्यों के नाम का निर्देश नहीं मिलता।

आचार्य ब्रह्मदत्त ज्ञान–कर्मसमुच्चयवादी थे। सुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि में तथा शङ्कर ने वृहदारण्यकभाष्य में इनका मत विना नाम लिये ही उल्लिखित किया है। नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका 'ज्ञानामृतविद्यासुरभि' से ब्रह्मदत्त के नाम का पता चलता है।

ब्रह्मदत्त का मत है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वेदान्तवाक्यों के श्रवणमात्र से अज्ञान नष्ट नहीं होता, इसके लिए बराबर उपासना आवश्यक है :— "यदेतद्वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञानं निरस्यति, किं तर्हि ? अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो भावनोपचयान्निःशेष-

मज्ञानमपगच्छति । 'देवो भूत्वा देवानप्येति'[1] इति श्रुतेः ।" — (नैष्कर्म्य०)

शङ्कर और सुरेश्वर मानते हैं कि वेदान्त वाक्य श्रवणमात्र से ज्ञान हो जाता है । सुरेश्वर ने भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र के इस मत को, कि वाक्यज्ञानमात्र से साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान असम्भव है, खण्डित किया है। वस्तुतः इन आचार्यों का मत सर्व साधारण की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त हैं । हाँ, लाखों में से कोई एक होगा जो पूर्व जन्म में इतनी उपासना कर चुका है कि जन्मान्तर में वेदान्त-वाक्य श्रवणमात्र से अपरोक्ष ज्ञान उपलब्ध कर सकता है अन्यथा नहीं । इस दृष्टि से शङ्कराचार्य का कथन उपयुक्त हो सकता है । महात्मा तुलसीदास ने भी तो इसीलिए लिखा था :—

"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई ।
निशि गृहमध्य दीप की बातनि तम निवृत्त नहिं होई ।।

विशिष्टाद्वैतवादी वेङ्कटनाथ ने 'तत्त्वमुक्ताकलाप' की टीका सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मदत्त का नाम लिया है। यथा —"ब्रह्मदत्तादिभिरुक्तं जीवानां स्वरूपतः सृष्टिसंहृतिविषयत्वमनूद्य दूषयति एकमिति ।" तत्त्वमुक्ता० का पाठ है :—

एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादि भागित्याम्नातं तेन जीवोप्यचिदिव जनिमान ।।

ब्रह्मदत्त के मत में एक ब्रह्म ही नित्य है, उसी से जड़ के सदृश जीव और जगत् उत्पन्न होते हैं ।

आचार्य सुन्दरपाण्ड्य ने पूर्व और उत्तर मीमांसाओं पर कोई श्लोक वार्तिक लिखा था यह बात कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य के भाष्य में उपलब्ध उद्धरणों से ज्ञात होती है । ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की व्याख्या पञ्चपादिका पर टीका लिखने वाले 'प्रबोधपरिशोधिनीकार' आत्मस्वरूप ने यह पता दिया है कि उक्त उद्धरण सुन्दरपाण्ड्य के हैं :— 'श्लोकत्रयं सुन्दरपाण्ड्य प्रणीतं प्रमाणयतीत्याह प्रसिद्धमिति ।"

भामती पर टीका लिखने वाले 'कल्पतरु' रचयिता अमलानन्द ने सुन्दरपाण्ड्य का नाम लेकर अन्य तीन श्लोकों को उद्धृत किया है :—

"आह चात्र निदर्शनमाचार्यसुन्दरपाण्ड्यः । तन्त्रवार्तिक की टीका न्यायसुधा में भट्ट सोमेश्वर ने, कुमारिल द्वारा उद्धृत सुन्दरपाण्ड्य के वचनों को वृद्धवचन के नाम से निर्दिष्ट किया है ।

भगवान् शङ्कराचार्य ने चतुःसूत्री के अन्त में स्थापना की है कि समस्त विधियां और प्रमाण 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अद्वैत ज्ञान पर्यन्त ही मान्य होती हैं, पश्चात् नहीं। इस बात को अन्य ब्रह्मवेत्ता भी मानते हैं — इसके लिए उन्होंने सुन्दरपाण्ड्य के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है :—

"अपि चाहुः
गौणमिथ्यात्मनोऽसत्वे पुत्रदेहादि बाधनात् ।
सद्ब्रह्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ।।१।।
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ।।२।।
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ।।३।।

रत्नप्रभा, भामती और आनन्दगिरि के अनुसार प्रस्तुत श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है :—

सर्वसाक्षी सद्रूप ब्रह्म मैं ही हूं इस प्रकार का बोध उत्पन्न होने पर पुत्र कलत्ररूप गौण आत्मा तथा देह और इन्द्रियादि रूप मिथ्या आत्मा के बाधित हो जाने से विधि-निषेधादि व्यवहाररूप कार्य, हेतु के अभाव में कैसे सम्पन्न होंगे ? इस पर कहते हैं कि "य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः सोऽन्वेष्टव्यः" इस श्रुति के अनुसार ज्ञातव्य परमात्मा के ज्ञान से

---

१. नैष्कर्म्यं सिद्धि के एक अन्य टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र ने चन्द्रिका टीका में 'देवो भूत्वा—' का अर्थ इस प्रकार किया है :— देवो भूत्वा भावनोपचयाद्देवभावं साक्षात्कृत्य पतति देहे उपास्यदेवताभावं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे ।

पहले ही आत्मा, अज्ञान से प्रमाता कहा जाता है। वही ज्ञात होने पर पाप और राग द्वेष एवं मरण आदि से वर्जित परमात्मा है। जैसे देह में आत्मा रूपज्ञान कल्पित होने पर भी व्यवहार के अङ्गरूप में वैदिकों द्वारा प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार जब तक आत्मा का निश्चय नहीं हो जाता, तब तक लोक में भी उसका व्यावहारिक प्रामाण्य इष्ट है।

वाचस्पति मिश्र ने 'कार्य' का भिन्न अर्थ किया है :- "पुत्रदारादिक में जो आत्माभिमान है वह गौण हैं, क्योंकि वहाँ भेद अनुभवसिद्ध है। देहेन्द्रियादि में अभेद का अनुभव होने से गौण आत्माभिमान नहीं है, किन्तु शुक्ति में रजतज्ञान के सम:न मिथ्या आत्माभिमान है। इस प्रकार द्विविध आत्माभिमान से लोकयात्रा का निर्वाह होता है। और इस प्रकार का अभिमान न हो तो न लोकयात्रा चलेगी और न ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव होगा क्योंकि उसके उपायभूत श्रवण, मननादि का भी अभाव हो जायगा। इस प्रकार 'सद् ब्रह्म मैं हूँ' ऐसे बोध वाला कार्य अद्वैत साक्षात्कार भी कैसे होगा ?

इन श्लोकों से ज्ञात होता है कि सुन्दरपाण्डय अद्वैतवादी थे तथा ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के अनन्तर देहात्माभिमान नष्ट हो जाने से ज्ञानी का कर्म से सम्बन्ध नहीं रहता —ऐसा मानते थे।

इन आचार्यों के अतिरिक्त रामानुज के वेदार्थसंग्रह में आचार्य गुरुदेव, भारुचि, भर्तृमित्र एवं कपर्दी के भी नाम मिलते हैं जो भगवान् शङ्कर से पूर्ववर्ती थे।

आचार्य शङ्कर ने जगत् को ब्रह्म में अध्यस्त या आरोपित माना जैसे रस्सी में साँप या सीपी में रजत अथवा मरुमरीचिका। योगवाशिष्ठ[1] तथा परवर्ती उपनिषदों[2] में इस प्रकार के उल्लेख अवश्य मिलते हैं, किन्तु प्रामाणिक प्राचीन उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र में कहीं अध्यास की चर्चा नहीं है। सम्भव है, भगवान् शङ्कर जैसे महाज्ञानी और योगी पुरुष ने बौद्ध शास्त्रों द्वारा उनके अभाववादी मत को निरस्त करने के लिए ही तथ्य-संवृति और मिथ्या-संवृति को व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्ता के रूप में स्वीकार करके उनकी शून्यतात्मक परमार्थता पर ब्रह्मात्म-परमार्थता को स्थापित करने के लिए अध्यारोपवाद को अपनाया हो।

इनके पश्चाद्वर्ती विशेष (वि-शिव, शेष-जीव) अद्वैतवादी श्रीपति, पण्डिताराध्य शक्तिविशिष्टाद्वैतवादी श्रीकण्ठ, भेदाभेदवादी भास्कराचार्य, चिदचिद्विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज, द्वैतवादी मध्व, द्वैताद्वैतवादी निम्बार्क, शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य और अविभागाद्वैतवादी विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर अपना अपना भाष्य लिखा। ये सभी आचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे, और जगत् को ब्रह्म का परिणाम तथा सत्य मानते थे। अठारहवीं शती में बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र पर चैतन्यमतानुसारी अचिन्त्यभेदाभेदवाद-सम्मत 'गोविन्द भाष्य' लिखा। कहा जाता है कि रामानन्दाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र पर 'आनन्द भाष्य' लिखा था। इनके मत में राम[3] ही 'ब्रह्म'-पद-वाच्य हैं। गोविन्द-भाष्य कृष्ण को ब्रह्म मानता है। श्रीपति और श्रीकण्ठ शिव को ब्रह्म मानते हैं। निम्बार्क के ब्रह्म कृष्ण हैं, तथा अन्य सभी आचार्यों के विष्णु।

१— मिथ्यैव ते विवल्गन्ति नीरूपा नयनादयः। अलातचक्रप्रतिमाः सर्परज्जुभ्रमोपमाः ॥ — योगवाशिष्ठ

२— सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तस्मिन् मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखादिवल्लोहितशुक्लकृष्णगुणमयी गुणसाम्यनिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत् (पैङ्गलोपनिषद्)।

३— "ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्तनिखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममाह।"
— (आनन्द भाष्य १।१।१)

"एवं च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण।"
— (आनन्द भाष्य १।१।२)

यहाँ ब्रह्मसूत्र के देवीभाष्य की चर्चा करना अवसर-प्राप्त है। देवीभाष्य की रचना पण्डित-प्रवर श्री पञ्चानन तर्करत्न ने की है। इसमें ब्रह्म शब्द से शक्ति को ग्रहण किया गया है। कर्मकाण्ड में औपाधिकी शक्ति को धर्म नाम से कहा गया है, और उत्तर मीमांसा में स्वाभाविकी शक्ति को ब्रह्म नाम से। द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' का इस भाष्य में अर्थ हैं 'जन्म आद्यस्य यतः'। अर्थात् आद्य या ब्रह्मा का जन्म जिससे हुआ वही ब्रह्म है। कहा भी है 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्बभूव' (मुण्डकोपनिषद्)। जैसे एक ही स्त्री भार्या, दार और कलत्र–इन तीनों लिङ्गो से जानी जाती है वैसे ही विश्वजननी आत्मा, ब्रह्म और शक्ति इन तीनों लिङ्गो से बोध्य है।

"या नित्या श्रुतिशीर्षदर्शिततनुर्ब्रह्मा यदाद्यप्रजा,
विश्वेषां जननस्थिती विदधती मातेति या गीयते।
अङ्के सुप्तमिवात्मजं वहति या कल्पावसन्नं जगत्,
तां दुर्गां चिदचिन्मयीं परतरानन्दाय वन्दामहे ॥
— (देवी भाष्य)

वादरायण के उपर्युक्त द्वितीय सूत्र का अर्थ प्रायः अन्य सभी आचार्यों ने इस प्रकार किया है :— जगत् का जन्म, स्थिति और नाश जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है; अथवा जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, ह्रास और नाश जिससे होता है? वल्लभाचार्य ने–आद्य अर्थात् आकाश की उत्पत्ति जिससे होती है वह ब्रह्म है–यह भी अर्थ लिखा है।

वादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय में सांख्य के प्रकृतिकारणवाद एवं योग का नाम लेकर उसके ईश्वर की निमित्तकारणात्मकतामात्र का खण्डन किया है। वैशेषिकों के अणुकारणवाद के निरसन के पश्चात् बौद्ध एवं जैन मतों का, विना किसी नाम निर्देश के, खण्डन किया है। इन प्राचीन बीजात्मक मतों से ही भावी जैन एवं बौद्ध मत विकसित हुए होंगे।

'पत्युरसामञ्जस्यात्' (ब्र०सू० २।२।१८) इसमें पति शब्द आया है, यहाँ पाशुपतमत से सम्बद्ध पशुपति की निमित्तकारणता ही खण्डित हुई। इसी प्रकार पाञ्चरात्र सिद्धान्तगत वासुदेव से संकर्षण अर्थात् जीव उत्पन्न होता है और जीव से प्रद्युम्न या मन और मन से अनिरुद्ध या अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। वादरायण ने इस चतुर्व्यूह का नाम न लेकर केवल उत्पत्तिवाद का ही खण्डन किया है।

तीसरे अध्याय में मुक्ति के वहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधनों का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में जीवन्मुक्त जीव की देवयान या अर्चिः मार्ग तथा पितृयान या धूममार्ग का निरूपण, सगुण ब्रह्म एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना तथा उसका फल विवृत हुआ है।

वादरायण से परवर्ती समग्र आचार्यों ने पूर्वाचार्यों, शास्त्र, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर अपने अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इनमें वैमत्य नाममात्र का ही है। इस प्रकार वेदान्तदृष्टि की अविकल गङ्गा का अजस्र प्रवाह किसी कालखण्ड में समाहित न होकर चिरकाल से प्रवहमान है। इसमें सविधि अवगाहन करके लोग धन्य हुए हैं। क्रिया, कारक और फल रूप यह जगत् और अविद्या, काम से आवृत जीव मूलतः सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म ही है। किन्तु वेदान्त–श्रवण के अनन्तर परमात्मा के नाम का मनन या जप तथा निदिध्यासन—शास्त्रोदित रूप के ध्यान के विना "अहं ब्रह्मास्मि" अथवा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसा अनुभव उत्पन्न नहीं होता।

वाक्यज्ञानमात्र से कुछ होता जाता नहीं ।
'न बिना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्' ॥

ज्ञान सामान्य के साथ विज्ञान अर्थात् अनुभव की आवश्यकता है। वेदान्त या आत्मविद्या का सक्रिय आश्रय लेने पर समग्र जनताजनार्दन तथा अशेष जगत् का अणु–रेणु आत्मरूप ही भासित होने लगता है। तब राग और द्वेष किससे? यही व्यक्ति का मोक्ष है। ऐसे जीवन्मुक्त जनों को पाकर धरती धन्य हो उठती है, समाज पवित्र तथा देश व्यवस्थित वातावरण से भर जाता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य[1] पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥५।१।१।

— बृहदारण्यकोपनिषद्

१— भर्तृप्रपञ्च-सम्मत अर्थ :—

पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य उत्पन्न होता है। वह उत्पन्न कार्य वर्तमान समय में भी पूर्ण ही है, अर्थात् द्वैत-रूप से परमार्थवस्तुभूत ही है। पुनः प्रलयकाल में पूर्ण कार्य की पूर्णता को लेकर उसका आत्मा में स्थापन करने पर कारणरूप पूर्ण ही रहता है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय–तीनों कालों में कार्य–कारण की पूर्णता ही है। वह एक ही कार्य और कारण की पूर्णता भेदरूप से कही जाती है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मक है।

शङ्कर-सम्मत अर्थ :—

वह (परोक्ष) आकाशवद्व्यापी निरुपाधिक परब्रह्म पूर्ण है और नामरूपस्थ सोपाधिक कार्यब्रह्म भी पूर्ण है। यह विशेष दशा को प्राप्त कार्य-ब्रह्म कारण-ब्रह्म से प्रकट होता है। पूर्ण कार्यात्मक ब्रह्म की पूर्णता को लेकर विद्या के द्वारा अविद्या–जनित भूतमात्रोपाधि – संसर्गज अन्यत्व के आभास को तिरस्कृत करके अन्तरवाह्यशून्य प्रज्ञानघनरूप केवल पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है।

रीडर, संस्कृत विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

वल्लभ-दर्शन : सिद्धांत और साधना

— डा० राधिका प्रसाद त्रिपाठी

दर्शन के द्वारा जीवन और जगत् के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है जो सदैव देश काल सापेक्ष्य हुआ करता है। इसे बुद्धि-विलास मानकर पढ़ने-पढ़ाने के आग्रही विद्वानों को यह समझना चाहिए कि प्रत्येक दर्शन अपने उद्भव-कालीन परिवेश की उपज होने के कारण लोक-मानस को दृष्टि-सम्पन्न बनाने के साथ जीवन की बहुविध समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। अस्तु, वल्लभ-दर्शन की समीचीनता तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक मानस की सम्यक् पहचान से ही सिद्ध हो सकती है, अन्यथा उसके प्रदेय को भलीभांति रेखाङ्कित कर सकना सम्भव नहीं है।

वल्लभाचार्य का अवतरण जिस समय हुआ, भारत के राजनीतिक क्षितिज में इस्लाम का पूर्णोदय हो चुका था। सामंतों का भोग-तिलिस्म टूट चुका था। धर्माचार्यों की रूपोपासना झूठी सिद्ध हो गयी थी। निर्गुणोपासक संत जगत् को 'धूएँ का धौरहर' प्रमाणित करते हुए अन्तर्जगत् में सत्य सुख का अनुसंधान करने की सलाह दे रहे थे। नाथपंथी योगियों तथा सूफियों के सम्मिलन से अरूपवादी साधनाओं का जो समीकरण बन रहा था, उसके कारण न केवल वैदिक जीवन-पद्धति को आघात पहुँच रहा था, वरन् वस्तु-जगत् की उपेक्षा के कारण जन-मानस में क्लैव्य, आत्मरति और उपरामता के भाव बद्ध-मूल हो रहे थे। ऐसे में आचार्य वल्लभ ने वस्तु-जगत् को ब्रह्म के सदंश का विस्तार घोषित करते हुए मानवीय शृंगार, भोग और राग को भी स्वभोग से हटाकर भगवदर्पित करने से उसे भगवत्-रूप सिद्ध किया। सूर को उद्बोधित करते हुए जब आचार्य जी ने कहा था कि 'सूर ह्वै कै कहा घिघियात हौ,' तब उन्होंने प्रकारान्तर से सम्पूर्ण भारतीय समाज में एक ऐसी भावभूमि को निर्मित करना चाहा था जिसमें 'प्राकृत जन' की तो औकात ही क्या स्वयं भगवान् के प्रति भी दैन्य निवेदित करने का प्रश्न नहीं था।

आचार्य शंकर की 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' उक्ति के विरुद्ध वल्लभाचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं अंशो जीवो हि नापरः' जैसा कथन करते हुए ब्रह्म और जगत् दोनों को सत्य बताया और जीव को ब्रह्म का अंश कहा है। उनकी दार्शनिक विचारधारा को 'शुद्धाद्वैतवाद', "ब्रह्मवाद" और 'अविकृत परिणामवाद' जैसे नामों से जाना जाता है। इस मत के अनुसार माया से अलिप्त अथवा माया सम्बन्धरहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और एकमात्र शुद्ध एवं अद्वैत तत्त्व है।[1] इसी आधार पर इस दर्शन को 'शुद्धाद्वैतवाद' की अभिधा प्रदान की जाती है। 'सर्वं ब्रह्म इतिवादः ब्रह्मवादः' के अनुसार ब्रह्मवाद में जगत्, जीव सब कुछ ब्रह्म-रूप है। 'तत्त्वदीप निबंध' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[2] जगत् को ब्रह्म

१– मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।
कार्य-कारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥

— शुद्धाद्वैतमार्तण्ड (गिरधर जी) श्लोक २८

२– आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।

— तत्त्वदीप निबंध – शास्त्रार्थ प्रकरण

का अविकृत या विकाररहित परिणाम मानने के कारण शुद्धाद्वैत को अविकृतपरिणामवाद कहा जाता है।

ब्रह्म

आचार्य वल्लभ ने अन्य वैष्णवाचार्यों की भाँति, शांकर मत का निरसन करते हुए अपने सिद्धांत का निर्वचन किया था। शंकराचार्य ने ब्रह्म को निर्गुण और अव्यक्त बताते हुए प्रतिपल परिवर्तनशील नाम-रूपात्मक जगत् को ब्रह्म से भिन्न केवल मिथ्या प्रतीति या माया की संज्ञा दी। उनके अनुसार ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से नित्य, एक रस और अविकारी है। इसलिए वह परिणमित या विकारग्रस्त होकर जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार वह सर्वकामनारहित, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होने के कारण जगत् का निमित्त कारण भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि ब्रह्म न तो जगत् का कर्त्ता है न ही भोक्ता। शंकराचार्य ने उपनिषदों में निरूपित ब्रह्म के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्मा, सोपाधि या सगुणरूप को पारमार्थिक न मानकर अविद्यात्मक, उपाधि-विशिष्ट और मात्र उपासना के लिए व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया।

वल्लभाचार्य ने शांकरमत का खण्डन करते हुए ब्रह्म को सर्वधर्म विशिष्ट होने के कारण विरुद्ध धर्मों का आश्रय कहा है।[1] उनके अनुसार ब्रह्म का विरुद्ध धर्मत्व प्रातिभासित नहीं वरन् वास्तविक है। उन्होंने ब्रह्म की उभयरूपता श्रुतिसिद्ध करते हुए ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों एक साथ कहा।[2] उनका ब्रह्म आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है।

वल्लभाचार्य का आविर्भाव और तिरोभाव-सिद्धांत ब्रह्म-जीव-जगत्-सम्बन्ध को समझने की कुंजी है। उनके अनुसार परब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। वह अपने इन तीनों स्वरूपों का, क्रीड़ा भावना से, आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। ब्रह्म के तीनों स्वरूपों का आविर्भाव तीन भिन्न शक्तियों के द्वारा होता है, जिन्हें स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और माया शक्ति कहा जाता है। स्वरूप-शक्ति के अन्य नाम चित् शक्ति तथा अन्तरंग शक्ति भी हैं। स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति तीन रूपों में होती है— संधिनी, संवित् और ह्लादिनी।[3] संधिनी से ब्रह्म के सदंश, संवित् से चिदंश और ह्लादिनी से आनन्दांश का प्रकाश होता है। उपर्युक्त तीनों शक्तियां ब्रह्म में अनावृत रहती हैं और जगत् में मात्र संधिनी शक्ति का अनावरण होता है।

आचार्य वल्लभ के मत से ब्रह्म स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तों के अधीन है, अणोरणीयान् होने के साथ महतो महीयान् भी है। आचार्य जी का तर्क है कि बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में 'जन्माद्यस्य यतः' कहकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले जिस ब्रह्म का निर्वचन किया है वह केवल निर्विशेष और निर्गुण न होकर सर्वशक्तिमान्, सर्वधर्मा, सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है।

वल्लभमत में परब्रह्म के तीन स्वरूप बताये गये हैं-
१- आधिदैविक २- आध्यात्मिक ३- आधिभौतिक।

१- विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्। — तत्त्वदीप निबंध – शास्त्रार्थ प्रकरण

२- उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्। — अणुभाष्य ३।२।२७

३- ह्लादिनी संधिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुण-वर्जिते॥ (विष्णु पुराण)

परब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप को पुरुषोत्तम, आध्यात्मिक स्वरूप को अक्षर ब्रह्म और भौतिक स्वरूप को जगत् कहते हैं। श्रीकृष्ण ही रस-रूप सच्चिदानंदमय परब्रह्म हैं।[१] दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर वही पुरुषोत्तम कहलाते हैं और अन्तर्यामी रूप में सारे विश्व को परिचालित करते हैं। वही कभी चतुर्भुज और कभी द्विभुज-रूप धारण कर भक्ति की परमावस्था को पहुँचे हुए भक्तों के साथ अपने अक्षरधाम (गोलोक) में क्रीड़ारत रहते है। मन वाणी से परे होते हुए भी शुद्ध भाव से भजने वालों के लिए गोचर हो जाते हैं। आचार्य जी ने भक्ति एवं उपासना हेतु पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को सर्वोपरि बताया है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण से बढ़कर दोषरहित देवता वस्तुतः दूसरा कोई नहीं है,[२]

आधिदैविक ब्रह्म में जब आनन्दांश का आंशिक तिरोधान हो जाता है, तब उसे सृष्टि का मूलकारण-रूप अक्षरब्रह्म कहा जाता है। अक्षरब्रह्म ज्ञानियों के ध्यान का विषय है। वह अनादि, अनंत, निर्गुण और निर्विशेष है। उसी से जीव और जगत् की सृष्टि होती है। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप में क्रमशः सृष्टि का कर्त्ता, भर्त्ता और संहर्ता है। उसी के अनेक अंश समय-समय पर कला-रूप में अवतार ग्रहण करते हैं। ब्रह्म का आधिभौतिक रूप जगत् है। कार्य-कारण सम्बन्ध से कार्य-रूप जगत् और कारण-रूप ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार लपेटा हुआ कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आविर्भाव-दशा में जगत् और तिरोभाव-दशा में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं।[३]

जीव

आचार्य जी ने जीव को अंश और ब्रह्म को अंशी माना है। उनके अनुसार भगवान् की विलासेच्छा होने पर, जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से स्फुलिंग का व्युच्चरण होता है उसी प्रकार ब्रह्म के चिदंश से असंख्य जीवों का प्रादुर्भाव होता है।[४] तात्पर्य यह कि जीव परब्रह्म का परिणाम-रूप है। स्मरण रखना चाहिए कि परिणामी होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है। अतः जीव ब्रह्म की ही भाँति नित्य और सनातन है। जीव का चैतन्य गुण सम्पूर्ण शरीर में गंध की भाँति व्याप्त रहता है।[५] ब्रह्म और जीव में अन्तर मात्र यह है कि ब्रह्म सच्चिदानंदमय हैं और जीव में आनन्दांश का तिरोभाव रहता है।[६] ब्रह्म से व्युच्चरित होने के समय जीव शुद्ध होता है किन्तु तदुपरान्त वह अविद्या

१- परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं वृहत्।
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्माविष्णुशिवास्ततः॥ — सिद्धांतमुक्तावली ३-१०

२- कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्। — अन्तःकरण प्रबोध, श्लोक १

३- द्रष्टव्व : बलदेव उपाध्याय कृत 'भारतीय दर्शन'

४- विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़जीवा विनिर्गताः। —- तत्त्वदीपनिबंध, पृ० ८७

५- जीवस्य हि चैतन्य-गुणः सर्वशरीरव्यापी। — अणुभाष्य, २।३।२५

६ प्रेमरत्नार्णव, पृ० ७-९

माया से आबद्ध होकर संसारी बन जाता है। संसारी जीव से ब्रह्म के छः धर्म — ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य तिरोहित हो जाते हैं। वह ऐश्वर्य के तिरोभाव से दीनता, वीर्य के तिरोभाव से दुःख, यश के तिरोभाव से हीनता, श्री के तिरोभाव से जन्म-मरण विषयक आपदा, ज्ञान के तिरोभाव से अहंबुद्धि और वैराग्य के तिरोभाव से विषयासक्ति को प्राप्त होता है[1] फलतः उसे नाना प्रकार से दुःख भोगना पड़ता है। वही जीव जब पुष्टिमार्ग का सेवन करके भगवान् का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है, तब भगवान् स्वयं उसके देह. इन्द्रिय तथा अन्तःकरण में अपने को स्थापित कर उसे अपने स्वरूप में स्थित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में जीव मुक्तावस्था को प्राप्त कर स्वयं सच्चिदानंद-रूप हो जाता है। मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं— जीवनमुक्त और विदेहमुक्त। जीवन काल में ही मुक्तावस्था को प्राप्त करने वाला जीव जीवन्मुक्त कहलाता है और मृत्यूपरान्त मुक्ति लाभ करने वाले जीव को विदेहमुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त जीव जो कर्म करता है वह अपने को कर्त्ता मानकर नहीं वरन् ब्रह्म को असली कर्त्ता मानकर करता है। इस मनोभूमि में जीव के समस्त कर्म ब्रह्म को अर्पित हो जाते हैं। उसकी व्यक्तिगत सत्ता का लोकसत्ता में लोप हो जाता है। सब कुछ करते हुए भी वह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। ऐसा जीव कर्त्ता भोक्ता होकर भी दुःख से परे हो जाता है। विदेहमुक्त जीव जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पा जाता है। वह सिंधु-विन्दु के भाव से परमतत्त्व में विलीन हो जाता है।

जगत्

अक्षरब्रह्म के सदंश-विस्तार का दूसरा नाम जगत् है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है।[2] जगत् उत्पन्न और विनष्ट नहीं होता वरन् आविर्भूत और तिरोभूत होता है। ब्रह्म के सदंश से आविर्भूत होने के कारण जगत् भी सत्-स्वरूप है। आविर्भाव होने पर जगत् कार्यरूप में और तिरोभाव की अवस्था में कारण-रूप में वर्तमान रहता है। जगत् के उद्भव, स्थिति और संहार में ब्रह्म की लीला ही एक मात्र कारण होती है। इस सम्बन्ध में वल्लभाचार्य ने बादरायण के 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' सूत्र को आधार बनाया है। तात्पर्य यह कि ब्रह्म और जगत् कारण-कार्यभाव से सम्बद्ध हैं। आचार्य जी का कथन है कि कारण से बना हुआ कार्य उससे अनन्य होता है, मिथ्या नहीं। जैसे मिट्टी होने में ही घड़े की सत्यता है मिट्टी से अलग उसकी सत्यता नहीं है। ब्रह्म और जगत् के कारण-कार्य सम्बन्ध की जो व्याख्या वल्लभाचार्य ने की है उसे अविकृत परिणामवाद नाम से जाना जाता है। किसी वस्तु से दूसरी वस्तु बनने की सामान्यतः दो क्रियाएँ है। एक प्रक्रिया के अन्तर्गत मूलवस्तु के विकारग्रस्त होने से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थं दूध में विकार उत्पन्न होने से दही बनता है। अतः दही दूध का विकृत परिणाम हुआ। दूसरी विधि से मूलवस्तु में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हुए विना ही अन्य वस्तु बन जाती है, जैसे कनक से कुण्डल का बनना किसी विकृति के कारण नहीं है। कुण्डल के आदि, मध्य और अन्त में अवि-कारी-रूप में कनक ही है: इसलिए कुण्डल कनक का अविकृत परिणाम है। आचार्य वल्लभ जगत् की उत्पत्ति इसी दूसरी विधि से मानते हैं। उनके अनुसार जगत् के नाना नाम-रूपों में एक ही ब्रह्म अविकृत रूप में विद्यमान् रहता है:

वल्लभ मत में संसार को जगत् से पृथक् माना गया है। जगत् का आविर्भाव ब्रह्म के सदंश से होता है, जब कि संसार की सृष्टि स्वयं जीव ने अविद्या से प्रेरित होकर की है। अर्थात् संसार का उपादान

१– अणुभाष्य, ३।२।५

२– सिद्धांत मुक्तावली, श्लोक ३, ४, ५

कारण अविद्या और निमित्त कारण जीव।[1] इसलिए जगत् नित्य है और संसार मिथ्या। संसार की स्थिति तभी तक है जब तक अविद्या की सत्ता है। अविद्या के कारण जीव को भ्रांति होती है और उसमें अहंता-ममता के भाव आते हैं। इसी अहंता-ममतात्मक कल्पना का दूसरा नाम संसार है। जब अविद्याजन्य अहंता–ममता का अन्त हो जाता है, तब संसार का भी लय हो जाता है। इसीलिए वल्लभ सम्प्रदाय में संसार को मिथ्या माना गया।

माया

आचार्य वल्लभ ने माया के दो रूप माने हैं–– विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया जीव की मुक्ति का कारण है और अविद्या माया बंधन का। विद्या माया को वल्लभाचार्य ने योगमाया की संज्ञा दी है और उसे जगत्कारणभूता और ब्रह्म की शक्ति कहा है। अविद्या माया जीव के अन्तःकरण, बुद्धि आदि को मोहती है जिससे वह पदार्थों को अन्य प्रकार से देखता है। निराकार ब्रह्म अविद्या माया की यवनिका के पीछे विलुप्त हो जाता है और जीव दृष्ट सत्ता के पीछे की अदृष्ट सत्ता को विस्मृत कर देता है। अविद्या माया द्वारा जीव को भ्रमित करने के दो प्रकार हैं––विद्यमान को प्रकाशित न होने देकर और अविद्यमान को प्रकाशित करके।[2] आचार्य जी ने माया को पंचपर्वा कहा है।[3] अविद्या के पाँच पर्वों को पंचाध्यास भी कहा जाता है। जो वह नहीं, है उसमें वह है, ऐसी बुद्धि करना ही अध्यास है। उदाहरणार्थ रज्जु सर्प नहीं है, किन्तु जब रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है, तब उसे अध्यास कहा जाता है। अविद्या के पंचाध्यासों के नाम इस प्रकार हैं –– अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास और स्वरूपाध्यास। अन्तः-करणाध्यास की स्थिति में जीव अपने को ही कर्त्ता और भोक्ता मानने की गलती करने लगता है। जीव जब प्राण–धर्म को अपना स्वरूप समझ लेता है, तब प्राणाध्यास होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-धर्म को आत्म-स्वरूप मानना इन्द्रियाध्यास, देह को वास्तविक मानना देहाध्यास तथा भगवान् के चेतन-रूप को विस्मृत कर देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण को अपना स्वरूप मानना स्वरूपाध्यास कहलाता है। भगवदनुग्रह से अविद्या का नाश हो जाने पर जीव को नित्यानंद की प्राप्ति होती है।[4]

मुक्ति

भगवान् के अनुग्रह से जीव द्वारा दुःख-मुक्त होकर नित्यानंद को प्राप्त करने की अवस्था मुक्ति है। यह अवस्था भगवदनुग्रह के पात्र पुष्टिमार्गीय भक्त को योगियों और ज्ञानियों की अपेक्षा सरलता से प्राप्त होती है। पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध कर्म बिना भोग के भी विनष्ट हो जाते हैं[5] और वह पंचाध्यास-रहित होकर दुःखों से छुटकारा पा जाता है। आचार्य जी का मत है कि भगवान् का जैसा अनुग्रह जीव पर होता है, उसी के अनुसार वह अलौकिक शरीर धारण कर भगवान् की लीला का आनंद लेता है।[6] इस दृष्टि से मुक्ति की जितनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, उन्हें आचार्य वल्लभ ने पाँच नामों से अभिहित किया है यथा– सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य और स्वरूपानन्द। रसरूप भगवान् श्रीकृष्ण के लीलाधाम में प्रवेश ही सालोक्य–मुक्ति है। सखा, सेवक आदि रूपों में भगवान्

१— प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तवपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते॥
–– तत्त्वदीप निबंध, शास्त्रार्थप्रकरण, पृ० २६

२— श्रीमद्भागवत, २/६/३३

३— तत्त्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ० ३६

४— वही, पृ० ३७–३८

५— अणुभाष्य, ४।१।१७

६— वही ४।४।७

का नैकट्य लाभ करना सामीप्य–मुक्ति कहलाता है। अंशांशीभाव से स्वयं को भगवान् से अभिन्न अनुभव करना सारूप्य–मुक्ति है और सिंधु में विन्दु की भाँति आराध्य के साथ एकमेक हो जाना सायुज्य-मुक्ति कहा जाता है। स्वरूपानंद की अवस्था में मुक्त जीव सच्चिदानंदमय होकर भगवान् की लीला का साक्षात् रूप से अनुभव करता है। वल्लभाचार्य ने स्वरूपानन्द को सर्वोपरि माना है। इसीलिए वे गोकुल को वैकुण्ठ से ऊँचा स्थान देते हैं।[1]

साधना–मार्ग

शुद्धाद्वैत के व्यवहारपक्ष को पुष्टिमार्ग कहते हैं। शांकरमत का निरसन करते हुए रामानुज, मध्व और निम्बार्क ने नारदपांचरात्र, वैखानसादि शास्त्र-निरूपित दीक्षा-पूजा का प्रचार किया। उसी क्रम में विष्णु स्वामी सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गयी। उक्त सभी साधनापथ मर्यादा-वादी थे। अतः आचार्य वल्लभ ने पुष्टि–(अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेमस्वरूपा भक्ति का संदेश दिया और शंकराचार्य के सिद्धांत-जाल से जन-समाज को बचा दिया। भगवान् के चरण-कमल की भक्ति मर्यादा-मार्ग के अन्तर्गत आती है, किन्तु भगवान् के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टिमार्गी भक्ति कहलाती है। मर्यादामार्गी भक्ति में सायुज्य मुक्ति के रूप में फल की आकांक्षा बनी रहती है। परन्तु पुष्टिमार्गी भक्ति में किसी भी प्रकार की फलाकांक्षा शेष नहीं रहती। भक्त सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करके प्रीतिपूर्वक भगवान् का अधरामृत पान करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है।[2] वास्तव में आचार्य जी ने स्त्री-पुरुष, द्विज-शूद्र सबके लिए पुष्टिमार्गीय भक्ति पद्धति के रूप में साधना की राजडगर खोल दी।

आचार्य जी को इस साधना-मार्ग के नामकरण की प्रेरणा श्रीमद्भागवत से मिली थी। भागवतकार ने 'पोषणं तदनुग्रहः' कहकर पुष्टि को परिभाषित किया है, जिसके अनुसार भगवान् के अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं। जिस मनुष्य पर भगवान् का अनुग्रह नहीं होता है उसके हृदय में भक्ति का संचार नहीं होता है। आचार्य वल्लभ ने पुष्टि मार्ग को मात्र अनुग्रह से ही साध्य बताया है।[3] हरिराय जी भी पुष्टिमार्ग के लिए अनुग्रह को अनिवार्य मानते हैं।[4] पुष्टि-मार्ग का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है — "पुष्टि मार्ग में आने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय, उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा की गयी है। यह तभी हो सकता है जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। समर्पण से ही पुष्टि मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अंत। बीच के मार्ग का अनुसरण सेवा द्वारा होता है, जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और साधक को भगवान् के स्वरूपानुभव की क्षमता प्राप्त होती है।"[5]

१— ४।२।१५

२— पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं।
मर्यादायामंगीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेव ॥

— अणुभाष्य, ३।३।२९

३— अणुभाष्य ४।४।९

४— अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

— वाङ्मुक्तावली, भाग १, श्लोक २

५— महाकवि सूरदास, पृष्ठ ७४–७५

सेवक–सेव्य स्वरूप

पुष्टिमार्गीय भक्तों के एकमात्र आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य जी का कथन है — "कृष्णकृत गीता ही एकमात्र शास्त्र है। कृष्ण ही एकमात्र आराध्य देव हैं, कृष्ण का नाम ही एकमात्र मंत्र है और कृष्ण सेवा ही एकमात्र कर्त्तव्य कर्म है।"[1] साम्प्रदायिक मान्यतानुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण का श्रीनाथ जी के रूप में ब्रजभूमि में प्राकट्य हुआ है। इसीलिए सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीनाथ जी की सेवा साक्षात् कृष्ण-स्वरूप मानकर करते हैं। गिरिराज (पहाड़) और यमुना (नदी) को भी वल्लभ-सम्प्रदाय में सेव्य-स्वरूप माना गया है। श्री गिरिराज जी भगवान् श्रीकृष्ण के सखा और श्री यमुना जी उनकी पटरानी एवं पुष्टिशक्ति-रूप में मान्य हैं।

आचार्य जी ने पुष्टिमार्गीय भक्तों के चार प्रकार बताये हैं — प्रवाह पुष्ट, मर्यादा पुष्ट, पुष्टि पुष्ट और शुद्ध पुष्ट। प्रवाह पुष्ट भक्त सांसारिकता में लिप्त रहकर भी भगवद्भक्ति में लगे रहते हैं। मर्यादा पुष्ट भक्त सांसारिक विषय-भोग से चित्तवृत्ति को समेट कर इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए भगवल्लीला के श्रवण-कीर्तन में लीन रहते हैं। पुष्टि पुष्ट भक्त भगवदनुग्रह प्राप्त करने के पश्चात् आत्मचिंतन द्वारा भगवान् के लीला-विधान को भली-भाँति समझने में समर्थ होते हैं। शुद्ध पुष्ट भक्त भगवत्प्रेम में निमग्न रहते हैं। भगवान् का भजन–कीर्तन उनका व्यसन हो जाता है।

पुष्टिमार्गीय सेवा

पुष्टिमार्गीय साधना में सेवा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। आचार्य श्री वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण की सर्वात्म भाव से सेवा करना ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब कुछ है।[2] प्रश्न यह है कि पुष्टिमार्गीय सेवा का स्वरूप क्या है? आचार्य जी के मत से हरि में चित्त को पिरोना ही सेवा है। इस प्रकार की सेवा से जीव सांसारिक दुःखों से निवृत्त होकर ब्रह्मबोध की प्राप्ति करता है।

सामान्यतः लोग सेवा को पूजा से अभिन्न समझ लेते हैं, किन्तु वल्लभ सम्प्रदायान्तर्गत दोनों शब्दों में भेद माना जाता है। सेवा उस परिचर्या को कहते हैं जो विधि-विधान की अपेक्षा भावात्मक धरातल पर की जाती है जब कि पूजा में स्नेह और भावना की अपेक्षा विधि-विधान का आग्रह अधिक होता है।[3]

पुष्टि-मार्ग में गोपियों को गुरु स्थान पर रखा गया है। आचार्य जी ने गोपियों की तीन श्रेणियां बतायी हैं: (१) ब्रजांगना (२) गोपकुमारिका और (३) गोपांगना। ब्रजांगना-रूप में यशोदा का नाम आता है, जिनकी भक्ति वात्सल्य-भाव की है। गोप कुमारिकाओं ने कात्यायनी व्रत करके श्रीकृष्ण को पति-रूप में वरण करने की कामना की। इनकी भक्ति स्वकीय भाव की है। गोपांगना-रूप में वे विवाहिताएँ आती हैं जिन्होंने लोक-वेद-कुल-कानि का परित्याग कर परकीय भाव से श्रीकृष्ण को पाने के लिए भजन किया। पुष्टिमार्गी भक्ति में माधुर्य-भाव की प्रधानता है, इसलिए राधा जी को यहाँ सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है।

---

१ — एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव।
मंत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥
— तत्त्वदीप निबंध, श्लोक ४

२ — पुष्टिमार्गो हरेर्दास्यं, धर्मार्थौ हरिसेवनम्।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवम्॥
— सुबोधिनी, दशम स्कंध

३ — सेवायां लौकिकी युक्तिस्तथा स्नेहो नियामकः।
पूजायां तु विधिः स्नेहाविरुद्ध इति निश्चयः॥
— वाङ्मुक्तावली (हरिराम), श्लोक ४८

स्मरणीय है कि पूजा का प्रचलन मर्यादा-मार्गीय सम्प्रदायों में है जब कि सेवा पुष्टिमार्गीय साधना का अंग है।

आचार्य वल्लभ ने सेवा के दो रूप बताये हैं — क्रियात्मक सेवा और भावात्मक या मानसी सेवा। क्रियात्मक सेवा के भी दो प्रकार हैं— तनुजा और वित्तजा। अपने आप अथवा स्त्री पुत्रादि द्वारा की गई शारीरिक सेवा को वित्तजा कहते हैं। इस प्रकार की सेवाओं से जीव की अहंता–ममता नष्ट होकर भक्ति दृढ़ होती है। क्रियात्मक सेवा के पश्चात् भावात्मक या मानसी सेवा होती है जिसे आचार्य जी ने सर्वोत्तम बताया है। सब ओर से मन को खींचकर केवल भगवान् को ही अपने राग का आलम्बन बनाना मानसी सेवा कहलाता है– "चेतस्तत्प्रवणं सेवा।"

सेवा के समय विघ्न उपस्थित होने अथवा लौकिक भोगों के प्रति आसक्ति बनी रहने पर आचार्य जी ने उन्हें दूर करने की सलाह दी है। वे पुनः कहते हैं कि यदि प्रयत्न करने पर भी विघ्न दूर न हो तो समझ लेना चाहिए कि प्रभु ही हमें फल नहीं देना चाहते। ऐसी स्थिति में भागवतादि का आश्रय लेकर ज्ञान-मार्ग में ही रहना श्रेयस्कर है अथवा यह मानना चाहिए कि अभी प्रभु मुझे संसार में ही रखना चाहते हैं। प्रभु जिस प्रकार से रखें उसी प्रकार से रहना भक्त का धर्म है।

सेवा फल के सम्बन्ध में आचार्य जी का मत है कि भक्त को सेवा के अनुसार फल की प्राप्ति होती है।[1] उत्तम सेवा से काम-नाशादि फल की प्राप्ति होती है। मध्यम सेवा से भक्त भगवान् के साथ गोप-पार्षद की भांति सहयोगी बनकर उनसे ऐक्य स्थापित करता है। तीसरे प्रकार की सेवा से अधिकार-फल की प्राप्ति होती है। सेवोपयोगी अक्षरात्मक देह को अधिकार-फल कहते हैं।

पुष्टि मार्गीय सेवा-विधि का निर्माण गोपियों की प्रेम-भावना के अनुरूप किया गया है। पुष्टि मार्ग में सेवा की दो विधियाँ हैं— (१) नित्योत्सव सेवा और वर्षोत्सव-सेवा। नित्योत्सव-सेवा-विधि में श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव से युक्त व्रजांगनाओं की दिनचर्या पर आधारित आठ प्रकार के उत्सवों का विधान किया गया है, जिनके नाम हैं– (१) मंगला (२) शृंगार (३) ग्वाल (४) राजभोग (५) उत्थापन (६) भोग (७) संध्या आरती और (८) शयन। वर्षोत्सव-सेवा-विधि में श्रीकृष्ण की अवतार-लीलाओं के उत्सव, छः ऋतुओं के उत्सव, लोक व्यवहार और वैदिक पर्वोत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

नित्योत्सव और वर्षोत्सव सेवा-विधियों के अलग-अलग तीन अंग बताये गये हैं– शृङ्गार, भोग और राग। ये तीनों सांसारिक व्यसन भी हैं जिनसे बचना जीव के लिए कठिन होता है। आचार्य वल्लभ ने इनसे जीव को छुटकारा दिलाने के लिए इन्हें भगवत्सेवा में नियोजित कर दिया है। आचार्य जी का अभिमत है कि भगवान् के संसर्ग से इन व्यसनों का विकृत रूप शुद्ध हो जाता है। भगवत्संसर्ग से ये व्यसन स्वयं भगवद्रूप हो जाते हैं। इस सेवा–विधि को वल्लभाचार्य के सुपुत्र विट्ठलदास ने और भी व्यवस्थित रूप दिया।

वैराग्य एवं संन्यास

पुष्टिमार्ग में स्वीकृत वैराग्य एवं संन्यास का स्वरूप ज्ञानमार्गीय वैराग्य–संन्यास से भिन्न हैं। वैराग्य के सम्बन्ध में आचार्य वल्लभ का अभिमत है कि भक्ति का अधिकारी व्यक्ति घर में रहकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए भगवान् की तनुजा और वित्तजा सेवा करे तो उसका मन लौकिक विषयों से हट जाता है और भक्ति-भावना दृढ़ होती है। इस प्रकार का अभ्यास करने से जब साधक प्रेमलक्षणा भक्ति की उच्चावस्था

१— यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

सेवा फल, १

को पहुंच जाता है तब वह घर छोड़कर संन्यास भी ग्रहण कर सकता है। किन्तु, इस अवस्था में भी उसे निष्क्रिय न होकर सत्संग और प्रभु-सेवा में लगा रहना चाहिए।

आचार्य जी के अनुसार संन्यास का अर्थ है– सर्वस्व त्याग, जो देहधारी के लिए प्रायः असम्भव है। वे गृह-बंधन के प्रभु-प्राप्ति में बाधक सिद्ध होने की अवस्था में ही संन्यास ग्रहण करने की राय देते हैं, किन्तु इस स्थिति में भी दंड–कमण्डलादि वाह्य वेष-धारण करने का निषेध किया गया है। वास्तव में आचार्य वल्लभ साधन-संन्यास की अपेक्षा फलात्मक संन्यास को महत्त्व देते हैं जिसमें साधक अतिशय विरक्ति के कारण फलाकांक्षा का भी परित्याग कर देता है। पुष्टिमार्गी संन्यासी मन को सब ओर से हटाकर प्रभु के विरहानंद में लीन रहता है। आचार्य जी संन्यास का पर्यवसान श्रीकृष्ण की रासलीला में बताते हैं। ऐसा संन्यास प्रभु-कृपा से ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार आचार्य श्रीवल्लभ ने शुद्धाद्वैत-दर्शन और पुष्टिमार्गीय भक्ति के माध्यम से भारतीय जनता को जीवनानुराग जगाने वाला एक निर्मल बोध दिया, मुस्लिम–संस्कृति के पदाघात से वचाने में सक्षम रक्षा–कवच दिया।

— वरिष्ठ प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग,
साकेत कालेज,
फैजाबाद (उ० प्र०)

आगम-दर्शन : दिग्दर्शन

□ डा० वीरेन्द्रपाल सिंह

मानव अपनी विलक्षण प्रकृति के कारण मात्र बौद्धिक ऊहापोह से प्रशान्त नहीं होता, वरन् अपनी क्रियात्मक आवश्यकताओं एवं सहजवृत्तियों की सामंजस्य-पूर्णता की भी माँग करता है। चिन्तन के इतिहास में ज्ञान एवं भक्ति का समानान्तर विकास इस तथ्य की पुष्टि करता है। जीवन एवं जगत् को आभास-सिद्ध कर देना एक उच्चकोटि के तार्किक की बौद्धिक माँग की पूर्ति कर सकता है, किन्तु मानव-हृदय की पुकार को परितृप्त नहीं कर सकता। इसका आशय यह नहीं है कि ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। ज्ञान (सिद्धान्त) क्रिया (व्यवहार) की सदैव अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार क्रिया भी ज्ञान के अभाव में अन्धयात्रा ही है। इसी तथ्य को प्राचीन भारतीय वाङ्मय में निगम (ज्ञान = वेद) तथा आगम (क्रिया = तन्त्र) की संज्ञा दी गयी है। कभी-कभी तंत्र का आशय 'अभिचार' से लिया जाता है, जो कि अत्यन्त संकुचित एवं निकृष्ट अर्थ है। कुछ लोग शाक्त-आगमों को 'तन्त्र' मानते हैं, यह भी एक भ्रान्त धारणा है। यथार्थ में तन्त्र इहलौकिक कल्याण एवं परमपद की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

भारतवर्ष में प्रमुखतः वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य तान्त्रिक या धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, जो क्रमशः विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति को अपना इष्ट मानते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इनके इष्ट-सम्बन्धी विचारों में ही, इनके परमतत्त्व संबंधी विचार खोजे जा सकते हैं। यहाँ पर यह संकेत करना भी समीचीन होगा कि इन सम्प्रदायों के विकास में अनेक उप-सम्प्रदाय भी सम्मिलित हैं तथा इनसे पृथक् भी अनेक स्वतन्त्र सम्प्रदाय विद्यमान हैं, जिनमें परस्पर किंचित् मतभेद भी हैं, तथापि इस विन्दु पर इनमें मतैक्य भी परिलक्षित होता है कि मानव का परमलक्ष्य परम-पद की प्राप्ति है।

वेद पुराणादि के समान तन्त्र की शिक्षाएँ भी भक्ति-परक ही हैं। पूजा भक्ति का प्रमुख अंग है। वाराही-तन्त्र में पूजा को आगम का तृतीय लक्षण भी स्वीकार किया गया है। वैष्णव, शैव आदि समस्त मतावलम्बी पूजा पर पर्याप्त बल देते हैं। तान्त्रिक वाङ्मय में पूजा को परा, परापरा तथा अपरा-तीन प्रकार का वतलाया गया है। इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम भी कहा जाता है। साधारण लोग व्यवहारतः किसी देवता, मनुष्य, ऋषि या भूतादि की जो पूजा करते हैं, वह तो अधम या अपरा से भी अत्यन्त निम्न स्तर की पूजा है, जिसे सही अर्थों में पूजा कहा ही नहीं जाना चाहिए; यदि मनुष्य इसका अतिक्रमण न कर सका तो निस्संदेह इसका कोई मूल्य नहीं है। 'अपरा पूजा' के स्तर तक पहुंचने हेतु यदि भौतिक और मानसिक परिस्थिति का निर्माण, जैसी कि इससे अपेक्षा की जाती है, करने में ही उसका कुछ योगदान माना जा सकता है। अपरा पूजा में द्वैतज्ञान प्रधान होता है, परापरा पूजा में आंशिक रूप से द्वैतज्ञान तथा आंशिक रूप से अद्वैत ज्ञान भी विद्यमान रहता है तथा परा पूजा में अद्वैतभाव रहता है। अतः समस्त तांत्रिकों की पूजाओं की अन्तिम परि-णति यही 'परा पूजा' है। अन्य समस्त विधि-विधानादि इसी 'परा पूजा' की प्राप्ति-हेतु विभिन्न सोपान मात्र हैं, जिससे यह समस्त विश्व उद्भूत होता है, जिसमें यह स्थित रहता है तथा जिसमें यह लय हो जाता है, एकमात्र यही तत्त्व हमारी पूजा का सर्वोत्कृष्ट विषय हो

सकता है। किन्तु इस तत्त्व का स्वरूप क्या है? इसके समाधान हेतु विभिन्न सम्प्रदायों के विचारों का अवलोकन अभीष्ट है।

समस्त वैष्णव मतावलम्बियों के अनुसार श्रुति का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सगुण ईश्वर का ही विवेचन करना है। वैष्णव धर्म के अनुसार यह ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वान्तर्यामी, परम उपास्य तथा समस्त उपासकों का मुक्तिदाता है। इसी सगुण ईश्वर को उन्होंने विभिन्न नामों से पुकारा है, यथा-विष्णु, नारायण, हरि, कृष्ण, राम, वासुदेव, वालगोपाल, दधिवामन, नृसिंह, वाराह, राधाकृष्ण आदि। वैष्णव धर्म के अनेक उप-सम्प्रदायों ने इनमें से किसी एक को अपने परम इष्ट के रूप में स्वीकार किया है। इसी इष्ट की अवधारणा में उनकी परगतत्त्व की दार्शनिक व्याख्या निहित है। भक्तों ने अपने-अपने अनुसार अपने इष्ट देव को परब्रह्म के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में पाञ्चरात्रमत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शतपथ ब्राह्मण [१३.६.१] के अनुसार पुरुष नारायण ने 'पाञ्चरात्र सत्र' सम्पन्न किया था जो पाँच रात्रि पर्यन्त चला, जिससे भगवान् नारायण के पाँच रूप अभिव्यक्त हुए। वैष्णवों ने इन पाँच रूपों को पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार का नाम दिया है। ये पाँचों रूप भगवान् की अपनी इच्छाशक्ति के परिणाम थे। पाञ्चरात्रमत के अनुसार भगवान्[विष्णु] की शक्ति को विभिन्न नामों से पुकारा गया है यथा—लक्ष्मी, श्री, पद्मा, आनन्दा, स्वतन्त्रा आदि। इस दृष्टि से भगवान् शक्तिमान् हैं तथा लक्ष्मी उसकी शक्ति है। यह भगवान् अद्वितीय, परब्रह्म, दुःखरहित, निस्सीम, आनन्दमय, अनादि, अनंत, सर्वव्यापक और सबसे परे, परम तथा अन्तिम सत्ता है; यह स्वयंभू और सबका आधार है। 'जया संहिता' के अनुसार यह निर्गुण है, किन्तु गुणयुक्त समस्त विषयों का भोग करता है, जो हमारे बाहर-भीतर बसे हुए हैं, वह सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ और सर्वाधिपति है। वह स्वयं में समस्त शक्तियों को धारण किये रहता है। उसे असत् भी कहा जा सकता है क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। समस्त जगत् उसमें निहित है तथा वह प्रसर व काल से परे है। जिस प्रकार तप्त लौहखण्ड में अग्नि लौहखण्ड से अभिन्न रहती है, उसी प्रकार ईश्वर समस्त जगत् में व्याप्त है। जड़ और चेतन जगतों में ईश्वर उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार औषधियों में रस। उसका अस्तित्व तर्क एवं प्रमाण से सिद्ध नही हो सकता. वरन् वह सहजसिद्ध है। काष्ठ, जिसमें अग्नि अवाच्य एवं अदृश्य रूप से विद्यमान है, अग्नि में प्रवेश करने से अपने अस्तित्व को मिटा देता है, उसी प्रकार भक्त भगवान् में प्रवेश करते ही उससे अभिन्न हो जाता है। ईश्वरानुकम्पा से जब भक्त यह समझने में सक्षम हो जाता है कि उसके समस्त कर्मादि प्रकृति के ही गुणादि हैं तब उसमें आध्यात्मिक जागृति होती है और वह एक सुयोग्य गुरु से दीक्षित होकर साधनोपरांत निस्तरंग सागर सदृश हो जाता है। जब उसके हृदय में चैतन्य का प्रकाश होता है, तब समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के मूल विषय सहित हृदय के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं, और शनैः शनैः परमज्ञान, निवृत्ति और मुक्ति की प्राप्ति होती है। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में उल्लिखित है कि यद्यपि ईश्वर प्रधान और गौण गुणों से परे है, तथापि वह षड्गुण[1] सम्पन्न है, इसलिये उसे सगुण कहा जाता है। ज्ञान उसके गुणों में प्रमुख गुण है। यह स्वप्रकाश्य और आध्यात्मिक प्रकृति का है, वह समस्त वस्तुओं को प्रकाशित भी करता है। 'शक्ति'—उसका वह गुण है जिससे उसने सृष्टि रचना की है। ईश्वर का कर्तृत्वभाव ही उसका 'ऐश्वर्य' है। 'वीर्य' जगत् का उपादान कारण है। 'बल' वह गुण है जिससे वह सृष्टि-कार्य में थकित नहीं होता। 'तेज'—वह गुण है जिससे वह सृष्टि करता है। स्वयं को विभिन्न रूपों में व्यक्त करने का संकल्प करने के कारण वही 'सुदर्शन' के नाम से भी जाना जाता है। इस परम ज्ञान की अवस्था शब्दों से परे है।

अहिर्बुध्न्य संहिता [२.५६] के अनुसार ईश्वर में

१— ये छः गुण हैं : ऐश्वर्य, वीर्य, तेज. शक्ति, ज्ञान और बल।

शक्ति उसी प्रकार अभिन्न रूप से विद्यमान रहती है जिस प्रकार चन्द्र-किरण चन्द्र से अभिन्न रहती है। शक्ति सहज रूप है और यह विश्व इसी शक्ति की अभिव्यक्ति है। इसे आनन्दस्वरूपा, निरपेक्ष, दिक्कालातीत, पूर्ण व अरूप भी कहा गया है। जब वह स्वयं को जगत् के रूप में संकुचित करती है तो कुण्डलिनी के नाम से जानी जाती है और ईश्वर की महान् शक्ति होने के कारण विष्णुपत्नी [लक्ष्मी] या विष्णु की शक्ति कही जाती है। 'लक्ष्मी' ही परम शक्ति हैं, इसे विष्णु का भाव भी कहा गया है। यही उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अनुग्रह तथा विग्रह रूपी पांच कार्य सम्पादित करती है। यही भाव्य और भावक के रूप में भी अभिव्यक्त होती है। भावक रूपी अभिव्यक्ति को 'सुदर्शन' कहा गया है तथा यह जगत् 'भाव्य' रूप की अभिव्यक्ति हैं। 'विहगेन्द्रसंहिता' में 'सुदर्शन' की पुनः आठ शक्तियों [यथा- कीर्ति, श्री, विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा] तथा 'सात्वतसंहिता' में विष्णु की बारह शक्तियों [यथा– लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि और मति] का भी उल्लेख मिलता है। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह शक्ति अद्वैत वेदान्त की मायाशक्ति नहीं है, और न न्याय-वैशेषिक दर्शन की जड़शक्ति ही है। इसके अतिरिक्त यह शैवागमों व शाक्तमत की शक्ति के सदृश प्रतीत होने पर भी उससे किंचित् भिन्न ही है। पाञ्चरात्र मत के अनुसार ईश्वर अपनी इस शक्ति से ही निरन्तर सृष्टि करते हुए भी थकित नहीं होता। यह शक्ति दो रूपों में अभिव्यक्त होती है यथा-स्थावर रूप, इससे काल, अव्यक्त और पुरुष उत्पन्न होते हैं; तथा क्रियारूप–यह भगवान् की सहज शक्ति है जो विचार और संकल्प के रूप में अभिव्यक्त होती है। यही अव्यक्त को व्यक्त होने हेतु प्रेरणा प्रदान करती है, प्रकृति तत्वों को पुरुष के सम्मुख रखती है और यही समस्त अनुभवों में अन्तर्व्याप्त तथा अनुस्यूत है। अन्त में जब वह इन सब क्रिया-व्यापारों को संकुचित करती है, तब प्रलयावस्था होती है। संक्षेप में, यह स्पन्दन-स्वरूपा है, जो अनेक रूप धारण करती है जिससे भिन्न-भिन्न पदार्थों का उद्भव होता है, समस्त द्वन्द्व इसीं के रूपान्तर हैं तथा यही जब विपरिवर्तित होती है तो प्रलय हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में यह उल्लेख करना अत्यावश्यक है कि इस शक्ति की दो भिन्न युगल-क्रियाओं से शुद्ध सृष्टि सम्पन्न होती है। ज्ञान और बल नामक गुणों द्वारा 'संकर्षण' का उद्भव होता है, ऐश्वर्य और वीर्य से 'प्रद्युम्न' का तथा शक्ति और तेज से 'अनिरुद्ध' का उद्भव होता है। यद्यपि संकर्षणादि में षड्गुणों की विद्यमानता है किन्तु प्रधानता उनमें दो–दो गुणों की ही है। इन्हें 'व्यूह' कहा जाता है। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध तीनों देवी–रूप व्यूह हैं, इनमें वासुदेव को मिला देने से चार व्यूह हो जाते हैं। यही पाञ्चरात्र मत का 'चतुर्व्यूह सिद्धान्त' कहलाता है। श्रादर महोदय ने 'इन्ट्रोडक्शन् टु पांचरात्र' (पृ० ३६) में 'महासनत्कुमार संहिता' के आधार पर यह निर्दिष्ट किया है कि वासुदेव अपने चित्त से 'श्वेतवर्णयुक्त शान्ति देवी' तथा 'संकर्षण' या 'शिव' को उत्पन्न करते हैं, फिर शिव के बांए भाग से 'रक्तवर्णयुक्त श्रीदेवी' का जन्म होता है तथा 'प्रद्युम्न' इसी रक्तवर्णयुक्त श्री देवी का पुत्र है, 'प्रद्युम्न' 'पीतवर्णयुक्त सरस्वती देवी' तथा 'अनिरुद्ध' को उत्पन्न करते हैं। इस 'अनिरुद्ध' की शक्ति कृष्णवर्णा रति है। उत्पत्ति, स्थिति, लय, जागतिक वस्तुओं का पोषण तथा मोक्ष की कामना वाले भक्तों की सहायता करना आदि व्यूहों के कार्य हैं।

संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के अतिरिक्त वासुदेव के दो और रूप भी स्वीकार किये गये हैं यथा–आवेश और साक्षात् अवतार। प्रथम पुनः दो प्रकार–स्वरूपावेश तथा शक्ति–आवेश का है। साक्षात् अवतार का जन्म अवलम्बित होता है जबकि आवेश अवतार दैवी–क्रिया की प्रकट अभिव्यक्तियां हैं। साक्षात् अवतार जागतिक अवतारों से भिन्न व श्रेष्ठ होते हैं। अतः मोक्ष की कामना वाले अधिकारी भक्तों को इन्हीं की आराधना करनी चाहिए।

पूर्वोल्लिखित प्रत्येक व्यूह के तीन-तीन उपव्यूह भी होते हैं। केशव, नारायण और माधव—वासुदेव के; गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन—संकर्षण के; त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर—प्रद्युम्न के; तथा हृषीकेश पद्मनाभ और दामोदर—अनिरुद्ध के उपव्यूह माने जाते हैं। ये सभी बारह देवता बारह मासों के अधिष्ठाता भी हैं। इनके अतिरिक्त 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में उनतालीस विभव अवतारों का भी उल्लेख मिलता है। यहीं अर्चावतारों का भी वर्णन मिलता है। अर्चावतार का आशय भक्त द्वारा भगवान् की मूर्ति या चित्र आदि की विधि-विधानादि से अर्चना करने से है, क्योंकि यह मान्यता रही है कि भगवान् ही मानव के समस्त कर्मों का प्रेरक तथा ध्यान का विषय है और मूर्ति-अर्चना से वह उसमें भी अवतरित होगा। इस प्रकार भगवान् की सत्ता पांच रूपों में है—परा, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। व्यूहों और विभवों के रूप में भगवान् की अभिव्यक्ति शुरू होती हैं तथा इन व्यूहों तथा विभव से शुद्धेतर या अशुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है। इस शुद्धेतर सृष्टि के तीन रूप हैं, यथा पुरुष, गुण और काल। यहां 'पुरुष' का आशय सांख्य-प्रोक्त पुरुष से नहीं है वरन् यहां 'पुरुष' का आशय समस्त आत्माओं के समष्टिरूप से लिया गया है। ये आत्मायें यद्यपि अन्ततः वासुदेव की ही सृष्टि हैं, स्वरूप से सर्वज्ञ हैं, तथापि अनादि वासनादि से संयुक्त होने के कारण जीव कहलाती हैं। इन्हीं अशुद्ध जीवों से पुरुष का जन्म होता है। अतः यह पुरुष आंशिक रूप से शुद्ध तथा आंशिक रूप से अशुद्ध है। पुरुष में समस्त मनुष्य बीजरूप से विद्यमान रहते हैं जो 'मनु' कहलाते हैं। ये मनु जागतिक मानव या स्थूल मनुष्य नहीं हैं। मनु से जागतिक मानव की उत्पत्ति को अहिर्बुध्न्य संहिता में अत्यन्त विस्तार के साथ निरूपित किया है। उसका समग्र विवेचन इस लघु प्रबन्ध में असम्भव है।

पाञ्चरात्र मत में परमपद अथवा ईश्वरप्राप्ति-हेतु साधन रूप में प्रपत्ति या शरणागति पर अत्यन्त बल दिया गया है। शरणागति के ये छः रूप बतलाये गये हैं; यथा—आनुकूल्यसंकल्प-रूप-शरणागति अर्थात भगवान् के अनुकूल रहने का दृढ़ संकल्प; प्रातिकूल्य-वर्जन-रूप शरणागति अथवा भगवान् से प्रतिकूल रहने का पूर्णतः त्याग; रक्षा-विश्वास अर्थात् हर परिस्थिति में भगवान् अवश्य ही रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास, गोप्तृत्ववरण अर्थात् भगवान् को ही एकमात्र परम रक्षक के रूप में स्वीकारना, आत्मनिक्षेप अर्थात् भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, तथा कार्पण्य अर्थात् यह भाव दृढ़ करना कि विष्णु भगवान् ही सब कुछ (महान्) हैं तथा मैं स्वयं भी कुछ नहीं हूं।

साधना की दृष्टि से पाञ्चरात्रों का 'पांचकाल' का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है। 'पांचकाल' के अन्तर्गत नमन, उपादान, पूजा, अध्याय और योग है। ध्यान रहे कि यह योग भी अष्टांग का वर्णन करता है, किन्तु पातञ्जल योग से भिन्न है। उदाहरणार्थ—पातञ्जल योग में 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं जबकि अहिर्बुध्न्य संहिता-प्रोक्त 'यम' के अन्तर्गत सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा का उल्लेख किया गया है तथा 'नियम' के अन्तर्गत सिद्धांत-श्रवण, दान, मति, ईश-पूजन, सन्तोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, मन्त्रजप, और व्रत हैं जबकि पतञ्जलि के अनुसार 'नियम'—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान हैं।

उपर्युक्त पाञ्चरात्र मत यद्यपि अद्वैतवादी प्रतीत होता है. तथापि यह स्पष्टतः अद्वैतवादी है नहीं। इसमें प्रलयावस्था में भी ईश्वर और शक्ति का पूर्ण तादात्म्य सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'अहिर्बुध्न्य संहिता' का ईश्वर और जीव के सम्बन्ध के विषय में मत है कि प्रलयावस्था में जीव विष्णु में नामरूपविभा-रहित रूप से विद्यमान रहते हैं तथा सृष्टि में उनसे पृथक् हो जाते हैं। मुक्तावस्था में जीव आविर्भूत गुणाष्टक हो जाते हैं, वे विष्णु या ईश्वर से अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। इसको अन्य शब्दों में सालोक्य

मुक्ति भी कहा जाता है; किन्तु इसे सायुज्य मुक्ति नहीं कहा जा सकता। रामानुजप्रभृति विचारक भी भक्त का भगवान् से भेद नहीं स्वीकार कर सके। इसके अतिरिक्त विष्णु की परमशक्ति अपनी मूलावस्था– जिसमें कि स्वाश्रित, शून्यरूपिणी या विष्णु से अभिन्न मानी गयी है –से अभिव्यक्त होने हेतु गतिशील क्यों होती है? इसका कोई तार्किक समाधान नहीं मिलता; क्योंकि यदि अभिव्यक्तीकरण हेतु गतिशील होना उसका स्वभाव माना जाय तो सम्भवतः मुक्ति की व्याख्या नहीं हो सकेगी। उसकी गतिशीलता का प्रेरक यदि विष्णु को माना जाय तो भी समस्या हल नहीं हो सकती तथा अन्य किसी प्रेरक तत्व का उल्लेख पाञ्चरात्र मत में नहीं मिलता। प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय अपने साधनापक्ष को भक्ति से प्रारम्भ करता है जिसकी परिणति योग में होती है। क्या भक्तिवाद को योग से पृथक् नहीं रखा जा सकता? क्या मात्र भक्ति मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं है? यदि अन्ततोगत्वा योग से मुक्ति सम्भव है तो भक्ति का क्या मूल्य है? इस समस्या के समाधान हेतु लेखक स्वानुभव से यह कह सकता है कि योग में परिणत होना भक्ति का स्वभाव है। योग को भक्ति पर आरोपित मानना एक भूल है। पूजार्चन व मंत्रजपादि योग की प्रारंभिक झलक-आत्मविस्मरण- चाहे यह अत्यन्त अल्प समय के लिए ही क्यों न हो, यही सिद्ध करता है। लेखक ने मन्त्र–जप–काल में अनेक बार यह अनुभव किया कि मन्त्र जपते–जपते माला व उँगलियां, जिह्वा व कान तथा मन व विचार बिलकुल शान्तप्राय हो गये। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि भक्ति शनैः–शनैः स्वभावतः योग में परिणत होती चली जाती है।

शैवमत भी वैष्णवमत से कम प्राचीन नहीं है। इसकी प्राचीनता का सूक्ष्म निरूपण अनेक विद्वानों ने किया है। हम यहाँ इसके ऐतिहासिक विवेचन में न पड़कर इसके प्रमुख सिद्धान्तों को ही अपने विवेचन का विषय बनायेंगे।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में शैवमत के अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है, यथा-शिव–भागवत, पाशुपत शैव, या माहेश्वर शैव, कपाली शैव, भस्मधारी, जटाधारी, मुण्डी, मुण्डमालाधारी, भाट्ट शैव, लिंगायत या वीर शैव, कालामुख काशमीर शैव आदि। समस्त शैव मतावलम्बी किसी न किसी रूप में 'शिव' को परमतत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। यह परमतत्व (शिव) शैवमत के अनुसार, अनादि, अजन्मा, सर्वथा निर्दोष, समस्त कार्यों का कर्ता, सर्वज्ञ, स्वयम्भू, निर्मल, अनन्तदया व प्रेममय, सर्वशक्तिमान्, आनन्दमय आदि हैं। जिस प्रकार सुगन्ध पुष्प में व्याप्त रहती है उसी प्रकार शिव अपनी शक्ति से समस्त विश्व में व्याप्त रहता है। 'मृगेन्द्र आगम' (७.५) में शिव को सर्वव्यापी, चेतन, शक्ति का निवास-स्थान स्वीकार किया गया है। पाशुपत मत में इसे 'पति' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। 'शिव ज्ञान बोध' में शिव को निमित्त कारण बतलाया गया है। 'मातंग मतेश्वर-तन्त्र' में उसे जगत् का निमित्तकारण मानने के साथ-साथ उसकी शक्तियों को उपादानकारण माना गया है। 'पौष्करागम' में उसे चिन्मात्र तथा 'स्पन्दकारिका' में उसे ज्ञाता, ज्ञेय तथा अभिधेय पदार्थ भी स्वीकार किया गया है। 'वातुल तन्त्र' के अनुसार वह निष्कल है अर्थात् उसमें समस्त कलाएँ केन्द्रित हैं। 'मायिदेव' कृत 'अनुभव सूत्र' में उसे 'स्थल' की संज्ञा दी गई है तथा सत्-चित्-आनन्द से अभिन्न माना गया है। 'पाशुपत सूत्र' (५.४७) में शिव के अनेक नामों (यथा वामदेव, ज्येष्ठ, रुद्र, शंकर, काल, कला-विकरण, बल-प्रकरण, अघोर, घोरतर, सर्व, शर्व, तत्पुरुष, महादेव, ओंकार, ऋषि, विप्र, महानीश, ईशान, ईश्वर, अधिपति, ब्रह्म आदि) का उल्लेख मिलता है। संक्षेप में, प्रायः समस्त शैव सम्प्रदायों तथा समस्त आगम व तन्त्र ग्रन्थों में 'शिव' को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

पाशुपतों के अनुसार पदार्थ पाँच हैं- कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त। जिसमें स्वतन्त्र शक्ति न हो वह कार्य है। कार्य तीन प्रकार के हैं

विद्या, अविद्या, तथा पशु अर्थात् जीव। पशु का गुण विद्या है जो दो प्रकार की है यथा -बोधस्वभावा तथा अबोधस्वभावा। बोधस्वभावा विद्या पुनः व्यक्त और अव्यक्त भेद से दो प्रकार की है। अबोध-स्वभावा विद्या भी धर्म और अधर्म-दो प्रकार की है। जीव या पशु के दो प्रकार हैं-मलवद्ध तथा निर्मल। शैव सिद्धान्त मत में जीव तीन प्रकार के बतलाये गये हैं —विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल; इनके अवान्तर और भी अनेक प्रभेद हैं। मलवद्ध जीव शरीर एवं कलाओं से आवद्ध हैं। कला स्वयं अचेतन होते हुए चेतन जीव के अधीन है, कलाएं प्रमुखतः दो प्रकार की हैं—कार्यरूप अर्थात् पृथ्वी, जल आदि पाँच तत्व एवं पाँच उनके गुण, तथा कारणरूपा कला जो तेरह प्रकार की है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकार। निर्मल जीव इन मलों से युक्त नहीं होते। (काश्मीर शैव मत की दृष्टि में मुक्त जीव तीन प्रकार के होते हैं—परमुक्त, अपरमुक्त तथा जीवन्मुक्त)। शैव सिद्धान्त मत में कारण, जो पाशुपत मत का द्वितीय पदार्थ है, को 'पति', कहा गया है। पति का आशय ज्ञान एवं क्रिया की निरतिशय शक्तियों से सम्पन्न होता है। पति अर्थात् शिव ही समस्त के सृष्टि, स्थिति तथा संहारकर्ता हैं। यह कारण या शिव तत्व तीन प्रकार का है, यथा-निष्कल ,सकल, तथा निष्कल-सकल। ये तीन प्रकार भौतिक प्रकारों के सदृश नहीं हैं, वरन् ये एक ही तत्व के तीन अवस्थाभेद हैं। 'वातुल तन्त्र' में शिव का भेद निम्न प्रकार से किया गया है, यथा-तत्व भेद, वर्ण-भेद, वर्ग-भेद, मन्त्र-भेद, प्रणव-भेद, ब्रह्म-भेद, अंग-भेद, मन्त्र जात, कील आदि। वहीं अन्यत्र शिव के सुब्रह्मण्य शिव, परम शिव, सदाशिव, तथा महेश-इस प्रकार भी भेद किये गये हैं। पाशुपत मत में तृतीय पदार्थ 'योग' है जिसका आशय है जीव का चित्त के द्वारा परम शिव से सम्बन्ध जोड़ने वाला साधन। यहाँ यह संकेत करना समीचीन होगा कि पाशुपतमत-प्रोक्त योग पातञ्जल योग के अर्थ से भिन्नता रखता है। पतञ्जलि के अनुसार चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है. जब कि पाशुपत सूत्रों के अनुसार चिन्तन, चिन्तन का विषय तथा चिन्तन के उद्देश्य का पूर्णज्ञान योग है। योग दो प्रकार का बतलाया गया है, यथा क्रिया-प्रधान योग तथा क्रिया-हीन योग। प्रथम प्रकार के योग में मन्त्र--जप व ध्यानादि को रखा गया है, तथा द्वितीय प्रकार के योग में शिव की भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति की प्रधानता है। चतुर्थ पदार्थ 'विधि', है जिससे मानव को परमलक्ष्य की प्राप्ति होती है। यह प्रधान और गौण भेद से दो प्रकार की है। प्रथम विधि साक्षात् धर्म का कारण होती है। यह भी व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार की है। भस्म—स्नान, भस्म—शयन, उपहार, जप एवं प्रदक्षिणा—व्रत कहलाते है तथा हसित, गीत, नृत्य, हुडुकार, नमस्कार तथा जप उपहार कहलाते हैं। इस प्रधान विधि को 'चर्या' भी कहते हैं। द्वार अथवा चर्या छः हैं, यथा—क्राथन, स्पन्दन, शृंगारण, अवितत्-करण और अवितद्भाषण। चर्या की सहायक विधिको गौण विधि के नाम से जाना जाता है। गौणविधि के अन्तर्गत भिक्षान्न व उच्छिष्ट भोजन से उत्पन्न अपवित्रता-निवारण-हेतु भस्म-स्नान तथा भगवान् शिव की प्रतिमा पर समर्पित किये हुए निर्माल्यादि को धारण करना रखा गया है। अन्तिम पदार्थ 'दुःखान्त' है। यही मोक्ष है। यह दो प्रकार का होता है—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक दुःखान्त में समस्त दुःखों को आत्यन्तिक निवृत्ति तथा सात्मक दुःखान्त में ज्ञान एवं क्रिया की शक्ति से युक्त परमैश्वर्यादि की प्राप्ति होती है। ज्ञान शक्ति—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान व सर्वज्ञत्व—पाँच प्रकार की तथा क्रिया शक्ति—मनोजनित्व, कामरूपित्व व विकरण—धर्मित्व नामक तीन प्रकार की होती है।

पाशुपत सूत्र (२.६) के अनुसार मानव को कर्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं है, क्योंकि शिव की संकल्पशक्ति सर्वशक्तिमान् तथा असीम होने के कारण वह स्वेच्छा-नुसार जगत् तथा मानव के प्रारब्ध में परिवर्तन करने में समर्थ है, इसके लिए वह मानव कर्म पर निर्भर नही है। शिव अपने संकल्प से कोई भी कर्म उत्पन्न कर

सकता है। वह सदा स्वतन्त्र है। अतः यहाँ कर्म-सिद्धान्त व्याख्या नहीं पा सकता। शैव दर्शन पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि जहाँ पाशुपतों को पाँच पदार्थ मान्य हैं, वहाँ शैवसिद्धान्तमतावलम्वी मात्र तीन पदार्थों (पति, पशु, तथा पाश) को ही स्वीकार करते हैं। अन्यत्र आगम ग्रन्थ (जैसे पौषकरागम) में छः पदार्थों (पति, कुण्डलिनी, माया, पशु, पाश तथा कारक) का उल्लेख मिलता है। कापालिक और कालामुख सम्प्रदायों में मोक्ष प्राप्ति-हेतु छः मुद्राओं का प्रचलन है, यथा-कण्ठिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत। ये मद्य, मृत व्यक्ति का मांस आदि का खुलकर सेवन करते हैं तथा 'भैरव' को, जो भगवान् शिव के ही पाँचवे अवतार माने जाते हैं, अपना इष्ट मानते हैं। इनके दार्शनिक निहितार्थ प्रायः अप्राप्य हैं। प्रस्तुत प्रसंग में 'लिंगायत' या वीर शैव सम्प्रदाय का भी अति संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक प्रतीत होता है। अन्य शैवों के समान वीर शैव भी 'शिव' को ही परम तत्त्व मानते हैं, तथापि उन्होंने इस सच्चिदानन्द, अद्वितीय परम तत्त्व को 'स्थल' की संज्ञा से भी अभिहित किया है। यह 'स्थल' का शिवतत्त्व अपनी ही शक्ति के क्षोभ से उत्पन्न होने के कारण लिंगस्थल (उपास्य) तथा अंगस्थल (उपासक) दो रूपों में विभक्त हो जाता है। लिंगस्थल पुनः तीन प्रकार का है, भावलिंग, प्राणलिंग तथा इष्टलिंग। इसी प्रकार अंगस्थल के भी तीन भेद हैं–योगांग, भोगांग, तथा त्यागांग। लिंगायत मत में शिव को 'स्थल' सम्भवतः इसलिए कहा गया है क्योंकि यही समग्र चराचर जगत् का आधार है, समस्त शक्तियों, प्रकाशों एवं आत्माओं को धारण करता है, समस्त प्राणियों, समस्त लोकों, तथा समस्त वस्तुओं को धारण करता है तथा यही मानव का परम लक्ष्य है।

यदि हम शैव दर्शन के सृष्टिमीमांसा सम्बन्धी विचारों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होगा कि शैवमत (दक्षिणी शैव) में शिव मलों के प्रकाशन हेतु पुनः सृष्टि करता है। यह जगत् असत्य या प्रातिभासिक नहीं है, क्योंकि यह शक्ति-सम्पन्न शिव का ही कार्य है। वह शक्ति विकारात्मक होने के कारण उपादान कारण नहीं मानी जा सकती। एक स्थान पर विशुद्ध चैतन्य शिव तत्त्व है तथा द्वितीय स्थान पर जड़तत्त्व है तथा इन दोनों का मध्यस्थल शक्ति का प्रांगण है। शक्ति शिव का ही एक अत्यन्त सूक्ष्म व्यक्त तत्त्व है जो स्थूल एवं सूक्ष्म, भौतिक एवं पराभौतिक, शब्द एवं भाव के मध्य एक कड़ी है। 'वातुल तन्त्र' के अनुसार शक्ति परमेश्वर का संकल्प ही है, यही विन्दु कहलाती है तथा शक्ति से ही नाद उत्पन्न होता है जो समस्त वाणी का स्रोत है। पौषकरागम में शक्ति को विशुद्ध माया अथवा जगत् माया भी कहा गया है। यही समस्त कर्मों का कोष है। द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागम दर्शन के अनुसार शिव, शक्ति तथा बिन्दु नामक तीन तत्त्व हैं; प्रथम दो तत्त्व चित्स्वभाव है, जबकि बिन्दु अचिद्रूप है। शक्ति जो शिव में नित्य समवेत रहती है, सृष्टि की पूर्वावस्था में निष्क्रिय रूप से रहती है, जो शिव की निष्कलावस्था कहलाती है, किन्तु जब इसमें सक्रियता होती है उसी क्षण बिन्दु में भी क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। सक्रिय होने हेतु शक्ति शिव के संकल्प स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है। बिन्दु या महामाया में क्षोभ उत्पन्न होने पर ही सृष्टि का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम भास्कर से निःसृत रश्मियों के सदृश बिन्दु से कलाएं उद्भूत होती हैं अथवा यों कहना चाहिए कि समस्त कलाओं के समष्टि रूप को विन्दु कहते हैं। विन्दु के सर्वाधिक सामीप्य की दृष्टि से प्रथम कला शान्त्यतीत कला है, इसके नीचे अथवा इससे दूर क्रमशः शान्ति-कला, विद्या-कला, प्रतिष्ठा-कला एवं निवृत्ति-कलाएँ हैं। अन्तिम तीन कलाएँ माया के अन्तर्गत हैं तथा प्रथम दो कलाएँ बिन्दु के अन्तर्गत। विन्दु की अव्यक्त अवस्था सृष्टि की पूर्वावस्था है, बिन्दु की क्षोभोन्मुख अवस्था सृष्टि की गर्भावस्था तथा बिन्दु की प्रचण्ड वेगयुक्त सक्रियता सृष्टि की प्रसवावस्था है। यहाँ पर संकेत करना भी समीचीन होगा कि शैव दर्शन में विश्व का विश्लेषण सांख्य-प्रोक्त पच्चीस तत्त्वों में न होकर छत्तीस तत्त्वों में किया जाता है।

पाशुपत शैव दृष्टि में जीव की अन्तिम नियति

शिव का सान्निध्य है, जहाँ से वह आवागमन के विकराल चक्र से मुक्त हो जाता है। सात्मक दुःखान्त, जो ज्ञान और शक्ति से मुक्त परम ऐश्वर्य की प्राप्ति है, के स्थान पर अन्य मतों में शिवपद की प्राप्ति, अद्‌भुत शक्तियों की प्राप्ति, को मानव की अन्तिम नियति माना गया है। इस सन्दर्भ में आधुनिक समालोचक महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने लिखा है कि "जो जीव चिदात्मक अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति और माया से पृथक् रूप में कैवल्यदशा में स्थित होते हैं उनका जन्म मृत्यु के चक्र से उद्धार होता है सही, किन्तु अपने भीतर स्थिर शिवत्व का अनुभव उन्हें प्राप्त नहीं होता क्योंकि इन जीवों को आणव मल कटता नहीं।.........किन्तु जो जीव पक्वमलावस्था को प्राप्त होते हैं और विवेकज्ञान से माया के पार हो जाते हैं, वे नूतन सृष्टि के आरम्भ में श्रीभगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त करते हैं। इस विशेष अनुग्रह के प्रभाव से उनका आणव मल ध्वस्त हो जाता है एवं उनमें से जो अव्यवहित अनन्तरक्षण में शिव-साम्य प्राप्त नहीं कर सकते, वे लोग अपनी वासना के कारण दो अवस्थाओं में से किसी एक को प्राप्त हैं। कोई-कोई ऐश्वर्य की वासना से युक्त होने के कारण ईश्वर पद पर प्रतिष्ठित होते हैं—ये परमेश्वर के स्थानापन्न पंच-कृत्यकारी महापुरूष हैं। ये पूर्ण शिवत्व प्राप्त न करने पर भी अधिकारी शिवरूप गिने जाते हैं। इनमें से कोई अधिकारी या कर्ता का रूप धारण कर गुरु और ईश्वर का कार्य करते हैं और दूसरे कोई गुरु और ईश्वर के आज्ञावर्ती होकर जीवन के अनुग्रह कार्य में 'करण' का कार्य करते हैं। ....किन्तु जो जीव अधिकार-वासना से आच्छन्न नहीं रहते, वे जबर्दस्ती श्रीभगवान् द्वारा जगत् के व्यापार में प्रेरित नहीं होते। ये शुद्ध परमानन्द भोगवासनाविशिष्ट रहते हैं, अतः भगवान् उनके लिए उसी तरह के परमानन्द भोग की व्यवस्था करते हैं। ये मायिक जगत् की ओर विमुख होकर आत्मविश्रान्ति ग्रहणकर अखण्ड परमानन्द का आस्वादन करते हैं। पर आनन्द-रस अनन्त, अपार और असंख्य प्रकार का है। जिसकी वासना जिस प्रकार की होती है उसे स्वभावतः उसी प्रकार का आस्वादन प्राप्त होता है। किन्तु यह आस्वादन भी एक हिसाब से क्षोभमूलक है क्योंकि चित्‌शक्ति की क्रियोन्मेष-अवस्था में अक्षुब्ध बिन्दु जब क्षोभ की ओर उन्मुख होता है तभी इस प्रकार का आस्वादन हो सकता है। यह भी एक प्रकार की भोगवासना है, यह माया के अतीत, यहाँ तक कि अधिकार भूमि के भी अतीत है, फिर भी यह वासना ही है।" (तान्त्रिक वाङ्‌मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १३०-१३१) अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागम—प्रोक्त मानव की अन्तिम नियति वस्तुतः जीव की लयावस्था नहीं है।

जिस परम तत्व को शैवमतानुयायी 'परम शिव' कहते है, शाक्त मतावलम्बियों ने उसे 'परम शक्ति' की संज्ञा से अभिहित किया है, तथापि परमतत्व सम्बन्धी दोनों ही स्थलों पर किंचित् व्याख्यात्मक भेद हैं। स्वातंत्र्यमयी परम चितिशक्ति परम शिव के साथ अभिन्न होकर जब सामरस्यावस्था में होती है, तब शैव इसे 'शिव' तथा शाक्त 'शक्ति' के नाम से पुकारते हैं। इसमें प्रकाशात्मक शिव के साथ विमर्श का तादात्म्य है, किन्तु शक्तिहीन प्रकाश स्वातन्त्र्य के अभाव में परम शिव नहीं कहा जा सकता।...इसके अतिरिक्त शाक्तागमों में परम प्रकाश को प्रायः निष्क्रिय नहीं कहा गया है। चूंकि परम शिव शक्ति से रहित होने पर कुछ भी नहीं कर सकता, शक्ति सम्पन्न होने पर ही वह सामर्थ्यवान् होता है, सम्भवतः इसी कारण शाक्त लोगों ने शक्ति की परमता को स्वीकार किया है। इसी परम शक्ति को तन्त्र ग्रन्थों में 'संवित्', 'भगवती, महात्रिपुर-सुन्दरी' तथा 'अनुत्तर तत्त्व' आदि नामों से पुकारा गया है। भक्तगण उसकी उपासना अधिकांशतः मातृ रूप में करते हैं। अपनी-अपनी रुचि एवं वासना के कारण उसी परम शक्ति के अनेक रूपों की कल्पना तथा तदनुसार फल प्राप्त करते हैं। आनन्द लहरी (पृष्ठ २४) में तो यहां तक कह दिया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपने-अपने कार्य, क्रमशः उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार, शक्ति के आदेश से ही करते हैं।

यह परमशक्ति ही 'परावाक्' भी कहलाती है, जो कि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों की मूल है। कहीं-कहीं पराशक्ति की 'सप्तदशी कला' या अमृत कला' भी कहा गया है। इसी से अवान्तर अन्तः-करणादि सोलह कलाएं उद्भूत होती हैं। यह परम तत्त्व सैंतीसवां तत्त्व है। जबकि शैवमत में छत्तीस तत्त्वों का वर्णन है। यही परमशक्ति समग्र विश्व का मूल, उपादान-निमित्तकारणस्वरूप, अखण्ड, निर्विकार, ह्रास व वृद्धिरहित, अनादि, अनन्त, स्वप्रकाश, चैत्यानन्दस्वरूप, स्वातन्त्र्यरूपा आदि है। इसी परमशक्ति से निःसृत परस्पर विरोधी स्वभाव वाली दो शक्तियों का खेल यह समग्र विश्व है। ये दोनों शक्तियां अपनी व्यक्तावस्था में 'अग्नि' और 'सोम' नाम से जानी जाती है। ये क्रमशः संहार, ताप, दुःख, मृत्यु, भेदक आदि तथा आनन्द, सृष्टि, अमृत, शीतलता, संयोजक की बोधक हैं। इनकी साम्यावस्था को 'सूर्य' या 'काम', तथा व्यक्तावस्था को अग्निकला व चन्द्रकला के नाम से जाना जाता है। अग्नि के प्रभाव से सोम का क्षरण ही सृष्टि का उन्मेष बतलाया गया है। महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "अग्नि तथा सोम के संसर्ग से सोम के प्राधान्यानुसार सृष्टि होती है तथा अग्नि के प्राधान्यानुसार संहार होता है।" (वही पृष्ठ १३४) इसमें अग्नि शिवांश तथा सोम शक्त्यंश है तथा दोनों की सामरस्यावस्था 'बिन्दु' कहलाती है। इस बिन्दु में क्षोभ उत्पन्न होने से ही कला का उद्भव होता है। संक्षेप में, समस्त विश्व भगवती की ही लीला है। अज्ञानी पुरुष विश्व रूप अनन्त आकारों का दर्शन करते हैं तथा ज्ञानी पुरुष सर्वत्र शक्ति का ही दर्शन करते हैं। जीव उन्हीं की माया से मोहित होकर उन्हें पहचान नहीं पाते। इसका कारण है शक्ति का अपने ही स्वरूप को आधार बना कर लीला करना। आनन्दातीत अवस्था की प्राप्ति ही मानव का परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति हेतु यद्यपि हर व्यक्ति शक्य तो है तथापि शाक्तमत का अवलम्बन करके वही व्यक्ति आरोहण कर सकता है, जिसने आगम ग्रन्थों के रहस्य को जान लिया हो, जो समस्त जागतिक विषयों के प्रति अनासक्त हो तथा जिसका चित्त लोभ, मोह, मद, क्रोध, रागद्वेष व माया से निर्लिप्त हो। शाक्त मत में अधिकारी हेतु कठिनतम नियमों का विधान मिलता है। दार्शनिक विवेचन के अतिरिक्त शाक्त आगमों में अनेक प्रकार की शक्तियों की साधनाएं, यन्त्रों, मन्त्रों, तथा अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है, जिनका रहस्य अत्यन्त गुह्य है जिनका, अनावरण कोई महायोगी ही कर सकता है। उदाहरणार्थ-श्रीचक्र, जिसकी पूजा पूर्व कौल साधकगण करते हैं, का आध्यात्मिक निहितार्थ अत्यन्त गूढ़ है, इसी प्रकार उत्तर कौल श्रीचक्र के चित्रादि के स्थान पर साक्षात् सुन्दर जीवित स्त्री की योनि की पूजा करते हैं। पंच-मकार का भौतिक सेवन करते हैं जबकि कुछ तान्त्रिकों के अनुसार इनके आध्यात्मिक रहस्य कुछ और ही हैं। कुछ भी हो, आज के वैज्ञानिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि शाक्तमत विज्ञान-सम्मत है, क्योंकि विज्ञान और शाक्तमत दोनों ही शक्ति (ऊर्जा) की सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त भारत में गाणपत्य, स्कन्द-कार्तिकेय तथा सौर सम्प्रदायों का भी प्रचलन है जो क्रमशः गणपति, स्कन्द कार्तिकेय (सम्भवतः पार्वती-पुत्र ही) तथा सूर्य को अपना इष्ट मानते हैं। डा० आर० जी० भण्डारकर महोदय सूर्य-पूजा को पारस्य देश से भारतवर्ष में आया मानते हैं।

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार यदि शंकर का निरपेक्ष ब्रह्म, जो नियमनिष्ठ एवं गतिशून्य है और जो कोई प्रेरणा नहीं दे सकता, न तो हमें प्रभावित ही कर सकता है और न हमारी पूजा व भक्ति का विषय ही हो सकता है"(भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ६६१) तथा उपयुक्त आगम सम्प्रदायों का परमतत्व (विष्णु, शिव या परमशक्ति आदि) मानव की धार्मिक आवश्यकता को तृप्त करता है, तो निस्सन्देह उपर्युक्त सम्प्रदायों के अनुसार मानव का परमलक्ष्य भोग ही ठहरता है। चाहे यह भाग कितना ही निर्मल

क्यों न हो, है तो भोग ही। भक्ति कभी भोगरहित नहीं हो सकती, भले ही भक्ति की चरम परिणति निवृत्ति ही क्यों न हो। यह अन्तिम परिणति वह स्थिति है जहाँ भक्ति अपना स्वरूप त्याग देती है। निवृत्तिपरक मार्ग ज्ञानप्रधान है, इसमें भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। भक्ति प्रवृतिपरक मार्ग है और दूसरी ओर हम देखते हैं कि तन्त्र भी प्रवृतिपरक मार्ग का अनुसरण करते हैं। यह प्रवृतिपरक मार्ग भी अन्त में निवृत्ति में परिणत हो जाता है, किन्तु यह स्थिति तत्त्वातीत अवस्था से पूर्व उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि समस्त भक्तिवाद तान्त्रिक प्रवृति-मार्ग से ही प्रेरित है।

फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि तन्त्र मानवस्वभावानुकूल होते हुए भी "वहुजन हिताय, वहुजनसुखाय" के आदर्श को साकार न कर सका! इसका कारण इसकी गोपनीय प्रकृति ही थी, जब कि वैष्णव व शैवादि धर्माचार्यों ने धर्म को संस्थावद्ध करके उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु प्रयास किया तथा शुष्क तर्कजाल में फँसी अशान्त मानवबुद्धि को विश्रान्ति की राह सुझाई।

— अवैतनिक प्राध्यापक
दर्शनशास्त्र विभाग
आगरा कालेज, आगरा

वर्त्तमान संदर्भ में बौद्धदर्शन के जीवन्त तत्त्व

□ प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

बौद्ध धर्म के जीवन्त तत्त्व तथा उसकी आधुनिक प्रसंग में उपयोगिता पर विचार करने के पूर्व, विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से उसका द्विधा विभाजन कर लेना अधिक अनुकूल होगा। एक, जीवन का क्षेत्र जिसके प्रधान घटक तत्त्व हैं धर्म, समाज एवं संस्कृति; दूसरा, स्वयं दार्शनिक समस्याओं का क्षेत्र, जिसके घटक हैं मानव-मूल्यों का निर्धारण, प्रमाण-मीमांसा, दार्शनिक चिन्तन के अवरोधों का निराकरण आदि। बौद्धिकता के अतिरेक से बचने के लिए पहले जीवन के प्रसंग में बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता एवं उपयोगिता का मूल्यांकन किया जाना चाहिए, उसके पश्चात्, उसके गहरे एवं व्यापक तथा स्थायी प्रभावों पर विचार किया जाना चाहिए। यह प्रक्रिया भगवान् बुद्ध की दार्शनिक प्रेरणाओं के सर्वथा अनुकूल होगी, क्योंकि वे जीवन की समस्याओं से चलकर दर्शन की खोज पर पहुँचे थे।

१—समस्या और उसकी सीमा

यह सत्य है कि किसी भी नये जीवन-दर्शन का उद्गम या विकास करना प्राचीन ऐतिहासिक उपलब्धियों से नितान्त कट कर एक मात्र शून्य में सम्भव नहीं हो सकता। साथ ही, यह भी सत्य है कि कोई भी प्राचीन विचार या आचार अपने काल में तर्क एवं व्यावहारिक दृष्टि से चाहे कितना भी सुसंगत एवं सुसम्पन्न क्यों न हो, जीवन के आधुनिक सन्दर्भ में उसे यथावत् लागू नहीं किया जा सकता। प्राचीन धर्म और दर्शन होने के कारण बौद्ध-धर्म और दर्शन भी इन सीमाओं से मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु, यह कहना असंगत नहीं होगा कि वर्त्तमान मानवीय समस्याओं के बीच और विशेष कर भारतीय सन्दर्भ में, सभी अन्य धर्मों और दर्शनों की अपेक्षा बौद्ध धर्म और दर्शन के पास अधिक समाधान-कारक जीवन्त तत्त्व हैं और अत्याधुनिक समस्याओं के समाधान में ऐसे तत्त्वों की सक्षम उपयोगिता भी है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये बौद्ध तत्त्व-ज्ञान के स्वभाव और उसकी ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिणतियों पर विशेष ध्यान देना होगा।

२—नये जीवन–दर्शन का उद्गम और धर्म से उसका सम्बन्ध

धर्म को अपनी रूढ़ियों से मुक्त होने के लिये एक दिशा-निर्देशक सशक्त दर्शन चाहिए, जो परिस्थितियों की जड़ता से अपने को मुक्त रखकर नये परिवर्त्तनों के लिये मार्ग दे सके। यद्यपि प्राचीन युग का होने के कारण अन्य भारतीय दर्शनों की ही भाँति धर्म से दर्शन को अलग करना कठिन होगा, किन्तु यह स्थिति बौद्ध विचार-परम्परा के साथ लागू नहीं है। यही कारण है कि बौद्धों का दर्शन धर्म से कहीं अधिक सशक्त एवं दिशा-निर्देशक रहा है।

(क) बुद्ध ने प्रारम्भ में ही शील और समाधि से सम्यक् ज्ञान को अलग कर धर्म से दार्शनिक चिन्तन को अलग कर दिया। इसके फलस्वरूप बौद्ध परम्परा के ऐतिहासिक विकास के क्रम में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि जब दार्शनिक चिन्तन में परिवर्त्तन हुआ, उसके अनुपात में या तो धर्म में मौलिक परिवर्त्तन किये गये या जीवन के नये संदर्भ में उसकी नयी व्याख्या की गई। मोटे तौर से इस परिवर्त्तन को थेरवाद से महासांघिक, उससे हीनयान (वैभाषिक सौत्रान्तिक) तथा

उससे महायान (शून्यवाद, विज्ञानवाद) आदि के प्रादुर्भाव में तथा परवर्ती अनेक यानों के विकास में देखा जा सकता है।

(ख) बौद्धों में आचरण (शील एवं समाधि) और दर्शन (प्रज्ञा) में दर्शन की प्रधानता दी गई है, किन्तु व्यावहारिकता से दूर रहकर दर्शन केवल बौद्धिक न हो जाय, इसके लिये दोनों को परस्परापेक्षी बताया गया। इन दोनों के संतुलित विकास के लिये जिस दिशा-निर्देशक प्रक्रिया को बुद्ध ने अंगीकार किया, वह है—'मध्यम मार्ग'।

(ग) धर्म-दर्शन के क्षेत्र में मध्यम-मार्ग एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसने बौद्ध इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये (१) सभी स्थितियों में वह बौद्ध जीवन और दर्शन को अन्य परम्परावादी दर्शनों से अलग करता रहा है और (२) नयी आख्या के आधार पर उसने बौद्धों में भी नयी परिस्थितियों के अनुकूल नये आचार एवं विचारों को जन्म दिया है।

(घ) आधुनिक सन्दर्भ में भी मध्यम-मार्ग से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, एक यह कि मध्यम-मार्ग वर्त्तमान धार्मिक जीवन और तत्त्व-चिन्तन की परीक्षा के लिये अव्याहत अवसर देता है जिससे बौद्धिकता के आधार पर आचरणों की तथा आचरणों के आधार पर बौद्धिकता की परीक्षा की जा सके।

(ङ) दूसरा यह है कि मध्यम-मार्ग शाश्वतवाद (यथा-स्थितिवाद एवं नित्यता का सिद्धान्त) और उच्छेदवाद (भौतिकतावाद) का विरोधी है। अपने विश्लेषण की प्रक्रिया से वह प्रचलित वादों एवं जीवन-पद्धतियों का वर्गीकरण करता है, और दोनों की आलोचना के आधार पर उसकी असंगतियों को स्पष्ट कर, नये जीवन-दर्शन के विकास के लिये अवसर प्रदान करता है। मध्यम मार्ग द्वारा आधुनिक विश्व में व्याप्त उन सभी वादों और जीवन पद्धतियों का विश्लेषण कर उन्हें प्रभावहीन बनाया जा सकता है, जिसमें मानवीय समस्यायें उलझी पड़ी हैं।

३—बौद्ध धर्म और धर्म–निरपेक्षता की समस्या

प्राचीन धर्मों की अनुदारता एवं संकुचितता की प्रतिक्रिया, में परवर्ती युग में, एक प्रकृष्ट जीवनादर्श के रूप में धर्म-निरपेक्षता का जन्म हुआ है। प्राचीनता और व्यापकता की दृष्टि से बौद्ध-धर्म अनेक धर्मों से अधिक प्राचीन, व्यापक एवं प्रभावशाली रहा है। इस स्थिति में प्रश्न उठता है कि धर्म-निरपेक्षता के सन्दर्भ में उसकी क्या देन होगी।

बौद्ध सन्दर्भ में इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही आशाप्रद होना चाहिए, क्योंकि बौद्ध जीवन और तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में कुछ ऐसा तात्त्विक विकास हुआ है, जिसका विश्लेषण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि धर्म-निरपेक्षता बौद्ध धर्म की एक स्वाभाविक परिणति है। इसे बौद्ध धर्म के देशों और विदेशों में विकास में देखा जा सकता है। इसकी स्पष्टता के लिये निम्नलिखित कुछ मुद्दों पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

(क) अन्य धर्मों की अपेक्षा बौद्ध-धर्म के घटक उपादानों में विश्वास-लब्ध मान्यतायें बहुत ही कम हैं। किसी भी जीवन-परम्परा को धर्म होने के लिये ईश्वर, आत्मा की सत्ता तथा शब्द एवं शास्त्र का प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक होता है, जबकि बौद्धों को इनमें से एक भी मान्य नहीं हुआ। ब्राह्मण-धर्म के सन्दर्भ में उपर्युक्त मान्यताओं के अतिरिक्त चातुर्वर्ण्य-अवस्था तथा ज्योतिषशास्त्राधारित भाग्यवाद भी आवश्यक है, किन्तु इन दोनों को भी बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया।

(ख) बौद्धों में पुनर्जन्मवाद ही एक-मात्र ऐसा विश्वास है, जो उसे अन्य-धर्मों के साथ आंशिक समानता प्रदान करता है। किन्तु, यह मान्यता भी उसे अन्य धर्मों के साथ तादात्म्य स्थापित करने नहीं देती क्योंकि, अन्य धर्मों में पुनर्जन्म की कल्पना ईश्वर, आत्मा तथा सत्ता के सम्बन्ध में नित्यता एवं स्थिरता के सिद्धान्त के बिना सम्भव नहीं होती, जबकि ठीक इसके विपरीत, बौद्ध अनीश्वरवादी, अनात्मवादी एवं क्षणिकवादी हैं। इस स्थिति में उनका पुनर्जन्मवाद धर्म-निरपेक्षता एवं तार्किकता की ओर बढ़ने लगता है।

(ग) उपर्युक्त सारी मान्यताओं के स्वीकार न करने

के बावजूद, गुरुवाद एवं प्रामाण्यवाद के आधार पर इतिहास में धार्मिक सम्प्रदाय खड़े होते रहे हैं, जिसे संक्षेप में 'धर्मवाद' कहा जा सकता है। उसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण स्वयं बौद्ध धर्म है। इतिहास साक्षी है कि ऐसे धर्म भी रूढ़िवाद से अपने को अलग नहीं कर पाये। इस बात में बहुत कुछ तथ्य है और यह मानने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि बौद्ध धर्म की यह ऐतिहासिक दुर्बलता थी, जबकि बुद्ध ने आश्चर्यंकर रूप में इसके विरोध में ऐसे सिद्धान्तों को स्थापित किया था, जिनकी परिणति बौद्धों में इस प्रकार की नहीं होनी चाहिए थी। इस सम्बन्ध में बुद्ध की निम्नलिखित स्थापनायें सदा ही धर्म की सीमाओं को तोड़ती रही हैं और आज भी धर्म-निरपेक्षता को प्रोत्साहित करेंगी, जैसे –(१) उनके द्वारा अपने सम्बन्ध में सर्वज्ञता या लोकोत्तरता का खण्डन करना। (२) स्वीकार करने के पहले बुद्ध-वचनों की विविध प्रकार से परीक्षा कर लेने का आग्रह। (३) अपने को अनुयायियों का गुरु नहीं प्रत्युत मित्र ('कल्याण-मित्र') होने की स्वीकृति देना। (४) बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म केवल सांसारिक दुःखों से पार करने के लिये है, उसका बोझ सिर पर ढोने के लिये नहीं। (५) धर्म का उद्गम-स्रोत व्यवहार और स्वानुभव है; परम्परा, शास्त्र या ईश्वर, महेश्वरादि नहीं।

(घ) इस प्रकार बौद्ध-धर्म के इतिहास से धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वयं ही पुष्ट होने लगता है। सम्राट् अशोक और कनिष्क की राज्य-व्यवस्था में इसे देखा जा सकता है, जब ये अपने दण्ड-विधान एवं राज्य व्यवस्था में धर्म के हस्तक्षेप को समाप्त कर देते हैं और सभी धर्मों के सन्दर्भ में सहिष्णुता की एक विशेष-दृष्टि को प्रोत्साहित करते हैं। धर्म-निरपेक्षता का यह स्वरूप तब और भी निखरता है जब बौद्ध धर्म का विदेशों में बाहरी धर्मों और आचार-विचारों से सम्पर्क होता है और कहीं भी किसी स्तर का वैमनस्य परिलक्षित नहीं होता।

४—परिवर्तन के सांस्कृतिक पक्ष की प्रासंगिकता

धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की दृष्टि से जिन देशों के इतिहास अतिप्राचीन हैं, उनमें सीधे सामाजिक परिवर्तन द्वारा सामाजिक न्याय दिलाना बहुत ही कठिन है। ऐसे देशों में, सांस्कृतिक अवधारणाओं में परिर्वतन के बिना सामाजिक परिवर्तन की बात करना, एक सीमा के बाद, अर्थहीन हो जाता है। सांस्कृतिक परिवर्तन के क्षेत्र में स्वयं बुद्ध और उनके अनुयायियों ने अपने देश और विदेश में जो प्रयोग किये, वे मानवीय इतिहास में अप्रतिम सिद्ध हुए। उन प्रयोगों का भारतीय सन्दर्भ में पुनः विश्लेषण करना तब और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जबकि तत्कालीन वे सभी समस्यायें कुछ परिवर्तन के साथ भारतीय जीवन में आज तक जीवित हैं, जिनके विरोध में बुद्ध ने प्रयोग किया था और उन्हें आश्चर्यंकर रूप से बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई थी।

(क) बुद्ध के उक्त प्रयोगों की दिशा का आकलन उनके निम्नलिखित कार्यों से किया जा सकता है। जैसे–(१) सृष्टि के सन्दर्भ में मनुष्य का नवीन मूल्यांकन (२) बहुजन के हित एवं सुख को धार्मिक जीवन का उद्देश्य निर्धारित करना, (३) विशिष्ट संस्कृति की जगह लोक-संस्कृति की स्थापना के लिये अपेक्षित भाषाओं, जातियों और उनके विभिन्न वर्गों को समाज में अग्रस्थान दिलाना। उनके ये सभी कार्य एक ऐसी संस्कृति के विरोध में खड़े हुए थे, जिसका अकाट्य प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों में वर्तमान था। इसके लिए उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ, जैसे धार्मिक कर्मकाण्डों तक, का विरोध करना पड़ा जिसके धार्मिक आवरण में चक्रवर्ती राजाओं का साम्राज्य और पुरोहितों की श्रेष्ठता एवं सम्पन्नता सुरक्षित थी। सामान्य एवं उपेक्षित जनता को न्याय दिलाने में भगवान् बुद्ध के ये प्रयोग आज हमारा दिशा-निर्देश कर रहे हैं।

(ख) सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा में बुद्ध के उक्त प्रयोग जैसे महत्त्वपूर्ण हैं, उससे भी

अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उन्होंने इसके लिये अहिंसा को माध्यम बनाकर, उसे सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए एक शक्ति के रूप में विकसित किया। इस प्रयोग–कौशल को स्वदेश में ही नहीं, विदेशों तक में सफलता मिली। अहिंसा की यह विजय सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों की दिशा में हमें अन्यान्य प्रयोगों के लिये अवसर देती है।

(ग) परिवर्तन की दिशा में भक्ति का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसे सबसे अधिक उजागर किया भगवान् बुद्ध ने। इसके लिये उन्होंने एक ओर व्यक्ति के चित्त के परिष्कार का वैज्ञानिक मार्ग प्रस्तुत किया और दूसरी ओर उसके जीवन के समक्ष एक नया आदर्श उपस्थापित किया, 'निर्वाण'। निर्वाण से जीवन को लोक-परायण बनाने में जो उन्हें सफलता मिली, वह आज के सन्दर्भ में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

(घ) आज के सन्दर्भ में जब सांस्कृतिक परिवर्तन की बात उठाई जाती है, तो 'आधुनिकता' परिवर्तन-वाद के रूप में आकर खड़ी हो जाती है। वास्तव में, परिवर्तन का यह छद्मवेश है। आधुनिकता के माध्यम से नयी भाषा, नयी वेश-भूषा, नये भाव और शिष्टाचार के नये प्रकार जब सामने आते हैं, तब परिवर्तन का भ्रम पैदा होने लगता है। वास्तव में, उनके द्वारा प्राचीन विशिष्टता और आभिजात्य के आदर्शों को ही प्रोत्साहन एवं पोषण मिलता है। भगवान् बुद्ध के परिवर्त्तनवाद का प्रस्थान-बिन्दु मन है, जो व्यक्ति और समाज में परिवर्तन को वास्तविक आधार देता है। इसके आधार पर आज भी समाज-मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया जाना चाहिये।

५—जीवन की व्यापक समस्या : भोग-मोक्ष का द्वन्द्व।

व्यापक मानव-समस्याओं के पीछे परिग्रह और त्याग, अनुराग और वैराग्य, भोग और मोक्ष के बीच असन्तुलन है। इसके आधार पर सम्पूर्ण विश्व में व्यापक एक अन्तर्द्वन्द्व रहा है। इस प्रकार के असन्तुलन की जिम्मेवारी सिर्फ सामन्तवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था के सिर थोपना, समस्या को पूरा न समझना है। धर्मों और दर्शनों की वे मान्यताएँ जिन्होंने इन दोनों की अनुल्लंघनीय कोटियाँ बनाईं और स्वभाव को इन दो कृत्रिम श्रेणियों में विभक्त कर उसे धार्मिकता एवं नैतिकता प्रदान की, वे भी इस व्यापक मानवीय द्वन्द्व के उत्तरदायी हैं। वास्तविकता यह है कि उन्हीं के समर्थन के आधार पर राज्य-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था को समाज में विषमता स्थापित करने का सुविधाजनक मार्ग मिला। यह सत्य है कि इस प्रकार की ऐतिहासिक परिणति में बौद्धों का भी योगदान रहा है, किन्तु इसकी प्रतिक्रिया में जो बौद्धों में महत्त्वपूर्ण आन्दोलन हुए वे इतने जीवन्त एवं सशक्त थे जिनका पुनर्मूल्यांकन आज के सन्दर्भ में होना चाहिये। इस आन्दोलन का सूत्रपात करने वाला आचार्य नागार्जुन जैसा महान् दार्शनिक था; जिसके जीवन के आदर्शों से सन्तुलन स्थापित करने की बौद्ध सिद्धों के काल तक चेष्टा की गयी। तान्त्रिकता इसकी विशेषता है। ऐसे परम्परा-विरोधी आन्दोलनों से उत्पन्न होने वाली असामाजिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके नाम पर भोग-मोक्ष के असन्तुलन को समन्वित करने के ऐतिहासिक प्रयास का महत्त्व कम नहीं होता। आज के सन्दर्भ में उस आन्दोलन की यथावत् पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती और न तो वह आवश्यक ही है। इस जीवित समस्या के समाधान में उस आन्दोलन का पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए।

६—निषेध और रचना के द्वन्द्व का वर्तमान सन्दर्भ

ऐतिहासिक कारणों से निषेध को विध्वंस का एक रूप मानकर, उसके विपरीत रचना को खड़ा किया जाता है। इस प्रकार, रचनावाद के पक्ष में निषेधवाद को अनस्तित्व–वादी एवं मूल्यहीन बनाने की चेष्टा रहती है। इन सारी अवधारणाओं का लाभ विचार या व्यवस्था के क्षेत्र में यथास्थितिवादी प्रवृत्तियों को पुष्ट करने में उठाया जाता है। विचार के क्षेत्र में निषेध वितण्डावाद के रूप में हीन बताया जाता है तथा

विधिवादी स्थापनाओं को सिद्धान्त या दर्शन होने का गौरव प्राप्त होता है। निषेध के अवमूल्यन से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो उल्लेखनीय हानि होती है, उससे व्यापक सन्दर्भ में मानवीय विकास भी रुकता है। इससे धर्म के क्षेत्र में अन्याय के प्रतिकार को महत्त्व न मिलकर यथास्थिति के समर्थन को मिलता है। दर्शन के क्षेत्र में वादों का आग्रह इतना परिपुष्ट हो जाता है कि उसकी आसक्तियों को तोड़ना तो बहुत दूर की बात है, एक सीमा के बाद उसकी आलोचना में प्रखरता तक नहीं रह जाती। इससे एक ओर नये विचारों के उद्‌गम की सम्भावनायें अस्त होने लगती हैं, दूसरी ओर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर और धार्मिक तथा सामाजिक स्तर पर राष्ट्रों, राजनीतिक दलों तथा धार्मिक सम्प्रदायों को सिद्धान्त-वाद की रूढ़ियाँ नवनिर्माण की सारी संभावनायें समाप्त कर देती हैं। इस समस्या के समाधान में निषेध को दार्शनिक महत्त्व देना और उसकी दृष्टि से रचना को प्रतिष्ठित करना एक महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसे बुद्ध और उनके अनुयायियों द्वारा बहुत-कुछ विकसित किया गया है। आधुनिक सन्दर्भ में इस प्रक्रिया का वैज्ञानिक एवं तार्किक विकास किया जा सकता है।

(७) "मनुष्य कहां है" का वर्तमान सन्दर्भ

मनुष्य की सारी समस्याएं उसके अस्तित्व की अवधारणाओं के इर्द-गिर्द घूमती हैं। प्रश्न स्पष्ट है कि उसका अस्तित्व नित्य है या अनित्य, स्वतन्त्र है या पराधीन। प्रश्नों की इन दो कोटियों के बीच में दैशिक, कालिक तथा परिस्थिति-कृत अनेकानेक अन्तराल हैं, जिससे प्रश्न और उत्तर दोनों में बहुविधता आ जाती है। किन्तु, मूल में अस्तित्व की शाश्वतवादी अवधारणा तथा उसका विरोध ही प्रमुख है। इस प्रसंग में इसका ध्यान रखना होगा कि अस्तित्व का विरोध अनस्तित्व अवश्य है, किन्तु अनस्तित्व अस्तित्व को देखने की नई दृष्टि है, जिससे नये अस्तित्वों के उद्‌गम का अवसर मिलता है। वर्तमान सन्दर्भ में मनुष्य कहां है इसका निर्धारण बहुत ही गम्भीर, किन्तु आवश्यक है। भगवान् बुद्ध ने इस दुरूह प्रश्न का उत्तर विश्वासों और परम्पराओं से ऊपर उठकर देने का प्रयास किया था। इस प्रसंग में परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने भी जो प्रयास किया, वह विचार के लिये महत्त्वपूर्ण रूप से दिशा-निर्देश करता है। बौद्धों द्वारा कार्यकारण की स्थापना, उसका खण्डन और पुनः उसका समन्वय जिस प्रकार से किया गया, वह इस प्रश्न के उत्तर में आश्चर्यकर रूप में सहायक होता है। अस्तित्व की इस अवधारणा के आधार पर ही हम नीति, धर्म, संस्कृति के क्षेत्रों के प्रश्नों का सम्यक् समाधान कर सकते हैं।

अध्यक्ष,
पालि विभाग,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः

□ प्रो० विनोद कुमार तिवारी
एम० ए०, रिसर्च-स्कालर

(क)

भारती चिन्तन-परम्परा में "सर्वं दुःखं दुःखम्" की सामान्य स्वीकृति उपलब्ध होती है। इस दुःख का मूल कारण अज्ञान माना गया है। औपनिषदिक विचारणा में जिस जीवन-दृष्टि का निरूपण किया गया, वह ऐकान्तिक-चिन्तनपरक थी, जिसमें भौतिक जगत् की प्रायः उपेक्षा हुई और आत्मस्वरूपोपलब्धि को सर्वातिशायी महत्त्व प्राप्त हुआ। दूसरी तरफ, चार्वाक प्रभृति भौतिकवादी दार्शनिकों ने एक अन्य ऐकान्तिक बोध का उपपादन किया जिसमें जागतिक 'तथ्य' की निरपेक्ष प्रतिष्ठा हुई और उससे इतर 'सत्य' की किसी सत्ता का प्रत्याख्यान हुआ। इन ऐकान्तिक विचारधाराओं ने ही एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की आवश्यकता को जन्म दिया जिसमें जगत् को अनुपेक्षित करते हुए, 'आत्म-स्वरूपोपलब्धि' की अवतारणा की गयी हो। स्यात् इसी आवश्यकता ने प्रवृत्ति-निवृत्ति-परक मार्गों के बीच मञ्जुल सामञ्जस्य उपस्थित करने वाली 'गीता' को जन्म दिया। इस प्रकार 'गीता' भारतीय चिन्तन-स्रक् का वह पुष्प है जो औपनिषदिक-सूत्र में पिरोये जाने पर भी अपनी मोहक सुगन्धि के कारण विश्व-मन को आकर्षित किये रहता है।

(ख)

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने वाला है। धनुर्धर अर्जुन अपने रथ को एक क्षण के लिए युद्ध के मैदान में युद्धकाम व्यक्तियों को देखने के लिए रोकते हैं। पर यह क्या? उपस्थित योद्धाओं को देखते ही अर्जुन के हाथ से गाण्डीव फिसलने लगता है, शरीर से पसीना छूटने लगता है तथा सिर में चक्कर आ जाने के कारण वह एक क्षण के लिए भी रुकने में अपने को असमर्थ पाने लगता है—

"गाण्डीवं संस्रते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमनीव च मे मनः" ॥
(गीता- १-३०)

यहीं पर योगेश्वर की वाणी तीव्र हो उठती है,[१] जिससे प्रवहित गीता का संङ्गीत सर्वयुगीन; सार्वजनीन बन जाता है।

पर इसी सन्दर्भ में विचारणीय यह है कि गीता का उपदेश दिया ही क्यों गया? एतद्विषयक तर्क के निम्नलिखित तीन पक्ष सम्भाव्य हैं—

(१) गीता के प्रारम्भ का अर्जुन एक क्लीव कापुरुष का रूप उपस्थित करता है। अतः अर्जुन का क्लैव्य दूर कर उसे पुनः युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए क्या गीता का उपदेश दिया गया?

लेकिन परम विजेता अर्जुन को क्लैव्य हो, सहसा इसका विश्वास नहीं होता।

(२) कलिङ्ग-युद्ध की विभीषिका से परिवर्तित-हृदय अशोक जैसे अहिंसक बन गया, इसी तरह युद्ध की सम्भावित विनाशलीला से स्यात् अर्जुन में भी अहिंसा—

१- "कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥" ॥ (गीता २-२)

वृत्ति आ गयी। तो क्या अर्जुन की इसी अहिंसा-वृत्ति को दूर कर युद्ध में प्रवृत्ति-हेतु गीता का उपदेश दिया गया ?

पर तर्क इससे भी सहमत नहीं होता क्योंकि अगर युद्ध-काम योद्धा के रूप में 'स्वजन' न होते, तभी यह वृत्ति जगती।

(३) निष्कर्षतः, यही तथ्य सामने आता है कि अर्जुन को 'स्वजनासक्तिजन्य मोह' हो गया था। अतः इस स्वजनासक्तिजन्य मोह का निवारण कर उसे पुनः कर्मपथारूढ़ करने हेतु ही गीता का उपदेश दिया गया।

'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव'।

(गीता १-३७)

इस प्रकार गीता, इस छोटी सी कथा का आधार लेकर एक सर्वयुगीन दर्शन की व्यवस्था प्रस्तुत करती है। वस्तुतः गीता की पृष्ठभूमि किंवा सम्पूर्ण कथानक पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट है कि गीता की सम्पूर्ण कथा एक प्रतीक कथा है जिसमें सांसारिक परिस्थितियों के बीच पड़कर कर्म व आत्यन्तिक सुख (मुक्ति) के विषय में संशय रखने वाले दोलायमान चित्त वाले मानव का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ दार्शनिक-परम्परा से साम्य प्रस्तुत करते हुए गीता भी अर्जुन-रूपी मानव के शोक (दुःख) का कारण उसका स्वजनासक्तिजन्य मोह (अज्ञान) ही उद्घाटित करती है।

जैसा कि युद्ध के प्रारम्भ में गीता के अर्जुन को निम्नलिखित सन्देह है, जो वस्तुतः उसका अज्ञान ही है —

(१) "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव"

(गीता १-३७)

— अर्थात्, अपने सम्बन्धियों की हत्या कैसे की जा सकती है ? और अगर कर भी दी जाय तो कैसे आत्मिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है ?

(२) "पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः,"

(गीता १-३६)

सामान्यतया हत्या से पाप होता है। अतः पाप के भागी होकर हम श्रेय-प्राप्ति कैसे करेंगे ?

(३) युद्ध से कुल धर्म तथा जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे नरकवास होता है।

"उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥"

(गीता १-४४)

अतः नरकदायी युद्ध-रूपी कृत्य में कैसे प्रवृत्त हुआ जा सकता है ?

अर्जुन के उपर्युक्त सन्देहों पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट है कि इन सन्देहों के मूल में दो ही भावनायें कार्य-रत हैं—

[१] प्रथम तो यह कि अर्जुन उपस्थित समुदाय को एक सम्बन्ध मानता है, स्वजन के रूप में अपने स्व से जुड़ा हुआ। [२] और द्वितीय यह कि हत्या आदि क्रियाओं का कर्ता भी यह स्वयं को मान बैठता है। इसी कारण तज्जन्य पाप, पापजन्य नरकादि से भयभीत हैं।

संशयितात्मा अर्जुन का सन्देह उपस्थित करके गीता जागतिक व्याख्या प्रस्तुत कर देती है कि अर्जुन सरीखा हर व्यक्ति, जगत् को जो अपने 'स्व' से जुड़ा हुआ मान लेता है तथा घटित सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता भी अपने को मान बैठता है, यही उसका सबसे बड़ा अज्ञान है जिसके कारण वह मोहग्रस्त होता हुआ दुःखानुभूति करता रहता है।

इसलिए, कृष्ण ग्यारहवें अध्याय में विराटरूप-दर्शन द्वारा समरसता का प्रदर्शन करके 'स्व'-'पर' के भेद को मिटाते हुए, प्रथम प्रकार के मोह का निराकरण करते हैं। इसी प्रकार, द्वितीय प्रकार के मोह में कारणभूत भ्रम [अज्ञान] को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं —

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥"[1]

(गीता ३-२७)

१— अपने गुणों के द्वारा प्रकृति ही सम्पूर्ण कर्मों को करती है, पर अहंकार के कारण विमूढ़ जीव स्वयं को उन कर्मों का कर्ता मान बैठता है।

जब कि प्रकृति का भी खेल है पुरुषोत्तम के इंगित पर तब व्यक्ति करता ही क्या है ? उसे तो निमित्त-मात्र होना है—

"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।"

स्पष्ट है कि गीता की दृष्टि में भी जागतिक दुःखों का मूल 'अज्ञान' ही है और इस 'अज्ञान' के नाश के लिए ही गीता सम्पूर्ण जगत् को पुरुषोत्तममय दिखलाती है। इस प्रकार गीता भी आपाततः औपनिषदिक 'ब्रह्म-विद्या' की ही व्याख्या प्रस्तुत करती है।

[ग]

'एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति'[1] के वैदिक उद्घोष का ही पर्यवसान हम उपनिषद् के "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[2] "एकमेवाद्वितीयम्"[3] इत्यादि रूप ऐक्यप्रतिपादक महावाक्यों में पाते हैं। गीता भी मूलतः इसी औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म-संस्करण प्रस्तुत करती है। वस्तुतः, अगर सभी उपनिषदें गाय हैं, तो गीता उसका अमृतमय दुग्ध है[4]। सुतरां, स्पष्ट है कि उपनिषद्-प्रोक्त 'ब्रह्म-विद्या' का प्रतिपादन ही गीता की मूल भावना है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां" में प्रयुक्त 'उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां' शब्द भी आपाततः इसी तथ्य को समर्थित करते हैं।

अथ च, महाभारत के 'अश्वमेधिक' पर्व में भी एक आख्यान आता है, जहाँ अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि 'भगवन्, मैं तो आपके द्वारा किया गया गीता का उपदेश युद्ध में व्यग्र होने के कारण भूल गया हूँ। अतः कृपया उसे मुझे फिर से बतायें।'[5] अर्जुन के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा 'हे अर्जुन ! तूने यह बड़ी भूल की जो तू 'गीता' को भूल गया। उस गीता के उपदेश को मैंने बड़े ही योगयुक्त मन से तुझे दिया था। वह उपदेश ब्रह्म के स्वरूप-बोध के लिए पर्याप्त था, अब तो गीता का वह सारा उपदेश मेरी स्मृति में भी नहीं रहा। इसलिए पुनः मैं गीता का उपदेश नहीं कर सकता।'[6] तात्पर्य यह कि गीता का उपदेश मूलतः 'ब्रह्मविद्या' का प्रतिपादन ही है।

दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से गीता में मूलतत्त्व के रूप में 'पुरुषोत्तम' की प्रतिष्ठा की गयी है जिसके 'क्षर' तथा 'अक्षर' नामक दो रूप स्वीकृत हैं। इसमें

१– ऋग्वेद [। १६४ । ४६]

२– छान्दोग्य [३ । १४ । १]

३– छान्दो [६ । २ । १]

४– सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।

५– "यद्यद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे व्यग्रचेतसः॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः ।" [महाभारत, अश्व०-६]

६– "अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साऽद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥ [१०]
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥ [११]
स हि धर्मो सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥" [१२]
[महाभारत, अश्वपर्व]

'क्षर' के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूत, जिसे विस्तृत रूप में जगत् की संज्ञा प्राप्त है, आते हैं तथा 'अक्षर' तत्त्व कूटस्थ नित्य आत्मतत्त्व है—

"द्वाविमौ पुरूषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
(गीता १५-१६)

इसमें 'क्षर' तत्त्व का ही विस्तार अष्टधा प्रकृति तथा चौदह तत्त्वों के रूप में होता है।

"भूमिरापोऽनलोवायु: खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"
(गीता ७-४)

लेकिन, पुरुषोत्तम-तत्त्व इन दोनों से ही पृथक् है—

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम:।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:॥"
(गीता १५-१८)

वस्तुत: इस 'पुरुषोत्तम' की अध्यक्षता में ही चराचरजगत्-रूप प्राकृतिक विकारों की सृष्टि होती है—

"मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।"
[गीता ९-१०]

इस प्रकार वह परम तत्त्व ही जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा लय स्थान है—

"अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा।"
[गीता ७-६]

उसकी सर्व-सत्ता का अनुमान मात्र इसी उद्घोष से किया जा सकता है कि वह सब ओर से हाथ-पैर, नेत्र-सिर, मुख तथा श्रोत्र वाला है। एक शब्द में यह कि वह इस प्रकार सम्पूर्ण संसार को व्याप्त करके स्थिर है—

"सर्वत: पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥"
[गीता १३-१३]

इस प्रकार, उस परम तत्त्व से परे कुछ भी नहीं है, क्योंकि माला में पिरोयी गयी मणियों की तरह वह सब कुछ स्वयं में समाहित किये हुए है—

"मत्त: परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥"
[गीता ७-७]

इस तरह गीता 'सदसत्तत्परं यत्[1]' कहकर उपनिषदों के ब्रह्म-तत्त्व से साम्य प्रदर्शित करते हुए इसे सत्, असत् तथा सत्-असत् से परे भी सिद्ध करती है।

इस प्रकार, कहना न होगा कि गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण उभय रूपों से परिचित है, और यह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं—

"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥"

गीता के ब्रह्म-विचार के उपर्युक्त स्थल को देखने पर साम्य उपस्थित करते हुए, उपनिषद् का वह स्थल स्वत: स्मृति-पटल पर आ जाता है जहाँ दार्शनिक गणितशास्त्र में पूर्ण से नि:सृत समस्त वस्तु-जगत् को भी पूर्ण ही माना गया है—

"ओऽम् पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"
[ईशावास्य--शान्तिपाठ]

गीता के इसी 'पुरुषोत्तम' तत्त्व की सर्वतोभावेन प्राप्ति गीता-प्रोक्त दर्शन के अनुसार "शाश्वत शान्ति" या "मोक्ष" है—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक:।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥"
[गीता, १५-१६]

[घ]

"पर गीता व्यवहार-शास्त्र है जो अध्यात्म-ज्ञान की दृढ़ भूमि पर अवस्थित है।" इसलिए गीता की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ये दो महत्त्व के शब्द मिलते हैं। वह योग शास्त्र है—कर्तव्यशास्त्र है जो अपने खड़े होने के लिए ब्रह्म-विद्या के दृढ़ आधार पर आश्रित है।"[2] अत: इस 'ब्रह्म विद्या' के सिद्धि-हेतु गीता तीन मार्गों का भी प्रतिपादन करती है—

१—[गीता—१८-३७]
२—पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन--पृष्ठ ७१

ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग ।

इनमें गीता-सम्मत 'ज्ञान' 'आत्मा की एकता का सम्पूर्ण अनुभव' है । इसके दो रूप हैं :

१- सम्पूर्ण भूतों में एक ही आत्म-तत्त्व का दर्शन यहाँ आत्मा आधेय तथा सम्पूर्ण भूत आधार है ।

२- आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को देखना—यहाँ आधारभूत आत्मा है तथा आधेय सम्पूर्ण भूत हैं ।

इन दोनों की परस्पर पूरक दृष्टि ही समदर्शी दृष्टि हैं ।

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(गीता ६-२९)

और कृष्ण की घोषणा के अनुसार, ऐसा 'समदर्शी पुरुष' ही निश्चितरूपेण एकीभाव को प्राप्त करता है:—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥"

(गीता ६-३०)

हाँ, यह बात अवश्य है कि यह ज्ञानमार्ग अत्यन्त कठिन है क्योंकि सूक्ष्म-स्थूल हर प्राणी में 'पुरुषोत्तम' का एकत्वभावेन साक्षात्कार करने वाला महात्मा अप्राप्य नहीं तो दुर्लभ अवश्य है—

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥"

(गीता ७-१९)

ज्ञान-मार्ग की इसी दुर्गमता के कारण रामानुज, वल्लभाचार्य आदि विद्वानों ने गीता के द्वितीय मार्ग भक्तिपक्ष का समर्थन किया है । भक्ति में 'श्रद्धा' की प्रधानता होती है तथा आराध्य के प्रति समर्पण अपेक्षित है । इसलिए कृष्ण, भक्ति का स्वरूप अत्यन्त सीधे-सादे शब्दों में स्पष्ट करते हैं ।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।"

(गीता- १८-६६)

अर्थात्, सभी धर्म-धर्मान्तरों, मतवादों आदि का प्रपञ्च छोड़कर एकमात्र परमतत्त्व के प्रति समर्पण की भावना 'कृष्णार्पणमस्तु' की भावना ही - भक्ति का सीधा-रूप है । इसे और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

(गीता- ९-२७)

'अर्थात्. हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है तथा जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मुझे समर्पित कर दे ।

आराध्य के प्रति समर्पित ऐसे भक्त के सामने भगवान् भी अपना विराट रूप खोल कर रख देता है जो किसी अन्य मार्ग में दुर्लभ है ।

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥"

(गीता- ११-५३)

अर्थात्, हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तुमने देखा, इस रूप में मैं न तो वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखे जाने योग्य हूँ ।

अतः, अगर ऐसे दुर्लभ रूप के साक्षात्कार का कोई साधन है, तो वह है 'मेरे प्रति अनन्य भक्ति ।' "इस भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार के रूप वाला मैं प्रत्यक्षतः देखने योग्य, तत्त्वतः जानने योग्य तथा अन्ततः प्रविष्ट होने योग्य हूँ"—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥"

(गीता, ११-५४)

और, इस प्रकार की अनन्य भक्ति का आश्रयण किये हुए भक्त के 'योग-क्षेम' का सम्पूर्ण दायित्व स्वतः भगवान् पर आ जाता है--

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योग क्षेमं वहाम्यहम् ॥"

(गीता ९-२२)

वस्तुतः यज्ञदानादि सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् का ही समझकर करने वाला, भगवान् को परम आश्रय मान-उसके प्राप्ति-हेतु सतत प्रयत्नशील, भगवान की सच्ची

भक्ति करने वाला, किसी प्रकार की आसक्ति न रखने वाला, सभी प्राणियों में वैर-भाव से रहित, पुरुष ही 'अनन्य भक्त' है तथा ऐसा भक्त अन्ततः परम तत्त्व को प्राप्त करता हैं।[1]

पर, उपर्युक्त ज्ञान-दर्शन तथा भक्ति-मार्ग व्यावहारिक धरातल पर ऐकान्तिक ही ठहरते हैं। शास्त्रोक्त विधि से सर्वसमर्पणभावेन शरणागति [भक्ति] प्राप्त करना यद्यपि कम महत्त्वपूर्ण नहीं, तथापि इससे सभी लोगों को वांछित समाधान नहीं मिल पाता। "इसी प्रकार, उपनिषदों का धर्म [ज्ञान मार्ग] भले ही सुविचारित तत्त्वज्ञान पर आधारित हो, पर अल्प-बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए उसकी कठिनाई अविदित नहीं और साथ ही उपनिषदों की सन्यास-भावना लोकहित के लिये उपकारक नहीं मानी गयी है।[2] अतः, गीता व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से 'ब्रह्म-बोध' के तृतीय मार्ग 'कर्मयोग' का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तार से करती है जिसमें भक्ति तथा ज्ञान भी स्वतः समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार, यह पथ मात्र कर्मयोग न होकर 'निष्काम कर्मयोग' के रूप में वैचारिकों के मध्य प्रतिष्ठित है। कृष्ण इसका स्वर फूंकते हुए कहते हैं—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥"
(गीता २–४७)

अर्थात्, हे अर्जुन! तुम्हारा कर्म में ही अधिकार होवे, फल-चिन्तन में कदापि नहीं और तुम कर्मो के फल की वासना वाला भी मत होना, लेकिन तुम्हारी कर्म न करने में भी प्रीति न हो।

वस्तुतः संसार में कर्म-विषयक तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं—

[१] कर्म करूंगा तो फलासक्ति पूर्वक —
यह रजोगुण का स्वरूप है

[२] अगर फलासक्ति छूटी तो कर्म भी नहीं करूंगा
—यह तमोगुण का स्वरूप है

[३] कर्म होगा पर फलासक्ति नहीं होगी-
यह सत्त्वगुण का स्वरूप है—

गीता प्रथम प्रकार के कर्म का खण्डन 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' कह कर प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार, द्वितीय पक्ष का भी खण्डन 'मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि' के द्वारा प्रस्तुत करती है तथा अन्ततः तृतीय पक्ष का समर्थन करते हुए कहती हैं—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"
गीता–सम्मत यही निष्काम–कर्मयोग' है।

इस निष्काम कर्मयोग की सिद्धि के लिए गीता में दो आदर्शो का उपस्थापन है—

[१] स्थित-प्रज्ञ [२] गुणातीत

दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग–रहित मन वाला तथा सुखों की प्राप्ति पर विगत-स्पृहा वाला तथा इस प्रकार जिसके राग-भय-क्रोध आदि भाव नष्ट हो चुके है, वही व्यक्ति [मुनि] "स्थित-प्रज्ञ" कहा जाता है।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"
(गीता २-५६)

ऐसे 'स्थित-प्रज्ञ' व्यक्ति के ही कर्म निष्कर्म-भावेन सम्पन्न होते हैं और चूंकि ये कर्म सुख दुःखादि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर होते हैं, अतः इनसे पाप नहीं होता, अपितु, यह मुक्ति का सहायक मार्ग है—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥"
(गीता २-३८)

इसी प्रकार, "गुणातीत" का स्वरूप-विधान करते हुए गीता का वचन है—

१– "मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥"
(गीता ११–५५)

२– वाचस्पति गैरोला–भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५२

"मानापमानयोस्तुल्यो तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥"

(गीता १४-२५)

अर्थात्, जो मान-अपमान, शत्रु-मित्र में सम-भाव है तथा सम्पूर्ण आरम्भों में कर्त्तापन के अभिमान से रहित है, वही पुरुष "गुणातीत" कहा जाता है। ऐसे गुणातीत पुरुष के कर्म भी 'निष्काम-कर्म' के रूप में हैं।

'निष्काम-कर्म' के उपर्युक्त स्वरूप से स्पष्ट है कि इसकी सिद्धि में 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' पक्ष का स्वतः साहाय्य होगा क्योंकि 'स्थित-प्रज्ञ' वा 'गुणातीत' की स्थिति उसी व्यक्ति की हो सकती है जो 'ज्ञानी' हो अथवा सर्व-समर्पित भाव का 'भक्त'। यतः 'निष्काम कर्मयोग' में लोक-पक्ष की उपेक्षा भी नहीं है, अतः व्यावहारिक धरातल पर अन्य मार्गों से इसकी महत्ता स्वयं-सिद्ध है।

ज्ञान, कर्म तथा भक्तिरूप उपर्युक्त मार्गत्रय ही "ब्राह्मी-स्थिति" के साधक हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ विचारक 'ध्यान-योग' नामक एक चौथा मार्ग भी प्रतिपादित करते हैं जिसका विस्तार गीता के छठें अध्याय में दर्शाने का प्रयत्न किया गया है—

"प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥"

(गीता ६-२७)

अर्थात्, जिसका मन अच्छी तरह शान्त है और जो पाप से रहित हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्म के साथ एकीभाव प्राप्त किये हुए योगी को उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

पर, गहराई से विचार करने पर गीता के छठवें अध्याय में जिस 'योग' का संकेत है वह 'योग दर्शन' का शुष्क 'ध्यान योग' नहीं है क्योंकि कृष्ण स्पष्टतया कहते हैं कि योगियों में भी जो मेरी 'भक्ति' करता है, वही मुझे सर्वाधिक प्रिय है—

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥"

(गीता ६-४७)

स्पष्ट है कि यहाँ 'भक्ति-पक्ष' का प्राबल्य है।

अपरञ्च, गीता योग की परिभाषा, 'योग-दर्शन' की तरह चित्त-वृत्तियों के निरोध[1] के रूप में न देकर कर्मों में प्राप्त कौशल के रूप में देती है—

"योगः कर्मसु कौशलम् ।"

(गीता २-५०)

यह कौशल इस रूप में प्राप्त किया जा सकता है—

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"

(गीता ६-१७)

अर्थात्, यह दुखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार, शयन-जागरण करने वाले तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले को ही सिद्ध होता है।

स्पष्ट है कि गीता यहां कर्मयोग का ही समर्थन करती है। निष्कर्षतः, कहा जा सकता है कि गीता में प्रतिपादित मुख्य-मार्ग तो तीन ही हैं। 'ध्यानयोग' का प्रसंङ्ग उठा अवश्य है, पर उसका अन्तर्भाव या तो भक्ति या निष्काम कर्मयोग में ही कर दिया गया है।

(ङ)

उपर्युक्त विवेचन इस प्रामाणिक निष्कर्ष की सिद्धि कराता है कि निष्काम कर्मयोग ही गीता का मुख्य नैतिक सिद्धान्त हैं[2]। किसी ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय के लिए शास्त्रकारों द्वारा स्थापित कसौटियों पर भी इसी

१- 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' पातञ्जल योगसूत्र—(१.१.२)
२- श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥"

(गीता १२-१२)

निष्कर्ष की पुष्टि होती है। ये हेतु निम्नवत् हैं— (१) उपक्रम और उपसंहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।[1]

गीता का आरम्भ अर्जुन की मोहावस्था से होता है जहाँ "गाण्डीवं संस्रते हस्तात्"[2] की स्थिति के अर्जुन का दर्शन होता है। वस्तुतः यह अर्जुन का स्वजनासक्तिजन्य मोह है, जो उसके अकर्मण्य निर्णय की घोषणा करता है—

"न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव हं"[3] पर, इसके बाद कृष्ण विभिन्न दृष्टिकोणों से मोहग्रस्त अर्जुन को 'कर्मयोगी' बनाने का 'उपक्रम' करते हैं जिसकी सुखद परिणति अन्त में कृष्ण की सफलता में ही दृष्टिगत है। जब किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन स्वीकारता है कि उसका मोह अब समाप्त हो गया है, स्मृति प्राप्त हो गयी है, इसलिए संशय-रहित वह पुनः कर्मपथ पर आरूढ़ होने हेतु तैयार है—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥"
(गीता १८—७३)

इस कर्मयोग के पुष्टि-हेतु कृष्ण अनेकशः "तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः"[4] 'ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि'[5]; निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन"[6]; "तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च"[7]; "छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत"[8] इत्यादि रूप स्पष्ट वचनों का न्यास भी करते हैं जिससे अर्जुन के कर्त्तव्य-पथ स्वीकारने की उनकी लालसा स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

'अपूर्वता' का अर्थ है 'नवीनता'। "वर्तमान समाज के लिए जिस कर्तव्य की अपेक्षा हो और जो शास्त्र-सम्मत व लोक-हितकारक हो, वह 'अपूर्व' कहलाता है।" गीता का 'निष्काम-कर्मयोग' न तो उपनिषदों का 'ऐकान्तिक ज्ञान मार्ग' है और न ही श्रौत-स्मार्तों का 'मात्र सर्वसमर्पण' रूप 'भक्ति मार्ग', अपितु गीता लोक-सिद्धि करती हुई निःश्रेयस की प्राप्ति का साधन प्रस्तुत करती है। इस प्रकार, प्रस्तुत इसका यह मञ्जुल सामञ्जस्य ही इसकी अपूर्वता के भी कारण इसका मुख्य प्रतिपाद्य 'निष्काम-कर्मयोग' ही सिद्ध होता है।

इस कर्मयोग के उपदेश का 'फल' है-अर्जुन का पुनः कर्म-पथ पर अरूढ़ हो जाना जिसकी पुष्टि "करिष्ये वचनं तव"[9] के रूप में की गयी है।

"स्तुत्य की स्तुति तथा निन्द्य की निन्दा करके अभीष्ट की सिद्धि करना ही 'अर्थवाद'[10] का तात्पर्य है।

१— "उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिंग तात्पर्यनिर्णये॥"
(सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत वृहत्संहिता का श्लोक)

२— (गीता, ३-३०)

३— गीता, (२-९)

४— गीता, २-३७

५— गीता, २-३८

६— गीता, ११-३३

७— गीता, ८-७

८— गीता, ४-४२

९— वाचस्पति गैरोला-भारतीय दर्शन पृ० ५०

१०— "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः।"
अर्थसंग्रह

है। गीता में कर्मयोगी जनकादि का उदाहरण तथा लोकसंग्रह का तर्क प्रस्तुत करते हुए भी अभीष्ट कर्म मार्ग की ही प्रशंसा की गयी है—

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥"
(गीता ३-२०)

और सबसे बड़ा तर्क तो यह है कि लोभ में कर्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था के विषय में शास्त्र को ही प्रमाण माना जाता है। अतः कृष्ण का स्पष्ट आदेश है कि शास्त्रविधि से नियत किये कर्म को ही अर्जुन जैसा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ व्यक्ति करे—

"तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥"
(गीता १६-२४)

क्योंकि जो व्यक्ति शास्त्र की विधि का परित्याग कर स्वेच्छया व्यवहार करता है, वह न तो सिद्धि, न सुख, और न तो परमगति को ही प्राप्त करता है—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत: ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।"
(गीता १६-२३)

स्पष्ट है कि यह 'उपपत्ति' भी कर्मयोग की ही प्रतिष्ठा करती है।

अपरञ्च, गीता के प्रारम्भ में युद्ध न करने के पक्ष में अर्जुन द्वारा किये गये आशङ्का-जन्य तर्कों और उपदेश के रूप में कृष्ण द्वारा दिये गये उनके समाधानों के मुख्य रूपों का यदि अवलोकन करें, तो वहाँ 'निष्काम-कर्मयोग' की ही सर्वतोभावेन पुष्टि होती है। इसे हम निम्नलिखित रूपों में देख सकते हैं—

(१) कर्मयोग से मोक्ष प्राप्ति—भारतीय दर्शन में जीवन की चरम सिद्धि 'मोक्ष-प्राप्ति' ही बतायी गयी है। इस मोक्ष-प्राप्ति के लिए मुख्यतया दो मार्ग हैं—(१) कर्म-संन्यास (२) निष्काम कर्मयोग। पर गीता कर्म-संन्यास को गौण प्रदर्शित करती हैं—

"तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते,"
(गीता- ५-२)

गीता, इस प्रकार, निष्काम कर्मयोग के आधार पर मोक्ष-प्राप्ति का समर्थन करती है—

"असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुष: ।"
(गीता ३-१९)

(२) पाप-पुण्य का भय नहीं—गीता से पूर्व उपनिषदों ने "पुण्यो वै पुण्येन कर्म्मणा भवति पाप: पापेनेति"[1] की घोषणा द्वारा पुण्य-पाप का विभाजन प्रस्तुत किया था। अर्जुन को भय था कि चूँकि युद्ध से हिंसा होती है तथा हिंसा से पाप और पाप से नरकवास होता हैं, अतः वह युद्ध-रूप नियत कर्म से निवृत्त होना चाहता था। पर कृष्ण ने निष्काम कर्मयोग के उपस्थापन के द्वारा इस पाप-भय का भी समाधान कर दिया कि यदि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-विजय आदि में समत्व-बुद्धि रखते हुए युद्ध-रूपी कर्म में प्रवृत्त हुआ जाय तो पाप भी नहीं लगेगा—

"सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥"
(गीता- २-३८)

(३) वर्ण-व्यवस्था का पालन—कृष्ण का एक तर्क यह भी है कि समाज में चारों वर्णों की उत्पत्ति व तदनुरूप कार्य-व्यवस्था यतः स्वयं कृष्ण (भगवान्) ने

१- वृहदारण्यकोपनिषद् (३।२।१३)

ही की है,[1] अतः उस व्यवस्था का पालन भी हर व्यक्ति का कर्तव्य है। इस व्यवस्था के अनुसार भी क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य युद्ध ही है--

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥"
गीता २-३१

यहाँ तक कि—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।"
गीता ३-३५

इस प्रकार, यह उपदेश मात्र अर्जुन के लिए ही न होकर, सार्वभौम है, जिसके अनुसार हर व्यक्ति अपने-अपने धर्म के अनुसार आचरण करता हुआ अन्ततः सिद्धि प्राप्त कर सकता है —

"स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः ।"
गीता १८-४५

(४) बिना कर्म किये रहना भी असम्भव— समाज की धार्मिक व्याख्या के अन्तर्गत समाज में कर्म-शृंखला को प्रतिष्ठित किया गया है। कृष्ण का वचन है कि चूंकि प्रत्येक व्यक्ति का कोई क्षण इस कर्म-शृंखला की अनिवार्यता के कारण बिना कर्म किये व्यतीत ही नहीं हो सकता,[2] अतः अकर्मण्यता की कल्पना भी नहीं की जा सकती और अगर कर्म करना ही है तो मोक्षदायक निष्काम कर्म ही क्यों न किया जाय।

(५) सामाजिक-व्यावहारिक सफलता- निष्काम कर्मयोग के पालन से सामाजिक सफलता भी अनायास होती रहती है क्योंकि वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हर व्यक्ति 'स्वभावनियत कर्म' को करेगा ही तथा समाज यतः विभिन्न व्यक्तियों का ही एक सामूहिक रूप है, अतः समाज भी आपाततः उत्कृष्टता प्राप्त करता रहेगा। इस प्रकार मोक्ष हेतुक व्यक्तिकृत कर्म ही समाज की सफलता के अव्यक्त आधार भी बन जाते हैं।

(६) लोकसंग्रह की भावना-इस प्रकार निष्काम कर्मयोग से लोकसंग्रह की भावना भी पुष्ट होती है-

"लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ।"
गीता- ३-२०

(७) शरीरयात्रा का निर्वाह—कृष्ण का वचन है कि चूंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेयष्कर है, इसलिए अर्जुन शास्त्रविधि से ही नियत कर्म का ही आश्रय ग्रहण करे क्योंकि कर्म न करने से शरीर-यात्रा का निर्वाह भी असम्भव है—

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥"
गीता- ३-८

(८) पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मबन्धन का दबाव—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"[3] का समर्थन करते हुए कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जिस कर्म को तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने पूर्वजन्मकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा ही—

१— "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥"
(गीता- ४-१३)

२— "न कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।"
(गीता- ३-५)

३— ब्रह्मवैवर्त —कृष्ण-जन्म खण्ड, श्लोक ८४

"स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यवशोऽपि तत् ।।"
गीता- १८-६०

और अगर कर्म करने की ऐसी बाध्यता है तो क्यों न निष्काम कर्म करके इहलोक, परलोक–उभयलोक-की सिद्धि की जाय ?

(९) अर्जुन-कृत मोह की असारता–अर्जुन को स्वजनों में आसक्ति के कारण युद्ध में मोह हो गया था। कृष्ण इस मोह का निराकरण दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं। प्रथम तो आत्मा की नित्यता व अवध्यता दिखाकर–

"देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।"
गीता- २-३०

इसलिए एतद्विषयक शोक व्यर्थ है ।

अगर अर्जुन सचमुच यही मानता है कि वह युद्ध में स्वजनों का वध कर ही देगा, तब भी उसे शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि —

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।"
(गीता- २-२७)

अर्थात्, जन्म लेने वाले की जैसे मृत्यु निश्चित है, उसी तरह मरने वाले का जन्म लेना भी निश्चित है। अतः, इस बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने योग्य नहीं है ।

साथ ही, इन स्वजनों का समावेश विराट रूप दर्शन के समय अपने अन्दर दिखाकर कृष्ण, अर्जुन का मोह एकदम समाप्त कर देना चाहते हैं। वस्तुतः अर्जुन को तो इन युद्धादि क्रियाओं के प्रति निमित्तमात्र बनना है–

"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।"
(गीता- ११-३३)

अतः गीता, अर्जुनगत अज्ञानजन्य शोक, मोह को समूलतः नष्ट करते हुए अन्ततः निष्काम कर्मयोग का ही पाठ दृढ़ करती है ।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोग के विवेचनों से स्पष्ट है कि यह उपनिषदादि-प्रोक्त 'जीवन्मुक्त' की ही अवस्था है जिसके पश्चात् विदेहमुक्त होकर व्यक्ति अन्ततः जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

वस्तुतः निष्काम कर्मयोग का अपना एक अलग ही आनन्द है। चित्रकार चित्र बनाता है, मूर्तिकार मूर्ति बनाता है–आत्मिक आनन्द, आत्मिक तुष्टि के लिए, मात्र पैसे के लिए नहीं। बच्चा खेल के आनन्द के लिए खेलता है, व्यायाम का फल तो उसे अपने आप प्राप्त है ।

(च)

वस्तुतः दर्शन की चिन्तन-पद्धति समाज में प्रतिफलित होती है। साथ ही, समाज अपनी संस्कृति का पयः-पान कर पुष्टता को प्राप्त होता है। गीता का दर्शन एक तरफ भारतीय सांस्कृतिक मर्यादाओं को संरक्षण प्रदान करते हुए, दूसरी ओर औपनिषदिक सूक्ष्म चिन्तन-पद्धति को भी पुष्ट करता है। गीता एक ओर यद्यपि ऐन्द्रिय भोगों को दुःख-रूप घोषित करती हुई[1] कठोपनिषद् के नचिकेता की याद दिलाती है,[2] तथापि 'कठ' के नचिकेता की तरह समाज से पृथक् होकर, यह जानते हुए भी कि ज्ञानमार्ग छूरे की धार की तरह[3] है, मात्र ज्ञानावलम्बित

१– ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते– (गीता- ५-२२)
२– श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः —(कठो०- १-१-२६)
३– क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति —(कठो १-३-१४)

मोक्ष का प्रतिपादन नहीं करती, अपितु वह सामाजिक-सांस्कृतिक मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए, चरम-सिद्धि का उपदेश देती है। इस प्रकार, गीता एक दृष्टि से अगर उपनिषद्-रूपी गाय का अमृतमय दुग्ध है,[1] तो दूसरी तरफ पाप-पुण्य, पुनर्जन्मवाद, वर्ण-व्यवस्था, त्रिकर्मवाद[2] आदि को समेटती हुई प्रवृत्ति-निवृत्ति-परक दोनों पक्षों का वैज्ञानिक तालमेल भी बिठाती है। और सचमुच अगर ऐसा व्यावहारिक दर्शन-शास्त्र उपलब्ध है, तो अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या लाभ।

'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः।'
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥[3]

प्रवक्ता,
संस्कृत विभाग,
खंडेलवाल डिग्री कालेज
मऊनाथभंजन
(आजमगढ़—उ० प्र०)

१– सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

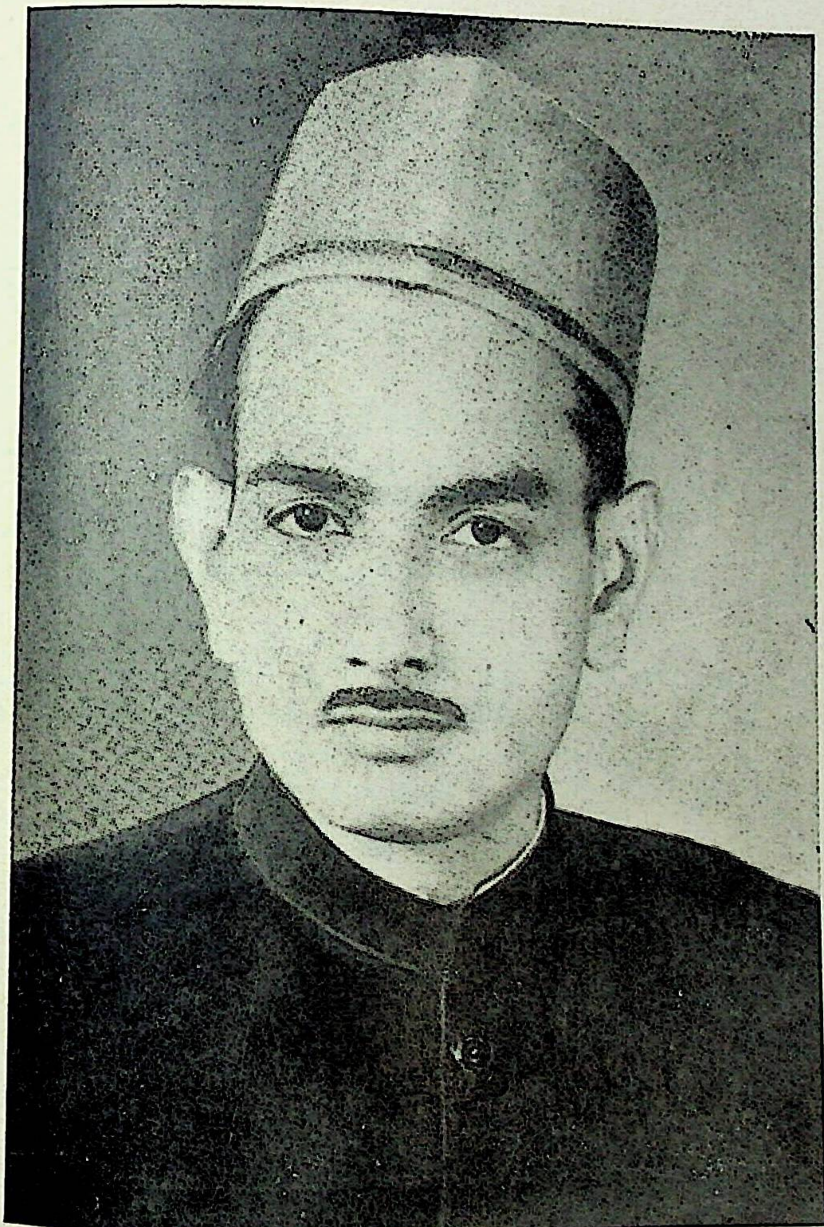
२– प्रारब्ध, सञ्चित व क्रियमाण, इस भेद से भारतीय दर्शन में कर्मों के ये तीन रूप माने गये हैं। इन्हें ही त्रिकर्मवाद से लक्षित किया गया है।

३– महाभारत—भीष्मवधपर्व— श्लोक १

हे अतुलित शक्ति वाले ब्रह्म ! हमारे राष्ट्र में ओजस्वी चरम शक्ति के ज्ञाता उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में बड़े बड़े रथारोही, शत्रुओं को कुचल देने वाले महापराक्रमी योद्धा उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में गायें खूब दूध देने वाली, बैल खूब पराक्रमी और दुर्वह बोझ वहन करने वाले और स्त्रियां स्नेहमयी कुल-लक्ष्मी हों। राज्य में सभी को जीवन वृत्ति मिले और हमारे युवक आकर्षक और तेजस्वी हों। हमारे राष्ट्र में हमेशा समय से बादल बरसें, हमारी औषधियां और फसलें खूब पकी-पकाई फलवती हों। हमारे राष्ट्र में जो कुछ पहले न था, वह सभी वैभव सुलभ हों और जो वैभव अभी है, वह सदा सुरक्षित रहे

— यजुर्वेद

एक विलक्षण कर्म योगी



श्री शिवराम बेरीवाला

प्रत्येक व्यक्ति एक बिगड़ा हुआ परमात्मा है ।

—इमर्सन

संत विटप सरिता गिरि धरनी । परहितु हेतु सबनि कै करनी ॥
कवनेहु जन्म अवध बस जोई । राम परायन सो परि होई ॥
सब कर मत खगनायक एहा । करिय राम पद पंकज नेहा ॥

-मानस

जे हरषहिं परसम्पति देखी। दुखित होंहि पर विपति विशेषी।
जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे। तिनके मन सुभ सदन तिहारे॥
स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिनके सब तुम तात।
मन मन्दिर तिनके बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

भोजपुरी लोकगीतों में राम

—श्रीमती माधुरीरानी त्रिपाठी, एम० ए०

अहाते में प्रवेश करते ही, नन्हीं बिन्दिया ने दौड़कर सूचना दी, माँ, बण्टी के भइया की शादी है। जी झुंझला उठा, कौन-सी बड़ी बात है। लड़का कुछ करे या न करे, शादी तो होगी ही क्योंकि इसे पूरा करना तो माँ-बाप अपना बड़ा दायित्व समझते हैं। थकी-माँदी बैठी ही थी कि ढोलक-झाल और मँजीरे का समवेत स्वर वातावरण में गूँज उठा और इन सबों से ऊपर कोकिलाओं की मादक स्वर-लहरी गूँज रही थी। मन अनायास खिंच गया उस गीत को सुनने के लिये जो कोकिल कण्ठों से निकल रहा था। हवा के लहराते झोंके ने गीत के बोल को मेरे कान तक पहुँचाया—

राम जे चलेले बियाहन, रिमझिम बाजन।
आरे, उपरहिं सुग्गा मेंड़रइलें, हमहूँ चलबो व्याहन ॥
धाउ तुहुँ नउवा से बरिया, अवधपुर के ब्राह्मन।
आरे, राजा आगे खबर जनाव, कहाँ रे दल उतरई ॥'

मन आनन्दित हो उठा। राम का विवाह भोजपुरी लोकगीतों में विभिन्न ढंग से वर्णित है। इन गीतों में दशरथ और कौशल्या सामान्य माता-पिता के प्रतीक होते हैं। रामचन्द्र भी एक सामान्य पुत्र का अर्थ व्यंजित करते हैं।

मानव जीवन में जन्म संस्कार और वैवाहिक संस्कार का विशेष महत्त्व है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में रघुकुल का सांगोपांग वर्णन किया है। राजा दशरथ की उस चिन्ता का वर्णन किया है जिसमें उन्हें पुत्र न होने का कष्ट है—

"एक बार भूपति मनमाँही।
भइ गलानि मोरे सुत नाहीं ॥"

गोस्वामी तुलसीदासजी ने राजा दशरथ के इस कष्ट को तो चित्रित किया, किन्तु हमारे गीत कहीं और आगे बढ़ गये हैं। हिन्दू समाज में निरवंशी का मुँह देखना पाप समझा जाता है। राजा दशरथ को भी समाज से उपेक्षित होना पड़ा है। पुत्र-विहीन राजा दशरथ का चित्र इस गीत में अंकित है—

"सोने के खड़उवाँ राजा दशरथ,
चटर चटर करे हो।
ए हेलिनी हमें हार हेलवा लेई जाहू,
त रानी मोर उदासल हो ॥
पइठि जगावेले हेलिनिया त,
उठीं सिरसाहब हो।
साहब, देखीं निरबंसिया के मुँह,
आजु रे, दिन कइसन हो ॥
× × ×
पइठी जगावेली कोसिला रानी,
उठीं ना सिरसाहब हो।
साहब, उठी के करीं ना दतुवनिया,
अवरु असननवा नु हो ॥
कइसे हम उठीं कोसिला रानी,
हमरा बड़ा सोच बाटे हो।
आरे, नीचहिं जाति के हेलिनिया,
त हमे निरबंसी कहे हो ॥
कोसिला के भइलें राजा रामचन्द्र,
सुमित्रा के लछिमन हो।
आरे, कैकयी के भरत भुवाल,
तीनहुं घरे सोहर हो ॥
ओबरी से बोलेली कोसिला रानी
सुनीं राजा दशरथ हो।
ए राजा, सोने के तिलरिया गढ़ाव;
हेलिनिया पहिरावहु हो ॥"

'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति', इस शास्त्रोक्ति को ध्यान में रखते हुए ही लोकगीतकारों ने निस्सन्तान स्त्री-पुरुष के संबन्ध में इस प्रकार के गीतों की रचना की है। नीच जाति की स्त्री के समक्ष एक राजा भी घृणा का पात्र है यदि वह संतानहीन है । उपर्युक्त गीत में संतानहीन पुरुष के रूप में राजा दशरथ की स्थिति का चित्रण है।

गोस्वामीजी भक्त कवि होने के नाते राम-जन्म का वर्णन करते हुए भी उनके ब्रह्म स्वरूप का दर्शन करते हैं।

भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी,
हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप निहारी ।
लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा निज आयुध भुजचारी ।
× × × ×
ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रतिवेद कहै ।
× × × ×
माता पुनि वोली सो मति डोली, तजहु तात यह रूपा ।
कीजै सिसुलीला अतिप्रियसीला, यह सुख परम अनूपा ।।
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा ।।'

तुलसी के राम एक आदर्श रूप हैं, किन्तु भोजपुरी के इन लोकगीतों में वर्णित राम पुरातन पुरुष नहीं हैं, वरन् साधारण बालक हैं। विवाह गीतों में राम सुघड बर-रूप में हमारे सामने आते हैं। सीता गाँव की वही बाला है जो सखियों के साथ इठलाती, खेलती है।

हमारे हिन्दू समाज में कन्या का जन्म ही अभिशाप होता है। जन्म के साथ ही पिता की चिन्ता बढ जाती है और वह चिन्ता होती है सुघड़ वर की तथा साथ-ही-साथ दहेज की मोटी रकम की। गीतों में वर्णित जनक, राजा नहीं होते, बल्कि लड़की के पिता होते हैं। उनके सामने भी वही समस्या आती है, सीता के लिये वर कहाँ ढूंढा जाय—

'जाहु-जाहु बावा हो, नगर अजोधेया, राजा दशरथ जी के द्वार।
राजा दशरथजी के चार सुन्दर वर, चारो जे वार कुँवार ॥
चारो भइया मिलि जेठ वर सुन्दर, उहे हउवें सिरिराम ।
उनही के तिलक चढ़ाव, मोरे बावा हो, उहे हउवें सिरिराम ॥'

थके-हारे जनक को सीता ने स्थान तो बताया। राजा दशरथ के चार पुत्रों में राम ही सुन्दर हैं, वही सीता के विवाह के योग्य हैं।

लोकगीतों में प्रत्येक वर 'दशरथ पुत्र राम' होता है और प्रत्येक कन्या 'जनक नन्दिनी सीता' होती है। हिन्दू समाज में लड़की का पिता लडके वाले के समक्ष झुका रहता है। लडकी के पिता ही नहीं, वरन् उसके सगे-सम्बन्धी भी सहमे रहते हैं कि हम लड़की पक्ष के ही हैं। मण्डपाच्छादन के इस गीत में इसी भाव का अंकन हुआ है—

''धाऊरे नउवा, धाऊरे बरिया, हमरी अयोध्या लगे जाहो।
हमरी अयोध्या में पान वहुत हवे पानन मांडो छवाई॥
काहे राम जी विनती करत हैं, लछिमन चिरिया हमार।
मानुस देह पान कहां पइहों तिनकन माड़व छवावो ॥
× × × ×
हमरी अजोधेयामें चननु वहुत हवे चनन का खम्भ गड़ाव।
काहे रामजी विनती करतहो काहें लछिमन चिरिया हमार।
मानुस देहिं चनन कहाँ पइहो, बाँसुनि खम्भ गड़ावो "

सामान्य व्यक्ति के सामर्थ्य का अत्यन्त मनोहर रूप में वर्णन हुआ है। राम के रूप में बैभवशाली वर का चित्रण किया गया है। वर-रूप राम जनकपुर के नाई और बारी को चन्दन के खम्भों पर पान का छाजन बनाकर मण्डप रचने का आग्रह करते हैं। मण्डप के नीचे मोतियों का चौका पूरा गया हो और सोने का कलश रखा गया हो। परन्तु कन्या पक्ष की

क्षमता से परिचित नाई और बारी नीतिकुशलता से प्रत्युत्तर देकर उन्हें शान्त करते है। उनका कथन है कि मण्डप-रचना के निमित्त ये बहुमूल्य पदार्थ साधारण मनुष्यों को प्राप्त नहीं होते हैं। मनुष्य तो बांस के खम्भे पर फूस का छाजन देकर ही मण्डप का निर्माण करता है। मण्डप के नीचे आटा का चौक पूर कर मिट्टी का कलश रखा रहता है। प्रायः वर-पक्ष के व्यक्ति कन्या-पक्ष को झुका हुआ एवं हीनता से युक्त देखकर प्रसन्न होते हैं। नाई और बारी के कथन से राम को यह आश्वासन मिलता है कि अयोध्या में समस्त वस्तुएँ इसलिए प्राप्त हैं कि वह देवपुरुषों की नगरी है और जनकपुर में सामान्य मनुष्यों का वास है। इसीलिए समस्त वस्तुएँ अप्राप्य हैं।

विवाह जीवन की एक रोचक आश्चर्य-जनक घटना है जिसमें दो अज्ञात हृदय परस्पर मिलते हैं और पारस्परिक सहयोग के लिए आजीवन प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। लोक-संस्कृति में इस मंगलमय अनुष्ठान को कई अनुष्ठानों से पावन बताया गया है। जहां तक जीवन संगिनी का प्रश्न है हर पुरुष को उत्सुकता रहती है 'कैसी होगी'। दूल्हा बने राम के मन में मंथन हो रहा है, 'सीता कैसी हैं।' बारात आगे बढ़ रही है, वैसे ही बढ़ रही है राम की उत्सुकता-

"जब वरियतिया गोयँड भिरि आयो,
भँटवा लीहले भरमाय, आरे मोरे बाबा।
तोहरा के देबों भांट, चढ़ने के घोड़वा,
मोरे आगे सीता वखान, आरे मोरे बाबा।
सीता की सुरति हम कहँवा ले बरनो,
चाँद सुरुज छिपि जाई; आरे मोरे बाबा।
राम ले सीता वड़ी हवी सुन्दरी,
दसरथ कुल ऊँजियारी, आरे मोरे बाबा।

× × × ×

तोहरा के देबो सरहज सोने की टिकुलिया;
मोरे आगे सीता बखान, आरे मोरे बाबा।
सीता की सुरति हम कहँवा ले बरनो,
चांद सुरज छिपि जाई, आरे मोरे बाबा।
राम ले सीता बड़ी हवी सुन्दरी,
दसरथ कुल ऊंजियारी, आरे मोरे बाबा।

जनकपुर के नजदीक पहुंचने पर यशोगान गाता हुआ चारण राम को रोकता है। राम उसे घोड़ा देने का वादा करते हुए कहते हैं कि तुम मेरे सामने सीता का गुणगान करो। चारण अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहता है; सीता के सौन्दर्य का मैं कहां तक वर्णन करूँ, उनके सौन्दर्य के समक्ष चन्द्रमा और सूर्य भी मलिन पड़ जाते हैं। सीता राम से भी अधिक सुन्दर तथा दशरथ कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाली हैं। राम अपने को रोक नहीं पाते हैं, दासी, पण्डित, तथा सीता की भाभी अर्थात् अपनी सरहज सबसे यही कहते हैं "मोरे आगे सीता बखान।" सबसे एक ही उत्तर पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

लोक में व्याप्त ये गीत युग के दर्पण कहलाते हैं। जन-जीवन का निर्माण और सरल अनुभूतियां गीत के स्वरों में बँधकर अपनी प्रभावशीलता का युगव्यापी प्रसार करती है। समाज में व्याप्त दहेज की प्रथा आज से नहीं, वरन् अनादि काल से चली आ रहीं है। इसलिए कहा भी गया है, "सत्रु के धिया जनि होय।"

गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' में जनक के द्वारा बहुत सा दहेज दिलवाया है—

'भरि-भरि बसहँ अपार कँहारा,
पठए जनक अनेक सुसारा ॥
राउ अवधपुर चहत सिधाए।
विदा होन हम यहाँ पठाए ॥

किन्तु दशरथ ने दहेज के लिए कहीं ठनगन तो नहीं किया है। इन गीतों के दशरथ ऐसे नहीं हैं, वह लड़के के पिता हैं —

"अपने महल चढ़ि चितवे कोसिला रानी,
काहें राम आवेले अकेल ।
किया सीता आन्हरि, किया सीता लंगड़ि,
किया सीता कुलवाक हानि ॥
नाहीं सीता आन्हरि, नाहीं सीता लंगड़ि,
नाहीं सीता कुलवाक हानि ॥
सीता क बाबा हो दाहेज थोर देले,
ओही राम आवेले अकेल ।
दाहेज-दाहेज जनि कर राजा हो,
दाहेज नेटुवा क नाचि ॥
पुतवे पतोहिया राजा घर भरि जइहे,
घनि-घनि लगनि तोहारि ॥

इस गीत ने दहेज का असली रूप दिखाया है । दशरथ अपने बेटे को लेकर लौट आए । बहू तो तब आएगी जब दहेज पूरा होगा । कौशल्या बेटे-बहू की बाट निहार रही हैं, दूर-से देखती हैं, राम अकेले आ रहे हैं. सीता साथ में नहीं है । मन शंकाओं से भर उठता है । पूछती हैं, क्या सीता अन्धी हैं या लगड़ी हैं क्या सीता हमारे कुल के लिए कलंक हैं, क्यो राम अकेले आ रहे हैं? प्रत्युत्तर में दशरथ सबका नकारात्मक उत्तर देते हुए बतलाते हैं कि सीता के पिता ने दहेज कम दिया है, इसी से राम अकेले आ रहे हैं । कौशल्या उन्हे समझाती हैं "आप दहेज के लिए मत लालायित होइये । दहेज की तुलना उस नट के नृत्य से की है जो एक स्थान पर नृत्य दिखाकर फिर कहीं और चला जाता है । दहेज भी वैसा ही क्षणिक है। बेटे और बहू से तो घर भर जायगा। लोग आप के भाग्य की प्रशंसा करेंगे ।

पुत्रजन्म तथा विवाह के गीत उमंग और उत्साह के होते हैं, इनकी भाषा की शुद्रता के लिए कोई कसौटी नहीं होती । हृदयमें उठे उद्गार लय छन्दों में बद्ध होकर कोकिल कण्ठों से फूट पड़ते हैं। राम और सीता भी इन गीतों में घुले मिले हैं । दम्पति के प्रेम-सुलभ मनोविनोदों की अभिव्यंजना लोक-गीतो में प्राप्त होती हैं। सीता जहाँ नारी-सुलभ गुणों से युक्त दशरथ की पुत्र-बधू है, वहीं मानिनी सीता का दर्शन भी इन गीतों के माध्यम से होता है। अश्वमेघ यज्ञ के समय राम स्वयं सीता को लौटाने के लिए जाते हैं, सीता के समक्ष पहुँचकर उनका धैर्य टूटा जाता है । अपने जीवन की निस्सारता एवं शून्यता को व्यक्त करते हुए, सीता से अयोध्या लौट चलने का अनुरोध करते है । सीता आँखों में अपार करुणा भरकर राम को देखती है और धरती में समा जाती है —

"सीता अँखिया में भरली वियोग त एकटक देखेली हो।
सीवा धरती में गइली समाय, कछु नहीं बोलेली हो।

यहाँ पीड़ा की चरमात्रस्था पर पहुँची हृदय-स्पर्शी भाव-धारा विद्यमान है ।

लोक-जीवन सर्वथा नियमों और बन्धनों से मुक्त होता है। ऐसे ही मुक्त ये गीत हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से कथा दोषपूर्ण होने पर भी, ये गीत स्वतंत्र हैं, सरसता एवं सरलता से पूर्ण हैं। महिलाओं के कोकिल कण्ठों से निकले ये गीत अन्तर्मन को छूने वाले होते हैं । इन गीतों में अंकित राम का एक अपना रूप है । वे भक्त तुलसी के राम नही है । वरन् जनमानस के हृदय में विचरण करने वाले राम हैं। समाज में व्याप्त अच्छाइयों एवं बुराइयों से युक्त हैं। राम के जिस रूप का चित्रण किया गया है उसमें वे पूर्ण हैं । भक्ति गीत में राम अपने सेवक की रक्षा के लिए तत्पर हैं। यदि उनके जन्म का वर्णन है तो माता के मन मे पुत्र के प्रति उठने वाला स्नेह हिलोरें मार रहा है। कहीं, सीता जैसी पत्नी को अथोर प्यार मिल रहा है तो कहीं उसे पतित्यक्ता होकर जंगल का जीवन व्यतीत करना पड़ता है । जिस समय ये गीत महिलाओं के कण्ठों से फूट पड़ते हैं, उस समय एक समा

बँध जाती है जिसमें श्रोता डूब जाता है। वाता-वरण इन गीतों की स्वर-लहरी से झंकृत हो उठता है। वह माधुर्य और उन्माद एक अलग रूप लेता हैं, उसे व्यक्त करना असंभव है।

इन गीतों के बोल कभी लिपि-बद्ध नहीं किये गये। केवल श्रुति के माध्यम से प्रत्येक नई पीढ़ी अपनी प्राचीन पीढ़ी से गीतों की निधि प्राप्त करती आ रही है। पुराने गीतों के स्थान पर नए गीत जन्म लेते हैं और गीतों का जीवन चिरं-तन बनकर सतत रूप में प्रवाहित होता रहता है।

राल्फ विलियम्स ने अपने विचार को अभि-व्यक्त करते हुए कहा है "लोक-गीत न पुराना होता है न नया। वह जंगल के एक वृक्ष के समान है जिसकी जड़ें तो दूर धरती में धँसी हुई हैं पर जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ, पल्लव और फल फूलते रहते हैं।"

सत्य ही है समाज रूपी उद्यान में बहुत गहराई तक इन गीतों की जड़ें अनन्त काल तक जमी रहेंगी और, उसी के साथ सदैव जीवन्त रहेंगी दशरथ-सुत राम तथा जनकनन्दिनी सीता

-अध्यापिका
डी० ए० वी० बालिका उच्च विद्यालय,
मऊनाथभंजन, आजमगढ़, (उत्तरप्रदेश)

परमानंद कृपायतन, मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम॥

× × ×

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल॥

× × ×

हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम सब काम तजि, अस बिचारि मन माहिं॥

× × ×

जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥

+ + +

श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥

भारतीय साहित्य में राम

—डा० रामदयाल कोष्टा 'श्रीकांत', एम०ए०, पी-एच० डी०

हिन्दू समाज की सबसे बड़ी धरोहर उसका वैदिक साहित्य है। उसमें उसकी आस्थाओं, श्रद्धा, भक्ति तथा मानव-जीवन-मूल्यों का निरन्तर पूजन होता रहता है। हमारा समस्त भारतीय साहित्य भी उसी की धुरी पर घूम रहा है। हिन्दू समाज की जीवन-पद्धति के तार वेदों से ही झंकृत होते रहते हैं। वेदों की अमूर्त भावना ही कालान्तर में भक्ति का आवरण लेकर मूर्त की ओर क्रमशः अग्रसर होती रही।

चिन्तन के क्षेत्र में जहां हमने निर्गुण, निराकार, अकल, अनीह और अव्यक्त की आराधना की, वहीं भावना के आधार पर सगुण, साकार और लीला-पुरुषोत्तम की भी अवतारणा हुई। मानव की भावना ने जैसे-जैसे रंग भरे, वैसे-वैसे ही हमारे देवी-देवताओं का अवतार होता गया। लोक-कंठों के साथ ऋषि-मुनियों और भक्तों ने भी अपनी-अपनी कल्पनाओं को साकार किया। लीला पुरुषोत्तम के रूप में जहां हमने कृष्ण के चरित्र का गुणगान किया, वहीं मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में हमने राम के चरित्र का भी अनुकरण कर मानव-जीवन के पथ को प्रशस्त किया।

राम का अवतरण हमारे साहित्य में किस प्रकार हुआ, इसकी भी लम्बी कहानी है। वेदों से लेकर आधुनिक साहित्य में राम को हमने अनेक रूपों में देखा।

वाल्मीकि ने राम के चरित्र की जो अवतारणा की, वह मानव-स्वभाव की अप्रतिम कहानी है। राम की ऐतिहासिकता ने किस प्रकार मानव का स्वरूप ग्रहण कर हमारे जीवन का शृंगार किया, इसे भी समझ लेना आवश्यक है।

राम शब्द की व्युत्पत्ति

'रमते इति रामः' 'जो मन में रमण करे वही राम है। वैसे राम शब्द का अर्थ ही सुहावना, आनन्ददायक और हर्षदायक होता है। इस प्रकार, 'राम' शब्द में हमारी भावनाओं ने हर्ष, आनंद और मनोरमता का आरोप किया है। सायण ने भी 'राम' शब्द का अर्थ 'रमणीय पुत्र' माना है। 'जेंदअवेस्ता' में भी 'रामहुवास्त्र' का उल्लेख पाया जाता है, जिसमें राम का अर्थ है शान्ति और विश्राम। हुवास्त्र का अर्थ 'चरागाह' माना गया है। अतः राम हुवास्त्र का अर्थ हुआ। चरागाह में विश्राम। प्रारंभ में वायु तथा मिथ्र से राम-हुवास्त्र के लिये प्रार्थना की जाती थी। कालान्तर में रामहुवास्त्र ने स्वयं देवता का रूप ग्रहण कर लिया।

वेदों में राम

वेदों में राम की कल्पना निराधार नहीं है। यद्यपि उनमें यज्ञों और अनुष्ठानों का विधान है, तथापि प्रकृति के रहस्यमय रूपों की वन्दना कालान्तर में आरोपित भावनाओं के कारण साकार होती गयी। राम कथा का मूल स्रोत खोजने वाले विद्वानों ने ऋग्वेद के दशम मंडल में राम के बीज देखे है जिसमें श्लोक है:—

प्रतद्दुःशीम पृथवाने वने प्रारामे वोचमसुरे मघवत्सु
येयुक्त्वाय पंच शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्॥

इसका अर्थ हैं.......मैंने दुःशीम पृथवान् वैन और 'राम' इन यजमानो के लिये यह सूक्त गाया है। इन्होंने पांचसौ घोड़ों के रथ जुतवाये जिससे उनका मुझपर अनुग्रह चारो ओर फैल गया। साथ ही, कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों में 'इन्द्र' नाम से पूजित व्यक्तित्व

कालान्तर में ऐतिहासिक पुरुष राम के गुणों पर आरोपित होकर पूजित होने लगा। इन्द्र हमारे साहित्य में मेघ, बज्रपात, आंधी और वृष्टि का देवता माना गया हैं, । इसी भाव का सृजन असीरियन साहित्य में भी पाया जाता है। उसमें एक असीरियन देवता का नाम 'रम्मन' अथवा 'रम्मानु' कहा गया है । हिब्रू में इसे 'रिमोन' और सीरियन में 'हदाद' नाम से सम्बोधित किया गया है, जो इन्द्र ही के समान आँधी, मेघ और वृष्टि का देवता माना गया है। हिब्रू में 'रम' धातु का अर्थ ऊंचा या श्रेष्ठ कहा गया है । तात्पर्य यह है कि भारत के अतिरिक्त पाश्चात्य देशों में भी 'राम, शब्द की श्रेष्ठता और महानता का गान हुआ है ।

वाल्मीकि-रामायण में 'राम'

आदिरामायण के रचयिता बाल्मीकि माने जाते हैं, जिन्होंने राम को मानवीय गुणों से विभूषित करते हुए उनमें उदात्त एवं अनुदात्त भावनाओं का आरोप किया है। राम इक्ष्वाकु-वंशीय क्षत्रिय नायक के रूप में प्रकट होते हैं। उनमें सौन्दर्य की अपेक्षा भुजबल की श्रेष्ठता है। बाल्मीकि ने राम में धर्मज्ञता, कृतज्ञता, सत्यभाषण, दृढ़ संकल्प, सर्वभूतहारी, आत्मवान्, जितक्रोध, अनसूयक, घृतिमान्, बुद्धिमान्, नीतिवान्, वाग्मी, शुचिता, इन्द्रियजयी, समाधिमान्, तत्वज्ञ, साधु आदि विलक्षण गुणों से अलंकृत किया है : वे समुद्र के समान गंभीर, हिमालय के समान धैर्यवान्' विष्णु के समान वीर और कालाग्नि के समान युद्ध को जीतने वाले हैं। इतने गुणों से विभूषित होने के साथ ही उनमें मानवीय दुर्बलताओं का भी आरोप किया गया है।

बाल्मीकि-रामायण को देखने से ज्ञात होता है कि निस्सन्देह वाल्मीकि को भी अपनी कथा का स्रोत लोककंठों से प्राप्त हुआ होगा । इसीलिये, कविवर दिनकर ने रामायण को तीन कथाओं का योग कहा है। पहली कथा अयोध्या के राजमहलों की और दूसरी बानरों की तथा तृतीय दक्षिण की कथा रही होगी। इन कथाओं का कलात्मक संयोजन 'कर वाल्मीकि ने राम जैसे नायक की रचना कर अमरत्व प्राप्त किया ।

अन्य रामायणों में राम

तुलसी एक कुशल कवि होने के नाते "रामायण सतकोटि अपारा" कहकर बच निकलते हैं। उन्हें तो आदर्श चरित्र का निर्माण करना था जो लोक-हितकारी और भारतीय आत्मा का निष्कलुष रूप हो । अध्यात्मरामायण में राम को विष्णु, शिव और सूर्य से अभिन्न माना है। कृतिवास रामायण में शिव और राम को अभेद रूप में निरूपित करते हुए "शिवराम अभेद कहेन शूलपाणि" कहा है। आनंद रामायण में राम के एक-पत्नीव्रत की प्रशंसा में कहा गया है कि इसके फलस्वरूप कृष्ण जन्म में उन्हें अनेक पत्नियों का सुख मिलेगा। भुसुण्डि-रामायण में राम की दो पटरानियों के अतिरिक्त सहस्रों पटरानियों का उल्लेख मिलता है। साथ ही उनके बहुत से विवाहों का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार, 'नृत्य-राघव-मिलन' तथा 'सिद्धान्त-तत्त्व-दीपिका' मैं उनके अनेक विवाहों का वर्णन प्राप्त होता है। साथ ही, रामायण-तत्त्व-दर्पण में राम को परब्रह्म तथा विष्णु, शिव, ब्रह्मा, हरिहर, त्रिमूर्ति का अवतार माना गया है। जैन और बौद्ध साहित्य में भी राम के महान् गुणों का वर्णन प्राप्त होता है । तिब्बती रामायण में भी राम को विष्णु का अवतार माना गया है ।

सम्प्रति 'महारामायण' लोमशरामायण, मंजुलरामायण, रामायण-महामाला, सोहार्दरामायण

योगवाशिष्ठ, आदि, अनन्त रामायण हैं जिनमें राम का चरित्र वर्णित है। इन सब रामायणों का तत्व ग्रहण कर तुलसी ने जिस राम के चरित्र का निर्माण किया, वह अपने आप में अप्रतिम है।

महाभारत में राम

शोध-परक दृष्टि से देखा जावे तो ज्ञात होता है कि दाशरथि राम का उल्लेख सर्वप्रथम रामायण और महाभारत में ही पाया जाता है। महाभारत के लगभग चार स्थलों में राम से संबन्धित कथा का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें 'रामोपाख्यान' सबसे विस्तृत और महत्वपूर्ण स्थल है जिसमें राम की राज्यव्यवस्था और अश्वमेघयज्ञ तथा दस हजार वर्षों तक राज्य-संचालन करने का उल्लेख है। आरण्यक-पर्व में राम को विष्णु का अवतार ही माना गया है।

पुराणों में राम

बाल्मीकि ने राम का मानवरूप में चित्रण करते हुए, उन्हें मानवोचित गुणों से विभूषित किया था, परन्तु पुराणों में आते-आते राम को अवतार-रूप में ग्रहण कर लिया गया। मानव विकास की यह विशेषता रही है कि उसने सामान्य गुणों से परे व्यक्तित्व को अवतार मानकर उसकी आराधना की है। विष्णुपुराण में राम को विष्णु का अवतार माना गया, जिसमें राम बनवास से लेकर रावण-बध तक की कथा में राम का चरित्र वर्णित हैं। रावण बध के उपरान्त राम के राज्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। पद्मपुराण में भी राम का ब्रह्मराक्षस से युद्ध, शाप से मुक्ति और उनके शौर्य का वर्णन है। उन्होंने बालकपन में ही अनेक राक्षसों का बध किया था। साथ ही, राम ने अपनी शक्ति से समुद्र को सोख लिया था तब सागर ने उन्हें वरुणास्त्र प्रदान किया था जिसके द्वारा उन्होंने पुनः जल भर दिया। 'शिवपुराण' में राम ने राक्षसों का बध करने के लिये शिव का पूजन किया था, जिससे प्रसन्न होकर शिव ने दर्शन देकर अनेक शस्त्र प्रदान किये थे। उन्होंने शिव से अवतार लेकर सहायता के लिये भी याचना की थी। 'गुणभद्र' के 'उत्तरपुराण' में राम और लक्ष्मण को पूर्व जन्म में भाई न मानकर मित्र माना है, तदनन्तर दूसरे जन्म में राम के रूप में प्रकट होकर उन्होंने देवत्व प्राप्त किया। इस प्रकार वायुपुराण, भागवत-पुराण, कूर्मपुराण, अग्निपुराण, नारद पुराण, ब्रह्मपुराण, आदि में राम के चरित्र का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें अवतार रूप में उनके सद्गुणों का वर्णन किया गया है।

संस्कृत साहित्य में राम

संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में भी राम का चरित्र भरा पड़ा है। राम का आधार लेकर संस्कृत के अनेक महाकवियों ने अपनी लेखनी को धन्य किया है। कालिदास के 'रघुवंश' के नवें सर्ग से पन्द्रहवें सर्ग तक राम कथा वर्णित है।

इसी प्रकार कुमारदासकृत 'जानकी-हरण' क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण मंजरी' तथा दशावतार, भासकृत उदारराघव उल्लेखनीय हैं। उदाराघव में रामको विष्णु का पूर्ण अवतार माना गया है। इसी प्रकार, जानकी-परिणय, रामरहस्य, प्रतिमा नाटक और भवभूतिकृत उत्तररामचरित, जयदेवकृत प्रसन्न राघव भी विशेष उल्लेखनीय हैं जिनमें राम के चरित्र को लेकर सुन्दर कथाओं का निर्माण किया गया है। राम के आदर्श क्षत्रिय राजा के रूप में

होने के कारण गीता में स्वयं कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि शस्त्र धारण करनें वालों में मैं 'राम' हूँ ।

हिन्दी साहित्य में राम

हिन्दी भाषा में तुलसी से पूर्व सूर ने अपने सूरसागर में राम के चरित्र का वर्णन किया था । इसी प्रकार केशवदास ने भी रामचन्द्रिका लिखकर राम के चरित्र पर अपनी लेखनी चलाई, परन्तु उन्होंने अपनी अलंकार प्रियता में ही मौलिकता का सृजन किया । इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक संत कवियों ने भी राम के अवतारी स्वरूप और उनके सगुण और निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया । इस प्रसंग में मध्यकालीन संतकवि अग्रदास, नाभादास, सेनापति, हृदयराम, प्राणचन्द, बालदास, लालदास, रामप्रियाशरण, जानकी रसिकशरण. प्रियादास. कलानिधि. के अतिरिक्त महाराज विश्वनाथसिंह, प्रेमसखी, राम गुलाम द्विवेदी, जानकीचरण, शिवानंद, जनक, लाड़िलीशरण और महाराज रघुराजसिंह प्रमुख हैं ।

तुलसी के राम

तुलसी ने 'नानापुराण निगमागम सम्मतं यद्' लिखकर अपनी जो मौलिक उद्भावना की, उसके आधार पर राम भारतीय जनमानस में आदर्श रूप में पूजित होकर भारतीय आत्मा के कण्ठहार बन गये । तुलसी ने राम के जीवन को इतना लोक-व्यापी बना दिया कि राम के मंगलमय रूप के प्रति सभी के हृदय में आदर की भावना उत्पन्न हो उठी । राम मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में हिन्दू परिवार के अंग होते हुए भी ब्रह्मस्वरूप हैं । वे दया, करुणा, कर्तव्यपालन और सत्य के साकार स्वरूप बन गये हैं । वे साधारण जनमानस के लिये अनुकरणीय और भक्तों के कंठहार भी हैं । राम ब्रह्म होकर भी भक्तों के दुःखों को दूर करने के लिये अवतार रूप में प्रगट होते हैं और मानवीय आचरण करते हुए दुष्टों का संहार करते हैं । इसी से तुलसी ने उन्हें 'विधि हरि शंभु नचावन हारे' के साथ-साथ 'विरही इव प्रभु करत विषादा' भी लिखा है । यद्यपि कबीर ने भी राम की चर्चा की है, तथापि उन्होंने अवतार का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया । उनके राम नाम, रूप और उपाधि से परे हैं, परन्तु तुलसी के राम ''अकल अनीह अभेद' होते हुए भी, 'जब-जब होय धर्म की हानी' पर अवतार ग्रहण करते हैं । उनके निर्गुण और सगुण रूप में कोई अन्तर नहीं है । वे 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा' लिख देते हैं ।

निष्कर्षत:, कहा जा सकता है कि तुलसीने परात्पर ब्रह्म को सगुण साकार रूप में अवतरित कर उन्हें सत्य, शील और सौन्दर्य की त्रिवेणी में स्नान कराकर लोकमंगलकारी रूप प्रदान किया । तुलसी के राम लोक-मानस से जितना सामीप्य स्थापित करते हैं, उतना अन्य कोई भी नहीं कर पाता । इस प्रकार, तुलसी ने राम के आदर्श चरित्र का निर्माण कर भारतीय समाज में आदर्श की प्रतिस्थापना करने में जो सहयोग दिया हैं, वह अप्रतिम और अलौकिक है ।

इसके अतिरिक्त, बीसवीं शताब्दी के कवियों तथा लोकभाषा के कंठों में भी राम के चरित्र का यशोगान हुआ है । रामचरित उपाध्याय, डा० बलदेव प्रसाद'मिश्र, पं० रामनाथ ज्योतिषी, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त तथा रामकिशोर अग्रवाल 'मनोज' आदि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । इस प्रकार भारतीय साहित्य में

राम के चरित्र का यशोगान उसी प्रकार प्रवा-हित हो रहा है, जिस प्रकार गंगा की पवित्रता और महानता कलकल निनाद करती भारतीय आत्माओं का कल्याण करती हुई अवाध रूप से गतिशील है। लगता है, भारतीय आत्मा का स्वर अनन्तकाल तक राम के चरित्र से झंकृत होता रहेगा और प्रेरणा प्राप्त कर लोक-कल्याण करता रहेगा।

—अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
दा० ता० जैन महाविद्यालय,
१६४, उत्तर मिलौनीगंज, जबलपुर

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ॥ १ ॥
दीन, सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥ २ ॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी, बिगरिऔ बनि जाइ ॥३॥
जानकी जगजननि जनकी, किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव, नाथ-गुन-गन गाइ ॥ ४ ॥

—विनय पत्रिका

गोस्वामी तुलसीदास – सैद्धान्तिक अद्वैती और व्यावहारिक भक्त

—डा० : सी० पी० राजगोपालन नायर, एम०ए०, पी–एच० डी०, डी० लिट्

'भक्ति-रसायन, के रचयिता श्री मधुसूदन सरस्वती के समान गो० तुलसीदास सिद्धांत-पक्ष में अद्वैत के अनुयायी और व्यावहारिक दृष्टि से भक्त थे। भक्ति-योग की शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करने वाले श्री मधुसूदन सरस्वती ने आवरण-रूप माया तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है–
"सदाज्ञातश्च तद्ब्रह्म मेयङ्कान्तादि मानतः" । १
मायावृत्तितिरोभावे वृत्त्या सत्त्वस्थया क्षणम् ॥

अज्ञात ब्रह्म ही कान्तादि-विषयक प्रमाण से प्रमेय होता है, आवरण–रूप माया के तिरोभाव होने पर अखण्ड–चैतन्य का ग्रहण होता है। दार्शनिक भक्त–कवि गो० तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' के द्वारा हिन्दी-साहित्य में एक नये मार्ग का उद्घाटन किया। इस मार्ग पर समकालीन दार्शनिक आचार्यों तथा भक्ति सिद्धान्त के प्रचारकों का अप्रतिम प्रभाव प्रकट हुआ है। यह नया मार्ग समन्वय का मार्ग था। उन्होंने अपनी विचार-पद्धति से हिन्दी में लोक–प्रिय विचारों को पुनः प्रतिष्ठित कराने के श्रम में 'मानस' की रचना की। सिद्धांतों के जाल से उलझ कर भटकने का प्रयत्न उनकी रचना में कहीं भी प्रकट न हुआ। लेकिन, रामकथा को जनता तक पहुंचाने के लिए सिद्धांतों की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। तुलसी ने दार्शनिक विचारों का विश्लेषण करने का प्रयत्न नहीं किया। ज्ञान गर्भित भक्ति को प्रमाण मानकर लिखने का प्रयास किया। समकालीन काशी के दार्शनिक एवं भक्तिपरक वातावरण से प्रभावित होकर उन्होंने अद्वैत की भावभूमि तक पहुंचने का प्रयत्न किया और व्यवहार के क्षेत्र में भक्ति को जन-साधारण के लिये ज्ञात–रूप को अपनाया। सच्चे भक्त के रूप में उन्होंने अपने आराध्य–पुरुष की आराधना की। उनकी यह भक्ति अद्वैत की पराकाष्ठा है। श्रुति-सम्मत तथ्यों के गहन अध्ययन के फलस्वरूप अंत में अद्वैत-परक सिद्धांतों को अपनाते हुए, व्यावहारिक पक्ष में एक सच्चे भक्त के रूप में वे प्रकट हुए। जिस प्रकार श्रीमधुसूदन सरस्वती ने आवरण–रूप माया के तिरोभाव होने पर अखण्ड–चैतन्य के प्रभाव के प्रस्फुटित होने का विचार व्यक्त किया (भक्ति–रसायन १–१२) उसी प्रकार गो० तुलसीदास ने भी अपने समन्वयात्मक मार्ग को प्रशस्त किया

व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप ।२
भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप ।।'

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में गो० ने यह विचार प्रकट किया है कि ज्ञानी को भक्ति–समन्वित मार्ग ही अपनाना है। यह वास्तव में उनकी सन्तुलित विचार–धारा का प्रस्फुटित रूप है।

१– भक्तिरसायन (१-१२) श्री मधुसूदन सरस्वती।
२– रामचरित मानस, बालकाण्ड (२०५)

'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।

साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ।
भक्ति हीन मोहि प्रिय नहि सोऊ॥'[3]
(उ० काण्ड-४४-३)

इस समन्वित विचार के पीछे तुलसी का एक अतुलनीय मार्ग सिद्ध हुआ है। शुष्क ज्ञान के मार्ग से जनता के हृदय तक पहुँचना बहुत कठिन था। अतः आचार्यों द्वारा संचालित सिद्धान्त-परक मार्ग से अलग होकर, भक्ति की धारा के प्रवाह से गोस्वामीजी ने जन-जन के हृदय की तह तक पहुँच कर, अपनी-काव्य-सरिता को अनश्वरता प्रदान की।

'भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा॥'[4]
(उत्तर काण्ड-११४)

यह विचार, भक्ति और ज्ञान में अभेद का विचार, वास्तव में भारतीय चिन्तन-पद्धति की पराकाष्ठा का सूचक है। तत्त्व-ज्ञान की चर्चा के समय तक कवि के रूप में आपने विचारों को साकार रूप दिया। जन-जन के मन में छाई उदासी को नष्ट करने के लिये युग की परम्परा में विकसित शांकर सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हुये, अपने आराध्य के प्रति भक्ति भाव किया। जिस प्रकार श्रीमधुसूदन सरस्वती ने—

'कृष्णात् परम् किमपि तत्त्वमहम् न जाने'

कहकर कृष्ण को सर्व-श्रेष्ठ माना, उसी प्रकार तुलसी ने सारे संसार को 'सिया-राम मय सब जग जानी' कहकर राम को अपने आराध्य देव के समान संसार के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए सिद्धांत-पक्ष में अद्वैत और व्यवहार-पक्ष में भक्ति को अपनाया।

—प्रोफेसर,
गवर्नमेन्ट आर्ट्स कालेज,
ट्रिवेन्द्रम (केरल)

३- रामचरित मानस (उत्तर काण्ड ४४-३)
४- रामचरित मानस (उ० का० ११४-७)

सुने रे मैंने, निरवल के बल राम।
पिछली साख भरूँ सन्तन की, अड़े संवारे काम॥
जब लगि गज बल अपनो वरत्यो, नेक सरयो नहिं काम।
निरवल ह्वै बल राम पुकारयो, आये आधे नाम।
द्रुपदसुता निरवल भई तादिन, तजि आये निज धाम।
दुःशासन की भुजा थकित भई, वसन रूप भये श्याम॥
जपवल तपवल और वाहुवल, चौथो है वल दाम।
'सूर' किशोर कृपा ते सववल, हारे को हरि नाम॥

—सूरदास

विदेशी विद्वानों की दृष्टि में 'मानस' और मानसकार तुलसी

—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

'रामचरित मानस' मात्र संकट-बोध की सामान्य उपलब्धि नहीं है, अपितु भाव, भाषा तथा शैली की सहजता, सरलता और व्यापकता के कारण न केवल हिन्दी-क्षेत्र में ही लोकप्रिय एवं सम्मानित है, अपितु देश-विदेश में भी प्रशंसित तथा समादृत हैं। इसका सार्वजनीन एवं सार्वदेशिक महत्व हमारे लिये जिस प्रकार गर्व और गौरव का विषय है, उसी प्रकार 'मानस' और मानसकार की विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का सर्वप्रथम श्रेय विलसन, गार्सा वँ तासी जैसे विदेशी विद्वानों को है। विदेशी विद्वान् ग्रियर्सन ने इसे यदि बाइबिल का समकक्ष ठहराया है, तो ग्राउज ने इसे बाइबिल से भी बढ़कर बतलाया है। उनकी दृष्टि में यह अश्लीलता-रहित नैतिकता का पोषक ग्रंथ है और इसमें दार्शनिक ईश्वरवादिता का भक्ति-मूलक प्रतिरोध भी है। फर्कुहर इसे यदि हिन्दुओं का महान ग्रन्थ मानते हैं, तो ग्रीव्ज इसे इसके रचयिता को अमरता प्रदान करने वाली कृति समझते हैं। मैक्फी इसे यदि हिन्दुओं का लोकप्रिय एवं प्रतिनिधि पुस्तक बतलाते हैं, तो 'के' महोदय इसकी गणना संसार-प्रसिद्ध श्रेष्ठ ग्रन्थों में करते हैं। हिल इसे यदि प्राच्य-दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कला-कृति स्वीकार करते हैं, तो एट्किंस इसे अवध के राजकुमार राम के जीवनचरित से बढ़कर कुछ और भी मानते हैं। इसी प्रकार, आलचिन इसे यदि एक अद्वितीय महाकाव्य के रूप में पाते हैं, तो वरान्निकाव इसे मानव-कल्याण के लिए कल्याणप्रद कृति समझते हैं।

'मानस' की आधार-सामग्री के विषय में विदेशी विद्वानों ने अपना-अपना विचार प्रकट किया है। ग्रियर्सन ने इसे बाल्मीकि-रामायण का उच्छिष्ट अथवा अनुवाद न मानकर, किसी स्वतन्त्र कथा का विस्तार बतलाया है। उन्होंने इसके आधार-ग्रन्थों में अध्यात्म-रामायण, भुशुण्डि-रामायण, वशिष्ठ-संहिता और प्रसन्न राघव का नाम गिनाया है। ग्रीव्ज भी इसे समान कांड-विभाजन के बावजूद रामायण का अनुवाद नहीं मानते हैं। फर्कुहर इसकी आधार-सामग्री में पुराने रामायण, योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, अद्भुतरामायण, हनुमन्नाटक और रामानन्दी विचारधारा का नाम लेते हैं। 'के' महोदय इसे समकालीन कलात्मक प्रभाव से प्रभावित रचना मानते हैं। कथा-आयाम और परिवेश में बहुत कुछ समानता स्वीकारते हुए भी वे शैलीगत अन्तर को इंगित करते हैं। कथा प्रसंगों के संयोजन में ही नहीं, वैचारिक विभिन्नता को भी वे लक्ष्य करते हैं। रामायण के राम, प्रक्षिप्तांशों को छोड़कर, शेष में मानव रूप में ही चित्रित हैं, जबकि 'मानस' के राम परम ब्रह्म के अवतार हैं। काव्य-रचना की दृष्टि से भी 'मानस' श्रेष्ठतर कृति है। मैक्फी और कार्पेन्टर का इनसे कोई उल्लेखनीय मत-भेद नहीं है, किन्तु मैकडूगल इस पर भागवत का भी प्रभाव स्वीकारते हैं। हिल महोदय

भागवत के अतिरिक्त प्रसन्नराघव की प्रेरणा भी पाते हैं। एटकिंस भेदो-पभेदों को स्वीकार करते हुए भी, रामायण का ही ऋण मानते हैं। आलचिन आधार-सामग्री के रूप में रामायण, महाभारत, भागवत, योगवाशिष्ठ अध्यात्मरामायण, भुशुण्डिरामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव और शांकराद्वैत का प्रभाव इंगित करते हैं। इसी प्रकार, कामिल बुल्के के अनुसार, मानसकार की आध्यात्मिक दृष्टि अध्यात्मरामायण पर आधारित है। परन्तु, स्वयं कवि के अनुसार, गुरु-मुख से सुनी हुई रामकथा की शेष स्मृति ही 'मानस' में विस्तार पा सकी है।

विदेशी विद्वानों ने मानस सम्बन्धी वाह्यान्तर प्रभाव और प्रेरणा की चर्चा भी की है। ऐसे विद्वानों में ग्रीव्ज, ग्राउज, ग्रियर्सन और मेकडूगल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ग्रीव्ज ने तो इसके समाज-पक्ष के आधार पर तुलसीदास को कबीरदास की तुलना में पिछड़ा हुआ तक कह डाला है। वास्तव में, यह भेद पिछड़ेपन का उतना ही है जितना दृष्टि-भेद का परिणाम है। इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक अराजकता के प्रति दोनों ही क्षुब्ध थे। गोस्वामीजी के समक्ष वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त समाज-व्यवस्था का कोई अन्य विकल्प न था, किन्तु कबीर का ध्यान समाज-व्यवस्था से अधिक उसकी बुराई तथा विशृंखलता पर केन्द्रित था। तुलसीदास सदाचार की स्थापना में समस्या का समाधान पाते थे, किन्तु कबीरदास समाज का दृष्टि-परिवर्तन कर अभेद दृष्टि द्वारा सामाजिक भेदभाव जैसी बुराई को दूर करना चाहते थे।

बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत इस्लाम और ईसाई प्रभाव का प्रसंग छेड़ा गया है और परस्पर मतैक्य न होने पर भी, अवान्तर-भेद से चर्चा कर दी गई है। परन्तु ऐसा करते समय ऐतिहासिक तथ्यों से अधिक कोरे अनुमान से काम लिया गया जान पड़ता है। यह सच है कि प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में विभिन्न देशों तथा जातियों के बीच कई समानताएँ पायी जाती हैं, किन्तु केवल इसी आधार पर सब समय यह कहना कठिन है कि किसने, कब, किससे, कितनी प्रेरणा अथवा प्रभाव ग्रहण किया है। चीन, ग्रीस, अरब, इजिप्ट, बेबीलोनिया, साइबेरिया, सुमेरिया, भूमध्यसागरीय और भारतीय जैसी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति में से कौन किसकी कितनी ऋणी है, यह आज भी विचारणीय विषय बना हुआ है और इसके लिये सतत प्रयास जारी है। प्राचीन मिथक की कई बातों पर से मिथ का आवरण हटाया नहीं जा सका है।

जहां तक इस्लाम के प्रभाव का प्रश्न है, वरान्निकोव ने इसे भाषा के आधार पर सिद्ध करना चाहा है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त अरबी, फारसी के कई शब्दों का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो संपर्क द्वारा यों भी संभव है। राक्षसों द्वारा प्रयुक्त आयुधों के लिए फारसी शब्दों का प्रयोग निस्संदेह समकालीन परिस्थिति, धार्मिक से अधिक राजनीतिक से प्रभावित है। इस लिए रघुराज के लिये 'साहिब' और राज-सभा के लिए 'दरबार' जैसे शब्दों के प्रयोग तत्कालीन परिस्थिति-जन्य परिवेश के अनुरूप ही है। कवि युगीन प्रभावों से अछूता एवं असंपृक्त नहीं रह सका है। मुस्लिम शासन-व्यवस्था में सर्वोच्च सत्ता को 'साहिब' कहने की परंपरा पूर्वप्रचलित थी। इसलिए तुलसी द्वारा अपने इष्टदेव के लिए 'साहिब' शब्द

का प्रयोग किया जाना न तो आश्चर्यजनक है न उलझन-पूर्ण। यह तत्कालीन जन-मानस की चेतना के अनुकूल ही है। यह भक्त और भगवान के बीच का भावात्मक प्रयोग होकर भी रक्त-संबन्ध का द्योतक नहीं हैं।

फिर भी वराग्निकोव का यह कथन विचारणीय है कि गोस्वामीजी को इस्लाम की सांस्कृतिक बाढ़ को अवरुद्ध करने के लिये ऐसे उपाय करने पड़े जिससे धर्मान्तरण की प्रवृत्ति को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन न मिले। उन्होंने तन-धन और संस्कृति की सुरक्षा के निमित्त बर्बर तथा आततायी शासकों से त्राण दिलाने के लिये भारतीयों में एकता स्थापित करने, नैतिक मनोबल बढ़ाने और दैवी सत्ता के प्रति प्रेम-संबन्ध अनुभव करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

ईसाई प्रभाव के संदर्भ में बहुधा अवतारवाद की चर्चा की जाती है। परन्तु ऐसे लोगों में परस्पर मतैक्य नहीं है। एक पक्ष 'मानस'-प्रतिपादित भक्ति में यदि ईसाइयत की छाप देखता है, तो दूसरा पक्ष उसके अप्रत्यक्ष प्रभाव की संभावना की ओर इंगित करता है। फिर तीसरा पक्ष सीधे भारतीय परंपरा के विकास में उसकी परिणति पाता है। तृतीय पक्ष के समर्थकों में ग्राउज और मैकडूगल जैसे विद्वान् अग्रणी हैं। ग्राउज ने कृष्ण और क्राइस्ट संबंधी समान किंवदंतियों को संयोगमात्र माना है, ऐतिहासिक आधार नहीं। मैकडूगल 'मानस' रचना के मूल में उस समाज की प्रेरणा को स्वीकार करते हैं जो ईसाई मतानुकूल व्यवस्था-सुधार के लिए उपयुक्त थी, परन्तु जिसके लिये ईसाई-मत के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव का होना आवश्यक न था। उनके अनुसार, तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन परिवर्तित समाज-व्यवस्था की उपज था। इसके विपरीत, फर्कुहर और कार्पेन्टर मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को दाक्षिणात्य ईसाइयों के संघर्ष से उत्पन्न प्रभाव का परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार, यह मात्र ब्राह्मणों द्वारा परिवर्तित निर्गुण-मत की प्रतिक्रिया न थी; अपितु ईसाई-मत के प्रभाव की परिणति थी। इसी कारण तुलसीदास के कई विचार ईसाई-मत के निकटवर्ती हैं। परन्तु, ग्रियर्सन इससे असहमति प्रकट करते हुए ईसाई-मत से तुलसीदास के सिद्धांतों की अनुकूलता पाते है। मेवफी इन सबसे भिन्न दोनों में प्रेम की प्रतिष्ठा और ईश्वरीय प्रभुता की स्थापना तथा कर्म के अवमूल्यन जैसी समानता देखते हैं। अन्त में, उनका यह कथन भी सारगर्भित है कि 'मानव-हृदय सर्वत्र समान है और स्वभावतः सभी ईश्वरीय अवतारों के प्रति आस्थावान् हैं तथा उनके प्रति प्रेम एवं भक्ति अर्पित करते हैं। इन भावनाओं की अभिव्यक्ति इस प्रकार की क्रिया तथा शब्दसमूह के माध्यम से होनी चाहिये जिससे सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता का आभास अक्षुण्ण बना रह सके।

ग्राउज ने मानसकार तुलसी को स्पेंसर तथा डिकेंस का समकक्ष ठहराया है और ग्रियर्सन ने उनकी तुलना उनके समकालीन शेक्सपियर से की है। परन्तु, ग्रीव्ज के अनुसार तुलसी की महान् कृति की भी अपनी कुछ सीमायें हैं। इसलिये शेक्सपियर से उनकी तुलना करना सर्वथा असंगत है। शेक्सपियर का प्रतिपाद्य मानव-रुचि के अनुकूल व्यापक है और मानसकार का उद्देश्य स्पष्ट ही भक्तिमूलक होने के कारण सीमित है। इसलिए, विभिन्न परिस्थितियों के बीच स्त्री-पुरुष के संबंधों में व्यापक दृष्टि की खोज करना निरर्थक है। फिर, तुलसीदास बहुजातीय हिन्दुओं में भी ब्राह्मण जाति के है। इस प्रकार तुलसी

दास महान कवि होते हुए भी सामाजिक संदर्भों में कबीरदास से भिन्न ही नहीं, विपरीत भी हैं।

वास्तव में, प्रत्येक कवि के क्षेत्र की अपनी सीमा और विस्तार है। इसलिए एक ही मापदण्ड के अनुसार एकाधिक कवियों की परस्पर तुलना करना न तो संगत है, न उचित। किसी का मूल्यांकन करते समय, उसके संदर्भों को भुला नहीं देना चाहिये। वरान्निकोव ने ठीक ही लिखा है, 'इतिहास और साहित्य का इतिहास तुलसीदास को केवल एक महाकवि, दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक विचारों के प्रवर्तक रूप में ही नहीं देखता, किन्तु उसे उस व्यक्ति के रूप में देखता है जो अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा तथा अपनी ऊँची मनोदृष्टि के द्वारा अपने देशवासियों की सहायता के लिए कठिनाई के दिनों में आया, जबकि प्राचीन भारतीय संस्कृति बहुत बड़ी विपत्ति से ग्रस्त थी।'

मानसकार तुलसी आराध्य ब्रह्मस्वरूप अवतारी राम के प्रति इतने अर्पित तथा एकनिष्ठ हैं कि क्षणभर के लिए न तो वे राम का ध्यान विस्मृत करना चाहते हैं, न एक पल के लिए भी उनको उपेक्षा इन्हें सुहाती है। इन्हें निरंतर रामनाम की धुन लगी रहती है। इनमें दार्शनिक दृढ़ता से अधिक एक भावुक भक्त की भाव-प्रवणता है। फलस्वरूप, ये प्रायः राम-विमुख रहने वालों के प्रति असहिष्णु तक हो जाते हैं। यह इनके पक्षपात अथवा संकीर्णता का परिणाम नहीं, अपितु इनकी निष्ठा और सच्चाई का प्रमाण है। इस प्रकार, तुलसी का 'स्वांतः-सुखाय' जाने अनजाने 'लोकहिताय' बन गया है।

—२२९ चक,
इलाहाबाद-३

१- चिड़ियों की तरह हवा में उड़ना और मछलियों की तरह पानी में तैरना सीखने के बाद अब हमें इन्सानों की तरह पृथ्वी पर चलना सीखना है।

—राधाकृष्णन

२- हे ईश्वर, मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कर कि मैं कभी किसी अत्याचार के सामने आत्म-समर्पण न करूँ।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सामाजिक समता और भगवान् बुद्ध

—आचार्य रामशंकर त्रिपाठी

सुविदित है कि बौद्धदर्शन अनात्मवादी है। शून्यता नैरात्म्य का पर्याय है। शून्यता सभी प्राणियों और वस्तुओं का स्वभाव हैं। शून्यता यद्यपि एक तथ्य है, किन्तु वह अपने आप में कोई वस्तु नहीं है, अपितु निषेधमात्र है। यह किसका निषेध करती है या इसका निषेध्य क्या है इसके बारे में ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण अक्सर बड़े-बड़े दार्शनिक कह दिया करते हैं कि शून्यता का अर्थ है- कुछ नहीं'। जब जीव, जगत्, कुछ नहीं है तो इस दर्शन के अनुसार न कोई समाज हो सकता है और न कोई सामाजिक व्यवस्था। फलतः सामाजिक समता की स्थापना में इसका कोई योगदान कथमपि सम्भव नहीं। लेकिन ये सारे निष्कर्ष शून्यता का अर्थ ठीक से न समझने के कारण उद्भूत हुए हैं। शून्यता का अर्थ कुछ नहीं नहीं है, अपितु उसका अर्थ है- 'सब कुछ'। नागार्जुन ने कहा है–

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किं न भवति शून्यता यस्य॥

अर्थात् जिसके मत में शून्यता है, उसी के यहां सारी व्यवस्था सम्भव है। जिसके मत में शून्यता नहीं, उस मत में कुछ भी नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि शून्यता का निषेध्य हमेशा अवस्तु होता है। अर्थात् जिसकी कथमपि किंचित् भी त्रिकाल में भी सत्ता नहीं है, और अज्ञानवश यदि उसकी सत्ता मान ली गयी है, तो वह कल्पित सत्ता ही शून्यता का निषेध्य है। आशय यह है कि शून्यता का निषेध्य वस्तु नहीं, अपितु अवस्तु है। जो वस्तु है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अर्थात् कारणों की अपेक्षा से उत्पन्न है और शून्यता उसका निषेध नहीं करती। वस्तु की जो स्वतः या स्वभावतः सत्ता है, या आत्मा और ईश्वर की सत्ता है वह नितान्त आरोपित है, अवस्तु है, अतः शून्यता केवल उसी का निषेध करती है। शून्यता परमार्थ सत्य है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुओं का धर्म या स्वभाव है। प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएँ संवृतिसत्य हैं। स्वभावसत्ता, स्वतः सत्ता, आत्मा, ईश्वर आदि संवृतिसत्य भी नहीं हैं। सारा जगत्, जीव और पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अतः शून्यता उनका निषेध नहीं करती। जो है, उसका निषेध कोई कर भी नहीं सकता। फलतः, इस दर्शन के अनुसार जगत् का त्याग नहीं, अपितु संग्रह किया जाता है।

व्यक्ति और समाज

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से व्यक्तित्व विभिन्न घटक अवयवों का एक गतिशील सम्पुंजन मात्र है। इसके उपादानों में कोई भी एक ऐसा तत्त्व नहीं है, जो गतिहीन, अचल, और कूटस्थ हो। इसके अवयवों में जड़ और चेतन दोनों प्रकार के अवयव होते हैं। इसमें विभिन्न सामाजिक और वैयक्तिक प्रभाव, मान्यतायें, धारणायें, संस्कार, स्मृतियां, आकांक्षायें और वासनायें संगृहीत होती हैं। जैसे प्याज के एक-एक छिलके को हटाते-हटाते अन्त में कुछ शेष नहीं रहता इसी तरह पूरे व्यक्तित्व की एक-एक

गहरी से गहरी परतों का विश्लेषण किया जाय, तो अन्त में कोई स्थायी तत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए परस्पर सम्बद्ध और कार्यरत ऐसे व्यक्तियों का समूह ही समाज है। इन व्यक्ति अवयवों से अतिरिक्त समाज की कोई निरपेक्ष या स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। समाज एक चेतना है, जो प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिफलित होती है, किन्तु उन चेतनाओं को किसी उद्देश्य के लिए परस्पर सम्बद्ध और कार्यरत होना चाहिये।

समता

समता का कोई तात्त्विक अस्तित्व नहीं, अपितु यह विषमताओं का अभाव है। विषमताओं का निषेध कर देने पर विशेष व्यवहार या व्यवस्था के रूप में समता का प्रतिफलन होता है। विषमतायें वे हैं जो किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्ति से या किसी मानव समुदाय को अन्य मानवसमुदाय से पृथक् करती हैं। जैसे-वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, किसी शास्त्र या गुरु के प्रति आस्था, राजनीतिक पार्टी, राष्ट्रियता आदि। ये सब मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करते हैं। ये सब धारणायें हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है और उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। इसके मूल में व्यक्ति का भय और लोभ है। अपने को सुरक्षित करने के लिये या किसी लाभ के लिये व्यक्तियों ने इनका आरोपण किया है। इस लाभ और भय के मूल में भी व्यक्ति का अपने निरपेक्ष अस्तित्व के प्रति आग्रह है। अर्थात् आत्मदृष्टि इन सारी बुराइयों की जड़ में है। आत्मदृष्टि एक प्रकार की बुद्धि है, जिसका आधार अहम् की सत्ता है। जब व्यक्तित्व के सारे उपादानों का विश्लेषण किया जाता है और जब अहम् नामक किसी पदार्थ का पृथक् अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता, तब आत्मदृष्टि अपने-आप विगलित होने लगती है। आत्मदृष्टि का विनाश हो जाने पर उस पर आधारित उपर्युक्त सारी विषमतायें अपने आप कारणों सहित विलुप्त होने लगती हैं। इसमे व्यक्ति-परिवर्तित होने लगता है। और दूसरे व्यक्ति के प्रति और वस्तुओं के प्रति उसके सम्बन्ध और व्यवहारों में भी परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। अब उसके सारे आचरणों की दिशा स्वार्थमूलक न होकर समाज-परक या परार्थमूलक हो जाती है। इस तरह बौद्धों की दृष्टि में समाजिक समता नैरात्म्यमूलक बनती है। बौद्धों की दृष्टि में अतीत और अनागत काल का अस्तित्व मान्य नहीं है, अतः जो भी समता हो, उसे इसी लोक में और अभी, अर्थात् वर्तमान में ही घटित होना चाहिये।

करुणा

बौद्धदर्शन अध्यात्मवादी है। नैरात्म्य या शून्यता उसकी आध्यात्मिक समता का आधार है। उसकी इस आध्यात्मिक समता का व्यावहारिक रूप, अथवा यह कहें कि उसका सामाजिक समता से सम्बन्ध जोड़ने वाला तत्त्व, करुणा है। जगत् में अनन्त और असीम दुःख और विषमताओं का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। इस यथार्थ दुःख का दर्शन ही करुणा का बीज है। करुणा ही महायान बौद्धदर्शन का आदि, मध्य और अन्त है।

दुःखों से मुक्ति तो प्रत्येक प्राणी चाहता है, किन्तु जब कोई व्यक्ति यह सोचे कि दुःख और भय जैसे मुझे प्रिय नहीं हैं, वैसे किसी को प्रिय नहीं है, तो फिर मुझमें ही ऐसी क्या विशेषता है कि मैं अपने को ही दुःख से मुक्त करना चाहता हूँ, अन्य को नहीं? तो यहीं से करुणा प्रारम्भ होने लगती है। जैसे शान्तिदेव ने शिक्षासमुच्चय में कहा है-

यदात्मनः परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरत् ॥

बौद्ध कर्मफलवादी तथा पुनर्जन्मवादी हैं। अनादिकालीन जन्म-परम्परा में सभी प्राणी कभी न कभी, किसी न किसी जन्म में, उसके बन्धु रहे हैं और वह भी इसी तरह अन्य प्राणियों से सम्बद्ध रहा है। इसका अर्थ है कि उसके व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में सभी का योगदान रहा है। सबका उसपर ऋण है। इसी तरह जगत् में जो दुःख है या दुःख की व्यवस्था है, उसमें भी सबका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ है। इसका अर्थ हुआ, करुणा एक उत्तरदायित्व की भावना है, जिसके द्वारा वह अपने को समाज का ऋणी समझता है और दुःखों के प्रवाह का तथा उसके स्रोत का उच्छेदन करने का भार वह अपने ऊपर लेता है।

भारतीय दर्शनों में प्रायः सभी व्यक्तिगत मोक्ष के हिमायती हैं। महायानी बौद्ध व्यक्तिगत मोक्ष की आकांक्षा को हीन कोटि की आकांक्षा समझते हैं। जैसे कोई पुत्र अपने माता-पिता को दुःख की अवस्था में छोड़कर स्वयं ऐश्वर्य का उपभोग करे, तो वह निन्दनीय समझा जाता है, उसी तरह जब सभी प्राणियों या दूसरे समाज का एक व्यक्ति के निर्माण में योगदान है तो उन्हें बिना दुःख से मुक्त किये स्वयं एकाकी मुक्ति की साधना करना महायान की दृष्टि में एक स्वार्थपूर्ण कार्य समझा जाता है। अतः, इस करुणा का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति नहीं, अपितु समस्त प्राणियों की दुःखों से निवृत्ति और सुखों की प्राप्ति निर्धारित किया गया है। यह सुख-प्राप्ति भी आत्यन्तिक सुख प्राप्ति ही नहीं है, अपितु लौकिक सुखों की प्राप्ति कराना भी इसमें विहित है। इसीलिए 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है-

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥

एक और विचारधारा है। यह जो 'स्व' और 'पर' मानने वाली भेदबुद्धि है; इसका इसके अतिरिक्त और कोई मूल नहीं है कि हमने अनादिकाल से इस तरह सोचने का अभ्यास कर लिया है अथवा समाज की ओर से इस तरह सोचने को हमें बाध्य किया गया है। 'स्व' और 'पर' का विश्लेषण करने पर कहीं पर भी वैसा कोई स्थायी तत्त्व उपलब्ध नहीं होता। जब ऐसी स्थिति है तो इससे विपरीत अभ्यास करके 'स्व' को 'पर' के रूप में तथा 'पर' को 'स्व' के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में दूसरों का सारा दुःख अपना दुःख हो जाता है। इसका तात्पर्य परार्थ ही स्वार्थ बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि करुणावान् व्यक्ति उन लोगों से अपने को पृथक् नहीं करता, जिनके दुःखों की निवृत्ति के लिये वह प्रयास करता है। फलतः, इस कार्य से उसमें अहंकार की वृद्धि भी नहीं हो पाती। इस प्रकार की विचारधारा के मूल में बौद्धों का शून्यवादी दर्शन ही है।

करुणा का मूल पहले दुःखी प्राणी और बाद में केवल दुःखमात्र हो जाता है। करुणावान् व्यक्ति समाज के हित में अपने व्यक्तित्व का विलोप कर देता है। वह, जिन-जिन स्रोतों से दुःख जन्म लेता है, उसके स्रोतों को सुखाने में आत्मबलिदान के लिये सदा तत्पर रहता है। वह ऐसी विषम सामाजिक व्यवस्थाओं को तोड़ने में, जिनसे दुःख पैदा होता है तथा ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं की स्थापना में, जिनसे बहुजन का सुख, बहुजन का हित सम्पन्न होता हो, अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। ऐसा व्यक्ति महायान की

शब्दावली में 'बोधिसत्व' कहलाता है, जिसने दुःख के स्रोतों को सुखाने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले रखा है, उसकी यह उत्तर-दायित्व की भावना ही 'महाकरुणा'' कहलाती है। इस करुणा से वह किसी प्रकार का कोई व्यक्तिगत लाभ भी नहीं चाहता, यहाँ तक कि वह मोक्ष को भी अपने उद्देश्य के सामने तुच्छ ही समझता है। उसका पूरा व्यक्तित्व एक सामाजिक व्यक्तित्व होता है। समाज ही उसका आराध्य एवं पूज्य होता है। उसकी सेवा में ही वह अपने जीवन की कृतार्थता समझता है। वह प्रतिज्ञा करता है कि जब तक सभी प्राणी दुःख से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक निर्वाण की सारी स्थिति सुलभ होने पर भी मैं उसमें प्रवेश नहीं करूंगा। इसे ही 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' कहते हैं और यही करुणा या बोधिसत्त्व का लक्ष्य है। इस तरह करुणा, व्यक्ति और समाज के मौलिक परिवर्तन का, उनके हित-साधन का, अपूर्व भारतीय उपाय है। दुनियाँ में आज तक जितने भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन हुए, उनके मूल में करुणा नहीं रहने से अनेक प्रकार की विकृतियों का जन्म हुआ। बुराइयाँ नष्ट नहीं हुईं; अपितु दूसरे-दूसरे रूपों में प्रकट हुई हैं। करुणा एक ऐसा भारतीय उपाय है, जिससे परिवर्तन तो घटित होता है, किन्तु प्रतिक्रिया का और विकृति का जन्म नहीं होता। दुनिया के समाजशास्त्रियों को इसका मूल्यांकन करना चाहिए।

—अध्यक्ष
बौद्धदर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आर्ष ग्रन्थों में सीता

-- मानस तत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदास, रामायणी

सती-मूर्धन्या धन्या जनकनृपकन्या शुचितरा
सदा भीताऽभीतारघुवरमनो नीता प्रियतमा।
सदा भक्ताऽऽसक्ता जननिवरसुखदाप्रियजने--
महामायाऽमाया वसतु मम हृदये हि नितराम् ॥

शास्त्रों ने बताया है -यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदनतापताड़नैः। तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते, श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा। (सुभाषितरत्नभाण्डागारम्-पूर्वार्धं)

शास्त्रों में कई परीक्षाओं में सीता बहुत श्रेष्ठ मानी गई हैं। आदि में, श्री जानकी जी के लौकिक गुणों की परीक्षा करने के बाद वैदिक परीक्षा का विचार करना समीचीन होगा।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् - १।७— अध्याय के पहले मंत्र में जनक की बड़ी प्रशंसा की गई है। वेदों में व अनेक पुराणों में, जैसे वायु पुराण तथा गरुड़ पुराण में, जनक की बड़ी प्रशंसा की गई हैं। इससे भी बढ़कर वेदों में-शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड की दूसरी कण्डिका में 'शतो ब्राह्मणजनकाः' ऐसा कहकर ब्राह्मणों के समान श्रेष्ठ बताया है। शतपथ ब्राह्मण, जैमिनि ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण, वृहदारण्यक, ब्रह्माण्डपुराण, वायुपुराण, विष्णु पुराण, मारकण्डेय पुराण आदिकों में जनक की महान् श्रेष्ठता का वर्णन है। परन्तु प्रकृत-प्रसंग में हमारा विषय लौकिक रीति से श्री जानकी जी के पितृकुल की श्रेष्ठता का संकेत मात्र करना है, मुख्य विषय श्री जानकीजी के वैदिक गुणों का प्रतिपादन है।

परात्पर ब्रह्म श्रीराम जी ने इस कल्प के आदिमनु स्वयंभू से श्रीसीताजी का जीवन परिचय देते हुए कहा था—

सो अवतरेउ मोरि यह माया

और आकाशवाणी ने ब्रह्मा, पृथ्वी, समस्त मुनि, देवता और समस्त गन्धर्वों से उसी माया को पराशक्ति कहा—

परम शक्ति समेत अवतरिहौं

उस परा शक्ति का वर्णन श्रुतियों ने बड़े विस्तार से किया है। उनमें से स्थानाभाव के कारण एक ही श्रुति का उल्लेख कर रहा हूँ-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च-
श्वेता० ६-८। भ व० संत० २-४।

पराशक्ति सीताजी और ब्रह्म रामजी हैं दोनों मिलकर परब्रह्म हैं। श्री रामजी के लिये तो प्रसिद्ध है कि—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे!

वेद-वेद्य परम पुरुष दशरथनन्दन रूप से अवतरित हुए, और भगवान् श्रीकृष्ण ने तो स्पष्ट ही कहा है कि—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः
(महाभारत, भीष्मपर्व (गीतापर्व) ३९।१५।)

जब वेद-वेद्य सर्ववेद-प्रतिपाद्य परब्रह्म श्री रामजी हैं तो-

गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
[रा० च० मा०]

सीतारामेति युगलं वस्तुतस्त्वेकरूपिणम्।
[वि० सा०]

श्री सीताजी और श्रीरामजी दो रूपों से एक ही तत्व हैं तो सीताजी का भी सर्व, वेद, वेद्यत्व सिद्ध हो गया। लेख बहुत बड़ा न हो, इसलिए अधिक संग्रह और विस्तृत व्याख्या न करके अर्थयुक्त कुछ वेद मंत्र यहां दिये जा रहे हैं। स्मरण रहे कि वेदों के संहिता भाग के प्रायः सभी मंत्रों के, आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसीसे-

'वेदाः कामधेनवः'

जब से यूरोपियनों के चेले भारत में हुए तब से वे ईसापंथी मूसापंथी (चूहापंथी) गुरुण्ड चेले लोग वेद की प्रत्येक बात को आकाशीय या भौतिक पदार्थ मात्र मानने लगे हैं। वे वेदों में इतिहास नहीं मानते। परन्तु प्राचीन कालीन सभी वैदिकों ने वेदों को त्रिकालज्ञ एवं त्रैकालिक वक्ता मानकर वेदों में भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त इतिहास भी माना है। प्राचीनकाल में वेदार्थ करने के जितने साधन थे उनमें एक मात्र श्रीयास्क का निरुक्त ही बचा है, बाकी सबका कलेवर पूर्णतः या अंशतः करालकाल के गाल में गलित हो गया। श्री यास्क ने परम वैज्ञानिक होते हुए भी वेदों में इतिहास का होना भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। देखिये-

इत्यैतिहासिकाः-निरुक्त २।५।१६।२

तत्रेतिहासमाचक्षते . नि० २।७।२।२

तत्र ब्रह्मेतिहास -मिश्रमृङ्मिश्रं गाथा मिश्रं भवति ॥ नि०४।१।७

पुण्यकृताविर्त्यैतिहासिकाः नि० ६।१।१

वेद स्वयं कहता है कि हमारे पेट में इतिहास भरे हुए हैं। देखिए—

तम् इतिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्॥ [अथर्व वेद १५।६।११]

इतिहासस्य च वै पुराणस्य च गाथानां च।
नाराशंसीनां च प्रियंधामभवति य एवं वेद
[अथर्व० १५।२१]

आज के सर्वमान्य धर्मशास्त्रप्रणेता मनु अपनी स्मृति में कहते हैं-

भूतंभव्यंभविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति
[मनुस्मृति १२।९७]

अतः वेदों में इतिहास प्रचुर मात्रा में भरा पड़ा है। परन्तु वेदों के अर्थ का ज्ञान अंग्रेजी अनुवाद या दयानंदीयभाष्य किंवा वेदिक संपत्ति पुस्तक सरीखे एक पक्षीय आलोचनात्मक पुस्तकोंमात्र के पढ़ने से नहीं होता है। वेदों में जिन इतिहासों का संकेत है, उनका विस्तृत वर्णन रामायण-महाभारत और पुराणों में है और वेद के विधि-निषेधात्मक संकेतों का विशदीकरण स्मृतियों में है। इसलिये, वेदार्थ ज्ञान के लिये वैदिक ऋषियों की बनाई स्मृतियां और उनके सन्देशों से अनुप्राणित, इतिहास पुराणादि का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है, जेसा कि श्रीवचनभूषणकार ने लिखा है-

वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः

श्रीरामजी कल्पित हैं, सीताजी कल्पित हैं, रामचरित बाल्मीकि, व्यास आदि की कल्पना है। ऐसी परिकल्पना करने वालों ने कभी वेद का साक्षात् दर्शन तो किया नहीं और न मंत्रद्रष्टा ऋषियों की कृतियों-इतिहास स्मृति एवं पुराणों को कभी देखा है।

विदेह जनक, जो वेद वर्णित ऐतिहासिक पुरुष हैं उन जनक राज को जनक-रूपेण स्वीकार करने वाली जानकी सीता का वर्णन वेद के मंत्र भाग में प्राप्य है। वेदों में इन्द्र शब्द सहस्राक्ष त्रिविष्टपाधीश के लिये तो है ही परन्तु अनेक बार परब्रह्म श्रीराम को इन्द्र शब्द से भी कहा गया है, क्योंकि इन्द्र शब्द मुख्यतः परमात्मा का ही वाचक है। देवराज इन्द्र को-

इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् [मनुस्मृति १२।१२३

वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी के लिये ब्रह्मा ने कहा है कि—

प्रभवश्चाप्ययवस्त्वमुपेन्द्रोमधुसूदन (?)

[वा० रा० ।६।११७।१७]

इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वंपद्मनाभोरणान्तकृत् ।१८।

ऐसा ही 'अस्यबामीयसूक्त' के मंत्र का उद्घोष है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णोगरुत्मान् ।
एकं सद्विप्राबहुधा वदन्त्यग्निं यमंमातरिश्वानमाहुः

ऋ० १।१६४।४६।

अन्यत्र भी–इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते [ऋ० ६।४७।१८]

ऋग्वेद १।३।४। के भाष्य में सायणाचार्य ने 'इन्द्र' को परमात्मा कहा है और अथर्ववेद १।६।१ के भाष्य में भी सायण ने लिखा है कि—

इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानामधिपतिर्देवः यद्वाइदंकारस्येदंविश्वकारणभूतं ब्रह्मात्मानमद्राक्षीदिति इन्द्रः ।

ऐत० उप० में 'एष ब्रह्मैव इन्द्रः' और शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।३३ में इन्द्रोयज्ञानामात्मा कहा है।

मर्त्यस्वर्ग के उद्वेजक दास को मारना और प्रजाओं को समुचितरूप से धर्म-शिक्षा देना श्री राम भद्रजी का ही कार्य है, अन्य का नहीं। उपनिषद् भाग की श्रुति भी यही कहती है कि—

धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ।
तथाध्यानेन वैराग्यं ऐश्वर्यं स्वस्यपूजनात् ।रा०ता०उ०

लोक प्रसिद्ध कश्यप पुत्र देवराज इन्द्र का बारम्बार दैत्यों से पराजित होकर भागना पाया जाता है। इससे यह श्रुति आदितेय सहस्राक्ष परक नहीं हो सकती। किन्तु 'इदिपरमैश्वर्ये' (धा० पा०) धातु से ऋजेन्द्राग्र बज्र विप्र-उणादि २।२८ 'इतिकर्तरिश्न् प्रत्ययः इन्दतिपरमैश्वर्यमान् भवतीति (विश्वकोषे) निष्पन्नइन्द्र शब्द परमात्मा परक होने से श्रुति श्रीराम परक ही है। अन्यपरक नहीं। इन्द्र और राम शब्द पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि' इरा अन्नं ददातीति इन्द्रः' इरा पूर्वक दानार्थक डुदाञ् धातु से इन्द्र शब्द बनता है और 'राति अन्नादि सर्वं वस्तु ज्ञानं ददातीति रामः'। दानार्थक रा-धातु से राम शब्द बनने से दोनों शब्द (राम और इन्द्र) दातृत्व अर्थ में सिद्ध होकर पर्यायवाची हुए। ऐसे ही 'इन्धी दीप्तौ' से इन्द्र शब्द और 'राजृ दीप्तौ' से रामशब्द बनने से दोनों पर्यायवाची हुए और इसी तरह 'इंदीपरमैश्वर्ये' से इन्द्र शब्द तथा 'रमुक्रीडायाम्' से राम शब्द। बिना ऐश्वर्य के क्रीड़ा नहीं। क्रीड़ा के ऐश्वर्य का द्योतक होने से भी दोनों (इन्द्र और राम) शब्द समानार्थक एवं पर्यायवाची हैं। अतः आगे के जिन मन्त्रों में 'इन्द्र, शब्द आया है वह प्रायः राम का पर्यायवाची ही है। इसे स्मरण रखना परमावश्यक है।

ईषालाङ्गलदण्डः स्यात्-सीतालाङ्गलपद्धतिः ॥

अमरकोश के इस कथनानुसार सीता ईषा का पर्याय हुआ। अतः ईषा का सम्बोधन 'ईषे' हुआ।

हे ईषे-सीते ! इसी सम्बोधन से वेद मंगला चरणकरता है :—

ॐ ईषे त्वोर्जेत्वा वायव स्थ देवो वः
सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्नया इन्द्राय । भागं प्रजापतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन, ईशतमाघशोधू वा
अस्मिन् गोपतौ स्यात, बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥

[शुक्ल यजुर्वेद मा० शा० १।१।

ईषे = हे सीते।

उर्जे–आपकी माया से विजय पाने वाले पराक्रम के लिये।

त्वा–आपकी वन्दना करता हूँ, इसलिए कि–

वायवस्थः–वायुपुत्र हनुमानजी के कन्धे पर स्थित होकर

देवः–क्रीडनशील दिव्य ज्ञानानन्द विग्रह युक्त

सविता–सूर्यकुल के सूर्य श्रीरामचन्द्रजी।

वः–आपके प्रेमाधीन उन्हें

प्रअर्पयतु-आप हमें (भक्तों को) प्राप्त कराइये।
इन्द्राय-सर्वैश्वर्य सम्पन्न श्रीरामजी के।
श्रेष्ठतमाय-अत्यन्त श्रेष्ठ।
कर्मणे-कर्म करने के लिये सर्वदा एवं सर्वथा।
अघ्न्या-अवध्या-अर्थात् गायों की वृद्धि करके उनके
भागम्-(गायों के भाग) गव्यः-दुग्ध दधि घृत आदि
आप्यायध्वम्-परिपुष्ट कीजिये बढ़ाइये (और वे(
वः-आपकी हैं (एवदर्थं)
प्रजावती-वे सवत्सा गायें कभी भी।
अनमीवा-कृमि कीटादिजन्य सामान्य रोग से
पीड़ित न हों। उन्हें
स्तेनः-चोरादि चुराकर ले जाने में।

ईशतन-समर्थ न हों उन्हें
अघशंशः-पापीगण किसी तरह का कष्ट देने में
माईषत-समर्थ न हो।
अस्मिन्-इस लोक में रहते हमारी
गोपतौ-गोपालक (चराचरनायक) श्रीरामजी में
ध्रुवास्यात्-निश्चय सदैव रहने वाली प्रीति हो
यजमानस्य-आप अपनी दया से यज्ञ कर्त्ता के
वह्वीःपशून्-बहुत से पशुओं की।
पाहि'-रक्षा कीजिये ॥
इसी तरह-ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी
स्तुति की गई है।

—श्रीराम ग्रन्थागार
मणिपर्वत, अयोध्या

धर्म की युगीन अवधारणा: एक अनिवार्यता

प्रो० मंजुलरानी त्रिपाठी

अखबार खोलती हूँ। फर्श से एक छोटा सा पुस्तक-साइज का पीतवर्णी पन्ना स्लिप कर जाता है। उठाकर देखती हूँ-ईश्वरीय संदेश-प्रजापिता ब्रह्माकुमारी विश्वविद्यालय द्वारा प्रसारित (प्र० ब्र० ई० वि० के) रेडियो स्टेशन से प्रिय आत्माओं के नाम, ब्राडकास्ट। अपने संदेश में भगवान् ने बताया है कि शीघ्र सतयुग आने वाला है, इसके लिये वह प्रक्रियारत है। आत्माओं यानी मनुष्यों को चाहिये कि वे प्रजापिता ब्रह्माकुमारियों द्वारा बताये गये मार्ग पर चलें। उसी पथ पर अग्रसर होकर ही सत् युग के बंद दरवाजे पर पुष्टवती दस्तक दी जा सकती है। दिमागी भानुमती पिटारे में तमाम सारे बिंदु-बिंदु और बिंदु सुगबुगाने लगते हैं-जय गुरुदेव परमात्मा नाम का, साईं बाबा की फोटो से सिन्दूर निकलने का चमत्कार, रसमय श्री कृष्ण के अवतार मनगढ़ के महाराज जी तथा उनके विरह में बिखरी करुणा की मूर्ति राधा के दर्द को भी चुनौती देने वाली गोपियाँ-आदि-आदि .... ।

सोचती हूँ, झूठ-ही मूठ लोकनायक महाप्राण तुलसी ने कलियुग की निन्दा कर डाली थी। हर युग में तो एक ही भगवान् अथवा भगवान् के पुत्र आये धरती पर, किन्तु हमारे कलियुग में तो इतने सारे भगवान् के संस्करण धरा-जननि की कोख को धन्य कर रहे हैं। लगता है, धरती ने इस युग में बड़ी निष्ठा से सूर्यषष्ठी का व्रत कर रखा है। छठ माँ हकामी-पियासी पुत्रों के तर अथच उसके पुत्रों के महत् आस्था-भावेन अनैतिकता की अमावस में उपजाये-केले की घेवद तथा अन्य फलों की बहँगी ढोकर घाट की अति सीमा तक पहुँचाने से, बहुत निहाल हो गई है। तभी पुत्री के आँचर में ढेर के ढेर भगवान् पुत्र और पुत्रियाँ उलीचें-उझीले दे रही है।

एक तरफ छठ के व्रत का 'परसाप' तथा दूसरी ओर माटी की सीमा से प्रतिवद्ध मट-मैले असंख्य भगवानों का अपने ही मौलिक साँचे से विद्रोह, अपने ही मौलिक साँचे के प्रति अविश्वास, उदासीनता। मानव-सीमाओं में बंधा-भगवान् ही तो है। (बाइबिल में कहा गया है, भगवान् ने अपनी ही 'इमेज' में इंसान को गढ़ा है। हमारा भारतीय दर्शन भी इसी बात का समर्थन सा करता है।) सोचती हूँ कितनी बड़ी प्रवंचना है हमारी पीढ़ी के साथ। वह अपने मूल से इतनी दूर है कि वह उसके बन्द कपाटों पर दस्तक देने का अकाज ही अनुभव नहीं करती। ऐसा लग रहा है, वह दिन-ब-दिन, कतरा-ब-कतरा, अपने मौलिक स्वरूप से कटती जा रही है, बदरंग होती जा रही है। इसी आशय का लेबेल उसके ऊपर पेस्ट करके उसका बिला नागा, गाहे-बेगाहे सही कम गलत अधिक इस्तेमाल भी किया जा रहा है। न जाने क्यों मन को इस लेबेल की सच्चाई व ईमान पर भरोसा करने के विचार मात्र से ही साँप सूँघ जाता है, इस लेबेल की धुन में धुन मिलाकर ऐडवर्टाइज करने की कौन कहे। वर्तमान पीढ़ी अनास्था का, धर्म के प्रति अनास्था का, इसके परिणाम स्वरूप संत्रास और कुंठा का प्रतीक बन गई है आज। लेकिन इस दिखावटी कुंठा,

अनास्था व संत्रास के आड़े से झाँस मारता है एक निखालिस भोला माश्वाम चेहरा, एक निर्दोषनिष्कपट, साफ,विश्वास का दुधमुँहा उजा-स-परीक्षा की पूर्वसंध्या-निश्चित रूपेण मन्दिर को समर्पित संध्या, प्रसाद खाने से पहले दूब सा नमित माथा, प्रसाद अथवा तुलसी के पत्ते पर पैर पड़जाने से निमिष भर के लिए ही सही, भीतर-भीतर तक अनासे कंपित हो जाना। न जाने ऐसे ही कितने उजले क्षण।

प्रश्न उठता हैं, आखिर इस अनास्था के लिए क्या अकेली नई पीढ़ी ही दोषी है? क्या वह दोषी है भी? आज के युग में नई पीढ़ी अपने परमपिता, अपने मूल साँचे से जितनी अलग-थलग और कटी हुई खड़ी है, उतनी किसी युग मे नहीं। प्रत्येक युग में भगवान् अपने पुत्रों के निकट रहा है, कुछ अंशो में कहूँ, तो उनके बीच रहा है। पुत्रों के नजदीक रहने की ललक ने ही उसे कभी राम, तो कभी कृष्ण, कभी बुद्ध और महावीर, तो कभी ईसा एवं मु-हम्मद' तो कभी गाँधी के अत्यन्त मानवीय सस्करणों के रूप में आने के लिए उसे विवश किया है। जिस तरह प्रत्येक युग अपने कवि की प्रतीक्षा करता है, उसी तरह प्रत्येक युग अपने भगवान् की प्रतीक्षा करता है। प्रत्येक युग का भगवान् अपने युग की संभावनाओं की आहटों को सहेजते संवारते चलता है, नहीं तो सतयुग के राम ही हर काल तथा देश में आये रहते। लेकिन यदि राम ने सीता का परित्याग किया, तो वहीं श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रास में निमग्न हो इस प्रणय-पक्ष को स्वीकृति दी, बुद्ध ने सुप्ता यशोधरा को पथ की बाधा समक्ष नारी को जहाँ हलकापन दे दिया, वहीं ईसा के रूप में भगवान् ने कुमारी जननि के गर्भ से उत्पन्न होते हुए भी नारी को वैशिष्ट्य प्रदान कर दिया। अपने द्वारा ही एक युगमें पारी गई परिखा-रेखा को दूसरे युग में उस शक्ति ने मेट दिया, इसलिए कि उसके चलते वह उस युग में अपने पुत्रों से दूर हो गया था। वर्तमान युग भी अपने भगवान् की प्रतीक्षा कर रहा है, उस भगवान् को, जो उसके विद्रो-हों, संभावनाओं की कलगी को हौले-हौले दुला-रते हुए उसके मन-मन्दिर में प्रविष्ट हो। वह भगवान् जो नेम व्रत को सीलनभरी कथरी का बन्धक है, जो ईश्वरीय विश्वविद्यालयो में कलेवा करता है, जय गुरुदेव व साईं बाबा तथा अ-नेक ऐसे व्यक्तियों में अपने को उपन्यस्त करता है-कभी भी आज की पीढ़ी का सही मार्ग दर्शन नहीं कर सकता, इसलिए वह उसकी श्रद्धा का भागीदार भी नहीं बन सकता।

जब भी कभी हनुमानगढ़ी व कनक मह-ल जाती हूँ पाषाणसौन्दर्यमयी मूर्तियो के आगे माथा नवाने से पहले मैं उन्हे ताकती रह जाती हूँ। इसलिए नहीं, कि हृदय की साध शेष हो गई हो। न जाने क्यों, उन पाषाण-मूर्तियो में कैसा स्पंदन होता है, कैसी अपरिचित व्यथा पोर-पोर घुलती नजर आती है। उन पाषाणी अभिव्यक्तियों के पीछे मुझे वह बूढ़ा बाप दि-खने लगता है-दर्द से छटपटाता हुआ, कहता हुआ-"मुझे मेरी सन्तानों से अलग मत करो, उन्हे अपनी नाराजगी, शिकायत, विद्रोह तथा जिन्हें तुम अपवित्र समझते हो, उसी निर्दोष अपवित्रता के साथ ही मेरे पास आने दो, मेरे बच्चों, मेरे वेष-परिवेश बदल दो, व्रत-नेम के आउट-आफडेट गहनों को अलग कर अपनी सोसायटी व समय के लायक बना लो, किन्तु मुझे दुतकारो मत" सचमुच भगवान् उस बूढ़े, अनपढ़ निपट गँवई-गाँव के मनई बाप सा लगता है, जो दूर शहर में पढ़ने वाले-भावी कलट्टर बनने वाले-बेटे को रुपये देने आता है और बेटा अपने दोस्तों के बीच पानी पीने को

पूछने को कौन कहे, रुपया लेकर उसे नौकर होने की आइडेंटिटी थम्हा बैरंग वापस कर देता है, सहज-स्वाभाविक स्नेह व दुलार की भूखी मानसिकता को दबाकर, अपने फ्लेयर्स की पॉकेट से कंघा निकाल, संवरे बालों पर झटके से फेरता हुआ।

आज इसके लिए नई पीढ़ी को पानी पी-पी कर चाहे जितना कोसा जाय, लेकिन न तो इससे बूढ़े बाप के घावों पर मरहम लगाया जा सकता है और न उसके बच्चों को प्रदर्शनजनित यंत्रणा से मुक्ति ही मिल सकती है। न तो जय गुरुदेव का साकेत महायज्ञ, जिसके अवसर पर हजारों भोली कन्याओं-महिलाओं की माँग में अमर सुहाग के नाम पर सिन्दूर डाला जाता है और न प्र० ब्र० ई० वि० का राजयोग प्रदर्शन-शिविर ही उस खोटे सिक्के को भुना सकता है। अध्यात्म और भक्ति के नाम पर यह दिखाऊ शाह का डाल, यह तमाम ताम-झाम, धर्म तथा भगवान् को और अधिक गूलर का फूल व अग्राह्य बना देता है हमारी पीढ़ी के लिए। धर्म और भगवान् का वह रूप हमारे सामने रखा जा रहा है, जो कर्तव्य से पलायन करने के लिए पाञ्चजन्य फूँक रहा है, जो गांडीव रख, वेणुवादन कर रहा है। आज अपनी प्रिया राधा व अन्य ग्वाल बालाओं को अपनी बंशी की धुन पर नचा भर रहा है, न तो उसे गायों को चराने की सुध है, न कानी उंगली पर गोवर्धन उठाकर रक्षा करने की और न उसकी प्रेमिकाओं को दही-माखन बेचने जाने की। यह तो जाने कब की बात हुई कि जीवन के कठोर श्रम-जनित स्वेद के बीच कनु कनुप्रिया प्रणय के घुँघरू बाँधकर नाचते रहे थे। आज कनु किसी कीमत पर प्रणय व वंशी का मोह तज कर्मयोगी कृष्ण बनने को तैयार नहीं। धर्म के ऐसे ही परंपरित ठेकेदारों के हाथों, भगवान् खिलौना बना हुआ, उनकी इच्छानुसार नाच रहा है, वह भगवान्, जो अपनी बंशी की धुन पर सारी-सृष्टि को नचाया करता है, हम सबकी जिन्दगी को डमरु सा बजाता रहता है! हर परंपरा सही ही नहीं होती। समय के अन्तराल में उसे खर-पतवारों के पहुना का भी आदर करना पड़ता है और पहुना यदि एक दिन अपनी बाइज्जत चला नहीं गया, तो भार बन जाता है, तब उसे गरदनिया देकर निकालने के सिवा कोई चारा नहीं रह जाता। परम्परा के नाम पर ठगी, धोखाधड़ी हमारी परिचित परम्परा रही है, इस परम्परा में कहीं कोई मिलावट नहीं, एकदम निखालिश!

आज जिन्दगी जितनी जटिल है एवं दिन-पर-दिन और जटिल होती जा रही है, उतनी पिछले किसी युग में शायद ही रही हो। एक ओर यदि अपनी अस्मिता को बारे रखने के मोहवश फैशन की तराजू पर तुलते वक्त भारी पड़ने के लिए संघर्ष है, तो दूसरी ओर रोटी पाने का संघर्ष; रोटी का जुगाड़ है, तो उसे बनाये रखने का संघर्ष, तो वहीं एक कोने कहीं अनास्था का हहराता समुद्र समूची व्यवस्था के प्रति आक्रोश का पुरनमाशी की लहरें मारता समुद्र, नन्हें हनुमान् के लिए भारी पड़ने लगता है। जिन्दगी के इतने भारी पहाड़ को बिना गिरे निरंतर संभाले रहना बिना किसी अपार्थिव शक्ति पर विश्वास की कोर पकड़े आज सिसिफस के लिए असंभव नहीं, तो मुश्किल अवश्य है। वाल्तेयर ने कहा भी है, यदि भगवान् होता नहीं, तो मनुष्य उसका आविष्कार कर लेता। आस्थाहीन मनुष्य केवल क्षणों में जीता है और क्षणों में जीने वाले के लिए चाय की प्याली के सच, से बढ़कर कोई

सच नहीं होता, वह अपनी ही परछाइयों से डरता है। भय व्यक्ति को सिगरेट की खाली डिब्बी सा अर्थहीन बना देता है। लेकिन धर्म के ठेकेदारों द्वारा भगवान का प्रचारित-प्रसारित स्वरूप कभी भी आधुनिक सिसिफस को वह शक्ति नहीं सौंपेगा, वह उसे अधिक से अधिक इतनी सुविधा देगा, चलो पूजा व आस्था के बहाने कर्तव्य छोड़कर भाग जा, न, यह कर्तव्य की अवहेलना हरगिज नहीं होगी।

ऐसे में, हमें एक ऐसे भगवान को खोजना होगा; जो प्रायः हर युग में आता रहा है और आज का युग जिसकी प्रतीक्षा कर रहा है, जो आज के युग की तमाम पीड़ा अथच संघर्ष को भोग कर उस पर विजय श्री प्राप्त करने का प्रतीक बने, वह दर्पण बने, जिसमें अपने को देखकर आगामी पीढ़ी अथवा वर्तमान पीढ़ी भी, अपनी आकृत्ति सँवारती रहे। मूल आकृति व प्रतिच्छवि में उतना बड़ा अलगाव न हो, दुराव न हो, जितना आज है। यह केवल कल्पना नहीं-ईसा सूली पर लटके थे, (भगवान् का कभी अंत नहीं होता जब कि) अल्ला जोर-जोर की नमाज ही सुन पाते हैं (जब कि भगवान् अंतर्यामी हैं) बालमीकि के राम मांस खाते हैं (सभी जीवों के पिता हैं, रक्षक हैं) उनके राम सीता को अग्नि परीक्षा लेते हैं (···· अन्तर्यामी हैं) तुलसी के राम कुछ भी इनमें से नहीं करते, । नरेश मेहता के राम 'संशय को एक रात' में रावण से युद्ध का निर्णय लेने से पहले साधारण मनुष्य की भाषा, 'ईडियम' में हो, विवश करुण भाव से सोचते हैं, राम और कृष्ण युद्ध को स्वीकार करते हैं (· · राक्षस, ऋषि दोनों ही भगवान् की इच्छा के परिणाम हैं। बुद्ध व महावीर हिंसा व राज-पाट का त्याग करते हैं।

भगवान् का यह संस्कार हुए बिना हमारी पीढ़ी का कल्याण नहीं। आज की पीढ़ी भगवान् के नव संस्कार में लगी हुई है अनजाने ही। उसमें अधिक आस्था है। उसके लिए भगवान् वह पिता है, जो शाब्दी प्रशंसाओं-कीर्तनों का भूखा नहीं, उसके किसी कोने में विश्वास का घी भरा दिया जल रहा है कि वह चाहे जो भी करे, जैसा भी हो, संकटके एक क्षण में, व्यस्तता के एक ही क्षण में, उसका निवेदित सादा सा प्रणाम, यहाँ तक कि उसकी नाराजगी-गाली भी उस पिता को झुक कर प्यार करने के लिए बाध्य करेगी। आज भगवान् तथा उसका गुण-धर्म हम पर आरोपित होकर हमारा स्नेह नहीं पा सकता, निर्देशित नहीं कर सकता हमें, क्योंकि आज व्यक्ति के आगे यमराज के घर जमाई बनने के बाद मोक्ष अथवा स्वर्ग प्राप्ति की कामना से बढ़कर जीवन की रेस में अपनी अस्मिता को प्रवहमान रखने की तीव्र साध है। निश्चित है, जब तक भगवान् मोक्ष अथवा स्वर्ग देने का लालच अथवा सतयुग द्वापर के शीघ्र आने का गरम विज्ञापन तथा अफवाह जनमाने वाली मशीन बना रहेगा तब तक आज की पीढ़ी तथा आगामी पीढ़ी, जो टेस्ट-ट्यूब में जनमेगी-पलेगी, भगवान् तथा धर्म को फारबिडेन फ्रूट समझ कर, भले निशांत और एकांत के पलों में चख भी ले तो सबके सामने उससे दूर भागेगी। यदि सचमुच बेग से भागी जाने वाली संतानों को गिरने से बचना है, तो भगवान् को भी अपनी संतानों के समान ही कुछ गलतियां करनी होंगी ताकि वह अपने बच्चों पर आरोपित न हो उनके नजदीक आये, तब उन्हें बताये कि अपने रास्ते पर बढ़ते हुए भी उन्हे दूर जाना है, केवल क्षणों के आनन्द में बझना ही उनके पथ की मंजिल नहीं।

प्र० ब्र० ई० वि० अथवा अन्य कोई

भगवान् और धर्म के ठेकेदार यदि हो सके, तो भगवान् का यह सही स्वरूप उजागर करें।

मुन्नी दूध नहीं पी रही है। माँ चन्दा मामा को गोहार लगा रही है :—

चन्दा मामा आरे आवऽ
बारे आवऽ..........

कितनी सारगर्भित स्तुति रही है हमारी सदियों से। चन्द्रमा चाहे दूज का हो अथवा पूनो का, पूजा जाता रहा है। आज भी उसके ओहदे में कोई कमी नहीं हुई है। निश्चित ही यह लोरी अपने सिरजे जाने के क्षणों में टूटे व्यक्ति के हृदय की आँच होगी, उसने घबड़ा कर हाँक दी होगी चन्द्रमा के मिस समूचे देव वृन्द को, आकाश से उतर धरती पर अपनी पकड़ में आने के लिए, ताकि आध्यात्मिक तथा भौतिक समृद्धियों से वह खेल सकें। सिरिजनें वाले का दर्द अपने में कितना गहरा है:—

.........नदियाकिनारे आवऽ
सोने के कटोरिया में
दूध-भात ले ले आवऽ
बाबू के मुँहवां में घुटुक।

सिरजनहार का करुण आग्रह केवल सोने की कटोरी तथा चन्दा मामा के भौतिक नैकट्य तक सीमित नहीं, अपितु अत्यन्त दुलार का प्रतीक, दूध-भात के लिए भी अधिक है। आज की पीढ़ी की क्षुधा ऐसे ही दूध-भात से शांत होगी। वह भी सिरिजनहार के साथ बेदिल मन का हाहाकार लिए स्तुति कर रही है।

आवऽ हो उतरि आवऽ हमरा मुड़ेर
तोहरा के बबुआ खोजला बड़ी देर।

देखें कब उतरता है वह पिता अपने सिंहासन से अपने बबुआ के लिए स्नेह का दूध-भात लेकर, कब वह हमारी मुड़ेर पर बांग देता है।

—राजशास्त्र-विभाग
ला० ब० शास्त्री परास्नातक महाविद्याय,
गोण्डा

तब लगि कुसल न जीव कहुं सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम॥

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

बिनु बिश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

भवभूति का रामकाव्य

--सुश्री मुकुलरानी त्रिपाठी, एम० ए०, रिसर्च स्कालर

सहस्राब्दियों पूर्व पूत ऋचाओं की मुखर जिज्ञासा ने एक प्रश्न उठाया था। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' अर्थात् किस देवता को वह अपनी श्रद्धा का निविड़ सम्भार सौंपे। युग-युग में आराधक का भावुक हृदय अपने आराध्य को ढूंढ निकालने के लिये व्यथित हुआ है और तदनन्तर, उसे प्राप्त कर अपनी पुष्कल भावनाओं की थाती उसे सौंप प्रमुदितचेत हुआ है। व्याकुलचेतस् वाल्मीकि की अन्तश्चेतना ने भी एक दिन यही प्रश्न पूछा था-'कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्' और उत्तर में हमारे जातीय जीवन के समस्त मानवमूलक युगधर्म साकार हो बोल उठे थे-'इक्ष्वाकुवंश-प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।' 'इक्ष्वाकुवंशप्रभव' राम की कथा पुण्य कथा बन वाल्मीकि के माध्यम से जन-जन में प्रचारित हो उठी और विद्युत-प्रवाह की ही भाँति विश्व के एक क्षितिज से सुदूर दूसरे क्षितिज तक पहुँच गयी। इसलिए, एक ओर संस्कृत के धार्मिक साहित्य-विष्णु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, हरिवंश पुराण, वायुपुराण, विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों ने भी व्यापक वर्णना-यज्ञ में अपनी समिधा प्रदान की है, दूसरी ओर संस्कृत के ललित-साहित्य में भास, कालिदास, भट्टि, भवभूति कुमारदास, राजशेखर, जयदेव आदि की कविता-कामिनी ने भी जन-जन की भावभूमि को अभिषिक्त किया है। 'गीति नाट्य के भाव प्रवण सर्जक भवभूति की तो तीन रचनाओं में से दो रचनाएँ राम कथा पर आधारित हैं, पहली, 'महावीर-चरित' दूसरी, 'उत्तररामचरित'।

'महावीरचरित' का आरम्भ विश्वामित्र की यज्ञशाला से होता है। इसकी कथावस्तु में प्रायः मौलिकता है। राम द्वारा अहल्योद्धार, ताड़का-वध, जृम्भकास्त्रप्राप्ति, मारीच-सुबाहु-वध, ये सभी महत्त्वपूर्ण घटनाएं रामायणानुकूल ही हैं, किन्तु घटनाओं के स्थल और कालक्रम में व्यतिक्रम है। वाल्मीकि-रामायण के बालकाण्ड में राम अयोध्या से विश्वामित्र-आश्रम जाते समय, मार्ग में ताड़का को मारते हैं। वहीं विश्वामित्र से अस्त्रप्राप्ति होती है। सिद्धाश्रम में यज्ञ-रक्षा करते हुए मारीच-सुबाहु-वध तथा गौतमाश्रम में अहल्योद्धार सम्पन्न होता है। इसके विपरीत, 'महावीरचरित' में सारी घटनाएँ विश्वामित्र के ही आश्रम में घटित होती हैं। उसमें सभी कालक्रम-विपर्यय है। सर्वप्रथम अहल्योद्धार; तदनन्तर ताड़का-वध, जृम्भकास्त्र प्राप्ति, मारीच -सुबाहुवध आदि हैं।

विश्वामित्र के यज्ञ में कुशध्वज का सीता उर्मिला के साथ आगमन, विश्वामित्र का अपने ही आश्रम में धनुष मँगा लेना, उसी आश्रम में धनुष-भङ्ग, वहीं पर सीता-उर्मिला का रामादि की वाग्दत्ता होना, सर्वमाय राक्षस द्वारा रावण के लिये सीता की याचना, शुनःशेप द्वारा दशरथ को मिथिला आने की सूचना भिजवाना आदि नवीन प्रसंगों को जोड़ने से रोचकता में वृद्धि हुई है। सीता-याचना के लिए रावण द्वारा दूत भेजे जाने का यह प्रसङ्ग कई ग्रंथों में प्राप्त है। 'अनर्घ-राघव' में रावणदूत शौष्कल

मिथिला में आकर रावण की ओर से सीता को माँगता है। 'सत्योपाख्यान' तथा 'देवीभागवत-पुराण' आदि में भी ये तथ्य वर्णित हैं।

आठवीं शती ई० के रामकथाविषयक ग्रन्थों में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि विवाह के पूर्व रामसीता के पारस्परिक आकर्षण का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत नाटक में भी विश्वामित्र द्वारा सीता-उर्मिला को अपने आश्रम में बुलाने पर, राम-लक्ष्मण उनको देखकर आकर्षित हो जाते हैं। 'जानकीहरण महानाटक' 'कल्किपुराण' 'आनन्द रामायण' 'कृत्तिवास रामायण' आदि कई ग्रन्थों में यह पूर्वानुराग वर्णित है।

'महावीरचरित' के द्वितीयाङ्क में राम के अभ्युदय से चिन्तित माल्यवान् शंकर के धनुषभङ्ग की सूचना देकर परशुराम को उत्तेजित करता है। उत्तेजित परशुराम मिथिला आते हैं। राम के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर वे बड़े प्रभावित होते हैं किन्तु, अपने कर्त्तव्य (धनुष के अपमान का बदला लेना) का ध्यान उन्हें हमेशा रहता है। इस अवसर पर वे कुछ कटु बातें कहते हैं, किन्तु, राम चुप रहते हैं। इसी बीच कंचुकी आकर राम को कंकणमोचन के लिए अन्तःपुर लिवा ले जाता हैं।

इस अंक में केवल एक तथ्य कि परशुराम राम पर क्रुद्ध है, रामायण पर आधारित है, अन्यथा परशुराम का रावण को पत्र भेजना, माल्यवान् की प्रेरणा से परशुराम का क्रुद्ध होना आदि तथ्य शुद्धतया काल्पनिक हैं। रामायण में जनकपुर से अयोध्या लौटते समय रास्ते में राम को परशुराम के कोप का सामना करना पड़ता है, किन्तु, प्रस्तुत नाटक में परशुराम का आगमन विवाह की मोहक घड़ियों के बीच मिथिला में हीं होता है। वस्तुतः यही अधिक स्वाभाविक है। परशुराम जैसे महान् पौरुषशाली व्यक्ति को धनुष का टूटना इतने दिन तक ज्ञात न हो सके, असम्भव है। और, यदि ज्ञात हो भी, तो वे राम-विवाह की प्रतीक्षा करें, मार्ग में उन्हें रोकें-ऐसी धीरता की उनमें कल्पना करना भी बुद्धि-प्रवंचना होगी। यद्यपि वाल्मीकि ने कहीं उन्हें रामविवाह के लिए रुकता नहीं दिखलाया है, तथापि इसका कहीं समाधान नहीं है कि परशुराम इतने दिन तक क्यों रुके रहे। राम द्वारा धनुष के तोड़े जाने तथा सीता-परिणयोपरान्त अयोध्या लौटने में १५ दिनों का अन्तराल है। दशरथ को बुलाने के लिये भेजे गये दूत तीन रात्रि बिताकर अयोध्या पहुंचते हैं, एक रात्रि अयोध्या में बिताते हैं। तदनन्तर अयोध्या से प्रस्थित दशरथ चार दिनों में जनकपुर पहुंचते हैं। उस दिन रुक कर दूसरे दिन वंशावली-वर्णनोपरान्त, तीन दिन बाद उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में विवाह, उसके एक दिन बाद राम का अयोध्या प्रस्थान होता हैं। ऐसी लम्बी अवधि के बाद परशुराम का क्रुद्ध होना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। 'अनर्घराघव' 'बालरामायण' 'महानाटक' 'प्रसन्नराघव आदि नाटकों में भी परशुराम का मिथिला में ही आगमन वर्णित है।

तीसरे अंक में परशुराम पर जनक, दशरथ तथा शतानन्द सभी क्रुद्ध होते हैं। तभी राम अन्तःपुर से वापस आकर गर्वोन्मत्त परशुराम को हराने की घोषणा करते हैं तथा अन्त में विजयी होते हैं, जबकि रामायण के अनुसार परशुराम अयोध्या की यात्रा में राम को चुनौती देने आते हैं, वास्तव में युद्ध होता नहीं है। ज्यों ही राम विष्णुचाप चढ़ाते हैं, परशुराम निस्तेज होकर विष्णु रूप राम को प्रणाम करते हैं।

चतुर्थांक में मिथिलास्थित माल्यवान् और

शूर्पणखा में मंत्रणा होती है, जिसमें राक्षसों की परस्पर फूट की चर्चा होती है तथा राम पर विजय प्राप्त करने की कूटनीतिक योजनाएँ बनती हैं। इधर अयोध्या से (कैकेयी द्वारा) राम की कुशलता जानने के लिए दासी मंथरा जनकपुर भेजी गयी है। रास्ते में ही माल्यवान् के आदेश से शूर्पणखा उसमें प्रवेश कर जाती है और मिथिला पहुँचकर, राम-लक्ष्मण और सीता के निर्वासन दण्ड की याचना करती हैं। तत्पश्चात्, राम-वन-गमन, भरत द्वारा चरण-पादुका का ग्रहण-ये सारी घटनाएँ अयोध्या में न घट कर जनकपुर में ही घटती हैं। इन सभी घटनाओं के मुक्तागोलकों के संगुम्फन में एक ही सूत्र निहित है-वह है, माल्यवान् की प्रेरणा।

रामायण में रामवन-गमन का यह दुःखद प्रसंग अयोध्या में घटित हुआ है। भरत ननिहाल में रहते हैं। अतः वनगमन के समय पादुका-ग्रहण नहीं होता, बल्कि भरत के मातुल-गृह से लौटने के बाद वन में पादुका-ग्रहण होता है।

पुनः मन्थरा द्वारा लाये गये आदेश तथा रामायण में कैकेयी द्वारा दिये गये आदेश में भी अन्तर है। रामायण में केवल राम को निर्वासनादेश हुआ है। बाद में सीता-लक्ष्मण अपने हठ से उनके साथ जाते हैं, किन्तु, महा-वीर-चरित में सीता और लक्ष्मण के साथ राम 'वन जायें-ऐसा आदेश होता है। किन्तु एक जिज्ञासा का समाधान यहां नहीं होता। यह तो ठीक है कि कैकेयी द्वारा मात्र कुशलता पूछने के लिये मिथिला भेजी गयी मंथरा में शूर्पणखा प्रविष्ट होकर, उससे राम का निर्वासनादेश कहला देती है, किन्तु, उसे राम के निर्वासनादेश का पत्र कहां से मिलता है; यह नहीं ज्ञात होता, क्योंकि, मंथरा, जिसमें शूर्पणखा प्रविष्ट है, स्वयं अपने मुख से कुछ नहीं कहती। अच्छा होता, यदि कवि ने शूर्पणखा का प्रवेश मन्थरा में न कराके कैकेयी में कराया होता, तब पत्र की सङ्गति बैठती।

एक बात और अस्वाभाविक प्रतीत होती है। पूरे ग्रन्थ में कहीं भी दशरथ-मरण की सूचना नहीं दी गयी है। जब निर्वासन-सन्देश सुनाया जाता है, तब दशरथ और जनक दोनों मूर्छित हो जाते हैं। बाद में विह्वल दशरथ भरत और जनक द्वारा बाहर ले जाये जाते हैं। इसके पश्चात् दशरथ का कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं हुआ है।

नाटक का पंचमाङ्क प्रायः नवीनता से युक्त है। आरम्भ में सम्पाति के जल जाने की घटना वर्णित है; जो रामायणानुकूल है। रामायण में जटायु और सम्पति का इस घटना के बाद कभी मिलन नहीं होता। किन्तु, 'महावीरचरित' में दोनों भाई सीता हरण के ठीक पहले मिलते हैं और वहां से लौटते ही जटायु सीताहरण होते देखता है। सीता-हरण के प्रमुख प्रसङ्ग को साक्षात् न दिखाकर, कवि ने अन्य पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से उसे उपस्थित किया है। रावण द्वारा बलाह्रीयमाना सीता की रक्षा के प्रयत्न जटायु द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु, इन अथक प्रयत्नों की चरम विश्रान्ति जटायु के धराशायी होने में ही हो जाती है। राम-लक्ष्मण सीता को ढूँढते आते हैं, वहीं जटायु से उन्हें रावण द्वारा सीतापहरण की सूचना मिलती है। जटायु उन्हें देखकर कहता है 'हे राम! ओषधि की तरह जिस सीता को तुम खोज रहें हो, उसे और मेरे प्राणों

को रावण ने हर लिया है।[1] ठीक यही श्लोक रामायण में भी आया है।

'चरित' की श्रमणा-कथा भी रामायण से कुछ भिन्नता रखती है। रामायण में राम स्वयं सीता को खोजते-खोजते क़बन्ध के अनुरोध से श्रमणा के तपोवन में जाकर उससे भेंट करते हैं। नाटक में इस प्रसङ्ग की सारी कथावस्तु का उपस्थापन मौलिकता से सम्पन्न हुआ है। यहाँ सुग्रीव और विभीषण में पहले से ही मित्रता है तथा विभीषण सीता-हरण के पहले ही रावण का साथ छोड़कर चला आया है। सुग्रीव, हनुमान् तथा उनके वानर इन्द्रपुत्र बालि की सेवा में हैं। परम्परागत राम कथा में जहाँ बालि-सुग्रीव परस्पर शत्रु हैं, वहीं इस नाटक में वे स्नेहिल भाई के रूप में आये हैं। दोनों की शत्रुता का परम्परागत कारण अर्थात् सुग्रीव-पत्नी-हरण यहाँ अविद्यमान है। यहाँ सुग्रीव विभीषण के बाल-मित्र माने गये हैं, जबकि रामायण में राम की सेना में विभीषण के आने पर पहचानना तो दूर, वे अविश्वास की दृष्टि से ही उसे (विभीषण को) देखते हैं। रामायण में राम-हनुमान से परिचय होने के उपरान्त सुग्रीव-राम-मैत्री होती है तथा दोनों एक दूसरे की पत्नीहरण की समस्या के समाधान में सहायता देने का वचन देते हैं। महावीर-चरित में सुग्रीव राम को पहले से ही जानते हैं, किन्तु, यहाँ उनके सामने ऐसी कोई समस्या (पत्नी हरण जैसी) नहीं आयी है। यहीं भी राम और सुग्रीव में मैत्री होती है, किन्तु, परिस्थितियाँ भिन्न हैं। यहाँ मरते समय बालि ही दोनों में मैत्री करा देता है, क्योंकि उसे भय है कि भ्रातृस्नेह के कारण कहीं सुग्रीव राम से प्रतिशोध न ले।

षष्ठाङ्क में हनुमान् का सीता के अन्वेषण में निकलना, उनसे मिलना, सीता का उनको अभिज्ञान के रूप में केशाभरण देना तथा तदनन्तर लङ्कादहन करना आदि तथ्यों की सूचना मात्र दी गयी है, किन्तु, लङ्कादहन कैसे हुआ, इसका ज्ञान नहीं होता। रामायण में तो रावण हनुमान् की पूँछ जलाने की आज्ञा देता है और उसी से लङ्का जलती है। यहाँ ऐसा कोई कारण नहीं दिया गया है। सेतुबन्ध की घटना रामायण के अनुकूल ही है। युद्धकाण्ड के केवल मुख्य-मुख्य कथाप्रसङ्गों को ही भवभूति ने इस अङ्क में समेटा है। सेतुबन्ध, अंगद का आगमन, मेघनाद, कुम्भकर्ण तथा रावण-वध इत्यादि घटनाएँ ही रुचि के साथ वर्णित की गयीं हैं। प्रचलित रामकथा के तथ्यों, रावण द्वारा राम-सेना में गुप्तचर भेजना, माया शीर्ष-वृत्तान्त आदि तथ्यों का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

सप्तमाङ्क में यह सूचना मिलती है कि रावण की मति किसी शाप के कारण विपरीत हो गयी थी। किन्तु, उस शाप का यहाँ विवरण नहीं मिलता। सम्भवतः, यह रामायण में प्राप्त इक्ष्वाकु-वंश के पूर्वपुरुष अनरण्य का वह शाप हो जिसमें उन्होंने कहा था कि 'यद्यपि तूने मुझे हरा दिया है, तथापि, इक्ष्वाकु-कुल के इस अपमान का बदला दाशरथी राम लेंगे और तेरा बध करेंगे।'[2] विभीषण के अभिषेक के पश्चात् सुग्रीव भरत का स्मरण करते हैं। जिन्हें औषधि-पर्वत लाते समय हनुमान् से उस समय की सूचना मिली थी। अतः वर्तमान सुखद परिस्थिति की भी सूचना उन्हें हनुमान् से भिजवा देनी चाहिये। अतः लङ्का से ही

१- यामोषधिमिवायुष्मन्विचिनोषि महावने।
सा सीता मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम्॥ महा० ५।२४

२- रामा० उत्तर काण्ड १९।३०

हनुमान् भरत को सूचना देने के लिये प्रस्थान कर देते हैं। रामायण में भी राम भरत के पास हनुमान् को भेजते हैं। अन्तर इतना है कि यहाँ लङ्का से हनुमान् भेजे जाते हैं, जबकि रामायण में शृंगवेरपुर के पास जाकर, इसके पश्चात् विमान से जाते हुए राम रास्ते में सीता को अगस्त्याश्रम वालि-बध का स्थल, जटायु-मरण का स्थान, दण्डकारण के भूभाग आदि दिखाते हैं। रामयण, में भी ये स्थल राम द्वारा सीता को दिखाये जाते हैं। राम का किष्किन्धा में वानर-पत्नियों के साथ लेना, भरद्वाज से भेंट, हनुमान् का गुह को राम के आगमन का समाचार देना आदि तथ्य इस नाटक में नहीं मिलते। यहाँ राम मार्ग में कहीं नहीं रुकते। नन्दिग्राम के थोड़े समीप आने पर स्वागतार्थं हर्षोन्मत्त भरत और शत्रुघ्न का ससैन्य आगमन होता है। तभी वशिष्ठ, अरुन्धती तथा तीनों माताएँ भी आकर राम से मिलती हैं। सम्मिलन के इस भावविह्वल क्षण में कैकेयी को खिन्नमना देखकर अरुन्धती यह रहस्य विवृत कर देती हैं कि राम-निर्वासन में कैकेयी का दोष नहीं था। मंथरारूपधारिणी शूर्पणखा ने माल्यवान् की प्रेरणा से यह सब किया था। पूरे रामायण में कहीं भी कैकेयी की व्यथा से सहानुभूति नहीं व्यक्त की गयी है। अन्त तक कथा उसके प्रति उपेक्षित ही बनी रहती है, किन्तु, 'महावीरचरित' के अन्तिम अंक में कवि ने कैकेयी को भी अभिविवृत्ति का अवसर दिया है। यह इस कथांश की एक बड़ी विशेषता है।

इस प्रकार भवभूतिकृत 'महावीरचरित' अपने मूल रूप में रामायण की सोंधी माटी से रस ग्रहण कर भी, हवा में स्वतन्त्र रूप से खिलने वाले पाटल के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ है।

भवभूति के जीवन के प्रौढ़ अनुभवों की देन गीति नाट्य 'उत्तररामचरित' अपने कथांश के पूर्वार्ध को परम्परागत रामकथा से लेकर अपनी प्रतिभा के द्वारा एक सर्वथा नूतन ढंग से कथा के आयाम को विस्तार प्रदान करता है। यह ७ अङ्कों का एक नाटक है, जिसमें राम के जीवन के उत्तर भाग की कथा है। रावण-वध के बाद अयोध्या लौटे राम का राज्याभिषेक देखने के लिये आये जनक मिथिला लौट जाते हैं। इसी समय दशरथ के जामाता ऋष्यशृङ्ग (शान्तापति) अपने आश्रम में यज्ञ का आरम्भ करते हैं जिसमें भाग लेने के लिये कुलगुरु वशिष्ठ (सपत्नीक) तथा तीनों राजमाताएँ गयीं हैं। वहाँ से मुनि अष्टावक्र वशिष्ठ का सन्देश लेकर राम के पास आते हैं तथा आदेश देते हैं–'प्रजा के अनुरंजन में लगे रहना तथा सीता के गर्भ दोहद को पूर्ण करना'। उनके सन्देश देकर चले जाने के बाद गुरुजनवियोग-दुःखिता सीता के विनोदार्थं कुमार लक्ष्मण चित्रफलक लेकर आते हैं जिसमें राम जन्म से लेकर सीता-परिशुद्धि तक का वृत्तान्त उत्कीर्ण है - उसमें अङ्कित वन के दृश्यों को देखकर सीता के मन में एक बार पुनः तपोवन को देखने का दोहद उत्पन्न हो जाता है। चित्र देखते-देखते सीता थक कर राम के वक्ष पर सिर रखकर सो जाती हैं। इसी समय दुर्मुख गुप्तचर आकर सीता के विषय में जनापवाद की सूचना देता है। राजधर्म और पतिधर्म के द्वन्द्व में राजधर्म की सर्वातिशयिता जय प्राप्त करती है और न चाहते हुए भी गर्भभारेण अलसायी सीता को हिंस्र पशुओं के समक्ष क्रव्य के समान त्यागने के लिये वे विवश हो जाते हैं।

पूरे अंक में कुछ ही बातें रामायण से मिलती हैं। वाल्मीकि-रामायण में भी गर्भदोहद

की बात सीता ने व्यक्त की है।१ वन-दीक्षा भी समान है। इसके पश्चात् लक्ष्मण को ही दोनों ग्रन्थों में सीता के परित्याग का कार्य सौंपा गया है। लक्ष्मण बिना यह बताये कि सीता को दे दोहदपूर्ति के उद्देश्य से ले जा रहे हैं या जनापवाद के कारण. उन्हें रथ पर बैठाकर बन ले गये, यह रामायण में भी है, तथा प्रस्तुत नाटक में भी। इस के अतिरिक्त, भावी विरह की अनुभूति को तीव्रता को उभारने के लिए चित्रदर्शन की योजना तो एक गहरी सूझ ही है।

किन्तु, एक सूक्ष्म अन्तर मुझे यह प्रतीत होता हैं कि रामायण में राम 'अपवादभगभीत होकर सीता का परित्याग करते हैं, जब कि 'उत्तररामचरित' में प्रजा के अनुरंजन के लिये परित्याग करते हैं। एक अन्तर और है-जनापवाद की सूचना पाकर रामायण में राम तीनों अनुजों को बुलाकर उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत नहीं कराते हैं, किन्तु, यहाँ राम लक्ष्मण से भी प्रत्यक्षतः कहते अपितु, दुर्मुख से ही रथ को तैयार कराने का आदेश भिजवा देते हैं। इस परिवर्तन के बारे में विद्वानों का विचार है कि राज धर्म की मर्यादा की सुरक्षा के लिए, उसके औचित्य का ध्यान रखते हुए कवि ने पौरजनों के बीच उठे हुए सीतापवाद के विषय में राम को अपने तीनों भाइयों से और सुहृदों से परामर्श लेने की बात प्रजारंजकता की दृष्टि से अनपेक्षित मानकर हटा दी हैं।२

द्वितीयाङ्क ठीक बारह वर्ष की घटना के बाद आरम्भ होता है। आत्रेयी और वनदेवता वासन्ती वाले विष्कम्भक से पता चलता है कि वाल्मीकि के पास किसी देवता ने दो शिशु लाकर रख दिये हैं। आत्रेयी को वासन्ती से पता चलता है कि यह पञ्चवटी है। पञ्चवटी नाम लेते ही दोनों को सीता का स्मरण हो जाता है, किन्तु, लक्ष्मण द्वारा सीता-परित्यागोपरान्त सीता की क्या स्थिति है-यह दोनों को ही पता नहीं है। आत्रेयी से ही ज्ञात होता है कि राम ने अश्वमेघ यज्ञ प्रारम्भ किया है, जिसमें सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा स्थापित की है। इसके पश्चात् ही शम्बूक-वध के लिये दण्डकारण्य में आने पर राम को वे ही चिरपरिचित दृश्य दिखाई पड़ते हैं। उन दृश्यों को देखकर राम की वेदना भीतर ही भीतर उफनती रहती है।

कुश-लव का, जन्म के १२ वर्ष बाद वाल्मीकि के पास रहना, राम का अश्वमेघ यज्ञ, ब्राह्मण पुत्र को जीवित करने के लिए आयोजित शम्बूक-वध आदि तथ्य मूल रूप में उत्तरकाण्ड की कथावस्तु है, किन्तु इनका समुपस्थापन ऐसे भणितिभङ्गी से किया गया है कि आश्चर्य होता है। सीता की प्रिय सखी वनदेवता वासन्ती तथा आत्रेयी के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि राम ने अश्वमेघ यज्ञ प्रारम्भ किया है, जो रामायण के अनुसार है। रामायण में पहले राम राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं। किन्तु भरत द्वारा विरोध करने पर अश्वमेध यज्ञ ही सम्पन्न होता है। वहाँ यज्ञ का वर्णन तो अवश्य है, किन्तु, पता ही नहीं चलता कि वह कब तक सम्पन्न हो गया। उत्तरकाण्ड के तिरासीवें सर्ग में राम राजसूय यज्ञ की इच्छा प्रकट करते हैं। ९१ वें सर्ग में अश्वमेध यज्ञ के निमित्त नैमिष में भरत को तैयारी करने के लिये भेजा जाता है। ९२-वें सर्ग में १६ श्लोकों में अश्वमेध का वणन समाप्त हो गय

१- तपोवनानि ·· ....द्रष्टुमिच्छमि राघव। तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन। शीघ्रमागच्छ सौमित्र कुरुष्व वचनं मम। (वा० रा० उ० का०)

२- द्रष्टव्य-डा० लाल रमायदुपाल सिंह ['उत्तर रामचरितम्' की टीका-पृ० ४२]

है, यों शब्दतः वह सीता के पाताल-प्रवेश के अनन्तर ९९-वें सर्ग में समाप्त होना कहा गया है। वहाँ न तो किसी अश्व को पकड़ने का वर्णन है, न ही किसी ऐसी कथा की ओर संकेत ही है, जबकि भवभूति ने आगे के अंकों में मेध्याश्व की पुष्कल वर्णना नियोजित की है। ऐसा लगता है कि वाल्मीकि ने यज्ञ-वर्णन में केवल इतिकर्तव्यता निबाही है।

रामायण में अश्वमेध यज्ञ के पूर्व ही ब्राह्मण-पुत्र मृत्यु, तदनन्तर शम्बूक वध प्राप्त है, किन्तु, 'उत्तररामचरित' में यज्ञ के बीच ही यह प्रसंग प्राप्त है। यहाँ भवभूति ने शम्बूक-वध के उपरान्त शम्बूक को दिव्यत्व प्रदान करवाया है। वा० रामायण में देवों ने उसकी दिव्यता का घोर विरोध किया है और राम से वरदान माँगने को कहा है। राम दिवंगत द्विजशिशु के पुनरुज्जीवन का वरदान माँगते हैं। पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड, तथा उत्तर खण्ड में भी देवताओं के वरदान से द्विजशिशु के पुनरुज्जीवित होने का वर्णन मिलता है, किन्तु, 'महाभारत' 'रघुवंश तथा अन्य परवर्ती रामकथाओं में देवताओं के वरदान का उल्लेख नहीं है। राम द्वारा शम्बूक वध की क्रिया ही ब्राह्मण पुत्र के पुनरुज्जीवित तथा स्वर्ग-प्राप्ति का हेतु मानी गयी है। यही तथ्य 'उत्तररामचरित' में भी है।

विद्वानों का विचार है कि भवभूति का कविहृदय इस बात को धर्मानुकूल न मान सका कि राम द्वारा वध किये जाने के बाद भी शम्बूक को स्वर्ग की प्राप्ति न हो सके, जबकि 'मनुस्मृति में लिखा है--

> 'राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
> निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः, सुकृतिनो यथा ॥'
>
> [८।३८]

तृतीयाङ्क के तमसा-मुरला नामक दो नदी-देवताओं से ज्ञात होता है कि राम की पूर्वस्मृतिजन्य वेदना अत्यधिक बढ़ गयी है। अतः पंचवटी में सीतास्मरणादिजनित मूर्छा इत्यादि से उनकी रक्षा करनी होगी। तमसा से ज्ञात होता है कि लक्ष्मण द्वारा परित्यक्त होने के उपरान्त, सीता के गङ्गा में कूद पडने पर, गङ्गा में ही लव-कुश का जन्म हुआ था। वे अब वाल्मीकि आश्रम में रह रहे हैं। वर्तमान समय में गङ्गा राम की पंचवटी में रक्षा करने के लिये सीता के साथ आ गयीं हैं। उसी दिन लव-कुश की बारहवीं वर्षगाँठ है। अतः उसी के लिये पुष्प चुनने के बहाने गङ्गा ने सीता को अदृश्य होने का वरदान दे दिया है। बेचारी सीता को यह नहीं पता है कि गङ्गा वस्तुतः उसे यहाँ क्यों ले आयी हैं। तभी राम का आगमन होता है। राम पंचवटी को देखते ही पूर्वानुभूत सुखद प्रसंगों की स्मरणजनित-वेदना से भर जाते हैं तथा विलाप करने लगते हैं। 'व्यथा की विग्रहिणी रसना' छाया सीता भी राम को देखकर मूर्छित हो जाती है। जब राम को सीता की सखी वासन्ती सीतात्याग के लिये उपालम्भ देती है, राम की पुटपाक के समान 'अन्तर्गूढ-घनव्यथा' प्रकट हो उन्हें मूर्छित बना देती है। अदृश्या सीता अपने स्पर्श से राम में चेतना का संचार करती है। अत्यन्त मर्मन्तुद क्षण है। राम सीता के अमृत-संस्पर्श का अनुभव करते हैं, मोहावेग में चिल्ला पड़ते हैं-'पुनरपि प्राप्ता जानकी' किन्तु, नेत्र खोलने पर सीता दिखाई नहीं पड़ती। इधर सीता वहाँ से हटना चाहती

१- कामिल बुल्के इसे स्वतन्त्र कथा मानते हैं जो बाद में रामायण में जोड़ दी गयी है।

है, किन्तु चिरकाल के बाद मिले प्रियतम के अंगों पर उनका अग्रहस्त अनजाने ही मानों वज्रलेप से जुड़ गया है। राम हाथ पकड़ने की चेष्टा करते हैं, तभी सीता को विवेक झकझोर देता है और अपने इस मोह पर लज्जित हो हाथ खींच लेती हैं। न चाहते हुए भी रोमांचयुक्ता सीता का राम के प्रति मोह प्रकट हो ही जाता है। सीता की उपस्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ वासन्ती राम की व्याकुलता तथा हाथ पकड़ने आदि की चेष्टाओं को उन्माद समझती है। अन्त में सीता को न पाकर व्याकुल राम वासन्ती से विदा माँगते हैं, क्योंकि अश्वमेघ यज्ञ अयोध्या में चल रहा है।

इस प्रकार यह अंक अपने आप में नितान्त मौलिक है। छाया-सीता की कल्पना तो कवि को उर्वरक कल्पना का चूड़ान्त निदर्शन है। कुछ तथ्य रामायण से एकदम विपरीत हैं-जैसे-लव-कुश का जन्म यहाँ सीता द्वारा गङ्गा के जल प्रवाह में कूदने के समय हुआ बताया गया है, जबकि रामायण में सीता आत्म-हत्या का प्रयास नहीं करती। वाल्मीकि उन्हें संरक्षण देते हैं तथा आरम्भ से ही लव-कुश वाल्मीकि के पास रहते हैं।

चतुर्थाङ्क में ऋष्यशृङ्ग के यज्ञ से लौट कर वशिष्ठ, अरुधन्ती तथा तीनों माताएँ वाल्मीकि-आश्रम में रुकती हैं। वहीं जनक भी वाल्मीकि से मिलने चले आते हैं। कौशल्या और जनक एक दूसरे को देखकर दुःख का अनुभव करते हैं। कंचुकी बताता है कि कौशल्या ने तो क्रोध के कारण राम से बोलना भी छोड़ दिया है। इसी समय क्रीडामग्न शिशुओं के झुण्ड में से लव को देखकर, तथा उसमें राम-सीता को छवि देखकर सभी तर्क-वितर्क करने लगते हैं कि यह बालक कौन है? अरुधन्ती को वास्तविकता का ज्ञान है, किन्तु, वे इसे छिपाये रखतीं हैं। तभी लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु द्वारा रक्षित यज्ञाश्व को देखने के लिए पूरी बालमण्डली लव को पकड़ ले जाती है। वहाँ सैनिकों के मुख से रामविषयक दर्पोक्ति सुन लव से नहीं रहा जाता तथा वह यज्ञाश्व को पकड़ लेता है।

वशिष्ठ, अरुन्धती तथा तीनों माताओं को वाल्मीकि के आश्रम में रखना सर्वथा नवीन योजना है। वस्तुतः, रामायण में, सीतापरित्याग के समय ये गुरुजन कहाँ थे और उनके अयोध्या में रहते ही कैसे यह कर्म घटित हो गया-यह शंका समाधानित नहीं होती। लोकापवादयुक्ता सीता की समस्या का समाधान केवल सीता-परित्याग से ही सम्भव था, किन्तु, भवभूति के राम के सामने गुरुजनों के विरोध तथा सीता के विरोध की समस्या थी। इस परिस्थिति से बचने के लिये जहाँ एक ओर तो स्वयं सीता वनदिदृक्षा प्रकट करती है, दूसरी ओर भवभूति ने गुरुजनों को दीर्घकाल के लिये अयोध्या से बहुत दूर, बाहर भेजने की व्यवस्था की है और दशरथ के जामाता ऋष्यशृङ्ग के बारहवर्षीय यज्ञ में भाग लेने के लिये गुरुजनों को भेज दिया। निश्चय ही यह योजना अत्यन्त स्वीकरणीय और रुचिरा है।

पाँचवें अङ्क के प्रारम्भ में लव-चन्द्रकेतु-युद्ध में लव को जृम्भकास्त्र का प्रयोग करते देखकर सुमन्त्र को आश्चर्य होता है। वस्तुतः जृम्भकास्त्र की कल्पना से पूर्ण नाटक प्राणवन्त हो उठा है। जब राम अपनी सन्तति पर से अपना साया हटते देखते हैं, तो इन बलवान् की छत्रछाया में उन्हें सुरक्षित कर देते हैं। १

१- प्रथमांक में चित्र दर्शन के समय जृम्भकास्त्रों को देखकर राम ने सीता से कहा था कि ये अस्त्र तुम्हारी सन्तान को जन्म से ही सिद्ध होंगे।

अस्तु, यही विद्या इस अवसर पर काम देती है। चन्द्रकेतु से युद्ध करने में सफलता के हेतु तथा अन्त में ये ही अद्भुत प्रत्यभिज्ञान के साधन बनते हैं। राम जृम्भकास्त्र देखकर ही उन्हें पहचान जाते हैं।

षष्ठाङ्क में लव-चन्द्रकेतु के रोमांचक युद्ध के समय ही शम्बूक का वध करके लौटे हुये राम युद्ध रोकते हैं। लव-कुश में सीता तथा अपनी आकृति की समानता, लक्ष्मण का वाल्मीकि-आश्रम के समीप सीता को छोड़ना-सोता के गर्भ का दो भागों में विभक्त होने का पूर्वानुभव, इन दोनों बालकों का जुड़वाँ रूप में उत्पन्न होना तथा जृम्भकास्त्रों का स्वतः सिद्ध होना-ये सभी बातें रह-रह कर राम को विश्वास दिलाने लगती हैं कि ये उन्हीं के पुत्र हैं।

यज्ञाश्व के कारण लव चन्द्रकेतु के रोमाँचकारी युद्ध की घटना, कामिल बुल्के के अनुसार सर्वप्रथम 'उत्तररामचरित' में ही प्राप्त है। विमलसूरि की 'पउम चरिय' प्राचीनतम सुरक्षित रचना है, जिसमें सीता के पुत्रों के युद्ध का वर्णन प्राप्त है। लेकिन, यज्ञाश्व के कारण युद्ध होना कहीं वर्णित नहीं है। पद्मपुराण 'के पातालखण्ड में अवश्य यह वृत्तान्त आया है, किन्तु चूँकि उसके कालनिर्णय में मतभेद है और कुछ विद्वान उसे शक संवत् ७२५ के बाद का मानते हैं, अतः कामिल बुल्के 'उत्तरगमचरित' को ही प्राचीनतम रचना मानते हैं; जिसमें लव के युद्ध का हेतु यज्ञाश्व है।

सप्ताङ्क के प्रारम्भ में लक्ष्मण द्वारा वाल्मीकि की रामकथा पर अप्सराओं द्वारा अभिनय किये जाने की अग्रिम सूचना मिलती है। नाटक का प्रारम्भ परित्यागोपरान्त सीता के गंगा में कूदने वाले दृश्य से होता है, जहाँ जल के भीतर ही सीता दो कुमारों को जन्म देती हैं। यह दृश्य देखकर राम मूर्छित हो जाते हैं। तदुपरान्त लवकुश को जृम्भकास्त्र की प्राप्ति, पृथ्वी का राम को उपालम्भ देना तथा सीता को लेकर पृथ्वी और भागीरथी का मंच पर चला आना वर्णित है। राम की पुनः मूर्छित होने की अवस्था में ही गंगा की धारा से सीता का बाहर निकलना, अरुन्धती के आदेश से सीता का राम को चैतन्य बनाना आदि तथ्य वर्णित हैं। चारो ओर आनन्द का साम्राज्य हिलोरें लेने लगता है। राम पौर जानपद श्रद्धा के साथ अपनी महारानी को स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण नाटक की करुणा आनन्द में पर्यवसित हो गयी है।

रामायण सहित अधिकाँश रामकथाओं में सीता के भू:प्रवेश की घटना के समावेश के कारण रामकथा दुःखान्त बन गयी है, किन्तु 'उत्तररामचरित' में यह कथा सीता के राम से मिलने के कारण सुखान्त हो गयी है। क्षेमेन्द्रकृत 'वृहत्कथामंजरी', 'कुन्दमाला', 'आनंदरामयण', कथासरित्सागर', पद्मपुराणादि में भी कथा सुखान्त ही है।

'उत्तररामचरित' का रचनाकार रामायण के उत्तरकाण्ड में, मात्र सीता-परित्याग तक ही घटना को समाविष्ट मानता है। याकोबी,

वेबर, मैक्डानेल, डा० बिल्वालिकर आदि ने एक स्वर से उत्तरकाण्ड को पीछे से जुड़ा माना है। ऐसा मानने पर लगता है कि भवभूति के पूर्व इस प्रसङ्ग पर भी कोई नाट्य कृति या काव्यकृति नहीं लिखी गयी। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने सीतापरित्याग तक की कथा वाल्मीकि पर आधारित रखी, अवशिष्टांश या तो कल्पना पर आधारित है या किसी प्राचीन नाटक के ऊपर आधारित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उत्तररामचरितम्' के कथाकार न कल्पना के द्वारा नये-नये प्रसंगों को जोड़ कर, सम्पूर्ण काव्य को रससिक्त बना दिया है। 'अति परिचय से धूमिल लगने वाली राम-सीता की कथा भवभूति की करुणा का स्पर्श पाकर, नूत नपरिचय कीदीप्ति से उद्‌भासित हो उठी है। १

--एम० ए०, रिसर्च स्कालर,

१- सप्तपर्णा-महादेवी वर्मा पृ० ६२

तुलसी का बरवै-काव्य

— डा० वेद प्रकाश आर्य

तुलसी ने अपने युग की सभी प्रकार की छन्द-शैलियों में राम-कथा को ढ़ालने में सफलता प्राप्त की है। इसी क्रम में 'बरवै' छन्द की चुटीली अभिव्यंजना-शक्ति से प्रभावित हो कर उन्होंने 'बरवै-रामायण की रचना की। यद्यपि गोस्वामी जी की प्रामाणिक कृतियों में 'बरवै रामायण' को असंदिग्ध रूप में स्थान मिलना रहा है, तथापि उसकी छन्द संख्या एवं वास्तविक प्रति को लेकर काफी विवाद रहा है। अब तक 'बरवै-रामायण' के दो रूप प्रकाश में आ चुके हैं। एक लघु रूप है, जिसकी छन्द संख्या ६९ है और दूसरा वृहत् रूप है, जिसकी छन्द संख्या ४०५ है

बरवै रामायण' के वृहत् रूप की प्रामाणिकता के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा० रामकुमार वर्मा ने इसे सर्वथा प्रामाणिक ठहराया है, जबकि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और पं० सीताराम चतुर्वेदी ने इसे अप्रामाणिक घोषित किया है। आज प्रामाणिकता अप्रामाणिकता के द्वन्द्व में एक मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण किया जा रहा है जिसके परिणाम स्वरूप दोनों ही रूप प्रचलित होते जा रहे हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने जिस 'बरवै रामायण' का प्रकाशन किया है, उसमें मान्यता तो बृहद्रूप को मिली है, किन्तु परिशिष्ट में 'लघु रूप' का पाठ भी दे दिया गया है। इसी प्रकार अ० भा० विक्रम परिषद्, काशी, द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड में 'लघुरूप' को मान्यता मिली है, किन्तु परिशिष्ट में बृहद् रूप का पाठ भी दे दिया गया है। इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि 'लघुरूप' के प्रामाणिक होते हुए भी 'बृहद्रूप' की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

बृहद्रूप में कथा का विन्यास रामचरित मानस की भांति ही हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ राम-भक्ति की दिव्य भावना से ओत-प्रोत है तथा सर्वत्र एक सुनिश्चित भाव-प्रबन्ध के दर्शन होते हैं। लघुरूप में राम कथा अति संक्षेप में कह दी गयी है। ये बरवै स्फुट रूप में रचे गये हैं; जो बाद में ग्रन्थ के रूप में संगृहीत हुए है। गोस्वामी जी की काव्य-कला यहाँ पर उत्कृष्टता की चरम सीमा का स्पर्श करती है। भाव-व्यंजना के साथ ही शिल्पगत वैशिष्ट्य के कारण 'बरवै रामायण' तुलसी साहित्य की एक देदीप्यमान मणि है।

भक्ति-माहात्म्य

विनयपत्रिका और 'रामचरित मानस' की भाँति 'बरवै रामायण' में भी गोस्वामी जी भक्ति की श्रेष्ठता एवं उसके माहात्म्य का आख्यान करते हैं। सांसारिक दुःखों से निवृति एवं परमानन्द-प्राप्ति का सरलतम मार्ग भक्ति ही है। संसार में आकर जिस मनुष्य ने भगवद्भक्ति में तल्लीनता का अनुभव नहीं किया, वह सभी प्रकार से दीन, हीन और मूर्ख है। ज्ञान, वैराग्य और योग से भी भक्ति-मार्ग श्रेयस्कर है :

(अ) ऐसे प्रभु कँह जानत भलो न सोय।
जग विधि वंचक कीन्हेउ मूरख सोय।
(ब) ज्ञान विराग जोग कछु माया भेद।
भगति निरूहिं तुलसी सोचि अभेद।
(वरवैरामायण, वृहत्)

गोस्वामी जी की भक्ति-शैली का मुख्य स्वर खण्डनात्मक न होकर मण्डनात्मक रहा है। भक्तों के दुःख-निवारणार्थ भगवान् का धराधाम पर अवतार होता है। उनके दिव्य सौन्दर्य की झाँकी आनंदित और उत्फुल्ल कर देती है। जिस भगवान के स्वरूप का वर्णन करके वेदों को भी तृप्ति नहीं होती है, शंकर और शेष जिनके रहस्यों को नहीं जान पाते हैं, वही भगवान् अवतरित होकर अवध की गलियों को रसाप्लावित कर देते हैं। गोस्वामी जी के अनुसार, भगवान् तो निर्गुण और निरंजन हैं, किन्तु भक्तों के वशीभूत होना उनका सहज स्वभाव है :

निरगुन ब्रह्म निरंजन अविगत पार।
भगत वस्य कर लीला परम उदार॥
जो सुख ध्यान न पावहिं प्रभुकर वेद।
सिव श्रुति सेस सकहिं नहिं बूझत भेद॥
सो सुख अवध गलिन्ह रह्यो भरपूरि।
कवन जतन कवि गावहि गोचरि दूरि॥
(ब० रामा०, बृहत्०)

भक्ति-भावना

तुलसी की भक्ति दास्य-भाव-प्रधान है। भगवान् ही उनके माता-पिता, गुरु, स्वामी और सर्वस्व हैं। धर्म के कल्पवृक्ष के रूप में भगवान् दीनों के कष्ट देखकर द्रवीभूत होते हैं, उनके हृदय में करुणा का अगाध सागर लहराने लगता है और भक्तों का उद्धार करते हैं। आरत-बन्धु भगवान् के प्रति तुलसी का आत्म निवेदन देखिए :

माइबाप गुरु स्वामी राम को नाम।
तुलसी जेहि न सोहाइ तेहि विधि वाम॥
धर्म कल्पतरु रघुबर आरत-बन्धु।
'तुलसी' द्रवत दीन लखि करुनासिन्धु॥
(बृहत्०)

'दास्य' के अतिरिक्त 'वात्सल्य' भक्ति के भावों का भी बरवै-रामायण में समावेश हुआ है। राम की बाल-लीला के माध्यम से गोस्वामी जी ने वात्सल्य-भक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान की है। भगवान् का बाल-रूप, उनकी क्रीड़ायें एवं श्रृंगार-सौंदर्य भक्तहृदय को आनन्द के महासागर में विलीन कर देता है। भगवान् भक्तों के वशवर्ती होकर ही अपनी बाल-लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं और भक्तों को कृत-कृत्य करते हैं :

कबहुँक पलन झुलावहिं कबहुँक गोद।
रोम रोम सुख पावहिं छिन-छिन मोद॥
चारिउ भाइ घुटुरवन अँगना खेल।
आल बाल सब माता सुरतरु वेल॥
पकरि चलावत अँगुरिन्ह सिखावत चाल।
छुटकत डरत कंपत अति भगत कृपाल॥
(बृहत्०)

भगवद्विभूति

शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की तीनों ही विभूतियों की सम्यक् प्रतिष्ठा 'बरबै रामायण में हुई है।

शक्ति : सुभुज मारि मारीचहिं बिनु फर बान
फटकि दीन्ह सत जोजन राखेउ प्रान॥
शील : कीन्ह मातु परितोषहिं सिय समुझाय।
चले जननि पद बहुदिवि सीस नवाय॥
सौंदर्य : काक पच्छ सिर सोहत स्यामल गोर।
हरन मार मद मूरति थक मन दौर॥
(बृहत्)

'बरवै रामायण' में गोस्वामी जी ने भक्ति के समत्वमूलक आदर्श का प्रतिपादन किया है।

बनवासी राम अपनी कृपा -बूँदों से ऊँच-नीच, नर-नारी सभी को सींचते चलते हैं। वन-मार्ग में उन्हें कोल-किरात मिलते हैं। राम उनकी वंश-परम्परा, गुण, जाति, घर द्वार आदि के सम्बन्ध में कुछ भी विचार किए बिना उन्मुक्त हृदय से उनको अपनाते हैं :

नीच ऊँच नर नारिन्ह बन महि ग्राम।
'तुलसी' राम कृपाते सब अभिराम ॥
(बृहद्)

रस-योजना

'बरवै रामायण' में शृंगार, वीर, करुण, वात्सल्य,शान्त, भयानक आदि सभी प्रमुख रसों का परिपाक हुआ है। शृंगार रस की दृष्टि से 'बरवै रामायण' का लघु संस्करण अत्यन्त समृद्ध है। शृंगार के संयोग पक्ष में सीता के सौंदर्य का मर्यादापूर्ण वर्णन किया गया है। सीता की अंगयष्टि स्वर्ण से भी सुकोमल, उनका वर्ण चम्पक से भी कान्ति युक्त तथा मुख-मण्डल शरद कमल से भी कमनीय है। इतना ही नहीं, आकाश मंण्डल में सुशोभित होने वाला चन्द्रमा भी सीता के मुखमंडल की प्रतिच्छवि ही है :

सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वह निसिदिन यह बिगसाइ ॥
का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि।
चंद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥
(लघु०)

विप्रलंभ शृंगार में तुलसी ने जनक-नन्दिनी के बिरह संताप का मार्मिक वर्णन किया है। यद्यपि कवि ने विरह-व्यंजना में अतिशयोक्ति का सहारा लिया है; किन्तु सीता के विरहाधिक्य को देखते हुए अतिशयोक्ति भी सहज ही प्रतीत होती है। विरह-ताप से सीता इसलिए भस्मसात् नहीं हो पाती हैं क्योंकि नेत्रों से प्रवहमान अश्रुधारा से विरहाग्नि बुझ जाती है :

विरह आगि उर ऊपर जब अधिकाय।
ये अँखियाँ दोउ वैरिनि देइ बुझाय ॥
(लघु०)

राम का व्यक्तित्व अपने आपमें वीरता का संदर्भ ही है। वीर के चारों रूप उनके व्यक्तित्वमें समाविष्ट हैं। 'दयावीर' का उदहरण देखिए :

आरत वचन सुनत प्रभु प्रेम अधीर।
कहुँ पट कहुँ निसंग धनुतीर ॥
(वृहत्०)

दशरथ की मृत्यु तथा उसके बाद अयोध्या की स्थिति के वर्णन में क्रमशः करुणा एवं भयानक रस की निष्पत्ति होती है :

रोवहिं सकल राजगृह सब रनिवास।
मानहुँ कीन्ह अवध मह शोक निवास ॥
अवध भयानक लागइ घर बन बाग।
एकहिं एक डरत लखि निकसे भाग ॥
(बृहत्०)

लोक-संस्कृति

'बरवै रामयण' में तुलसी की वृत्ति लोकोन्मुखी है। पुत्र-जन्म से लेकर अन्त्येष्टि तक विभिन्न संस्कारों का वर्णन लोकसंस्कृति के प्रति कवि के समर्पण का परिचायक है। राम-जन्म के मंगल मुहूर्त पर महाराज दशरथ के यहाँ बधाइयाँ बजने लगती हैं। हर्षोफुल्ल दशरथ रथ, गज, वाजि तथा अलंकृत धेनुओं का दान करते हैं। मणियों, रत्नों से याचकों को अयाचित कर देते हैं :

उत्सव भयेउ बधाई कोटि विधान।
सेस सारदा आगम करहिं बखान ॥
दीन्ह भूप मन हरषित रथ, गज, बाजि।
दीन्हेउ धेनु अलंकृत बहु विधि साजि ॥
(बृहत्)

राम-विवाह के अवसर पर अयोध्या और मिथिला के लोक-जीवन में परिव्याप्त उत्साह

उमंग से परिपूर्ण लोककृत्यों की झाँकी अत्यन्त मनोरम है। मंगल-प्रतीक 'मांडव' का आच्छादन होता है, बारात की साजसज्जा होती है :

रचन लगे पुर मंगल मांडव छाय।
गये वसीठी अवधहिं राय बुलाय ॥
साजि बराब नृप आये लगन समेत।
नगर लोग आनन्दित धरमनिकेत ॥
(बृहद०)

प्रकृति-प्रेम :

'बरवै रामायण' में प्रकृति के विभिन्न रूपों से कवि का तादात्म्य स्थापित है। मुनिवर विश्वामित्र के साथ राम लताओं से फूल चुनते हुए चलते है, वृक्षों की छाया और वायु के मृदु स्पर्शों की सराहना करते हैं और थक जाने पर शीतल शिलाओं पर विश्राम करते हैं --

तोरत सुमन लता द्रुम रघुकुल बीर।
पुनि-पुनि बरनत, पावन छाँह समीर ॥
बैठत सिलन विटपतर बन्धु समेत।
पैठत सरनि सुहावन सीतल सेत ॥

अरण्यकांड एवं सुन्दरकांड में प्रकृति के उद्दीपनगत रूप का साक्षाकार होता। विरहाधिक्य के कारण भगवती सीता को चाँदनी भी धूप प्रतीत होती है। समग्र विश्व ही उन्हें राम वियोग में ज्वलनशील लगता है :

डहकु न है उजियरिया, निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लाग, मोहिं बिनु रामु ॥
(लघु०)

अलंकृति :

अलंकरण की दृष्टि से 'बरवै-रामायण' (लघु०) हिन्दी-साहित्यका जगमगाता रत्न है। इसका प्रत्येक 'बरवै' किसी न किसी अलंकार का निदर्शन है। कई छन्द तो तऐसे हैं, जिनके प्रथम दल में यदि एक 'अलंकार' सुशोभित है, तो द्वितीय दल में दूसरा अलंकार विराजमान है। निम्नांकित 'बरवै' के प्रथम दल में अभेद रूपक' है और द्वितीय दल में 'तद्रूप रूपक' स्थित है

दुइ भुजकेहरि सुन्दर रघुबर भेस।
एक जीभ के लछिमन, दुइ के सेस ॥

इसी प्रकार 'मीलित' और 'उन्मीलित' अलंकारों की छटा निम्नांकित बरवे के दोनों दलों में क्रमशः देखी जा सकती है :

चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाय।
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाय ॥
(लघु०)

'सूक्ष्म' अलंकार का वैभव निम्नांकित छन्द में द्रष्टव्य है :

वेद नाम कहि अँगुरिन्ह खण्डि अकास।
पठयो सूपनखहिं लखन के पास ॥
(लघु०)

प्रभाव—प्रतिफलन :

गोस्वामी जी के समसामयिक तथा परवर्ती कवियों पर 'बरवै रामायण' की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। आचार्य केशवदास ने जिन स्थलों पर अपनी सहृदयता का परिचय दिया है; उनमें एक यह है :

तुम पूछत कहि मुद्रिके,
मौन होत यहि नाम।
कंगन की पदवी दई,
तुम बिन या कंह राम ॥

केशव का यह दोहा तुलसी के निम्नांकित 'बरवै' पर आधारित है :-

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंगन होइ ॥
(लघु०)

रीतिकालीन कवियों में अपनी लालित्यपूर्ण मुक्तक-रचना केलिए प्रख्यात बिहारी ,बरवै रामायण' के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

उठी सखि हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन॥
(लघु०)

शृंगार की इस रसात्मक भावव्यंजना को बिहारी ने यह स्थूल रूप प्रदान किया है:

पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटली, अली चलीं सुखपाइ॥

इसी तरह तुलसी का एक बरवै है :--

सम सुबरन सुखमाकर सुरस न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥

'व्यतिरेक' मूलक इस 'बरवै' की भाव-पद्धति पर बिहारी का निम्नांकित दोहा द्रष्टव्य है :--

दीठि न परत समान दुति, कनक-कनक से गात।
भूषन करकर कस लगत, परसि पिछाने जात॥

भाषा की सामासिकता तथा भावों की समाहिति दोनों ही दृष्टियों में तुलसी के 'बरवै' अनूठे और बेजोड़ हैं।

'बरवै रामायण' के मौक्तिकों की आभा कभी मलिन नहीं हो सकती है। इस ग्रन्थ के छन्द बड़ी दूर तक हिन्दी काव्य-परम्परा पर अपना 'फ्लेश' फेंकते हैं। 'बरवै रामायण' की चम्पकवर्णी कान्ति आधुनिक युग तक चमक मारती है। नागार्जुन 'भस्मांकुर' में लिखते में :—

अति सुन्दर मुखमंडल चम्पक कान्ति।
हुई मदन को स्वर्णचन्द्र की भ्रान्ति॥

नागार्जुन के इस 'बरवै' को पढ़कर तुलसी के चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सुहाय और हार वेलि पहिरावौं चम्पक होति' की सहज याद आ जाती है। तुलसी की विशिषेता इस बात में हैं कि अलंकारों की चमक-दमक में ही हमारी चेतना अटक कर नहीं रह जाती है, वरन् वह एक अतीन्द्रिय सौन्दर्य-लोक में विचरने लगती है। तुलसी के 'बरवैकाव्य' की यह विशिष्ट उपलब्धि है।

---प्रवक्ता,
हिन्दी विभाग
जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल,
पोस्ट-ग्रेजुएट कालेज,
बाराबंकी (उ०प्र०)

रामकथा के प्रचार में मुगल बादशाहों का योगदान

श्री उदयशंकर दूबे

रामकथा के प्रचार-प्रसार में मुगल बादशाहों का अन्तिम योगदान रहा है। उनके द्वारा रामकथा के लिए किये गये प्रचार-कार्य को भूला नहीं जा सकता है। मुगल सम्राटों ने हिन्दु-मुस्लिम को जो बहुत सीमा तक परस्पर विरोधी समाज एवं संस्कृति से जुड़े थे' राम-कथा के सहारे एक सूत्र में बाँधने का ऐतिहासिक कार्य किया। अकबर से लेकर मुहम्मद शाह रंगीले तक ने राम-कथा के प्रचार-प्रसार में सहयोग दिया। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से मुगल बादशाहों का यह योगदान स्तुत्य है।

'हिन्दी (भारतीय)पुस्तकें बुद्धिमान ऋषि-मुनियों की लिखी हुई हैं, जो बिलकुल ठीक एवं सत्य हैं और हिन्दुओं के धर्म तथा उपासना आदि का आधार इन्हीं ग्रन्थों पर है। ये पुस्तकें विलक्षण और नई हैं। ऐसे ग्रंथों के पठन-पाठन से इहलोक और परलोक सुधरता है, अक्षय धन-धान्य प्राप्त होता है और वंश-वृद्धि होती है। इन मंगलमय शब्दों को ध्यान में रखकर; मुगल सम्राट अकबर ने संस्कृत भाषा में लिखे गये विशिष्ट ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया। अथर्ववेद, महाभारत, नलदमन, लीलावती आदि ग्रन्थों के साथ ही बादशाह ने वाल्मीकि रामायण का फारसी गद्य में अनुवाद कराया जिसमें कथा-प्रसंगों का चित्रांकन भी था। सबकाते अकबरी के अनुसार बादशाह अकबर ने गुसाई भगवतदास को रामलीला मनाने के लिये इलाहाबाद में भूमि भी अर्पित की थी तथा उसने स्वयम् रामलीला में राम-वनगमन, और दशरथ की मौत के नजारे को देखा। बादशाह की आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। दूसरे दिन बादशाह ने अल्लाम फैजी को आदेश दिया कि श्रीराम का गुनगान करने वाले कवि वाल्मीकि की इस संस्कृत पोथी का फारसी में अनुवाद किया जाय और दरबार के चित्रकार दास बन्ध से उसकी तस्वीरें बनवाई जायँ। फैजी के सुझाव पर बदाऊनी ने सन् १५७५ ई० में उसका अनुवाद कर उसे बादशाह तक पहुँचाया। बादशाह ने अपने श्रेष्ठ कलाकारों से कथा-प्रसंग के अनुरूप राम-कथा का चित्रांकन कराकर उसे कोषागार में सुरक्षित कराया। अकबर पहला मुगल सम्राट था जिसने संस्कृत भाषा में लिखित राम-कथा को संस्कृतेतर भाषा भाषी जनों तक पहुंचाने का प्रयास किया। रहीम खानखाना ने अपने लिए इस की एक प्रतिलिपि तैयार कराई थी, किन्तु वह प्रति आज तक अप्राप्त है। वाल्मीकि-रामायण के अनुवाद और चित्रांकन के अतिरिक्त, अकबर ने रामनवमी के अवसर पर (चैत सुदी १, रविवार, संवत् १६६१ वि०, १० मार्च, सन् १६०५ ई०) एक विशेष प्रकार का स्वर्ण का सिक्का भी चलाया जो अपने ढंग का निराला है। इसे 'राम-सीय मुद्रा' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार के अब तक तीन सिक्के उपलब्ध

हो सके हैं-- २ सोने की अर्द्ध-मुहरें और एक चाँदी की अठन्नी । एक सोने की अर्द्ध मुहर कैबिनेट डे फ्रांस' में है, दूसरी ब्रिटिश म्यूजियम में और तीसरी चाँदी की अठन्नी भारत-कला-भवन, काशी में सुरक्षित है। सोने की दो अर्द्धमुहरों में राम प्रचीन वेश में उत्तरीय तथा धोती धारण किये हुए और सीता लहगा, ओढ़नीं और चोली पहने अवगुण्ठन को संभारती हुई दिखाई गई हैं।

चाँदी की अठन्नी में राम-सीता मुगल वेशभूषा में दिखाये गये हैं। राम सिर पर तीन कंगूरे वाला मुकुट, घुटने तक जामा, दुपट्टा, जिसके दोनों छोर इधर-उधर लटक रहे है, पहने हैं। बाएं हाथ में धनुष की कमानी का मध्य जिसकी प्रत्यचा भीतर की ओर है' पीठ पर तूणीर और दाहिने हाथ पर धनुष चढ़ा हुआ बाण धारण किये हैं। उनकी अनुगामिना सीता चुस्त चोली, लहगा, ओढ़नी और हाथों में चूड़ियाँ पहने हैं। उनका बायाँ हाथ सामने उठा हुआ है और दाहिना हाथ पीछे लटकता है। उनके दानों हाथों में फूल का गुच्छा है। राम-सीता के ऊपर बीच में नागरी अक्षरों में 'रामसीय' अंकित है।

अकबर की ही भांति सम्राट जहांगीर भी साहित्य और कला का प्रेमी था। उसके दरबार में विद्वानों और कलाकारों को बराबर सम्मान मिला। जहांगीर के शासनकाल में शेख शाह उल्लाह मसीही ने 'दास्ताने-राम-सीता' नामक ग्रंथ की रचना की। सवत् १६८० वि० में मसीह साहब ने मसनवी शैली में फारसी भाषा मे राम-कथा को प्रस्तुत किया। उन्हीं के नाम पर इस ग्रन्थ को 'रामायने मसीही' की भी संज्ञा दी गई है। शेखसाहब कवि थे। अतः उनकी राम-कथा संस्कृत और हिन्दी में प्रचलित राम-कथा-ग्रन्थों में से किसी का अनुवाद न होकर स्वतंत्र रचना है। जहाँगीर के शासन-काल में उनके इस ग्रंथ का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। अमीर उमरावों ने इस ग्रंथ की प्रतिलिपियां तैयार कराकर उसे चित्रांकित कराया। देश और विदेश के संग्रहालयों में इस ग्रंथ की कई प्रतियां सुरक्षित हैं। राष्ट्रीय अभिलेखागार, इलाहाबाद, में संवत् १६८७ वि०(१०५८ हिजरी) की एक सचित्र प्रति सुरक्षित है। 'दास्ताने रामो-सीता' का सन् १८९९ ई० में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, से प्रकाशन भी हुआ था।

बादशाह शाहजहाँ के शासन-काल में राम-कथा को सर्वाधिक प्रश्रय मिला। स्वयं बादशाह ने राम-कथा के कुछ विशिष्ट प्रसंगों के भावानुरूप चित्र अंकित करवाये। बादशाह की अपेक्षा उसके पुत्र दाराशिकोह के मन में राम-कथा के प्रति अधिक अभिरुचि उत्पन्न हुई। दारा फारसी के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी प्रकाण्ड विद्वान् रहा। काव्य और दर्शन उसके प्रमुख विषय थे। उसने काशी के पण्डितों के सहयोग से ५२ उपनिषदों का संस्कृत से फारसी भाषा में सुन्दर भावपूर्ण अनुवाद तैयार किया। भगवद्गीता का उसने स्वयं फारसी में अनुवाद किया। अपने निरीक्षण में कृष्णमित्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक का 'गुजारेहल' नाम से फारसी में अनुवाद करवाया। संवत् १७१३ वि० (सन् १६५६ ई०) में उसने योगवाशिष्ठ' रामायण का फारसी अनुवाद 'तर्जुमाए योगवाशिष्ठ' नाम से सम्पादित किया। शेख सूफी ने संस्कृत-पण्डितों की सहायता से इसे अनूदित किया था। दारा ने स्वयं इस ग्रंथ का वक्तव्य लिखा था जिसमें उसने अपने द्वारा देखे गये एक स्वप्न की चर्चा की है। वह लिखता है --तर्जुमाए योगवाशिष्ठ

पढ़ने के बाद उसने एक स्वप्न में श्री रामचन्द्र और महर्षि वशिष्ठ को देखा। वशिष्ठ ने बड़े स्नेह से दारा की पीठ पर हाथ रखकर श्रीराम से कहा कि यह ज्ञान का एक सच्चा अन्वेषक है और सत्य की खोज में तुम्हारा ही भाई है, तुम इसका आलिंगन करो।' इसके उपरान्त दारा का राम ने आलिंगन किया और वशिष्ठ द्वारा दिया गया कुछ मिष्ठान भी उसको खाने को दिया। इस स्वप्न के पश्चात् दारा लिखता है कि 'योगवाशिष्ठ के लिए उसकी इच्छा और भी बलवती हो गई। उसने हिन्दुस्तान के पण्डितों की सहायता से इसे शीघ्र ही पूर्ण कराया। योगवाशिष्ठ' का अनुवाद सम्पन्न हो जाने के बाद दारा ने वाल्मीकि-रामायण का विशिष्ट ढंग से भावपूर्ण अनुवाद तैयार कराने की योजना बनाई, पर भाग्य ने दारा का साथ नहीं दिया और राम-कथा का विशिष्ट अनुवाद न हो सका।

मुगल बादशाह औरंगजेब राजनीति में पटु था। उसका पूरा ध्यान सत्ता पर केन्द्रित रहता था। अतः उसने सांस्कृतिक कार्यों को अपेक्षाकृत हेय ही माना, तथापि, उसके शासन-काल में संवत् १७५० वि० (सन् १६९३ ई०) में वेदिल नामक कवि ने फारसी भाषा में रामायण की रचना की जिसका नाम 'नरगोसिस्तान' था। वेदिल भावुक कवि थे। उन्होंने अपने हिन्दू मित्र, संत शीतल दास से रामकथा सुनी थी। उनकी रामकथा में मौलिकता और सरलता है। वेदिल की रामकथा का प्रकाशन सन् १८७५ में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ था।

परवर्ती मुगल सम्राटों में सम्राट् जहाँदारा शाह और मुहम्मद शाह रंगीले ने रामकथा के प्रचार-प्रसार में पूरी तरह योगदान किया। जहाँदारा शाह अपनी प्रेयसी लाल कुंवारि के साथ साधु-संतों का दर्शन करता था और उनका चरण-स्पर्श करने में गौरव समझता था। रामलीला में वह प्रारम्भ से अन्त तक भाग लेता था और लंका-दहन के अवसर पर कागज की लंका में वह स्वयं आग लगाता था। मुहम्मद शाह रंगीले के शासन-काल में एक बार फिर कवियों कलाकारों, संगीतज्ञों का भाग्य-सितारा चमका। बादशाह स्वयं कलाकार था। बादशाह रंगीले ने रामायण का नया अनुवाद तो नहीं कराया, किन्तु उसने शाही कुतुबखाने में सुरक्षित फारसी रामायण की प्रतियों से प्रतिलिपियाँ तैयार कराकर उन्हें चित्रांकित कराया। वह रामायण की प्रतियों को चित्रांकित कराकर अपने अधीनस्थ हिन्दू राजाओं को भेंट किया करता था। मुहम्मद शाह रंगीले अंतिम मुगल बादशाह था जिसने राम-कथा के प्रचार में अपनी सीमा तक योगदान किया।

मुगल बादशाहों के लम्बे शासन काल में समय-समय पर कई हिन्दू कवियों ने राम कथा को फारसी भाषा में अनूदित किया जिनमें अमानत राय, अमर सिंह कायस्थ, देवीदास कायस्थ, चन्द्रमणि आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मुगल बादशाहों द्वारा समय-समय पर फारसी भाषा में तैयार कराई गई पांडुलिपियाँ शाही कुतुबखाना या कोषागार में सुरक्षित रहती थीं। नादिरशाह के आक्रमण से ऐसी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सम्पदा का विनष्ट होना सहज है। जो शेष रहा, उसे मराठों ने अपने अधिकार में कर लिया। मुगल दरबार की लूट में बहुत से ग्रन्थ-रत्न और चित्र मराठों

के हाथ लगे थे, जो अब भी महाराष्ट्र के राजकीय संग्रहालयों तथा व्यक्तिगत संग्रहों मे देखने को मिल जाते हैं। दिल्ली की इस लूट में बहुत-सी सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की सामग्री बुन्देलों के भी हाथ लगी थी जिसमें महाभारत की कथा और रामकथा से सम्बन्धित ग्रंथ, चित्र, आभुषण आदि थे। बुन्देला राजाओं के व्यक्तिगत संग्रह में रामकथा-विषयक, तत्कालीन कई चित्र सुरक्षित हैं।

३२२.फुलवरिया रोड,
दारागंज, प्रयाग

मातर्मैथिलि ! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया,
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता ।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नस्सान्द्रमहागसस्सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥

श्रीगुणरत्नकोशः।

माँ जानकि ! आपका आर्द्र (ताजा) अपराध करने वाली, राक्षसियों की हनुमान जी से रक्षा करके शरणागत जयन्त एवं विभीषण की रक्षा करने वाले भगवान राम के दया के दरबार को महत्वहीन बनाने वाली आपकी दया महा आर्द्रापराधी मुझे सुखी बनाये।

तेलुगु–साहित्य में रामायण

—डॉ० साभिराम सुमन

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की कथा जितनी उत्तर भारत में प्रचलित एवं व्याप्त है, उतनी ही दक्षिण भारत में भी लोकप्रिय है। विशेष-कर तेलुगु-भाषी प्रान्तों में भगवान् रामचन्द्र आराध्यदेव बन गये हैं। आन्ध्र प्रदेश के प्रत्येक गाँव में भगवान् रामचन्द्र के मन्दिर विद्यमान हैं, तथा यहाँ की जनता बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी पूजा, अर्चना, उत्सव आदि करती है। यहाँ पुराण तथा हरिकथा के रूप में रामकथा का वाचन तथा गायन महीनों तक होता रहता है। यहाँ के लोग प्रसिद्ध रामभक्त, एवं संगीतकार त्यागराज तथा रामदास के रामभक्ति-पूर्ण कीर्तन बड़ी श्रद्धा एवं तन्मयता के साथ सदा गाते रहते हैं। जिस प्रकार उत्तर भारत में रामलीला मनायी जाती है, उसी प्रकार तेलुगु-प्रान्त में "चिडतल रामायण"१ का अभिनय होता है। इस प्रांत के कोने-कोने में रामभक्त, समाज तथा भजन-मंडलियाँ निरन्तर राम का गुणगान करती रहती हैं। आन्ध्र की जनता ने रामायण को अपने जीवन का आदर्श बना लिया है। इस प्रकार यहाँ रामचरित्र का प्रभाव असंदिग्ध है। यद्यपि महाभारत तथा भागवत् को आन्ध्र-प्रदेश में अधिक प्रचार प्राप्त है, तथापि तेलुगु साहित्य में राम कथा का स्थान कुछ अधिक महत्वपूर्ण है। तेलुगु साहित्य में रामकथा के आधार पर अनेक रामकाव्यों की सर्जना हुई है।

तेलुगु में उपलब्ध विभिन्न प्रकार के राम काव्यों को निम्नलिखित मुख्य प्रक्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है–

(१) काव्य (२) उपाख्यान (३) द्विपद-काव्य (४) द्वयर्थी तथा त्र्यर्थी काव्य (५) खण्ड काव्य (६) शतक-वाङ्मय (७) लोकसाहित्य-(अ) यक्षगान (आ) हरिकथा (इ) बुर्रकथा (ई) गीत (८) नाटक, (९) संकीर्तन (१०) गद्य।

(१) काव्य :—

प्रायः तेलुगु-साहित्य के सभी प्रबन्ध-काव्य "चम्पू" शैली में रचे गये हैं। इस परम्परा में 'भास्कर रामायण' अग्रगण्य माना जाता है। १४-वीं शती के हुलक्कि भास्कर तथा उनके पुत्र मल्लिकार्जुन भट्ट, शिष्य, कुमार देव और मित्र अय्यलार्य, इन चारों कवियों ने मिलकर इस ग्रन्थ की रचना की थी। भास्कर रामायण के कर्ता वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त पद्म-पुराण, प्रसन्न राघव आदि रामकाव्यों से पर्याप्त रूप से प्रभावित रहे हैं। इस काव्य में अ-वाल्मीकीय प्रसंग पर्याप्त मात्रा में परि-लक्षित हैं। २

'भास्कर रामायण के पश्चात् एर्रप्रगड़

(१) चिडत = करताल या खडताल एक प्रकार का बाजा। जो कीर्तन आदि गाते समय हाथ से बजाया जाता है।

देखिये:–चिरूतल रामायण–कल्पगूरि कृष्णदास–१९५१

(२) आंध्रवाङ्मय चरित्र सर्वस्वमु: श्री वशिष्ठा कृष्णा शास्त्री पृ ५९८–६००

कृत "रामायण" का उल्लेख आता है। परन्तु यह रचना अनुपलब्ध है। कूचिमंचि तिम्मकवि ने अपने "सर्वलक्षण-सारसंग्रहमु" नामक लक्षण-ग्रन्थ में इस काव्य के कुछ पदों को उद्धृत किया है। १ स्व० वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी ने इस काव्य के कुछ पद्य "भारती" नामक पत्रिका में प्रकाशित किये थे।

तेलुगु साहित्य के इतिहास में साहिती-समरांगण कवि सार्वभौम श्रीकृष्ण देवराय का समय स्वर्ण-युग माना जाता है। इनके दरबारी कवि अय्यल राजु रामभद्र ने "रामाभ्युदयमु" (सन १५४० ई०) की रचना की थी। इसमे कवि ने कई अवाल्मीकीय प्रसंगों को प्रस्तुत किया है। इस काव्य का विभाजन वाल्मीकीय रामायण के सदृश कांडों मे न होकर, आश्वासों में हुआ है। कवि ने अष्टादश बर्णनों का सुरम्य समावेश इसमें किया है।

तेलुगु की प्रसिद्ध भक्त, कवयित्री आतुकूरि मोल्ल कृत "रामायण" इस दिशा में उल्लेखनीय है जो मोल्ल रामायण के नाम से लोकप्रिय है। कवयित्री मोल्ल सन् १५२५ ई० के आस-पास विद्यमान थी। तेलुगु में राम कथा लिखने के कारण को स्पष्ट करते हुए कवयित्री ने कहा है—

"मुनु संस्कृत मुल देटग
देनिगिचेडि चोटनेमि तेचियक युंडुन्
धन विहा मेरय ग्रम्मरि
धन मगु संस्कृतमु जोपगा रूचियगुने"

अर्थात्—'बार-बार संस्कृत में बोलने पर क्या स्वाद मिलेगा? ठेठ तेलुगु में कानों को आनन्द देने वाली कमनीय रामकथा सुनते-सुनते नित्य-नूतन मालूम होती है। अतः मैं उसमें रामचरित्र को कहती हूँ।'

इसके पश्चात, तांजाऊर नायक राजशिरोमणि के नाम से विख्यात रघुनाथ नायक (सन् १६१४-१६३३ ई०) कृत "रघुनाथ रामायण" प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध कवयित्री पसुपुलेटि रंगाजम्मा कृत "संग्रह रामायण" इस दिशा में उल्लेखनीय है।

तेलंगाना के प्रसिद्ध कवि मरिगंटि सिंगराचार्य (१६ वीं शती) कृत "दशरथराजनन्दन चरित्र" शुद्धान्ध्र "निरोष्ठ्य" काव्य है। इस पर रंगनाथ तथा भास्कर रामायणों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस काव्य की विशेषता यह है कि काव्य का पूरा भाग निरोष्ठ्य है।

कवि सार्वभौम कूचिमुंचि तिम्मकवि (सन् १७५६ ई०) कृत "अच्चतेनुगु रामायण" (ठेठ तेलुगु मे रचित रामायण) तथा एनुगु लक्ष्मण कवि कृत "रामबिलासमु" उल्लेखनीय हैं।

सिंहपुरी (वर्तमान नेल्लुर) के निवासी गोपीनाथ वेंकट कवि ने "गोपी नाथ रामायण" (सन् १८५६ ई०) की रचना की। यह वाल्मीकि रामायण का यथानुवाद है। आंध्रवाङ्मय में इसका विशिष्ट स्थान है।

भोजराज कृत 'चम्पू रामायण' आन्ध्रानुवाद कार्वेटि नगर के राजदरबार के विद्वत्कवि ऋग्वेदं बेंकटाचलपति ने किया है। यह 'चम्पू रामायण' के नाम से ही विख्यात है। अष्टादश वर्णन इस काव्य की विशेषता है। करुण रस की मार्मिक योजना इसमें हुई है।

अय्यलराजु रंगशायि (सन् १८६० ई०) कृत 'चम्पू रामायण,' पूसपाटि रंगनाथ कविकृत 'जयन्ती रामायण,' लयग्राहि गरुडाचल कवि कृत 'कौसलेय चरितमु,' षट्कवि प्रणीत 'मालिका

(१) हरिवंशमु-कूचिमंचि तिम्मकवि द्वारा उद्धृत एवं प्रगड़ रामायण के पद्य पृ० ३०

रामायण'-चिल्लरिगे योगानन्दय्य पंतुलु कृत 'श्री योगानन्दान्ध्ररामायण' आदि इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु के आधुनिक रामायणों में 'आन्ध्र-वाल्मकि' उपाधि से विभूषित वाविलि कोलनु सुब्बाराव कृत 'श्रीमदान्ध्र वाल्मीकि रामायण' का नाम सादर लेना चाहिए। यह वाल्मीकि-रामायण का यथानुवाद है।

कवि-सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण कृत 'श्रीमद् रामायण कल्पवृक्ष' इस परम्परा में अद्वितीय है। प्रमुख गाँधीवादी नेता आत्मकूरि गोविन्दाचार्य कृत 'गोविन्द रामायण,' जनमंचि शेषाद्रि शर्मा कृत आन्ध्रवाल्मीकि रामायण' आदि रचनाएँ गणनीय हैं।

इनके अतिरिक्त, बेतपूडि कृष्ण कवि कृत 'जानकी रामायण प्रबन्ध,' जन्नय्यर कवि कृत 'राम कथाभिराममु,' मन्त्रि प्रगड सूर्यप्रकाश कवि कृत 'सीतारामचरित,' गुंडु लक्ष्मण शास्त्री कृत 'रामचन्द्र विलासमु' होता वेंकटकृष्णय्या कृत 'रामाभ्युदयमु,' सुखरमु केतय्या कृत 'निरोष्ठ्य रामायण,' चेन्नोलु सरस्वती कृत 'सरस्वती रामायण' बुलुसु सीताराम कृत 'चम्पू रामायण' आदि इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

वाल्मीकि-रामायण के 'उत्तरकाण्ड' को लेकर तेलुगु-साहित्य में कतिपय काव्यों की रचना हुई है। इनमें कवि ब्रह्म तिक्कना (सन्-१२१०-१२८० ई०) कृत 'निर्वचनोत्तर रामायण'' कंकंटि पापराजु (१६ वीं शती) कृत 'उत्तर-रामायण,' जयन्ती रामभट्ट कवि कृत 'निर्वच-नोत्तर रामायण शेषमु,' आत्मकूरि गोविन्दाचार्य कृत 'उत्तररामायण,' विविलि कोलनु सुब्बाराव कृत 'उत्तर रामायण,' करिवेंकट सुब्बाराव कृत श्री रघुराम चरित्र,' जनमंचि शेषाद्रि शर्मा कृत 'उत्तर रामायण,' आदि काव्य दूर परम्परा में उल्लेखनीय हैं।

कणादमु पेद्दन सोमयाजि, मातुकूरि पंढरिनाथ कवि. अल्लमराजु रामकृष्ण कवि, मुंडुवे कृष्णमाचायुलु, परशुराम पंतुलु, राममूर्ति आदि कवियों ने अध्यात्म रामायण का यथानु-वाद कर प्रबन्ध-काव्यों की सर्जना की। तेलुगु-साहित्य में इनका समुचित स्थान हैं।

२–उपाख्यान :–

तेलुगु-साहित्य में रामकथा उपाख्यान-रूप में वृहत् कथा में अंतर्लीन कथाओं के रूप में कवित्रय१ कृत 'आन्ध्रमहाभारत' के अरण्य पर्व में, भक्त-कवि पोतन्ना कृत 'आन्ध्रमहाभागवतम्' के नवम स्कन्ध के दशम अध्याय में तथा एर्र-प्रगड़ कृत 'हरिवंश' के पूर्व भाग के चतुर्थश्वास में उपलब्ध होती है।

३– द्विपद काव्यः–

द्वितोय छन्द२ में लिखित तेलुगु की रामा-यणों की कथावस्तु प्रायः वही है जो वाल्मीकि-रामायण की है। इस शैली की रामायणों में सर्व-प्रथम गोनबुद्धरिड्डी (सन् १२७० ई०) कृत 'रङ्गनाथ रामायण' का नाम आता है। अध्यात्म रामायण से गृहीत कुछ प्रसंगों का

१–कवित्रय—– तेलुगु साहित्य में नन्नया तिक्कना 'एर्र–प्रगड 'कवित्रय' नाम से प्रसिद्ध हैं।

२–यह हिन्दी के दोहा छन्द से मिलता जुलता है इसके प्रत्येक चरण लीन इन्द्रगण तथा एक सूर्यगण होता है प्रत्येक चरण के तृतीयगण के पहले वर्ण पर यति होती है।

इसमें समावेश हुआ है। इसमें कतिपय वाल्मीकीय प्रसंग भी परिलक्षित होते हैं। गोनाबुद्धारेड्डी के पुत्र काय भूपति तथा विटठलराजु ने 'उत्तर रामायण' की रचना द्विपद छन्द में ही की है।

इसके पश्चात, सुप्रसिद्ध संकीर्तनाचार्य, गेय कवि सार्वभौम ताल्लपाक अन्नमाचार्य कृत 'द्विपद रामायण' उल्लेखनीय है।

कट्ट वरदराजु (सन् १६३० ई०) ने द्विपद रामायण की रचना की है, जो वाल्मीकि के कथा-सूत्र पर आधारित है।

महाराष्ट्र के भोसंल-वंशीय एकोजी (सन् १७३५-३६ ई० तांजाऊरराजा) ने इसी शैली में रामायण की रचना की जो 'एकोजी रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है।

इनके अतिरिक्त तरिकोंड वेंकमांबा कृत 'ज्ञानवशिष्ठ रामायण' तेलंगाना प्रान्त के धर्मारावपेट निवासी चेडा राघवरेड्डी कृत 'रामायण' उल्लेखनीय हैं।

४– द्व्यर्थी तथा त्र्यर्थी काव्यः—

चमत्कार :-प्रदर्शन के लिये तेलगु-साहित्य में द्व्यर्थी, त्र्यर्थी (श्लेष) काव्यों की सर्जना हुई है।[1]

वेमुलवाठ भीम कवि कृत 'राघव पांडवीयमु, इस परम्परा का प्रथम ग्रन्थ है, जो नाममात्रावशिष्ट है। श्रीकृष्ण देवराय के दरबारी कवि पिंगलि सूरनार्य (सन् १५६६ ई०) कृत 'राघव पाडवीयमु' इस कोटि की रचनाओं में प्रमुख है। सूरनार्य को तेलुगु-साहित्य में श्लेष-काव्य का प्रवर्तक माना जाता है। इसके पश्चात नेल्लूरि वीर राघव कवि कृत 'यादव राघव पांडवीयमु,' एलचि बाल सरस्वती कृत 'यादव राघव पाडवीयमु' उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु-साहित्य में गर्भ-कवितार[2] प्रसिद्ध है। गणपवरपु वेंकट कवि कृत 'प्रबंध परमेश्वर वेंकटेश्वर विलास' में न्यूनाधिक मात्रा में मिलने वाली 'गर्भ-कविता' के आधार पर राविपाटि लक्ष्मीनारायण ने 'नर्वचन भारत गर्भ रामायण' की रचना की; जिससे रामायण तथा महाभारत की कथाएँ एक-साथ वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त वेंकटाचलपति कृत 'रामकृष्णोपाख्यान' चित्र कवि कोन्त पल्लि सिंगराचार्य कृत 'राघववासदेवीयमु' पिडिप्रोलु लक्ष्मण कवि कृत 'लङ्काविजयमु' इस दिशा में उल्लेखनीय है।

५– खण्ड काव्य :—

आधुनिक साहित्य को प्रक्रियाओं में खण्ड काव्य का विशिष्ट स्थान है। रायप्रोलु सुब्बाराव ने 'वकुलमाला' नामक खण्ड-काव्य की रचना की, जिसमें पतिता अहल्या को त्यागशीला के रूप में चित्रित किया है। सन्निधानम् सूर्यनारायण शास्त्री कृत 'उडुताभक्ति' (गिलहरी की भक्ति', बोयिभीमन्ना कृत 'अशोक वन में राम 'स्फूर्ति श्री कृत 'अहल्या', संपतकुमार कृत 'आनन्द लहरी' (शबरी की कथा) सरस्वती पुत्र पुट्ट पति नारायणाचार्य कृत 'साक्षात्कारमु' (तुलसीदास द्वारा राम का दर्शन करना) माधव पेद्दि बुच्चि सुन्दर रामशास्त्री कृत 'पचवटी' तथा 'शबरी,' गादिराजु वेंकट मय्या कृत 'संध्या सौमित्री,' कोट वीरांजनेय

१–द्व्यर्थी तथा त्र्यर्थी काव्यों में क्रमशः दो व तीन कथाएं समग्र रूप में एक साथ चलती हैं, इस प्रकार की काव्य रचना केवल तलुगु में ही पाई जाती है।

२–एक छन्द में दूसरे छन्द के गर्भस्थ होने पर उसे 'गर्भ-कविता' कहते हैं।

शर्मा कृत 'सीताकल्याण' (सीता विवाह) तथा 'अशोकवन,' श्रीनिवास सहोदर कृत 'शबरी;' सामवेदं सीतारामय्या कृत 'जानकी निर्वेद,' मदमंत्रि अनन्तम्म कृत 'सीतंम्मपेंडिल' (सीता-विवाह) आदि खण्ड-काव्य इस दिशा में गणनीय हैं।

६- शतक-वाङ्मय :—

'शतेन शतकं प्रोक्तमष्टोत्तर शतम् परम्' उक्ति के अनुसार १०० तथा १०८ पद्यों से युक्त मुक्तक-काव्य 'शतक' नाम से व्यवहृत है। संस्कृत शतक साहित्य की प्रेरणा से १५ वीं शती से तेलुगु में शतक-वाङ्मय की सर्जना हुई। तेलुगु-साहित्य के रामभक्ति-प्रधान शतकों के दो प्रकार हैं—(१) रामकथा शतक, (२) संकीर्तनात्मक शतक। तेलुगु शतक-साहित्य में रामायण का विशिष्ट स्थान है।

रामकथात्मक शतकों में श्रीविद्धितातय्या (सन् ११००ई) कृत लवकुमार शतक, श्री सोम कवि कृत 'शतक रामायण,' जूलूरि लक्ष्मण कवि कृत 'मुकुन्द राघवशतक' नरस कवि कृत 'प्रसन्न राघव शतक' देवुलकपलि सीताराम शास्त्री कृत 'राम लक्ष्मण प्रश्नोत्तर शतक' आदि उल्लेखनीय हैं।

संकीर्तनात्मक शतकों में श्रीराम का चित्रण अवतार मूर्ति तथा कतिपय पुण्यक्षेत्रों के स्वामी के रूप में किया गया है। इन शतकों में रामदास नाम से प्रसिद्ध कंचेर्ल गोपन्ना कृत 'दाशरथी शतक' प्रमुख है।

इसके अतिरिक्त, पुष्पगिरि तिम्मना कृत 'साधुमेवानीति शतक,' रेपेल रामदास कृत 'महिजा मनोहर शतक,' तालपाटि सुब्बाकवीन्द्र कृत 'भद्रादि रामचन्द्र शतक;' 'भगवतुल वेंकट सुब्बाराव कृत 'भद्रगिरि श्रीराम शतक' रामदास कवि कृत 'राघव शतक' विश्वनाथ सत्यनारायण कृत 'भद्रगिरिशतक' (मध्यक्करलु के अन्तर्गत) इत्यादि इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

७—लोक साहित्य :—

[अ] यक्षगान :—'यक्षगान' गीत पद्धति का लोक नाटक है। यह देशी साहित्य प्रक्रिया की प्रमुख विशेषता है। इसने गीति-प्रबन्धों तथा नाट्य-कला का प्रतिनिधित्व किया है।[१]

कंदुकूरि रुद्र कवि (१६ वीं शती) कृत 'सुग्रीव विजयमु' इस परम्परा का प्रधान एवं महत्वपूर्ण यक्षगान है। कथा-विकास की दृष्टि से कवि ने इसमें वाल्मीकि रामायण का अनुसरण किया है। गीति पद्धति में लिखे जाने के कारण साधारण जनता में इसका अधिक प्रचार हुआ।

इसके अतिरिक्त, अज्ञात कवि कृत, 'लेपाक्षी रामायण,' जुलकल्लु के निवासी नारायण कृत, कोम्मलपाटि रामायण, पेम्मराजुकृत 'सुन्दरकाण्ड,' गोपालदास कृत 'सीता स्वयंवर,' सुब्बाकवि कृत, 'सीता कल्याण' मरिमंटि भट्टरू रामानुजाचार्य कृत, 'श्री राम नाटक,' बोम्मलाट (कठपुतली खेल) रामायण, तंजाऊर के महाराष्ट्र राजा बेट्टाजी कृत 'रामपट्टाभिषेक,' तथा 'शांता कल्याण' (शांता विवाह) शेषाचल कवि कृत 'धर्मपुरी रामायण,' रापाक श्रीराम कवि कृत, 'अध्यात्मम रामायण,' नादेल पुरुषोत्तम कवि कृत, 'अहल्या संक्रन्दन नाटक' ओडपु नारायणदास कृत, 'सुग्रीव विजयमु' सिद्धेन्द्र योगी कृत 'भामा कलापमु' आदि यक्षगान उल्लेखनीय हैं।

(आ) हरि कथा :—

हरि कथा' आन्ध्र जनता के मनोरंजन की

[१] यक्षगानमुलु—तेलुगु नाटक विकासमु: डा० पी० एस० आर० अप्पाराव पृष्ठ १५२

अत्यन्त प्रिय साहित्यिक प्रक्रिया है। सुप्रसिद्ध मुनिपल्ले सुब्रह्मण्य कवि ने अध्यात्म रामायण के कीर्तनों को संकीर्तन के रूप में सर्वप्रथम हरि कथा का रूप दिया है। हरि-कथाओं की कथा वस्तु वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म रामायण, मोक्षगुंडं रामायण से ग्रहण की गई है।

ताल्लूरि नारायण कवि मोक्षगुंडं रामायण के कर्ता हैं। इन्होंने इसके छः काण्डों को हरिकथाओं में (सीता कल्याण, अयोध्या' आरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड) विभाजित किया है।

इसके पश्चात्, सिंगारिदास कृष्ण दास तथा भक्तराम दास आदि ने रामचरित को लेकर हरि कथाओं की रचना की।

इस क्रिया में 'हरि-कथा-पितामह' के नाम से विख्यात् श्री आदि भट्ल नारायण दास प्रमुख हैं। इन्होंने 'यथार्थ रामायण' को सर्जना की, जिसमें श्रीराम-पट्टाभिषेक तक की कथा छः हरि कथाओं मे वर्णित है।

नारायणदास के उपरान्त, बालाजी दास कृत 'कुशलवविजयमु' रविसनगरि शेषय्या कृत 'श्री रामपादुका पट्टाभिषेक' 'सीता कल्याण' (सीता विवाह) 'सीताहरण' श्री मट्टुतरक राम चरित्र'''' ''' सूरि भोग लिंग दास कृत 'श्री मृत्मगोतानन्द रामायण, बाबू पी एस, नौषखान् कृत' श्रीरामजन्म, सीत कल्याण, (सीताविवाह) '''' मुत्तय्या भागवतार 'कृत कौशल्या परिणयम्' हरिनाग भूषण कृत त्याग राजचरित्र, विभीषण शरणागति, पादुका पट्टाभिषेक आदि इस दिशा में अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

(इ) बुर्रकथाः—

तेलुगु-साहित्य की देशी प्रक्रियाओं में विशेष आदर बुर्र-कथा को प्राप्त हुआ है। तेलुगु में देश-भक्ति-पूर्ण असंख्य बुर्र-कथाओं की रचना हुई है। परन्तु, रामायण, महाभारत आदि पुराणोतिहासों से संबंधित बुर्रकथाएँ कुछ ही मिलती हैं। रामकथा को लेकर 'नदीरा' द्वारा लिखित 'संपूर्ण रामायण' इस दिशा में उल्लेखनीय है, जिसमें रामजन्म से लेकर लव-कुश आदि प्रसंगों का सहज एवं स्वभाविक वर्णन हुआ है।

(ई) लोक गीत :—

लोकगीतों से जनता के हृदय का परिचय मिलता है। तेलुगु के लोकगीतों से आन्ध्र जनता का हृदय गोचर होता है। तेलुगु लोक-साहित्य के विकास में रामकथात्मक लोक गीतों का पर्याप्त योगदान है। रामायण कथा को लेकर रचे गये लोक गीतों में 'कूचिकोंड रामायण, मोक्षगुंडं रामायण, सूक्ष्मरामायण, संक्षिप्त रामायण, गुत्तेनदीवि रामायण, अध्यात्म रामायण, चित्रिरामायण, श्रीरामदंडमुल रामायण, गोबिन्दपाट, श्रीराम जाबिल्लि (श्रीराम और चान्द्र) सेनुगोबिन्द नामालु, (गोबिन्द नाम) आदि प्रमुख हैं। श्रीराम के जीवन की किसी घटना को लेकर कतिपय लोक गीतों की रचना हुई, उनमें शांताकल्याण, पुत्रकामेष्टि, कौसल्या वेत्रिल्लु, श्री रामुलु उग्गुपाट,

(२) गद्य, पद्य, रांग-ताल युक्त कीर्तनों तथा नवरस-भरित उत्तेजनात्मक एवं प्रबोधात्मक प्रक्रिया को 'बुर्रकथा' कहते हैं, जिसमें तीन व्यक्ति वेष धारण कर मंच पर आते हैं। उनमें प्रधान व्यक्ति कथा कहता है तो अन्य दो व्यक्ति उसे दोहराते हैं।

[१] हरि कथा का अर्थ भगवान को लीलाओं का वर्णनात्मक ढङ्ग से अभिनय के साथ गायन करना है।

राघव कल्याण; शमुलवारि अलुक, सीता ओप्पगित, सुग्रीव विजयमु, लक्ष्मण मूर्छा, (लक्ष्मण शक्ति) लंकायागमु, श्री रामपट्टाभिषेक, लक्ष्मण देवर नवक, उर्मिला निद्रा, आदि अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

(८) नाटकः—

तेलुगु में नाटक साहित्य का सूत्रपात सन् १८६० ई० में माना जाता है तथा इसके बहुमुखी विकास के लिए रामकथा का अत्यन्त योगदान है। धारवाड में हिन्दी नाटक समाज द्वारा दिये गये प्रदर्शनों की प्रेरणा से यहाँ नाटक रचना हुई। तेलुगु नाटक की प्रथम अवस्था (१८६०-१८८६ ई०) १ में कोराड रामचन्द्र शास्त्री द्वारा संस्कृत से अनूदित 'उत्तर रामचरित' तथा 'उन्मत्त राघव' इस दिशा में सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इसके पश्चात्, कोकोंड वेंकटरत्नम् पंतुलु द्वारा अनुदित जयदेवकृत 'प्रसन्न राघव' घाविलाल वासुदेव शास्त्री द्वारा अनूदित 'उत्तर रामचरित्र' अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय अवस्था— (सन् १८८६-१९००ई०) में अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के कारण प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के सम्मिश्रण से तेलुगु में नाटकों की स्वतन्त्र रचना आरम्भ हुई। कंदुकूरि वीरेश लिंग पंतुलु ने 'उत्तर रामचरित' 'शाकुन्तलमु' आदि नाटकों का प्रणयन किया। तत्पश्चात् गुंटूर हिन्दू नाटक समाज के संस्थापक श्री कोडुबट्ल चुव्वया शास्त्री कृत 'श्रीरामजन्म' 'सोता कल्याण' 'सीतापहरण,' 'सुग्रीवपट्टाभिषेक, 'सीतान्वेषण' आदि अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। श्री वाडादि सुब्बा रायडु, द्वारा प्रणीत 'रामायण उत्तरकाण्ड' मनोज्ञ कल्पनाओं से ओत-प्रोत है।

'आंध्रनाटक पितामह' के नाम से प्रसिद्ध श्रीधर्मवरं कृष्णमाचार्य कृत 'पादुका पट्टाभिषेक' इस दिशा में प्रमुख है, जिसमें नाटककार ने काव्यरस का अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक चित्रण किया है।

इनके अतिरिक्त, चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहमु (१८६७-१९४६) कृत 'श्रीरामजन्म" 'सीता कल्याण' वेदमु वेंकटराय शास्त्री कृत 'उत्तररामचरित'; कोलाचल श्रीनिवास राव कृत 'श्रीरामजन्म,' 'सीता कल्याण 'पादुका पट्टाभिषेक', 'लंकादहन' 'कुशलव' पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहाराव कृत 'कल्याण राघवमु, 'पादुका पट्टाभिषेकमु,' 'बनवास राघवमु' 'विजयराघवम्' आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

तेलुगु नाटक की तृतीय अवस्था (१९००-१९२४ ई०) में राजकवि श्रीपादगोपाल कृष्ण मूर्ति का नाम प्रमुख हैं, जिन्होंने 'रामायण' नाटक की यथामूल रचना की। इसके पश्चात् वल्लिजेपल्लि लक्ष्मीकांत कवि कृत 'उत्तरराघवम् श्रीद्विवेदी ब्रह्मानन्द शास्त्री कृत 'उत्तर रामायण ... दुव्वूरिरामिरेड्डी कृत 'सीतावनवासमु' चिंतादीक्षितुलु कृत 'शबरी' आदि उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु नाटक की चौथी अवस्था (सन् १९२४-४४ ई०)२ में श्री मुद्दुकृष्णा कृत 'सीताराम नाटक' तथा काललुरि नारायण राव कृत 'आदिकवि बाल्मीकि' नाटक इस दिशा में अत्यन्त उल्लेखनीय है।

(९) संकीर्तनः—

'शिशुर्वेत्ति पशुर्वेत्ति वेत्ति गानरसं फणिः' के अनुसार संगीत कला सब प्राणियों को प्रफुल्लित

---

(१) तेलुगु नाटक का विकास—डॉ०पी०एस०आर० अप्पाराव पृ०८३-१३७,१९१

(२) वही—डॉ० पी०एस०आर० अप्पाराव पृ०३६७

कर अनुप्राणित कर देती है। संसार में भारतीय संगीत का विशिष्ट स्थान है, आदि कवि वाल्मीकि ने श्रीमद्रामायण की रचनाकर कुश-लव से गायन करवाया था, जो पठन तथा गायन के लिये उपयुक्त है।

आंध्र (कर्नाटक) संगीत जगत् में यद्यपि कई वाग्गेयकार हुए हैं, तथापि रामकथात्मक संगीतकारों में सर्व प्रथम राम के परम भक्त रामदास का नाम लिया जाता है। इन्होंने रामभक्ति-पूर्ण गीतों की रचना करके गाया है। इनके संकीर्तनों से यहां के पंडित तथा पामर जनता को सदा के लिये भक्ति की प्रेरणा मिली है।

रामदास के पश्चात् त्यागराज का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। रामकथा का गायन ही मोक्ष (मुक्ति) प्राप्ति का साधन मानकर तथा सम्प्रदाय भेदों को विस्मृत कर इन्होंने कर्नाटक संगीत से संसार को राममय किया। इनके संकीर्तन भक्ति से ओत-प्रोत हैं। संकीर्तनों की अपेक्षा त्यागराजकृत 'सीतारामविजय' नाटक इस दिशा में उल्लेखनीय है।

तदुपरांत, मुनिपल्ले सुब्रह्मण्य कवि (सन् १७३१ ई०) कृत 'अध्यात्म रामायण के कीर्तन, 'गुडिपाटि इंदुमति कृत 'रामायण कीर्तन' तूमु नरसिंहाकृत 'श्री रामकथात्मक भजन कीर्तन' परांकुशदासकृत 'रामायण संग्रह' 'सीसमालिका' 'पट्टाभिराम स्तोत्र' 'रघुनायक स्तोत्र प्रयाग रंगशर्मा (सन् १८५९-१९२०) कृत अनेक कीर्तन 'शोंठि सीतारामय्या कृत सैकड़ों कीर्तन' मैसूर वासुदेवाचारी तथा सुब्रह्मण्य अय्यर कृत श्रीराम-भक्ति-परक कीर्तन विभिन्न चलचित्रों के लिये लिखे गये तेलुगु गीत आदि इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

(१०) गद्य :—

तेलुगु साहित्य में गोपीनाथ कवि (सन् १६७०) कृत 'विचित्र रामायण' से रामकथा के गद्य साहित्य का आविर्भाव माना जाता है। मदुरै के नायक राजाओं के समय में गद्य साहित्य का क्रमशः विकास हुआ। देव की वेंकट सुब्बकवि कृत 'गद्य-रामायण', तुपाकुल अनंत भूपाल कृत 'सुन्दर कांड', पैडिपाटि पापय्या कृत 'रंगनाथ रामायण', श्रीनिवास शिरोमणि कृत' 'वाल्मीकि रामायण', वाविल्ल राम स्वामी कृत 'आन्ध्र वचन (गद्य) रामायण', पुरिपंड अप्पल स्वामी कृत 'वाल्मीकि रामायण' देवराज सुधिकृत 'रामायण', दोड्डाल पिच्चय्या शास्त्री कृत' श्रीराम बनवास', मानिडिपूडि रामकृष्णय्या कृत 'श्रीमद् वाल्मीकि रामायण', नूतलपाटि पेर राजुकृत 'आनंद रामायण,' तुलसी रामायण', दोड्ल वेंकटराम रेड्डी कृत' दोंड्डरामायण' आदि अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

रामायण की आलोचना करते हुए कुछ कवि-लेखकों ने समीक्षात्मक ग्रन्थों की रचना की। उनमें जनमचिशेषाद्रि शर्मा कृत 'रामावतार तत्वमु' सुखरमु प्रतापरेड्डी कृत 'रामायण विशेषमुलु, कल्लुरि चन्द्र मौलिकृत 'रामायण सुधा लहरी' ...... गुडूरि शेषेन्द्र शर्मा कृत 'प्रोडसि रामायण' 'रहस्यमुलु', आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त, आधुनिक भारतीय भाषाओं से अनूदित गद्य-रामकथात्मक काव्यों में तुलसीदास कृत रामचरित मानस तथा कम्बन कृत तमिल रामायण का अनुवाद पुगर शकर राजु शिष्टा कृष्णमूर्ति मंडा नरहरि

आदि ने 'रामचरित मानस' पूतलपटटु श्रीरामुलुरेड्डी ने 'कंब्र रामायण' की रचना की। इस प्रकार तेलुगु साहित्य की विविध प्रक्रियाओं में रचित रामायण अनेक हैं। 'भास्कर रामायण', 'रंगनाथ रामायण,' 'कल्पवृक्ष' आदि वाल्मीकि के कथा-सूत्र पर रचे जाने पर भी। स्वतन्त्र रचनाओं के रूप में भासित हैं। ये सभी तेलुगु साहित्य के अनमोल रत्न हैं

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।
अतिथिदेवो भव ।]

तैत्तिरीयोपनिषत् शिक्षावल्ली ।

सत्य बोलो । धर्म का पालन करो । वेदाध्ययन में प्रमाद न करो ।
आचार्य को मनोनुकूल दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो ।
माता को देवता (पूज्य) समझो । पिता को देवता समझो ।
आचार्य को देवता समझो । अतिथि को देवता समझो ।

संत-साहित्य में वैष्णव-तत्त्व

--डॉ० हरिसेवक पाण्डेय

संत साहित्य शाश्वत जीवन-मूल्यों उदार साधना दृष्टियों, स्वानुभूति-पूर्ण चिन्तनाओं तथा सहजाचारमूलक मान्यताओं की युगानुकूल व्याख्या है। उसका सर्वस्व 'समग्र मानव' की संरचना का क्रांतिकारी विन्यास है, जो भारतीय धर्म-साधना की मूल चेतना से मण्डित है। किन्तु, यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि सत्य के सच्चे साधक लम्बे अरसे तक विद्वद्दरबार में उचित न्याय पाने में असमर्थ रहे। उनके साहित्य का अध्ययन करते हुए विद्वानों ने उनकी विचार धारा पर बौद्ध-सिद्धों, नाथ-पंथियों, वैष्णव भक्तों, सूफी-साधकों, एकेश्वरवादी, मुसलमानों, कश्मीरी शैव मतावलम्बियों और बारकरी सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रभाव विविध रूपों में देखा है। जिसके फलस्वरूप सन्त साहित्य एक पहेली बनकर रह गया। उपर्युक्त साधनाओं में से विद्वानों ने मुख्यरूप से बौद्ध सिद्धों[१], नाथ-पंथियों[२] और सूफी साधकों[३] के प्रभाव को साग्रह रेखाङ्कित करने का प्रयास किया है। आलोचकों का एक बहुत बड़ा दल यह जताने का पक्षधर है, कि सन्तों की वाणी का मूल उत्स बौद्धसिद्धों एवं नाथ पंथियों की साधना में ही है। इतना ही नहीं, वे आनुवंशिकता-उच्चवर्गीय संस्कृति के प्रति विद्रोह, भावना-गुरु के महत्त्व, पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता साध्य के स्वरूप, हृदयस्थ उपासना, भाषा-शैली आदि का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए सन्तों को सिद्धों एवं नाथों से सीधे सम्बद्ध करते हैं,[४] ध्यातव्य है कि सन्त वाणी पर पड़े सिद्धों एवं

---

१. कबीर की विचार धारा -डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत (प्र०साहित्य निकेतन, कानपुर सं० २०१४ पृ०१३०

२. (क) हिन्दी साहित्य की भूमिका-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लि०, बम्बई, सन् १९५३) पृ० ३०

(क) कबीर-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर लि०, बम्बई सन् १९४०) पृ० ९,११,१५३

(ख) संत कबीर--डॉ० रामकुमार वर्मा (साहित्य भवन लि० सन् १९४२) पृ० ७८

(ग) कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एव सिद्धान्त -डॉ० सरनाम सिंह शर्मा पृ० ८५ (भारतीय शोध संस्थान गुलाबपुर, राजस्थान सन् १९६९)

३. (क) हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचद्र शुक्ल (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं०२००९) पृ०८१

(ख) चिंतामणि (भाग २)-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सरस्वती मन्दिर बाराणसी सं० २०१९) पृ० १२५

(ग) तसव्वुफ अथवा सूफीमत--आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय पृ० २२७ सरस्वती मन्दिर, जतनबर बनारस, सन् १९४८ ई०

४. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य -डॉ० रामचंद्र तिवारी पृ० ३२ (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी सन् १९७२ ई०)

नाथों के प्रभाव का निषेध तो नहीं किया जा सकता किंतु इतना तो निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है, कि संतो ने सिद्धों एवं नाथ पंथियों को अपना आदर्श कभी नही माना। विश्लेषण से ज्ञात भी होता है कि संतों की उच्च वर्गीय संस्कृति के प्रति विद्रोह-भावना में अखण्ड आत्म विश्वास और अतल सूक्ष्म-दर्शिता का विकास हुआ है, न कि सिद्धों की हीनता ग्रस्त खीझ एवं शुष्क विरोध भावना का। संतों का गुरु हठयोग की क्रिया नहीं सिखाता अपितु गोविन्द को लखाता है। नाथ पंथी योगी ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं को सन्निविष्ट करना चाहते हैं और गंगा-यमुना आदि की पिण्डान्तर्गत सत्ता स्वीकार करते हैं जबकि संत अन्तःकरण की शुद्धि के लिए मन की मथुरा, दिल की द्वारिका और काया की काशी का कथन करते हुए सब कुछ घटमें बताते हैं। इतना ही नही संतों का साध्य, उनकी साधना एवं उनकी भाषा-शैली सिद्धों एवं नाथों की परम्परागत रूढ़िग्रस्त बिचार विवृति से भिन्न दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि नाथ-पंथी परम्परा से जोड़ने वाले विद्वानों को भी यह कहते हुए पाया गया है कि रामानन्द के सत्संग से प्राप्त हुआ ज्ञान कबीर को अक्खड़ सिद्धों और योगियों की परम्परा से अलग कर देता है। कहने का तात्पर्य यह नही है कि संत-वाणी पर सिद्धों नाथों का प्रभाव पड़ा ही नही। उनके प्रभाव का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। जहाँ तक मूल चेतना का प्रश्न है, वह नाथ एवं सिद्धों की साधना से सर्वथा भिन्न है।

विद्वानों का एक दूसरा वर्ग सन्तों को सूफी प्रभावापन्न बताने का पक्षपाती है। इनके अनुसार सन्तों की वाणी में प्राप्त भावात्मक रहस्यवाद प्रेम का प्रतिपादन और मादन भाव का प्रदर्शन है, जो सूफियों के सत्संग का प्रसाद है जब कि वास्तविकता यह है कि उक्त सभी रूप सूफियों के भारत में आने से पहले भारतीय साधना के अंग बन चुके थे। नारदीय प्रेम रूपा भक्ति को 'कान्तासक्ति' तथा परम 'विरहासक्ति' श्रीमद्भागवत् की भावभक्ति निम्बार्क सम्प्रदाय की' माधुर्य या कान्ता भक्ति, चैतन्य की दशधा भक्ति, रामानन्द की प्रेम लक्षणा भक्ति तथा सहजज्ञानियों की प्रेमा भक्ति के विधिवत् अध्ययनोपरान्त उक्त मान्यता स्वतः अस्तित्व खो देती है। इधर के प्रायः सभी विद्वानों ने सूफी प्रभाव के मूलतत्त्व के रूप में अस्वीकार कर दिया है। १ यारी साहब जैसे कतिपय सन्तों की वाणियों आए 'आहूत मलकूत' जैसे प्रयोग भी प्रेमाभक्ति द्वारा में अपना अस्तित्व खो बैठे हैं।

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की धारणा है कि संत-साहित्य की मूल चेतना को समझने के लिए उसकी वैष्णवता को समझना अति आवश्यक है। संत-वाणी में प्राप्त वैष्णवों की सादर प्रशंसा अकस्मात घटित कोई घटना नहीं है। उसके पीछे दर्शन, साधना एवं आचार की विकट भूमि है, जिसमें मानव मूल्यों की समग्रता का मूलमात्र सन्निविष्ट है। कबीर

(क) शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य-डॉ० रामचंद्र तिवारी पृ०३२

(ख) कबीर: व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त-डॉ० सरनामसिंह शर्मा, पृ०४३५

(ग) कबीर की विचारधारा -डॉ०गोविन्द त्रिगुणायत, पृ०५९-१६०

(घ) रामसनेही सम्प्रदाय-डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी, पृ०२९७ (आनन्द प्रकाशन, फैजाबाद, सन्१९७४)

की यह उक्ति कि 'मेरे संगी दुइ जणाँ, एक वैष्णों एक राम' १ केवल उक्ति ही नहीं अपितु, उनके समग्र चिंतन का 'घोषणापत्र' है। यही कारण है कि कबीर के चिह्नों पर विकसित संत-मत में वैष्णव, हरिभक्त, हरिजन, साधु आदि के प्रति प्रयुक्त श्रद्धा-उक्ति उनकी वैष्णवों की सात्त्विक आत्मा की महार्घता का उद्घोष करती हैं। इस प्रकार वैष्णवता के प्रति प्राप्त उनकी प्रभूत श्रद्धा भावना को देखते हुए वैष्णव तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में संत साहित्य का अध्ययन विशेष महत्त्व पूर्ण हो जाता है।

संत-साहित्य की विराट् भूमि के परीक्षण से पहले हमें उनकी प्रेरणा भूमि पर दृष्टि-पात कर लेना चाहिए। वास्तव में, संत मत भारतीय अध्यात्म-अंतरिक्ष में एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में उमड़ा। उसका प्रेरणा। युग संक्रान्ति मूलक मान्यताओं का युग था। मान्यताएँ बड़ी तेजी से ह्रासोन्मुखता को प्राप्त हो रही थीं। आस्थायें खण्डित हो रही थीं। धर्म वाहिकाएँ सामान्य जन-मानस में स्थिरता एवं सात्त्विकता कम, भय और अवि-श्वसनीयता अधिक मुखर करा रही थीं। गौतम-बुद्ध ने जिस धर्म के माध्यम से बाह्याचार एवं आडम्बर के घटाटोप से आवेष्टित वैदिक संस्कृति का विरोध करके सदाचार की प्रतिष्ठा की थी एवं करुणा के शाश्वत सत्य को विश्व-पटल पर रेखांकित किया था, वही आगे चल-कर भ्रष्ट हाथों की कठपुतली बन गया तथा पतित जीवन यापन करते हुए भ्रष्टाचार की सीमा का अतिक्रमण करने लगा। २ कालान्तर में यही स्थिति जैनियों की भी हुई और अहिंसा तथा करुणा की नींव पर खड़ा उनका विराट महल उन्हीं के क्रूर आचरण का शिकार हुआ। ३ यही स्थिति कमोवेश तत्कालीन पाशुपत एवं कापालिक साधकों की भी थी। साधक तलवार, मदिरा और स्त्री-तीनों का उपयोग करके धर्म और नैतिकता की जो दुर्दशा कर रहे थे, उससे सामान्यजन न केवल उनसे घृणा ही करने लगा था अपितु सर्वथा भयाक्रान्त भी हो गया था।४

तत्कालीन कदाचार मूलक साधनाओं का विरोध बड़े पैमाने पर हुआ जिसके परिणाम स्वरूप बौद्धिक, कायिक एवं भावात्मक प्रति-क्रियाएँ सामने आयीं। वेदों की एकवाक्यता का बौद्धिक प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर ने 'स्मार्तमार्ग' का प्रतिष्ठापन किया। कायिक धरातल पर सुधार कार्य करते हुए नाथों ने योग-साधना के माध्यम से कायाशोधन कर मनको बश में करने का संदेश दिया। भावा-त्मक धरातल पर प्रेम के औदात्य का पुरस्क-रण करते हुए आलवार भक्तों ने आत्म-परि-ष्कार का पथ प्रशस्त किया। किंतु कालान्तर में लोक-जीवन पर वर्चस्व प्राप्त करने के लिए स्मार्तों, नाथों एवं भक्तों में आपस में टक-राव हो गया। अंततः ज्ञान और योग अपनी अग्राह्यता एवं कृच्छ्रता के कारण भक्ति के सम्मुख ठहर न सके। दूसरी ओर मानव-मन की समग्रता में ज्ञान योग और भक्ति तीनों एक

---

१. कबीर ग्रंथावली-सं०-डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० ३९ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,)
२. उत्तरी भारत की संत परम्परा-आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३३ (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद सन् १९७२ ई०)
३. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन-डॉ० मलिक मुहम्मद (पृ० ८९ राजपाल एण्ड संस, दिल्ली) १९७८ ई०)
४. वही पृ० ८९--९०

मेक होकर भक्ति धारा में अंतर्मुक्त हो गये। यही कारण है कि वैष्णव-धर्म में जहां एक ओर भक्त-हृदय की प्रवणता है, वहीं दूसरी ओर योग के रूप में साधना के शारीरिक पक्ष और ज्ञान के रूप में बौद्धिक पक्ष का समावेश है। कहना न होगा, कि संत साहित्य में ज्ञान, योग और भक्ति का सम्मिलन उपर्युक्त कड़ी में ही कुछ ऐसा हुआ कि उनके अध्येता कभी संत-मत को नाथ-पंथियों से, कभी अद्वैतवादियों से तथा कभी वैष्णव-भक्तों से सम्बद्ध करने लगे जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि ज्ञान, योग और भक्ति प्रकारान्तर से मानव-मनकी समग्रता के परिचायक हैं। इन तीनों के पृथक् रूप को देखा ही नहीं जा सकता। वैष्णव धर्म की लोक-प्रियता का रहस्य भी यही है ।

संत साहित्य में प्राप्त होने वाले तत्त्वों को चार रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है-

(क) गुरु परम्परा की दृष्टि से

(ख) दर्शन की दृष्टि से

(ग) साधना की दृष्टि से

(घ) आचार की दृष्टि से

गुरु

भारतीय धर्म-साधना गुरु को अज्ञान के उच्छेदक एवं ज्ञान के प्रकाशक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। यही कारण है कि साधना क्षेत्र में साधक की मनोभूमि बहुत कुछ गुरु परम्परा से प्रभावित होती है। संत-मत इसका अपवाद नहीं। इस सन्दर्भ में यहां उल्लेख्य है कि अधिकांश संत अपने को तत्कालीन विसंगति-पूर्ण धार्मिक-चिन्तन को औदात्त्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने वाले वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्द तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों से अपने को सम्बद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में कबीर पंथ,१ दादू पंथ,२ बावरी पंथ,३ गुलाल पंथ,४ पलटू पंथ,५ रामसनेही सम्प्रदाय,६ शिवनारायणी सम्प्रदाय,७ धरनीश्वरी पंथ,८ गरीब पंथ,९ विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ सम्प्रदायाचार्यों ने अपने मानस-गुरु के रूप में प्रसिद्ध महात्माओं को अपनाया था जो प्रायः वैष्णव परम्परा के स्तम्भ-रूप में मान्यता-प्राप्त हैं। 'चरणदासी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक संत चरणदास ने शुकदेव जी को अपना गुरु

---

१. कबीर: व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० ५०

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४९

३. गोबिन्द साहब की हिन्दी रचनाएं --डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी, १० (आनन्द प्रकाशन, फैजाबाद, सन् १९७२ ई०)

४. वही, पृ० ११ तथा उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५५६-७

५. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५५७

६. रामसनेही सम्प्रदाय -डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी , पृ० ८४

७. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य, पृ० ७२-७३

८. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६२६

९. वही पृ० ७२९

बनाया १ था। 'अघोर पंथ' के संत किनाराम ने दत्तात्रेय को अपने गुरु रूप में वरण किया था। २ 'प्रणामी' संत प्राणनाथ ने राधा-वल्लभी आचार्य हरिदास जी का शिष्यत्व ग्रहण किया ३ था। यहाँ ध्यातव्य है कि स्वामी रामानन्द जी प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य स्वामी रामानुज की चौदहवीं पीढ़ी में आते हैं। स्वामी हरिदास जी का राधावल्लभ-सम्प्रदाय वैष्णव-आन्दोलन का प्रमुख अंग है। महात्मा शुकदेव एवं दत्तात्रेय की वैष्णवता स्वयं सिद्ध ही है। इस प्रकार, गुरु और उसकी दीक्षा के महत्व को यदि हम दृष्टि पथ में स्वीकार करें, तो संतों की मूल चेतना को समझना सहज हो सकता है।

दर्शन

संत-मत का दार्शनिक स्वरूप उनके सहज चिन्तन का जीता-जागता उदाहरण हैं। ब्रह्म, जीव, जगत, माया और मोक्ष विषयक उनकी मान्यताएँ भारतीय चिंतनधारा की अक्षुण्ण निधि हैं, क्योंकि उसका पुरस्कर्ता 'मत' का 'रता' नहीं, 'तत' का 'रता' है। ४ उसकी वाणी 'गीत' नहीं, अपितु ब्रह्म-विचार है।५ यही ब्रह्मविचार उनकी आत्मसाधना का रहस्य है।

संतों का साध्य विद्वानों के मतभेद का कारण रहा है। किन्तु, यदि विचार कर देखें तो संतों का ब्रह्म बहुत कुछ वैष्णवानुमोदित ही लगता है। उनका ब्रह्म, जिसे वे करीम, रहीम आदि कतिपय मुस्लिम समाज में प्रचलित नामों के अतिरिक्त राम, कृष्ण, हरि माधव, गोपाल, विष्णु, मधुसूदन, नारायण, सारंगपाणि, नंद नंदन आदि वैष्णव नामों से भी अभिहित करते हैं, निर्गुण और सगुण, युगपत् रूपों में स्वीकृत है। संत-मत के प्रवर्तक कबीर ने 'गुण में निर्गुण-निर्गुण में गुण ६' कह कर निर्गुण सगुण की एकरूपता प्रमाणित की है। परवर्ती संतों ने तो और भी उदारता के साथ निर्गुण और सगुण की एकता प्रतिष्ठित की है ७। ध्यातव्य है, वैष्णव धर्म में ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों कहा गया है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि एक ही सत्ता जिसे पारमार्थिक दृष्टि से 'निर्गुण' कहा जाता है, वही व्यावहारिक दृष्टि से 'सगुण' है। वास्तव में 'निरगुण राम जपो रे भाई' कहने वाले संत जब उसी को (निर्गुण ब्रह्म को) दया, कृपा, भक्त-वत्सलता आदि गुणों से अभिहित करने लगते है, तब निर्गुण सगुण की अभेदता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इतना ही नहीं, संत-मत के प्रवर्तक 'दशरथ सुत तिहुँ लोक वखाना, रामनाम को मरम है आना' के उद्घोषक संत

१- उत्तरी भारत की सन्त परम्परा. पृ० ७२०
२- वही, पृ० ६६२
३- वही, पृ० ५६४
४-राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय-डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० २२२-२२४ (अवध साहित्य मन्दिर) बलरामपुर, सं० २०१४)
५- हरिरामदास की अनुभव वाणी, पृ २७६ (संत साहित्य संगम, बीकानेर, १९५१ ई०
६- कबीर ग्रंथावली-सं० डॉ० दास, परिशिष्ट पद ३१ पृ० २०७
७- वही पद १८०.पृ० १११
(क) भक्तिसागर, पृ १७१.१७७(नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ' सन् १८५१)
(ख) संत वाणी संग्रह' भाग १ (वेल वेडियर प्रेस,प्रयाग, सन् १९७३) पृ० १५५
(ग) कबीर-परम्परा, डॉ० क्रान्तिकुमार भट्ट, पृ १८५(अभिनव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद,१९७५ ई०
(घ) सरगुण निरगुण ह्वै रहे, जैसा तैसा लीन। दादू दयाल की वाणी, भाग १ पृ० १७
८- कबीर ग्रंथावली, डॉ० दास,

कबीर, भावावेश में ही सही, भगति हेतु नरस्यंघ भेव १ जैसी उक्तियों के माध्यम से जिस अभिनव संभावना की नींव दे रहे थे, आगे चलकर उनके परवर्ती संतों ने रामोपासना और कृष्णोपासना का केवल पथ ही प्रशस्त नहीं किया, अपितु नानावतारों की ऐसी विवेचना प्रस्तुत की, जिसे देखकर प्रभूत आश्चर्य भी होता है २ ।

वास्तव में, सन्तों का विरोध निर्गुण और सगुण में न था। जो विरोध दिखाई पड़ता है, वह निर्गुण-सगुण में न होकर, 'साकार' और 'निराकार' में था। इसका कारण तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक विसंगति-पूर्ण व्यवस्था थी। एक ओर मूर्ति-पूजा बाह्याडम्बरों से इतनी आवेष्ठित हो गयी थी कि जनमानस सत्य की सत्ता स्वीकारने में भी हिचक रहा था तथा दूसरी ओर यवनों के आक्रमण और देव-विग्रहों की विनाशलीला से सामान्य जन और उनकी आस्थाओं के सामने प्रश्न-चिह्न लगा रहता था। समाज में व्याप्त ब्राह्मण-शूद्र जन्य स्पृश्यास्पृश्य भावना ने और ही गुलखिलाना शुरू किया। ऐसे समय में रामानन्द के मूल दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कबीर ने जो अभियान छेड़ा, वह सर्वथा अनुकूल था।

परवर्ती संत-साहित्य में कबीर-कालीन ब्रह्म-विषयक धारणा बहुत कुछ उदारता को वरण करती हुई पायी जाती है। चरणदासी, प्राणनाथी, आदि सम्प्रदायों की कृष्णोपासना-मूलक रचनाओं को देखकर उन्हें कृष्णोपासक कहने का भ्रम कोई कर सकता हैं। अक्षर अनन्य की 'प्रेमदीपिका' तो भ्रमर गीत-परम्परा की प्रमुख कड़ी ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि सन्त ब्रह्म के निर्गुण रूप को मानते हुए भी उनके लोकोपकारी रूप को दृष्टि से ओझल न कर सके। किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि सन्त आद्योपांत निराकारोपासक ही रहे। उन्होंने साकारोपासना को अपना साध्य कभी नहीं माना। अस्तु, कतिपय स्थूल अंतरों के बावजूद, हम कह सकते हैं कि संतों का ब्रह्म चिन्तन वैष्णव धर्म के विशेष निकट रहा है। भक्त होने के नाते भी उनका ब्रह्म वैष्णवता की परिधि से बाहर नहीं जा सकता था,

१ कबीर ग्रन्थावली-डा० दास पृ० १६१, पद ३७९

२- (क) हमहिं निरगुण हमहीं सरगुण, हमहीं दस औतार।

—भक्तिसागर (नवल किशोर प्रेस) पृ० ४२७

(ख) नरसिंघ होकर अवतरे प्रहलाद भक्त के काम।

—गरीबदास की बानी (वेल वेडियर प्रेस) पृ० १०८२

(ग) भक्त हेत हरि आइया पिरथी भार उतारि,
साधुन की रक्षा करी पापी डारे मारि।

—सहजो बाई, सन्त वाणी संग्रह भाग १. पृ० १५५

(घ) राम कृष्ण औतार का विरला पावै भेव।

—भीखासाहब, महात्माओं की वाणी, पृ० ८८

(ङ) जहँ-जहँ गाढ़ परयो भक्तन को तहँ-तहँ कीन्हो फेरी।

—जगजीवन साहब की बानी, भाग १. पृ० ७

(च) है चितानन्द चेतन सरूप, प्रगटे भूमण्डल अति अनूप।

—सेवकराम की अनुभव-वाणी, पृ० ६४

क्योंकि, अंततः उसे भक्ति का आलम्बन तो बनना ही था।

वैष्णव धर्म जीवात्मा को ब्रह्म का अंश नित्य एवं सनातन कहता है १। संतों की जीवात्मा-विषयक मान्यता वैष्णव धर्म के अनुकूल ही है। उनका जीव ब्रह्म का अंश है २। उनका परस्पर अंशांशी सम्बन्ध है। वह अज है, नित्य है, अविनाशी है ३ तथा उसे सस्तर छेदि सके नहीं, पावक सकै न जारि। ४ इसका शरीर परिवर्तन-धर्मा है। वह जीर्ण एवं अभिनव वस्त्रों की भाँति कभी त्याज्य एवं कभी ग्रहणीय रहता है। ५

वैष्णव धर्म में जगत् को पारमार्थिक सत्ता अर्थात् 'सत्' तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। संसार उसका मिथ्या रूप है जो नश्वर है, क्षणिक है। सन्तों ने 'संसार' एवं 'जगत्' दोनों का व्यवहार किया है। वे 'संसार' को झूठा, धूँआ का धौंलहर, मृगमरीचिका, स्वप्न की सम्पत्ति, आदि कहते हैं जिससे उनका तात्पर्य संसार की नश्वरता से होता है। प्रसिद्ध वैष्णव महात्मा तुलसीदास की संसार-विषयक विचार-विवृति एतादृश ही है। सन्तों की जगत्-विषयक अवधारणा वैष्णव धर्मान्तर्गत मान्य ईश्वर-परिणामवाद' के अधिक निकट रही है। जब सन्त खालिक-खलक खलक में खालिक, सब्र घट रह्यो समाई, ६ तथा

१- भागवत सम्प्रदाय-आचार्य बलदेव उपाध्याय (पृ० २१०

२- कहै कबीर यह राम को अंशु।

—कबीर और कबीर पन्थ (हि० सा० स०) पृ०१०६ परउवृता

—ब्रह्माण्ड की जोति इस पिण्ड मांही।

—गरीबदास की बानी. पृ० ९८ (वे० वे० प्रे०)

—जीव बसायो ब्रह्मअंस।

—भीखा साहब की बानी [वे० वे०] पृ० ३०

—निरगुन ते पयान करि आवा।

—जगजीवन साहब की बानी, भाग २ पृ० ३५

—ब्रह्म से जीव आइल —।

—गुलाल साहब की बानी. [वे० वे० प्रे०] पृ० ४६

३- कबीर ग्रन्थावली. पद ३३१. पृ. १५१

—आदि ग्रन्थ, १३६, मारू सो लहे म० १, पृ० १०२६

—सुन्दर विलास. [नवलकिशोर प्रेस] पृ० १००. छन्द ३५

—भक्ति सागर. पृ० २९९

४- भक्तिसागर. पृ० ३००

५- कबीर ग्रन्थावली. काल को अंग. साखी १२. पृ० ५७

—भक्तिसागर. पृ० २९८

—सुन्दर विलास. छन्द. ३५ पृ० १००

पलटू साहब की बानी. भाग ३ शब्द ६. पृ० ३ (वे० वे० प्रे०)

६- कबीर ग्रन्थावली. पद ५१. पृ० ८१

'सकल ब्रह्माण्ड ते पूरिया १ आदि आत्माभिव्य-क्तियों का प्रयोग करते हैं, तब गोस्वामी तुलसीदास जी के सीयराममय सब जग जानी' की भाँति 'ईश्वरपरिणामवाद' की पुष्टि होती है। इतना ही नहीं, सन्त जगत् को 'कारण-रूप-ब्रह्म का परिणाम कहते हुए, कनक-कुण्डल न्याय' का प्रतिपादन भी करते है, जिसे वैष्णव धर्म के अविकृत परिणामवाद' से सम्बन्ध किया जा सकता है। २

वैष्णव धर्म 'माया' को ईश्वर की लीला-शक्ति के रूप में स्वीकृति प्रदान करता है। वहाँ इसके दो रूप, विद्या और अविद्या, मान्य हैं, जो जीव को क्रमशः ऊर्ध्वगति और अधोगति को प्राप्त कराते हैं। सन्तों की माया इस अर्थ में भी वैष्णव धर्म के निकट जान पड़ती है। उसे वे 'रघुनाथ का माया' ३ कहते हैं जिसके दो प्रमुख रूप, 'एक मिलावै राम सूँ एक नरक लेइ जाय, विद्या और अविद्या हैं। ४ सन्त अविद्या माया को डाइनी, पापिनी, व्यभिचारिणी, डाँकिनी आदि से संबोधित करते हैं तथा उससे सतत सतर्क रहने का संदेश देते हैं। कहना न होगा कि संतों का माया-निरूपण एक वैष्णव-भक्त की मनोभूमि का परिचय कराता है।

वैष्णव धर्म में मध्वाचार्य के 'भोगमुक्ति' और वल्लभाचार्य के 'क्रममुक्ति' के चारो प्रकारों-सालोक्य सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य-को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। यहाँ उल्लेख्य है कि संतों की मूल धारणा में चरणदास जैसे कतिपय संतों को छोड़कर इस प्रकार का कोई शास्त्रीय विभाजन नहीं मिलता। प्रथमतः तो वे जीवन्मुक्त को विशेष महत्त्व देते है ५ फिर भी उनकी वाणी के अनुशीलनोपरान्त उपर्युक्त चारों मुक्तियों का रूप अवश्य स्पष्ट हो जाता है। जब संत 'बेहद' में निवास करने की बात करते हैं, तब 'सालोक्य मुक्ति' ७

१- कबीर ग्रन्थावली, पद ३१,७६
२- कबीर ग्रंथावली, पद १५०, पृ० १०२
  -रामचरणदास-अणभै वाणी पृ० ८३
३- कबीर ग्रन्थावली, पद १८७ पृ० १५३
  -गरीबदास की बानी, पृ०, ३२
  -जगजीवन साहब की बानी, भाग २ पृ० ४
  -दूलन साहब की बानी, पृ० १६
४- कबीर ग्रंथावली
५- भक्तिसागर, पृ० २९
६- संत कबीर, राग गउड़ी, ४६
  -दादू दयाल की बानी, भाग १ पृ० १९५
  -सुन्दर विलास, छन्द १४, पृ० १२१
७- कबीर ग्रन्थावली, परचा को अंग, साखी ५
  -दादू दयाल की बानी, साखी ५८ पृ० ६
  -पलटू साहब की बानी भाग ३, १४३

स्वयं को प्रिया मानकर परम प्रियतम से मिलन का वर्णन करते हैं, तब 'सामीप्य मुक्ति', १ 'तारण-तिरण' के बन्धन को लाँघकर प्रियरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तब 'सारूप्य-मुक्ति'२ और जब 'फूटा कुंभ जल जलहिं समाना' की स्थिति प्राप्त होती हैं, तब 'सायुज्य मुक्ति' का समर्थन करते देखे जाते हैं ४। अतः संतो का मोक्ष-निरूपण भी वैष्णव-धर्म से प्रभावित हैं।

इस प्रकार, समवेत रूप से संतों के दार्शनिक चिन्तन पर दृष्टि डालने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनका आराध्य, जीवात्मा, माया, जगत्तत्व तथा मोक्ष-बहुत कुछ वैष्णवता से प्रभावित हैं। सर्वांशता की बात कहना असंगत यों भी है कि संत किसी परम्परा के अंधानुयायी न थे। उनका समूचा जीवन-दर्शन सम्पूर्ण भारतीय अध्यात्म-साधना का 'सार' है।

साधना

वैष्णव साधना के प्रमुख अंग हैं-भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म। यदि यों कहें कि वैष्णव-साधना मूलतः भक्ति-साधना है जिसके तीन महत्त्वपूर्ण पूरक हैं-योग, ज्ञान और कर्म-तो अत्युक्ति नहीं होगी। वास्तव में, वैष्णव साधक अपनी चित्त वृत्ति के निरोध के लिये 'योग' को, परमतत्त्व के स्वरूप को पहचानने के लिए 'ज्ञान' को तथा उपासना की त्रिविधता एवं निर्लिप्तता के निर्वाह के लिए 'कर्म' को अपनी साधना का प्रमुख अंग बनाता है। इस परिप्रेक्ष्य में संत-साहित्य का अनुशीलन विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संतों की मूल धारणा एतादृश ही है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि साधक ज्ञान भी करले तथा योग से सिद्धि भी प्राप्त करले, फिर भी यदि उसने हृदय से हरि की भक्ति नहीं की तो सब साधना व्यर्थ है ५। यहां हम संत साधना के त्रिविध आयामों में प्राप्त वैष्णव तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे।

भक्ति, जिसे 'परम प्रेमरूपा' तथा 'अमृतस्वरूपा' कहा गया है, वैष्णव धर्म का सर्वस्व है। वास्तव में, संतों की वाणी का रहस्य भी यही जान पड़ता है। भक्ति के विविध साधनों-सत्संग, गुरुमहिमा, नाम-स्मरण, साधु-सेवा, परोपकार आदि की प्रतिष्ठा वे जिस निष्ठा से करते हैं, उसी लगन से काम, कुसंग, अहंकार, तृष्णा, संशयादि भक्ति के अंतरायों को बहिष्कृत करने का उपक्रम भी करते हैं। महर्षि नारद द्वारा भक्ति की भावदशा के निरूपण-हेतु निर्दिष्ट एकादश आसक्तियों तथा श्रीमद् भागवत में वर्णित 'नवधा भक्ति' को संत-साहित्य ने सादर ग्रहण किया है। यही कारण है कि वे अपनी भक्ति को 'नारदी-भगति, की

१--कबीर ग्रन्थावली निहकर्मी, पतिव्रता को अङ्ग, साखी १४

--गुलाल साहब की बानी, शब्द १०, पृ० ४३

२--लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।

-कबीर ग्रन्थावली

३--कबीर ग्रन्थावली, पद ४४

--सुन्दर विलास, छन्द १२, पृ० १२

--बुल्ला साहब का शब्दसार (बे० वे० प्रे०), शब्द ४, पृ० २९

४--कबीर ग्रंथावली, पद २७८, पृ० १३६

५--कबीर ग्रन्थावली-पद २७८-पृ० १३६

संज्ञा से अभिहित करते हैं।१ यद्यपि संत-वाणी में वर्णित भक्ति का 'नववारुन' तथा 'आसक्ति-निरूपण' मानसिक धरातल पर अधिक प्रतिष्ठित हुआ है, क्योंकि, उसका बाह्यविधान उनकी आस्थाविन्दु से परे की वस्तु थी, फिर-भी तात्विकता का समादर रेखांकन-योग्य है। पाञ्चरात्र-मत की 'पीठिका 'प्रपत्तिपरता' तो निर्विवाद रूप से संत-साधना का मेरुदण्ड है ही। इतना ही नहीं, वैष्णवों की 'दसधा-भक्ति' जिसे संत 'भावभगति' या 'प्रेमभगति' की संज्ञा देकर अपनी निष्ठा का परिचय देते हैं, वह निश्चय ही स्तुत्य है। उनकी ऐसी भक्ति को योग, ज्ञान और कर्म पूर्णता प्रदान करते हैं।

'योग', वैष्णव धर्म में, चित्त वृत्तिकी एकाग्रता एवं भक्ति के पूरक रूप में मान्य है। वहाँ योग 'अष्टांग योग' के रूप में प्रतिष्ठित है। संतों की साधना में विद्वानों ने हठयोग, जो वास्तव में 'हठेन बलात्कारेण योगः' को रेखाङ्कित करने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की धारणा है कि संतों की योग-साधना 'सहज योग साधना' है, जिसमें किसी भी प्रकार के काया-कष्ट की आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह है कि हठयोग षडंग है जब कि संतों का योग अष्टांग-योग है। 'यम और नियम' उनकी सात्विक रहनी का संचालन करते हैं। तथा 'आसन' से लेकर 'समाधि' तक के सभी रूप 'साईं ते मिलन की भूमिका तैयार करते हैं। संतों की साधना कृच्छ्रकाया-साधना के निकट कभी नहीं रही। उसको वे 'सहजराम' से परिचय के लिये प्रयुक्त करते हैं। यही कबीर का 'प्रेम-योग' है, जिसे वे भक्ति एवं मुक्ति की प्राप्तिस्थली बताते हैं।

वैष्णव धर्म में 'ज्ञान साधना' को भक्ति के परमावश्यक साधना के रूप में स्वीकार किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास भी ज्ञान से प्रतीति, प्रतीति से प्रीति और प्रीति से भक्ति की उपलब्धि बताते हैं।२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निर्गुणोपासक संतों की साधना को ज्ञाना-श्रयी कहना भी भक्ति की पूरकता का द्योतक है। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ 'योग वाशिष्ठ' में वर्णित ज्ञान और अज्ञान की भूमि-काएँ, जिनमें अज्ञान की सप्तभूमिकाओं के निर-सन और ज्ञान की सप्त भूमिकाओं के प्रतिष्ठापन का विधिवत् निरूपण हुआ है, संत-साहित्य में तदवत् द्रष्टव्य हैं।

वैष्णव-धर्म 'कर्मसाधना' को भक्ति के क्षेत्र में विशेष महत्त्व प्रदान करता है। श्रीमद्भग-वद्गीता का 'कर्मयोग' इसका प्रमुख उदाहरण है। संत-साहित्य में एक ओर जहाँ कर्मकाण्ड के प्रति व्यापक उपेक्षा के दर्शन होते हैं वहीं दूसरी ओर उनकी 'निष्काम कर्मोपासना' गीता के 'निष्काम कर्म से उसे सम्बद्ध भी करती है।३

१--वही, पद २१३
--बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ० ११
--पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ०५७
२--जाने बिनु न होहिं परतीती। बिनु परतीति होहिं नहिं प्रीती
--बिना प्रीति नहिं भगति दृढ़ाई। - - - --रामचरित मानस,
३--कबीर ग्रंथावली, पद, १८३ पृ० ११२
--दादू दयाल की बानी, भाग १, पृ० १११
--हरिरामदास की अनुभव वाणी [संत-साहित्य सङ्गम], पृ० १४५

है।१ परवर्ती संत-साहित्य में बढ़ती हुई कर्मकाण्ड-विषयक आस्था संतों की कर्मसाधना की वैष्णव व्याख्या करती है१। यहाँ उल्लेखनीय है कि सन्तों की कर्मोपासना उनकी भक्ति की ही एक कड़ी है। उपयुक्त साधना-विषयक सम्पूर्ण विवेचन को देखते हुए, हमें यह कहने में कोई सकोच नहीं होगा कि सन्तों की साधना वैष्णव धर्म-साधना की युगानुकूल व्याख्या है।

आचार

वैष्णव धर्म मानव-धर्म है। उसका अंगोपांग उदात्त मानव-मूल्यों की अक्षुण्ण निधि है। यही कारण है कि वैष्णव धर्म का आचार-तत्त्व समूची भारतीय संस्कृति में प्राण तत्त्व की भाँति प्रतिष्ठित है। सत्य के साधक, सात्त्विकता की मूर्ति, मानव मूल्यों के पुरस्कर्ता 'सत' उनसे अलग कैसे रह पाते? प्रसिद्ध वैष्णव साधक नरसी मेहता का, वैष्णवजण तो तेणे कहिये जे पीर पराई जाणेरे' तथा तुलसीदास का 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' की मूल चेतना संत-मत का सर्वस्व है।

संत मूलतः भक्त थे। अपनी रागात्मिका भक्ति में बाधक सामाजिक एवं वाह्याचार-मूलक धार्मिक विसंगतियों को उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया, अपितु उनका स्पष्ट प्रत्याख्यान किया। इसे देखकर सन्त साहित्य के आचार तत्त्व में केवल आक्रोशात्मकता को रेखांकित करना एक-पक्षीय निर्णय होगा जबकि, उनमें सृजन का स्वर आलोचना की अपेक्षा अधिक मुखर है। सन्तों के आचरण पक्ष को दो भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है।

(१) व्यवहार-पक्ष

(२) विश्वास-पक्ष

सन्तों के व्यावहारिक जीवन में सत्य, अहिंसा, प्रेम, औदार्य, सत्संग, सन्तोष, सहनशीलता, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, क्षमा, परोपकारादि सात्त्विक वृत्तियों का पदे-पदे दर्शन होता हैं जिनसे केवल न उनकी उदात्त साधना भूमि की ही अपितु, विश्वबन्धुत्व की मंगलमयी कामना को भी बल मिलता है।

सन्तों का विश्वास पक्ष सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अभिनव अध्याय के रूप में जुड़ा। उन्होंने रूढ़िगत एवं जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं को एकदम नकार दिया। जाति-व्यवस्था, उपासना में मूर्ति-पूजा आदि की व्यवस्था, पोथी-पाठन, बहुदेवोपासना आदि की कटु आलोचना की। इसका कारण तत्कालीन समाज व्यवस्था का जर्जर स्वरूप था, जिसने मानव मूल्यों के सामने प्रश्न चिन्ह लगा दिया था। यहाँ एक तथ्य ध्यातव्य अवश्य है, वह यह कि परवर्ती सन्तों में पूर्ववर्ती सन्तों की अपेक्षा आक्रोश कम था। अतः हम कह सकते हैं कि सन्तों के आचार का विश्वास-पक्ष

१—द्रष्टव्य—भक्तिसागर, पृ० ११७

—कबीर और कबीर-पंथ, पृ० १९९-२०७

—शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य, पृ० २७२-२७८

—रामसनेही सम्प्रदाय—डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी—पृ० ३०४-३०५

सात्विक समाज संरचना का महत्त्वपूर्ण अंग है जिनसे वे साधना में बाधक तत्त्वों को निकाल फेंकने के लिए कटिबद्ध थे। वैष्णव-धर्म की विकास-यात्रा भी एतादृश स्थलों से बार-बार समझौता करती चलती है।

इनके अतिरिक्त, सन्त-साहित्य पर पौराणिक आख्यानों के प्रभाव, जिज्ञासा एवं समाधान मूलक शैली-प्रभाव वैष्णव ग्रंथों के अनुवाद; वैष्णवागम के आधार पर प्रचलित अनुष्ठान ग्रन्थ, वैष्णव तन्त्रों का नाम-साधना पर प्रभाव; वैष्णव-तिलक आदि ऐसे स्थल तत्त्व हैं जो सन्तों की वाणी पर वैष्णव तत्त्वो की वर्तमानता को बरवस रेखांकित कर देते हैं। उपयुक्त परम्परा दर्शन साधना और आचार के विवेचनोपरान्त हम पूर्ण अधिकार के साथ कह सकते हैं कि सन्त मत वैष्णव धर्म-विकास यात्रा का महत्त्वपूर्ण स्थल है। सन्त-साहित्य से वैष्णवता को ऋण करके विचार करना उन महात्माओ के साथ अन्याय करना है।

मानस में शिक्षा तथा राजनीति के तत्त्व

--प्रो० रमाशङ्कर पाण्डेय, एम० ए०, रिसर्च-स्कालर

मानस-प्रणेता तुलसी मूलतः भक्त कवि हैं। भक्त्यतिरेक में इन्होंने सम्पूर्ण संसार को 'सीयराममय' ही देखा है। ऐसी परिस्थिति में आपके काव्य का समस्त-भूत-कल्याण-भावना से अभिषिक्त होना निसर्गतः समीचीन प्रतीत होता है। इसी लिए तो आप 'कीरति भनिति भूति भलि सोई सुरसरि सम सब कहँ हित होई' की उद्घोषणा मानस के आरम्भ में ही कर देते हैं। इस कल्याण भावना से प्रेरित होकर कवि सदैव समाज के उन्नयन तथा अवनयन के प्रति भी सजग रहता है, उसकी अधोगामिनी प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करके ऊर्ध्वंग प्रवृत्तियों को जाग्रत करने का प्रयत्न करता है। इसके लिये उसे यथार्थ के अनावरण के साथ-साथ आदर्शों का प्रतिस्थापन भी करना पड़ता है। यही प्रवृत्ति गोस्वामीजी में परिलक्षित होती है।

शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। गोस्वामीजी ने अपने काव्य में इसका समावेश और भी वैविध्यपूर्ण ढङ्ग से किया है। शिक्षा-प्रसारण में कवि ने विविधता का सहारा अवश्य लिया है। परन्तु शिक्षापद्धति की भारतीय व्यवस्था ही उसे सदैव मान्य रही है। हमारे समाज में गुरु के आश्रम में निवास करके शिक्षा-दीक्षा का ग्रहण सदैव प्रचलित रहा है। इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए कवि ने रामादि भाइयों को शिक्षा-ग्रहणार्थ 'गुरुगृह' के लिए प्रस्थित किया है। यहाँ पहुँचकर भगवान् अल्प काल में ही सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत हो जाते हैं। यहाँ सम्पूर्ण विद्याओं से तत्कालीन पाठ्य वेदवेदाङ्ग, राजनीति, मन्त्र-तन्त्रादि का द्योतन होता है। वर्षाऋतु का वर्णन करते हुये कवि ने दादुर-ध्वनि की उपमा वेद-पाठी वटुओं से दी है। इसमे शिक्षण पद्धति की भारतीय परम्परा का ही अनावरण होता है। यह रही शिक्षा की प्रथम विधा जिसके अन्तर्गत अध्ययन एवं अध्यापन की प्रक्रिया का समावेश स्वीकार्य है।

शिक्षा की दूसरी विधा का सम्बन्ध उप-देशात्मक वृत्ति से है। साधु-सन्तों, ऋषि-मुनि महात्माओं, श्रेष्ठजनों, समाजसुधारकों एवं महा-पुरुषों की उपदेशात्मक वाणी को इसके अन्तर्गत रखते हैं। ऐसी उक्तियाँ गोस्वामीजी के काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती रहती हैं। मानस में शङ्कर, कागभुशुण्डि, नारद, गुरुवशिष्ठ, विश्वा-मित्र, राम, जनक, सुमित्रा, कौशल्या, सुनयना तथा ऋषि-मुनियों को विभिन्न स्थानों पर उपदेशात्मक वाणी में शिक्षा प्रदान करते हुए देखा जा सकता है। गोस्वामीजी द्वारा प्रति-पादित इन सम्पूर्ण शिक्षकों की बातों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

१-ज्ञान-भक्ति-वैराग्य विषयक शिक्षा
२-कर्म तथा भाग्यवाद विषयक शिक्षा
३-धर्मपालन [कर्त्तव्यपालन] की शिक्षा

४–नैतिकता पालन की शिक्षा

काव्य-प्रणयन में गोस्वामी तुलसीदास का प्रमुखोद्देश्य काव्य-कला का निरूपण नहीं, बल्कि सतत अधोगामिनी मानववृत्ति को एक समुचित दिशा देकर उसे गरिमा के शीर्षस्थ बिन्दु पर स्थापित करना है। इस कार्य के सम्पादन में उनकी भक्त्यात्मक चेतना सदैव प्रधान रही है। राम-भरतादि आदर्श पात्रों के चरित्र-निरूपण से उनके आदर्श विचारों की परिपुष्टि हुई है, परन्तु इन सब की सार्थकता को गोस्वामीजी ने भक्ति-लब्धि के सन्दर्भ में ही स्वीकार किया है। भक्ति-विहीन मनुष्य को आपने किञ्चित् सार्थकतापूर्ण जीवन वाला नहीं माना है। यहाँ तक कि कवि ने हरि चरित्र न सुनने वाले के कान को 'अहि भवन समान' कहा है। राम-गुणगान से रहित जिह्वा को दादुर-जिह्वा सदृश उपेक्षणीय माना है। यह एक भक्त के लिए कथञ्चित् अनौचित्यपूर्ण नहीं है। लक्ष्मण-माता सुमित्रा के माध्यम से भी कवि ने इसी भावना की अभिव्यक्ति कराते हुए लक्ष्मण को उपदिष्ट कराया है। वे लक्ष्मण से स्पष्ट कह देती हैं कि यदि राम वन में जा रहे हैं तो तुम्हारी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। अन्त में वे उसी स्त्री को पुत्र-वती मानती हैं जिसका पुत्र रामभक्तों की श्रेणी में आता हो। इस प्रकार जहाँ ईश्वरीय प्रेम की अतिशयता में माँ अपने पुत्र का परित्याग कर सकती है, वहाँ गोस्वामीजी के लिये ज्ञान, भक्ति वैराग्य के अतिरिक्त अन्य प्रतिपाद्य हो ही क्या सकता है। वैसे इसका समावेश कवि ने अपने काव्य में सर्वत्र प्रसंगानुसार किया है परन्तु विशद निरूपण उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि-गरुड़ संवाद में दृष्टिगोचर होता है। सर्व प्रथम कवि ने मायाग्रस्त जीव को ईश्वर-अंश स्वीकार किया है, पुनः ज्ञान तथा भक्ति को मोक्ष-साधन के रूप में निरूपित किया है। कवि ने भक्ति में स्त्रीत्व तथा ज्ञान में पुरुषत्व की कल्पना करके अपेक्षाकृत अक्षम साधकों के लिये भक्ति मार्ग को सरल तथा सुगम बताया है कारण कि भक्ति की तरफ माया का आकर्षण ज्ञान की अपेक्षा कम होता है।

इसके पश्चात् कवि भक्ति-प्राप्ति के साधनों की चर्चा करते हुये सात्विकतापूर्ण श्रद्धा रूपी धेनु की परिकल्पना करके विभिन्न नियमों एवं आचरणों को उससे ज्ञान रूपी घृत प्राप्ति के साधन रूप में वर्णित किया है। इसमें विभिन्न जप, तप, व्रत, यमनियमादि को कवि ने हरित तृणों की संज्ञा दी है, जिसे खाकर भावरूपी वत्स की उपस्थिति में उसे दुग्धदा-यिनी (फलदायिनी) रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ सांसारिकता से निवृत्ति को गाय के पैरों में बाँधी जाने वाली रस्सी, विश्वसनीयता को पात्र, मन को दोहक अहीर के रूप में परि-कल्पित किया गया है। इस प्रकार धर्ममय दुग्ध से सन्तोष, क्षमाशीलता, धैर्य, समता, विचार, दम एवं सत्य आदि की समुपस्थिति में वैराग्यरूपी नवनीत की प्राप्ति की धारणा प्रगट की गयी है। योगादिक क्रियाओं से विशु-द्धीकृत ज्ञानरूपी घृत ही विज्ञानरूपिणी बुद्धि के समागम से ज्ञान-प्रकाश-प्रसरण में सक्षम हो पाता है। इस समय मोहान्धकार सर्वथा विलुप्त हो जाता है। जीवात्मा अपने वास्तविक रूप को पहचान कर माया के आवरण का परि-त्याग कर मुक्ति-प्राप्ति की दिशा में उन्मुख होती है। फिर भी माया का प्रपञ्च पीछे लगा

रहता है। रञ्चक असजगता उसे पुनः माया-बद्धता तक पहुँचा देती है। इस प्रकार कवि ने ज्ञान मार्ग को अत्यन्त दुरूह तथा कष्ट-प्रद स्वीकार किया है। परन्तु निर्विघ्नावस्था में मोक्ष की सहज सम्प्राप्ति भी सम्भव है, जिसे भक्त अनिच्छा पूर्वक ही प्राप्त कर लेता है। ऐसी शिक्षा कवि ने काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद के माध्यम से अपने पाठकों को दी है।

हमारा समाज जीवन की सम्प्राप्तियों के विषय में द्विधा विचार रखता है। कुछ व्यक्तियों में कर्मवादिता परिलक्षित होती है तो कुछ पूर्णभाग्यवादी के रूप में उपस्थित होते हैं। विचारों का यह संदेहात्मक विवाद जनमानस में सदैव व्याप्त रहा। परन्तु तुलसी ने अपनी समन्वयात्मक प्रतिभा से दोनों के भेद को अभेद में परिणत कर दिया। साधारण रूप से मानस के अध्येता कहीं-कहीं भ्रमित होकर तुलसी को भाग्यवादी कहते हैं। उदाहरण में वे मानस की कुछ प्रमुख पंक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।

[१] तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आप न आवइ ताहि पँ ताहि तहाँ लै जाइ॥

[२] होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

[३] सो न टरई जो रचइ विधाता।

[४] राम कीन्ह चाहहिं सो होई।
करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

[५] सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु विधि हाथ॥

परन्तु मात्र इन्हीं पंक्तियों के आधार पर 'तुलसी स्वयं भाग्यवादी थे' ऐसा कह देना समीचीन नहीं प्रतीत होता। इन पंक्तियों में कवि ने अपनी भावनाओं का निरूपण नहीं किया है, बल्कि प्रसंगानुसार पात्रों से कहला कर जनभावना को मूर्तरूप प्रदान किया है। ऐसे ही-

[१] करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

[२] निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।

[३] नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिन्धु करिय मन रोसा॥
कातर मन को एक सहारा। दैव-दैव आलसी पुकारा॥

जैसी पंक्तियों का प्रणयन करके कर्म की प्रधानता को उद्घोषित किया है। यहाँ कवि अपने पात्रों से भाग्यवादिता को मन की कातरता ही स्वीकृत करता है। भाग्यवाद के प्रति इतनी कटु फटकार तुलसी जैसे निष्पक्ष कवि के लिये ही सम्भव है। अतः, विमर्शोपरान्त हम यही कह सकते हैं कि तुलसी भाग्यवादिता तथा कर्मवादिता दोनों को पाठक के समक्ष रखकर परोक्ष रूप में इंगित कर देते हैं कि भाग्य का निर्माण कर्म के द्वारा ही सम्भव है। जैसा कि गीताकार ने श्रीकृष्ण के माध्यम से-'पूर्वजन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते' का उपदेश दिलाया है।

तुलसी का मानस धर्म या कर्त्तव्य-पालन की भावना से सर्वत्र परिपूर्ण दृष्टिगत होता है। इस तथ्य का अवलोकन हम मर्यादा पुरुषोत्तम राम के साथ भरत, सीता, लक्ष्मण, हनुमान्, दशरथ, कौशल्या, सुग्रीव, विभीषण, तारा, मन्दोदरी आदि सम्पूर्ण प्रमुख पात्रों में कर सकते हैं। कैकेयी की छलपूर्ण वर याचना पर शोकाधिक्य में किङ्कर्तव्यविमूढ़ राजा दशरथ उसे फटकार कर राम का राज्याभिषेक कर सकते थे, अथवा राम का राज्याभिषेक कर राम को गुरु-गृह-निवास का आदेश दे सकते थे परन्तु प्रतिज्ञा पालन ही उनका सर्वश्रेष्ठ धर्म था, जिसका पालन कवि ने पूर्ण

रूपेण कराया है। ऐसे ही पित्राज्ञापालन को माना श्रेष्ठ धर्म समझकर राम ने स्वयं दशरथ द्वारा रोके जाते हुए भी वनगमन से मुख नहीं मोड़ा। वे व्याकुलतापन्न राजा को सन्त्वना देते हुए—

'आयसु पालि जनमफल पाई।

ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई॥'

कहकर वनमार्ग की तैयारी करने लगते हैं। हाँ, भरत के लिए स्थिति कुछ द्विविधाजनक अवश्य थी। एक तरफ मृत-पिता के आज्ञा-पालन का बोझ था तो दूसरी तरफ पितातुल्य ज्येष्ठ भ्राता राम के प्रति अलौकिक प्रेम का पारावार। इस परिस्थिति में स्वकर्त्तव्य का निर्णय लेना साधारण बौद्धिक क्षमता वाले व्यक्तियों के लिए असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्यमेव था। परन्तु, तुलसी की विवेचनात्मक प्रतिभा ने भरत का जो उज्ज्वल चरित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया, उससे वे स्वकर्त्तव्यपालन में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। एक तरफ वे पिता की आज्ञा का पालन भी करते हैं, दूसरी तरफ राम-विमुखता का आरोप भी उनपर नहीं लगता। प्रयागवासी मुनिवर भरद्वाज भरत के इसी धर्माचरण का अवलोकन कर उनका दर्शन राम-दर्शन के पुण्य का परिणाम मानते हैं।

मनुष्य को सदैव सत्य एवं न्याय से परिपूर्ण कर्त्तव्यों का पालन ही अपेक्षित है। इस तथ्य को गोस्वामीजी विभीषण के माध्यम से लोक सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। जब रावण दुर्बुद्धि के वशीभूत होकर कुकर्मों का परित्याग नहीं करता तो वह 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निधाना' कहकर उसे विरक्त करना चाहता है। परस्त्रीगमन को त्याज्य बताते हुए 'चउथि' चाँद की तरह उसे त्यागने का उपदेश देता है। अन्त में, हारकर अपने सहोदर रावण का परित्याग कर राम की शरण में चला आता है। इसमें उसकी बुराई नहीं, इसे भी रावण के समक्ष ही प्रकट कर देता है। इसी क्रम में युद्धरत राम रथारूढ़ रावण के आगमन की सूचना पाकर विभीषण को धर्मरथ का उपदेश देते हैं। यह धर्म विभिन्न कर्त्तव्यों का ही एक पुञ्ज है।

कर्त्तव्य पालन की यह भावना समस्त समुदाय के लिये स्पृहणीय है। इसकी अपेक्षा मात्र वर्गविशेष से ही नहीं होती। गोस्वामीजी ने राजा से लेकर प्रजातक में इसकी अनिवार्यता घोषित की है। इसीलिए राम लक्ष्मण का परितोष करते हुए उन्हें वन न जाकर राज-धर्म के पालन का उपदेश देते हैं। उत्तरकाण्ड में तुलसी ने कागभुशुण्डि के माध्यम से गरुड़ को उपदेश दिलाकर विभिन्न वर्ग के लोगों में कलिकालिक प्रभाव-वश अकर्मण्यता के प्रति कटु प्रहार करके उन्हे स्वकर्म-पथ पर अग्रसर होने के लिये परोक्षतया बाध्य किया है।

नैतिक मान्यताओं के परिपालनार्थ गोस्वामीजी सदैव कृतसंकल्प रहे हैं। आपका काव्य-प्रणयन प्रमुखतया नैतिक मर्यादाओं के ह्रासपूर्ण परिवेश में अपनी एक अपूर्वकृत-विशिष्टता संजोएं हुए हैं। मानस में स्थान-स्थान पर तुलसी ने अपने पाठक को इसकी शिक्षा दी है। बच्चों में माता-पिता के प्रति सम्मान तथा आज्ञापालन की भावना कहाँ तक होनी चाहिए, इसका निरूपण कवि ने राम तथा भरतादि के व्यवहारों में किया है। प्रतिदिन प्रातः काल उठकर माता-पिता तथा गुरुका पदवन्दन

रामादि भाइयों द्वारा कराकर समस्त बाल-जगत को इस दिशा में अग्रसर करने का प्रयास किया है। रामादिक भ्राताओं का इष्टमित्रों के साथ वन प्रदेश में प्रवेश कर मृगया का प्रयास करना, बच्चों को अन्योन्य प्रेमपूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं' जैसा निरूपण भी इसी तथ्य को इंगित करता है। राम द्वारा पावन मृगों का हनन, उन्हें लाकर राजा के सम्मुख प्रदर्शन तथा उनकी आज्ञा का अनुसरण बच्चों में अनुशासन-प्रियता एवं आज्ञापालकता का अवबोध समाविष्ट करता है। 'आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ महराजा'. जैसी पंक्तियों का समावेश बच्चों को स्वकार्य से पितृ-तुष्टि की ओर अभिमुख करता है।

पिता के आदेशानुसार राम का वनप्रयाण के लिए सहर्ष तैयार होना, सीता तथा लक्ष्मण का मूक अनुगमन, भरत द्वारा राज्य प्राप्ति के पश्चात् भी राम से सम्मिलनार्थ वनगमन तथा पुनः आप्ताज्ञा अयोध्या-आगमन मर्यादा-पालन के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। राम द्वारा पिता के वनादेश का श्रवण कर माता कौशल्या सहम सी जाती हैं। एक तरफ पुत्रस्नेह उन्हें अधीर कर देता है तो दूसरी तरफ धर्म-संकट में आबद्ध हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में पिता दशरथ एवं माता स्वरूप कैकेयी के सम्मिलित आदेश को जानकर 'जौं पितुमातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना' कहकर हमारे समक्ष आदर्श मर्यादा को मूर्त रूप दे देती हैं। वन-गमन के समय सब का समुचित परितोष, सुमन्त्र के समक्ष राम तथा सीता के सन्देश हमे नैतिक मर्यादाओं के अनुपालन की शिक्षा देते हैं। मार्ग-गामिनी सीता द्वारा राम के पदचिन्हों पर पैर न रखना भारतीय नारी की पारम्परिक अनुपाल्य मर्यादा का ही द्योतन करता है। वन में प्रवेश करने के उपरान्त सीता द्वारा अनसूया का पद-स्पर्श तथा अनसूया द्वारा आशीर्वचन प्रदान करना भारतीय मर्यादा पालन का ही प्रतीक है। अनसूया ने सीता को पति सेवा का उपदेश देते हुए सती स्त्रियों का जो स्वरूप स्पष्ट किया है वह भारतीय स्त्रियों केलिए एक शाश्वत शिक्षा के रूप में सदैव प्रकाशित रहेगा। इससे जनसामान्य सदैव प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा।

प्रत्येक अनुष्ठान में स्त्रियों का पति के वाम भाग में आसीन होना, सदैव उसके द्वारा पतिकाआज्ञानुसरण भारतीय महिलाओं के लिए प्रेरणा स्रोत ही बने रहेंगे। एतदतिरिक्त कवि ने अनेक सामाजिक मान्यताओं के परिपालनार्थ जनमानस को उद्बोधित किया है। उत्तर काण्ड में कलिवर्णन के प्रसंग में कविवर तुलसी ने अतिवादिता, मिथ्यावादिता, दम्भाचरण, कपटपूर्ण व्यवहार एवं कुवेशधारणादि विभिन्न वर्गीय व्यवहार पद्धति का निरूपण करते हुए उसकी कटु आलोचना की है। इसके पीछे एक सुधारात्मक दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। इन कुरीतियों की भर्त्सना करके कवि अन्य लोगों को इनसे विलग रखने का प्रयास करता है। साधु-संतों में व्याप्त संचयात्मक प्रवृत्ति पर व्यङ्ग्यात्मक प्रहार भी इस वर्ग को इससे विरक्ति का संदेश देता है।

भारतीय समाज में सदैव सम्मान्य गाय तथा विप्र समाज के समुचित स्थान का ध्यान भी मानस में रखा गया है। "बन्दउँ

प्रथम महीसुर चरना" कह कर आपने द्विज-विषयक अपनी वैयक्तिक भावना का निरूपण किया ही है, लक्ष्मण द्वारा "सुरमहिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन पर न सुराई', कहलाकर सबके समक्ष गोविप्र बृन्द को प्रताडित न करने का उपदेश दिया है ।

गुरु महिमा-निरूपण के विषय में तो कहना ही क्या है ? जिसके 'वचन' रूपी 'रविकर निकर' 'महामोह' रूपी 'तम पुंज' को सद्यः विनष्ट कर देने वाले हैं ऐसे गुरु की वन्दना करके गौरव को द्विगुणित करने में तुलसी कब चूक सकते हैं ? इसी लिए तो वे गुरु अपमान कर्ता शिवभक्त को घोर नरक गामी बना देते हैं। सहस जन्मों के पश्चात् भी उसका उद्धार दृष्टिगोचर नहीं होता । इस घोर यातना का श्रवण कर कौन ऐसा मन्दबुद्धि होगा जो गुरु अपमान जैसा घोर घृणित कर्म अपनाएगा। राम विरह में निमग्न भरत को आदेश देते हुए मुनि वशिष्ठ ने वेदविहीन विषयी ब्राह्मण तथा अनीतिज्ञ राजा को सोचनीय बताया है। धनिक होतें हुए कृपण वैश्य तथा अतिथि की सेवा न करने वाले व्यक्ति के साथ-साथ पराःपमानी शूद्र, पतिवंचक स्त्री एवं कर्म रहित गृहस्थ आदि को सर्वथा निन्द्य बताया है ।

इसी प्रकार बुद्धि की अस्थिरता अथवा क्रोधाविष्टता सदैव लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक होती है, परद्रोहिता तथा कामुकता में सर्वत्र शंका तथा सकलंकता का समावेश होता है. ब्राह्मणअहित वंश का नाशक सिद्ध होता है, दुस्संगी सदैव कुबुद्धि ही प्राप्त करता है- परत्रियागामिता से कभी सद्गति मिल नहीं सकती तथा नीतिज्ञता के अभाव में राज्य-संचालन सर्वथा असम्भव है, ऐसी उपदेशात्मक शिक्षा तुलसी ने कागभुशुण्डि के माध्यम से प्रस्तुत की है ।

इस प्रकार यदि हम सम्पूर्ण मानस का अवलोकन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इसमें कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ पाठक को कोई शिक्षा न प्राप्त हो । जीवन में साध्य सम्पूर्ण आचरणों के प्रति गोस्वामी जी ने सजग-दृष्टि रखकर स्थल-स्थल पर अपने पाठक को उनके प्रति जागरूक रखा है ।

काव्योद्देश्यों में निरूपित 'व्यवहारविदे' का प्रतिफलन सामाजिक अथवा वैयक्तिक कार्य-व्यापारों में ही परिलक्षित होता है । समसामयिक परिस्थितियाँ प्रत्येक काव्य-प्रणेता को अपनी तरफ आकर्षित किए बिना रह नहीं पातीं । आर्ष कवि तुलसी पर भी तत्कालीन परिस्थितियों की अमिट छाप थी । परिणामतः आपके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ राम चरित मानस में तत्कालीन राज्य व्यवस्था तथा तद्विषयक अन्य कार्यकलाप का स्पष्ट समावेश दृष्टिगोचर होता है । इसे ही हम राजनीति की संज्ञा से अभिहित करते हैं ।

राजनीति के चार चरण हमारे प्रचीन ग्रन्थों में निरूपित है । ये क्रमशः साम, दाम, दण्ड, और भेद नाम से जाने जाते हैं । इन्हीं चतुर्विधाओं का प्रतिपादन कर गोस्वामी जी ने अपने काव्य में इनको मान्यता प्रदान की है जैसा कि अङ्गद के कथन से स्पष्ट हो जाता है ।

साम दाम अरु दण्ड विभेदा,
नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा ।
नीति धर्म के चरन सुहाए ।
असिजिय जानि नाथ पहिं आए ।

साम नीति का प्रतिपादन कवि ने अनौचित्य

पूर्ण परस्त्रीगमन पर विभीषण के उपदेश के साथ-साथ भूतद्राहिता को नाशक-साधन के रूप में वर्णित किया है। प्रजापालन सम्बन्धी राजा के सम्पूर्ण निर्माणात्मक कार्य तथा सेवकों के प्रति वर्णित अधिकार इसी के अन्तर्गत आते हैं। इसका वास्तविक एवं सर्वाङ्गीण प्रतिफलन रामराज्य के वर्णन में दृष्टिगत होता है। सर्वविध सुखद शासन, विग्रह विहीन जीवन, वेद विहित मार्ग का अनुसरण करते हुए आश्रम धर्म का पालन यदि इसके प्रधान अंग हैं। ये सब राम राज्य में स्पष्ट रूपेण वर्णित हैं। स्वास्थ्यपूर्ण जनजीवन, धर्मपरायणता, त्रयताप-राहित्य तथा सुसम्पन्निशालिता रामराज्य की राजनीतिक सफलता के प्रमाणक हैं। दिग्विजयी राजा राम की एकछत्रता का परिचय हमें 'भूमि सप्त सागरमेखला। एक भूप रघुपति कोशला' से प्राप्त होता है, जो कि सफल राजनीति का परिचायक है। राजा दशरथ तथा जनक की शासन पद्धति में इसी राजनीति के दर्शन होते हैं।

बनवासी राम तथा खर-दूषण का सन्धि-विषयक प्रस्ताव एवं प्रहस्त द्वारा उपदिष्ट राम-रावण के सम्मिलन का प्रस्ताव दामनीति का द्योतन करता है। दण्ड नीति के अन्तर्गत प्रजा को सुव्यवस्थित जीवन प्रदान करने के लिए ग्राह्य दण्ड-विधान का समावेश स्वीकार्य है। पथ भ्रष्ट-लोगों के सुधारार्थ अथवा अपकारियों से त्राणार्थ इसका प्रयोग वांछनीय है। सूर्पणखा ताड़न एवं बालि-रावण-बध में इस नीति के लक्षण हमें परिलक्षित होते हैं। इसी क्रम में राम ने मुनिजनों के लाभार्थ पृथ्वी को 'निसिचरहीन' करने की प्रतिज्ञा की है। सीता का अपकार करने वाले जयन्त को एक-नयनहीन कर देना राम की दण्डनीति का ही प्रतिपादक है।

भेद नीति का समावेश हमें सर्व प्रथम कैकेयी-मन्थरा संवाद में प्राप्त होता है। राम के वन-गमन के अवसर पर राजा जनक द्वारा अयोध्या में गुप्तचरों का प्रेषण तथा भरत की मनोदशा का अध्ययनादि कूटनीति के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। जब रावण औषधिग्रहणार्थ जाते हुए हनुमान के विषय में अवगत होता है तो तत्क्षण ही कालनेमि को मार्ग में छलपूर्वक अवरोध उत्पन्न करने के लिए प्रेषित करता है। इसी प्रकार विभीषण जब राम से मिल जाता है तो रावण उसकी कार्य पद्धति का अध्ययन करने के लिए अपने चरों को भेजता है। ये सब उच्चकोटि की भेद नीतियों के उदाहरण हैं। इस क्रम में यदि हम मानस में वर्णित सम्पूर्ण राजाओं की राज्य व्यवस्था का अवलोकन करें तो स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है कि दशरथ, जनक, रावण तथा राम के शासन में राजनीति का परिष्कृत रूप था। राजाओं का मन्त्रिपरिषद तथा दौत्य कर्मादि की व्यवस्था इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। छल-छद्मादि पूर्ण बदले की भावना, अतिसारल्य की अवहेलना तथा शठेशाठ्यम् का समावेश राजनीतिक व्यापकता को संदर्शित करते हैं।

इन सम्पूर्ण चरणों में राजनीति का पालन प्रत्येक राजा के लिये आवश्यक है। ऐसा गोस्वामीजी ने स्वयं कहला दिया है। 'राजु कि रहइ नीति बिनु जाने' का उपदेश भुशुण्डिजी ने गरुड़ के प्रति किया है। इस राजनीति की सार्थकता गोस्वामीजी ने लोक-भावना के ही सन्दर्भ में स्वीकार किया है। राजा को स्वतन्त्र शासक रूप में स्वीकार करते

हुए भी उन्होंने उसे राजनीतिक मान्यताओं के परिवर्तन में सक्षम नहीं स्वीकारा है। इस लिये रामराज्याभिषेक के अभिलाषी राजा दशरथ 'जो पाँचहि मत लागै नीका' कहकर जनता की स्वीकृति चाहते हैं।

अन्ततः समाकलित रूप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामीजी ने अपनी अमर कृति मानस में लोकव्यवहार्य शिक्षा एवं राजनीति का सर्वाङ्गीण समावेश किया है, जिसका अवलोकन हम सर्वथा यथोचित रूप में कर सकते हैं।

—सहायक अध्यापक,
सुभाष उ० मा० विद्यालय,
कन्धईपुर,
सुलतानपुर, (उ० प्र०)

—०—

सखि, यह कैसी भूल भई
लिखन लगी पाती पिये को लै दाड़िम कलम नई।
भूली निज सरूप हौं तुरत हि, बन घनश्याम गई॥
बिरह–बिकल बोली पुकार–'हा' राधे! कित गयी
पाती लिखी–'प्रिय हृदयेश्वरी' सुमधुर सु रसमयी।
प्राणाधिके बेगि आओ तुम नेह–कलह–विजयी।"
ठाढ़ हुवे आय मनमोहन, मो तन दृष्टि दई।
हंसे ठठाय, चेतना जागी, हौं सरमाय गई॥

—हनुमान प्रसाद पोद्दार

तुलसी

—स्व० डॉ० देवराज उपाध्याय

तुलसी के प्रति; अभी दो पूर्व वक्ताओं ने तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में बहुत ही दिव्य, नेत्रोन्मूलक तथा विचारोत्तेजक और मनोरंजक बातें कहीं। कहा गया कि तुलसी यहीं आरा के समीप, रघुनाथपुर में आये थे और यहाँ चतुर्मास व्यतीत किया था, मैं नहीं जानता कि इस बात में कहां तक तथ्य है। संभव है कि वे रघुनाथपुर आये हों और रघुनाथपुर जब आये थे तब यहां आरा तक आ जाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मनुष्य में एक बड़ी कमजोरी होती है कि वह अपने को किसी बड़ी महान् आत्मा के संबंध में जोड़ देना चाहता है और उसके लिए कहीं से कुछ न कुछ प्रमाण एकत्र कर ही लेता है। सही बात तो यह है कि यदि मनुष्य थोड़ी तटस्थता से काम न ले और अपने स्वार्थ की सिद्धि को ही अपना ध्येय बनाये तो उसके लिए कुछ न कुछ प्रमाण एकत्रित कर ही लेता है। कालिदास एक बड़े महान् कवि थे। उनको उज्जैन, कश्मीर, गोरखपुर या कहीं भी रखा जा सकता है और उसके समर्थन में प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है। ऐसे अन्वेषणों का भी अपना महत्त्व है और सत्य की खोज की दृष्टि से यह प्रवृत्ति बहुत उपादेय हो सकती है। पर अनुभव यही बताता है कि उससे आलोच्य कवि के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर कोई उपयोगी प्रकाश नहीं पड़ता। तुलसी के जन्म-स्थान के बारे में इसी प्रवृत्ति के कारण बहुत से व्यर्थ के वाग्जाल और वितंडावाद की सृष्टि हो गयी है और इसके चलते तुलसी के वास्तविक रूप का प्रकाश तो कहां तक हो सकेगा, वह मलिन ही अधिक; होता गया है। यह प्रवृत्ति हमलोगों ने भारतीय साहित्य और संस्कृति के विदेशी अध्ययन कर्त्ताओं के द्वारा विरासत में पाई है। विदेशियों ने भारतीय साहित्य का अवश्य अध्ययन किया है और उनके परिश्रम के द्वारा बहुत सी छिपी हुई बातें सामने आयी हैं। परन्तु जब एक विदेशी किसी भारतीय साहित्य का अध्ययन करता है तो उसमें आलोच्य वस्तु के प्रति उसकी सुरुचि संतुष्ट होती है। यदि यह नहीं होता तो वह अध्ययन जैसे नीरस कार्य की ओर अग्रसर ही क्यों होता? लेकिन उसका इन्टरेस्ट उसी तरह का होता है। जिसको म्युरिजियम इन्टरेस्ट कह सकते हैं। तमाशा देखने की प्रवृत्ति। वह उस साहित्य को उसी दृष्टि से देखता है जिस दृष्टि से मनुष्य तमाशा देखने के लिए अग्रसर होता है। उसमें काट छांट, दोष निरूपण की प्रवृत्ति अधिक होती है। एक मां भी अपने बालक में रुचि लेती है और उसमें डाक्टर भी रुचि लेता है। परन्तु दोनों रूचिओं में बहुत भिन्नता होती है। डॉक्टर की रुचि एक्सपेरिमेंटलिस्ट अर्थात् प्रयोग कर्ता की अभिरुचि होती है। परन्तु मां की अभिरुचि में एक तरह की आत्मीयता होती है और यह कल्पना की ही बात हो सकती है कि बालक को मां अधिक जानती है या डॉक्टर। विदेशियों का भारतीय साहित्य का अध्ययन बहुत कुछ

डाक्टरी अध्ययन की तरह होता है। वे बाहरी बातों का अधिक महत्त्व देते हैं। लेकिन यदि भारतीय संस्कृति में रुचि लेने वाला भारतीय विद्वान् या सहृदय किसी भारतीय महान् आत्मा के अध्ययन में प्रवृत्त होता है तो उसमें सहृदयता की मात्रा अधिक होती है। वह बाहरी बातों का अध्ययन न कर वास्तविक अन्तरंग अध्ययन पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है। इसलिए, मेरा अपना ख्याल है कि जीवन-वृत्त के तथ्यों के पता लगाने से अधिक कवि की उपलब्ध कृतियों पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। वे कहाँ उत्पन्न हुए, कहाँ-कहाँ गये इन बातों का कोई अधिक महत्त्व नहीं होता। आखिरकार बहुत सी ऐसी कविताएं हैं जिनके रचयिताओं का नाम तक हमें मालूम नहीं है। फिर भी इस ज्ञानाभाव के कारण उनकी कविता के रसास्वादन में कुछ भी बाधा नहीं उपस्थित होती। पाठक बड़े मजे ले लेकर उनका रसास्वादन करता है।

तुलसी वहां पहुँच गये थे जहां तक मार्क्स भी नहीं गये थे। तुलसी राष्ट्रवादी थे। उनके द्वारा निरूपित राजतंत्र वास्तविक लोकतंत्र था, इत्यादि बातें किसी भी कवि के बारे में कही जा सकती हैं : विशेषतः उसके, जो कवि दिवंगत हो गया हो और उसे बुलाकर अपने कथनों के समर्थन में वेरीफिकेशन नहीं लिया जा सकता हो, और यदि वेरीफिकेशन हो भी तो भी उसका क्या महत्त्व है। कवि ने जिस वक्त कविता की थी उस समय में और आज में बहुत परिवर्तन हो गया है। कविता करने वाला कवि और उसी पर विचार करने वाला व्यक्ति एक ही नहीं होता। इस तरह विचार करने वाले कवि तथा साधारण पाठक में किसी तरह का अन्तर नहीं होता और अपनी कविता के संबंध में अपने विचारों को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। इसलिए मेरा अपना ख्याल है कि इस तरह के अध्ययन की प्रवृत्ति को अधिक उत्साहित नहीं करना चाहिए।

तुलसी महान् थे। कम से कम उनकी पुस्तक रामचरितमानस के प्रति द्वन्द्व करने वाली पुस्तकें विश्व साहित्य में भी मुश्किल से मिल सकेंगी। परन्तु प्रश्न तो यह है कि तुलसी को हम क्यों महान् कहते हैं और महानता क्या है? तुलसी इसलिए महान् थे कि वे श्रेष्ठ कवि थे? इनकी काव्य कला में औरों से अधिक महानता के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं? नहीं। उस युग में ही बहुत से ऐसे कवि मौजूद थे जिनके सामने तुलसी का काव्य फीका दिखायी पड़ता है। तब तुलसी क्या इस लिए महान हैं कि उनकी कविताओं के द्वारा उस समय की कुरीतियों के सुधार में अथवा संस्कृति की रक्षा में सर्वाधिक सहायता मिली। यह भी बात नहीं। बहुत से ऐसे व्यक्ति थे जो इस दृष्टि से तुलसी से बाजी मार ले जाते हैं। तो क्या वे अर्थशास्त्री थे? जीवन के आर्थिक पहलुओं पर उनके द्वारा अत्यधिक प्रकाश पड़ा है? यह भी बात नहीं। तब क्या उनमें अधिक पांडित्य तथा ज्ञान प्रकर्ष की बातें दिखाई पड़ती हैं? यह भी बात नहीं। लेकिन फिर भी तुलसी सर्व महान् थे यह बात आज सर्व स्वीकृत हैं? मैंने कई बार अपने से तुलसी की इस महानता के कारण जानने का प्रश्न उठाया है, और यदि प्रश्न सच्चे हृदय से मनुष्य के हृदय में जागरित हो तो वहाँ पर स्वयमेव उसका उत्तर भी बनता जाता है। जो उत्तर मेरे हृदय में बना है, उसका सार तत्त्व यही है कि तुलसी अन्य लोगों से किसी भी एक बात में बढ़े चढ़े नहीं है, परन्तु साथ ही यह भी सही है कि वे

किसी से किसी बात में पीछे भी नहीं हैं। संभव है कि एक दृष्टि से वे किसी बात में पीछे से पड़े हुए दीख पड़ें, पर वह कभी दूसरे गुणों के आधिक्य से पूरी हो जाती है। कहने का अर्थ यह कि तुलसी सब ले देकर महान् हैं। वे सब दृष्टि से सबके साथ सब अवस्थाओं में साथ देने की ओर स्फूर्ति प्रदान करने की सामर्थ्य रखते हैं। तुलसी की महत्ता इसमें है कि वे साधारण हैं। इतने साधारण कि वही साधारणता उनकी असाधारणता हो गयी है। बस, तुलसी के संबन्ध में इतनी ही बातें कहनी हैं। परन्तु यह बात इतनी गूढ़ है, इसीको समझाने के लिए या हृदयंगम करने के लिए ज़रा स्थिर होकर विचार करने की आवश्यकता है। पंत ने लिखा है कि

'जीवन के नियम सरल है पर है अति गूढ़ सरल पन"

जीवन सरल अवश्य है परन्तु यही सरलता उसकी निगूढ़ता बन गयी है। अतः तुलसी को साधारणता को समझना आवश्यक है।

न जाने क्यों मैं जब किसी समस्या पर विचार करने लगता हूँ तब मनोविज्ञान का भूत या उसकी छाया मेरे सामने आ जाती है। कमलेश्वर का एक उपन्यास है, 'तीसरा आदमी'। उसमें एक दम्पति अर्थात् पति और पत्नी की कथा है। पति के हृदय में पत्नी के प्रति एक मित्र को लेकर अविश्वास के कीटाणु घर कर गये हैं। फिर भी वह अपने दाम्पत्य जीवन को बिखरने नहीं देना चाहता। पर वह देखता है कि जब वह कभी अपने जीवन की किसी समस्या पर विचार करने लगता है तो तीसरे व्यक्ति की छाया उसके सामने आ जाती है। वह बाहर से अपनी पत्नी से दरवाजा खोलने के लिए खटखटाता है, पर उसे लगता है कि वह तीसरा आदमी पहले ही दरवाजा खटखटाकर उसकी पत्नी से मिल चुका है और उन सारी परिस्थितियों से गुजर चुका है, जिन परिस्थितियों से उसे गुजरने का अब अवसर आयेगा। उसी तरह मेरे साथ भी मनोविज्ञान की छाया लगी रहती है। जब कभी मैं कोई पुस्तक पढ़ने के लिए उठाता हूँ तो ऐसा लगता है कि मनोविज्ञान उसे पहले ही खोलकर पढ़ चुका है और मैं पुस्तक को न देखकर मनोविज्ञान को देखने लगता हूँ। यह प्रवृत्ति अच्छी हैं या बुरी मैं यह नहीं कहता। केवल मैं ने अपनी वस्तु स्थिति का उल्लेखमात्र किया है।

तुलसी पर विचार करते समय साहचर्य नियम के आधार पर उन कवियों की याद आती है जिन्होंने रामकथा के आधार पर अपने कृतित्व बनाया हैं। तुलसी ने रामकथा कही है। कालिदास ने भी। लङ्का-विजय प्राप्त करने के बाद जब राम विमान से अयोध्या को जाने लगे तो बीच में समुद्र पड़ा। उसे देखकर राम सीता से समुद्र का वर्णन करने लगे। समुद्र का वर्णन तो उन्होंने बहुत विस्तार से किया है, परन्तु यहाँ एक ही दो श्लोक का उद्धरण दिया जा रहा है, जो हमारे कथन के समझने में सहायक हो सकता है।

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्मा-
द्विवृद्धमत्राश्नुवते वसूनि,
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति
प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन।

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं
स्थितं दशव्याप्तदिशो महिम्ना
विष्णोरिवास्यानवधारणीय
मीदृक्तयारूपमियत्तया वा॥

अर्थ यह है कि सूर्य की किरणें यहीं पर गर्भ धारण करती हैं अर्थात् यहीं पर मेघों की सृष्टि होती है, रत्नों का निर्माण भी यहीं पर होता है। यहीं पर बड़वानल नामक अग्नि भी रहती है जिसका जल ही भोजन है, और यहीं से नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। समुद्र इन अवस्थाओं को पार करता हुआ दशो दिशाओं को घेरकर स्थित है। यह विष्णु की तरह है। जिस तरह विष्णु के संबन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि ये इतने ही हैं और इसी तरह के है, उसी तरह समुद्र का गुण भी वर्णन नहीं किया जा सकता। 'मैं इन्हीं शब्दों को उधार लेकर तुलसी के संबन्ध में यह कहना चाहता हूँ कि तुलसी भी विष्णु या समुद्र की तरह अनवधारणीय है। उनके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका महत्त्व इतना ही है और इसी तरह का है।

मन में प्रश्न उठता है, कि ऐसा क्यों है? तुलसी अवर्णनीय क्यों हैं? प्रारम्भ से लेकर अब तक, इन तीन सौ चार सौ वर्षों के बीच इनका अधिकार जन मानस की भावात्मक सत्ता पर बढ़ता जा रहा है। एक व्यक्ति को सब समय के लिए भुलावे में रखना तो संभव है, कुछ व्यक्तियों को थोड़े समय के लिए तो भुलावे में या गलतफहमी में रखा जा सकता है पर सब व्यक्तियों को सब समय के लिए भुलावे में रखना असंभव है। तुलसी इस असंभव कार्य को संपन्न करने में क्यों सफल हुए, यही तो मुख्य प्रश्न है।

इसके लिए तुलनात्मक अध्ययन के सिवा हमारे पास दूसरा कोई चारा नहीं है। एक बार मुझे सूर या तुलसी समारोह के अवसर पर बोलने का अवसर आया तो मैंने तुलसी को सूर से श्रेष्ठ बतलाया। कारण देना ही था। मैंने कहा मेरे सामने दो विद्यार्थी परीक्षा के लिए उपस्थित हैं। एक विद्यार्थी है जिसको एक विषय में ९० प्रतिशत अंक मिल जाते हैं, परन्तु दूसरे विषय में उसे बहुत ही कम अंक मिलते हैं, यहाँ तक कि किसी किसी में वह अनुत्तीर्ण हो जाता है। दूसरा विद्यार्थी है, जिसे किसी भी विषय में ९० प्रतिशत मार्क्स तो नहीं मिलते परंतु सब विषयों में उसे द्वितीय श्रेणी के अंक प्राप्त हो जाते हैं। जब पुरस्कार देने का अवसर आयगा तो इस दूसरे विद्यार्थी को ही श्रेय प्राप्त होगा, प्रथम विद्यार्थी को नहीं जिसे एक विषय में बहुत अच्छे, आशातीत, अंक प्राप्त हो गये हैं। तुलसी इसी दूसरी श्रेणी में आने वाले परीक्षार्थी हैं। सूर को वात्सल्य-रस या वियोग शृंगार के वर्णन में अद्वितीयता भले ही प्राप्त हो, पर दूसरी दृष्टियों से वे उतने खरे प्रमाणित नहीं होते। अपने शृंगार वर्णन के अंक में सूर इतने आगे बढ़ जाते हैं कि उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि समाज पर उसका कैसा प्रभाव पड़ेगा- अच्छा या बुरा। परन्तु तुलसी को सदा लोक-संग्रह अथवा समाज-सुधार की ओर ध्यान रहा है। इन्होंने कोई ऐसी बात नहीं कही है जिसका प्रभाव समाज पर अवांछनीय पड़े।

लगे हाथों, तुलसी को अपने तत्कालीन युग के अन्य कवियों के सामने खड़ा कर भी देख लिया जाये। इस युग में तीन या चार कवि पाये जाते हैं-सूर, केशव, कबीर, मीरा। तुलसी में सामाजिक संस्कार की भावना इतनी प्रबल थी कि कहीं कहीं रामचरित मानस में ऐसा लगता है कि सामाजिक संगठन को कायम रखने के लिये यह सूक्तियों, नीतियों और उपदेशों का संग्रहमात्र हैं और अपने पांडित्य के प्रदर्शन के लिए ही उनकी अवतारणा की गयी हो। यह बात केशव में भी है। केशव भी शास्त्रीय प्रमाण के उद्धरण करने में तथा वेद शास्त्रों की दुहाई देने में किसी से पीछे नहीं हैं। यहाँ तक कि दशरथ के मरणोपरांत कौशिल्या को वैधव्य जीवन के सम्बन्ध में उपदेश देने लगे हैं और विधवा के धर्म-पालन का उल्लेख करने लगे हैं। मतलब कि इस दृष्टि से तुलसी और केशव में कहीं-कहीं कुछ समता दिखाई पड़ती है। पर दोनों में अन्तर हैं। केशव के सारे उद्धरणों का उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदर्शन का मालूम पड़ता है, मानों वे अपने पाठकों पर अपने पांडित्य का रोब गाठना चाहते हों। इसमें उनका अहंकार ही प्रबल मालूम पड़ता है, परन्तु तुलसी जब शास्त्रीय प्रमाणों का अवलम्ब लेते हैं तो उसमें परोपकार का उद्देश्य ही प्रमुख मालूम पड़ता है। इस दृष्टि से केशव और तुलसी में महान् अन्तर हो जाता है। केशव और तुलसी पर विचार करते हुए एक और बात सामने आती है। केशव का कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता है।

"कवि को देन न चहै विदाई
पूछे केशव की कविताई।"

यह उक्ति इसी भावना से प्रेरित होकर चल निकली होगी। तुलसी की कविता भी कहीं-कहीं पर कम कठिन नहीं है। उसको भी समझाने के लिए माथा-पच्ची करने की आवश्यकता पड़ती है। पर उस परिश्रम के बाद जो तथ्य हाथ लगता है उसे पाकर पाठक अपने सारे परिश्रम को भूल जाता है, यहाँ तक कि वह परिश्रम ही उसके आनन्द में श्रीवृद्धि का कारण हो जाता है। परन्तु केशव के काव्य में इतने ऊहापोह के बाद जो तथ्य हाथ में आता है वह महज साधारण सा। गोताखोर अपने प्राणों की बाजी लगाकर समुद्र के तल में प्रवेश करता है पर जब मोती तथा रत्नों को लेकर ऊपर आता है तो उसका हृदय आह्लाद से पूरित हो जाता है और उसके हृदय पर उठाये हुए खतरों का चिन्ह भी नहीं रह जाता। यदि उसे घोंघे या तृण या सीप ही हाथ लगते तो उसके हृदय की क्या गति होती इसकी कल्पना सहज है। तुलसी के काव्य के तल में बैठने से रत्न हाथ लगते हैं पर केशव के काव्य में यह तो नहीं कहा जा सकता कि तृण ही हाथ आते है पर हाँ, उतने दिव्य रत्नों की उपलब्धि नहीं होती।

यह बात जरूर है कि आगे आने वाला युग, जिसे रीति काल कहते हैं, उसने तुलसी का इतना आदर नहीं किया जितना सूर का या केशव का। वह युग तो एक तरह से तुलसी को भूल ही गया। इसके कितने मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि तुलसी नें जिस विषय पर अपनी प्रतिभा को इतना केन्द्रित किया उसको इतनी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया कि आगे आने वाले

कवियों को उस ऊँचाई तक पहुँचने की हिम्मत ही नहीं रह गयी। अब क्या खाकर तुलसी की हम समता कर सकते हैं इस तरह की भावना हो गयी और उन लोगों ने नया मार्ग पकड़ा जो एक तरह से अछूता हो। आज हम तुलसी का अधिक आदर करने लगे हैं। यह देखकर मुझे ऐसा लगता है कि यह ठीक उसी तरह का व्यवहार हैं जिस तरह एक बालक अपने पिता से प्रभाव नहीं ग्रहण कर अपने पितामह से अधिक प्रभावित होता है। उसमें पितृ-द्रोह-ग्रंथि जिसे "इडिपस कंप्लेक्स" कहते हैं, उग्र रूप में जागरित होती है। इसलिए वह पिता की अवहेलना कर अपने पितामह की ओर अधिक सश्रद्ध होता है। यह भी बात सही है कि जहाँ तक लोक-हृदय के भाव-सत्ता पर अपना प्रभाव जमाये रखने तथा यशस्वी होने का प्रश्न है तुलसी सूर और केशव से बहुत आगे हैं। आप कहीं पर जाइये। वहाँ पर सूरसागर भले ही नहीं मिलता हो; रामचन्द्रिका से लोग भले ही अवगत न हों, पर रामचरित मानस से अवश्य परिचित होंगे। सब कुछ होते हुए भी जनता मानों तुलसी को अपने हृदय में रखकर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रही है।

अब रह जाते हैं दो कवि-कबीर और मीरा। कबीर में विद्रोह की भावना बड़ी उग्र है। इसमें कोई सदेह नहीं। उन्होंनें समाज को झकझोर दिया है। मंदिर, मस्जिद, पंडित और मुल्ला-सबको उन्होंने खूब लथेड़ा है। पर, जहाँ तक साहित्यिकता का प्रश्न आता है वहाँ वे तुलसी के सामने पासंग में भी नहीं आते। उनके द्वारा साहित्य की श्रेय-वृद्धि में बहुत ही कम सहायता मिली है। यह बात सर्वविदित है। तुलसी में विद्रोह का भी साहस था। उन्होंने प्रचलित संस्कृत भाषा को छोड़कर जनभाषा को अपने काव्य का आश्रय बनाया। पंडितों के बीच काशी में रहकर इतना बड़ा साहस दिखाना कम गौरव की बात नहीं है। हाँ, कबीर ने भी इसी काशी में रह कर इस दृष्टि से तुलसी से अधिक साहस का परिचय दिया था। साहस अवश्य एक अद्भुत गुण है। पर साहस और साहस में भी अन्तर होता है। अंग्रेजी में एक कहावत है 'डिसक्रिशन इज द बेटर पार्ट ऑफ़ बेलर' अर्थात् साहस में विवेक का भी पुट होना चाहिए। विवेक-हीन साहस पत्थर पर चोखे तीर चलाने के समान व्यर्थ प्रयास होता है। कबीर का साहस विवेकहीन था। तुलसी का साहस इतना उग्र भले ही नहीं मालूम पड़े, विवेक के द्वारा उसकी पूर्ति हो जाती है। आज भी तुलसी कबीर से अधिक लोकप्रिय हैं।

तुलसी ने एक बात और भी बहुत सूझ बूझ कीकी। पता नहीं कि इन्होंने यह काम अपने विवेक और बुद्धि की प्रेरणा से किया अथवा अपने सहज स्वभाव के आधार पर। उनके द्वारा यह कार्य तुरन्त सम्पन्न हो गया जिसका उन्हें ज्ञान भी नहीं था। मनुष्य बराबर सांस लेता रहता है। श्वास और प्रश्वास की क्रिया निरन्तर उसके द्वारा होती रहती है। पर उसको पता भी नहीं चलता। उसी तरह संभव हैं कि तुलसी के द्वारा इस कार्य की सिद्धि हुई, पर उसका उन्हें ज्ञान तक न हो। तुलसी ने कभी भी अपना सम्प्रदाय या पंथ चलाने की चेष्टा नहीं की। कबीर पथ है। उसका एक अलग संप्रदाय ही है। इसी तरह अनेक सम्प्रदाय हैं। उन्होंने बड़े आदर्श के प्रचार और समान संस्कार के उद्देश्य को लेकर अपने संप्रदाय की स्थापना की, संघ का निर्माण

किया। पर उसकी जो दुर्गति हुई और जिस भयानक रूप में उनकी परिणति हुई इससे हम सभी परिचित हैं। पर तुलसी ने ऐसा कभी नहीं किया। शायद वे मानव स्वभाव तथा मनोविज्ञान के सच्चे पारखी थे। कबीर ने सहज साधना पर बहुत ही जोर दिया है। पर आश्चर्य की बात है कि उनके मत या सम्प्रदाय के लोगों में जितनी कट्टरता अथवा रूढिवादिता आ गयी वह बहुत कम देखने में आती है। ऐसा लगता है कि कबीर का चेतन मस्तिष्क सहज साधना पर विश्वास करता हो पर उनका अचेतन ठीक इसके विपरीत आरोपण तथा आग्रह की प्रवृति को पकड़े हुए चलता हो। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि हम ऊपर से जिन बातों पर बहुत आग्रही होते हैं ठीक इसी के विपरीत हमारे अचेतन की धारा प्रवाहित होती रहती है। इसलिए कभी-कभी कबीर की बातों में बहुत ही अक्खड़ता तथा लक्कड़ तोड़ता के दृश्य देखने को मिलते हैं। उन्होंने पंडितो और मुल्लाओं को जिस उग्रता के साथ फटकारा है- किसीकिसी को कुत्ता तक कह दिया है-यह किसी भी मनोविज्ञान-वेत्ता को सतर्क हो जाने के लिए प्रेरित करता है।

ठीक इसके विपरीत तुलसी में कहीं-कहीं समाज-संस्कार की बातों पर बहुत अधिक जोर दिये जाते हुए दीख पड़ता है। यहाँ तक कि रामचरितमानस में तो कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि यह एक महाकाव्य न होकर मनुस्मृति का ही दूसरा संस्करण हो। वेद और शास्त्र के उद्धरणों की भी भरमार है। परन्तु इसमें कबीर वाली उग्रता नहीं आयी है। ऐसा लगता है कि उनका चेतन और अचेतन दोनों में पूर्ण सामंजस्य नहीं तो अधिकांश में सामंजस्य है अवश्य। इसीलिए उनमें कहीं भी असंतुलन नहीं है। उनकी वाणी में तुलसी का आत्मिक तेजस पूर्ण रूप से उजागर है। यदि क्लैसिकल काव्य का आदर्श देखना हो तो रामचरितमानस को छोड़कर और कहीं भी जाने की जरूरत नहीं है। आखिरकार, क्लैसिकल पोएट तो वही होता है न जिसका हृदय और मस्तिष्क यथास्थान अपने सुसंगठित रूप में अवस्थित हो। सब अपने-अपने कर्तव्य की सीमा पर खड़े होकर अपनी ड्यूटी ईमानदारी से बजा रहे हों। तुलसी इसके आदर्श उदाहरण हैं। ऊपर कहा गया है मस्तिष्क और हृदय। इसी को आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में कह सकते हैं चेतन और अचेतन। चेतन मस्तिष्क और अचेतन हृदय। इस रूप में यदि कबीर पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि उनका चेतन उनके मस्तिष्क से और भी ऊपर आकाश की ओर उड़कर चला गया है। आकाश का मतलब आप यहाँ पर समाज समझ लीजिए। कबीर में ऐसा लगता है कि कोई वृक्ष अपने मूल जड़ से उत्पादित हो बाहर सड़क पर फैल गया है, और सड़क की भूमि से अपने प्राण रसका संचय कर रहा है, अपनी मूल जड़ से कम। तुलसी का वृक्ष अपने मूल-आधार स्वम्भ पर खड़े होकर वहीं से प्राण रस का संचय करता हुआ विश्व पर फैलकर उसे छाया की शीतलता प्रदान कर रहा है और अपने फलों के भार से नम्र होकर लोगों की क्षुधा-तृप्ति कर रहा है। रह गयी प्यास तृप्ति की बात। वह आस पासके सरोवरों के द्वारा तृप्त की जा सकती है। कबीर के काव्य से ऐसा लगता है कि मनुष्य को खाद्यान्न तो मिल जाता है और वह उसे खाकर तृप्ति का भी अनुभव करता है, पर उससे उसे स्वास्थ्य-लाभ नहीं होता। उस कच्चे उनके

अन्न को खाकर मनुष्य बहुत दिनों तक स्वस्थ नहीं रह सकता। वह कुछ दिन तक बहुत उछल कूद कर ले सकता है पर दीर्घ जीवन और स्वास्थ्य की निरंतरता उसे प्राप्त नहीं होती।

अब मीरा पर आइए। मीरा अवश्य तल्लीन कर लेती हैं। शायद तल्लीनता की दृष्टि से वह सूर से बाजी मार ले जाती हैं। पर, उन्हें लोकलाज की परवाह नहीं थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'संतन ढिग बैठ-बैठ लोक लाज खोयी'' और तुलसी हैं, जो सब कुछ छोड़ सकते हैं पर लोक-संग्रह को नहीं। लोक-संग्रह के लिए वे कहीं-कहीं ऐसी भी बातें कह सकते हैं कि लोगों को आज खटक सकती है। यही लीजिए न। तुलसी ने कह तो दिया कि पति जड़ हो, रोगी हो, वृद्ध हो, दीन हो, हीन हो, बधिर हो, अंधा हो, ऐसे पति के अपमान करने पर नारी नरक की अधिकारिणी होती है। भला, आज के आधुनिक प्रशिक्षित व्यक्ति इसको कभी स्वीकार करेंगे? परन्तु, तुलसी के लोक-संग्रह की बात यहाँ पर तुलसी के द्वारा इस तरह की अतिशयोक्ति कहला रही है। तुलसी जानते थे कि संयुक्त परिवार की व्यवस्था यदि छिन्न भिन्न हो गयी तो जीवन चौपट हो गया, और संयुक्त परिवार की नींव पति और पत्नी के सौहार्द और सौमनस्य पर खड़ी होती है। इसलिए, वे किसी कीमत पर भी इसे हिलने नहीं देना चाहते थे। सच पूछिए तो आज जीवन में जो इतनी विवशताएं एवं विडम्बनाएं दिखलायी पड़ती हैं वे इसी के चलते कि पारिवारिक जीवन बिखरता चला जा रहा है।

मीरा अपने भगवान् को चाकर के रूप में भी रख सकती थीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "म्हानो चाकर राखो जी रामलला" को। तुलसी अपने को राम का चाकर कहते थे। उन्होंने कहा है "सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि।" अपने को सेवक और भगवान् को स्वामी कहते थे। ध्यान देने पर एक बात स्पष्ट हो जायगी। मीरा का चाकर नाममात्र का चाकर तो है पर वह स्वामी से भी बढ़कर है। नौकर नौकर में भी भेद होता हैं। मैंने बहुत से ऐसे सेवकों को देखा है जो बहुत तत्परता पूर्वक सेवा में लगे रहते हैं। अपने स्वामी के सुख सुविधा का सदा ध्यान रखते हैं और उसकी आज्ञाओं के पालन में सदा हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। पर उनकी मुद्रा सेवक से अधिक एक गार्जियन की, अभिभावक की होती है। वे सेवा करते हुए भी मनसा अपने को सेवक से कुछ ऊपर समझते हैं। वही परिस्थिति मीरा के रामलला की है। वे चाकर रहें, पर मीरा उनको छड़ी से पीट नहीं सकती, ओखल में बाँध नहीं सकती, डाँट नहीं सकती, जैसा सूर की यशोदा करती है। मीरा रहस्यवादिनी हैं। उनके भाव तक वही पहुँच सकता है जो व्यावहारिक जीवन में भी रहस्यवादी हो। मीरा का प्रभु के साथ जहाँ सम्मेलन होता है वह बिन्दु सबके लिए सहज प्राप्य नहीं है। आधीरात को प्रेम-नदी के तीर पर ही उनके प्रभु के दर्शन होते हैं। सूर के प्रभु का तो सोते, जागते, हंसते, खेलते, चोरी करते, अचगरी करते भी दर्शन हो जाते हैं। उन्हें 'अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाँछ पर' नचा सकती है। वे इतने सस्ते हो जाते हैं। पर तुलसी के भगवान दिन में सूरज की रोशनी के नीचे दिखाई पड़ सकते हैं पर उसके लिए भक्त को भी थोड़ा सा परिश्रम करना पड़ता है। भक्त जरा सा हाथ उठाता

है तो भगवान् उसके आगे बढ़कर उसकी बांह पकड़ लेते हैं। पर भक्त को भी कुछ करना अवश्य पड़ता है। तुलसी निष्क्रियतावाद के समर्थक नहीं हैं। ऊपर कहा गया है कि तुलसी में विवेक संतुलन की मात्रा तत्कालीन सब कवियों से अधिक है। यही तुलसी का महत्त्व है।

केशव की तुलना तो तुलसी से की ही नहीं जा सकती, क्योंकि दोनों दो कोटि के जीव हैं। केशव में पांडित्य ही पांडित्य है। ...त का कोई बोध स्वरूप उनमें है ही नहीं। और काव्य की दृष्टि से भी वे तुलसी के समीप नहीं पड़ते, काव्य शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए और अलंकार छंद के ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के लिए वे कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों। कबीर और मीरा ने समाज तथा रहस्यवाद की सेवा भले ही की हो, पर आज तक किसी ने नहीं कहा है कि उनके द्वारा साहित्य की सेवा हुई है। वैसे उनलोगों की बात छोड़िए जो अति उत्साह के झोंक में आकर कबीर को भोजपुरी भाषा का प्रथम कवि मानने लगते हैं अथवा वेदों में भी भोजपुरी भाषा के दर्शन करने लगते हैं। तुलसी के द्वारा साहित्य की भी सेवा हुई है, धर्म की भी सेवा हुई है और समाज की भी सेवा हुई है। इसलिए कहा जाता है कि उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी है।

अब लगे हाथों तुलसी की तुलना महाभारत तथा श्रीमद्भागवत से कर ली जाये। यह ठीक है कि महाभारत के बारे में दावा किया गया है और ठीक दावा किया गया है।

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ,
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न क्वचित्।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संबन्ध में जो बातें यहाँ कही गयी हैं वही अन्यत्र कही गयी हैं और जो यहाँ नहीं कही गयी हैं वे अन्यत्र कहीं नहीं पायी जा सकती हैं। इसमें अतिशयोक्ति अवश्य है, पर आंशिक सत्य है जो पूर्ण सत्य का विरोधी नहीं है। पर महाभारत एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है और इसे पढ़ने के लिये धैर्य और क्षमता सबमें नहीं हो सकती, पर रामचरितमानस पर यह लाँछन नहीं लगाया जा सकता। अधिक से अधिक २४ घन्टे में उसका पाठ हो सकता है, और सुन्दर काण्ड का पाठ तो हम रोज ही कर लेते हैं।

श्रीमद्भागवत के संबन्ध में कहा गया है कि यह सब शास्त्रों का सार है। भागवतकार का दावा है कि जिस तरह दूध में घृत सर्वत्र व्याप्त रहता है परन्तु उसे हम सहज ही नहीं प्राप्त कर सकते, पर वही घृत जब अलग निकाल लिया जाता है तो देवताओं के लिए भी वह अभीष्ट हो जाता है। जैसे ईक्षु-दण्ड में शर्करा पोर पोर में व्याप्त रहती है पर वह काम में नही आ सकती, पर उसी चीनी को यदि हम अलग कर लेते हैं तो वह सर्व साधारण के लिये उपयोगी हो जाती है। यही भागवती कथा है सब धर्मों और शास्त्रों का निचोड। पर फिर भी यह भागवती कथा करीब ५६ हजार पृष्ठों का लम्बा पोथा है। रामचरितमानस आकार की दृष्टि से उसके सामने बहुत ही छोटा है, पर वह जीवन में उन्नायक तत्त्वों के समावेश की दृष्टि से और मनुष्य के चतुर्मुखी विकास की दृष्टि से किसी

भी ग्रंथ से सफलता पूर्वक प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है। यही कारण है कि तुलसी इतने लोकप्रिय हो गये हैं। महाभारत भी कहीं नहीं मिले, सूरसागर भी कहीं अज्ञात हो सकता है, भागवत भी सब लोगों की पहुंच के बाहर हो सकता हैं पर रामचरितमानस सबके लिए सब समय सब अवस्थाओं में सहज ही उपलब्ध है। यही तुलसी की महत्ता है।

--आरा, मौलाबाग;
भोजपुर (बिहार)

—❀—

श्री कृष्ण के प्रेमोद्गार-

अन्त विहीन, अनादि, नित्य हम दोनों एक सनातन रूप।
बने सदा दो लीला करते, सहज अनन्त अचिन्त्य-अनूप ॥
नित्य पुरातन, नित नूतन हम, सदा एक रस, एक अभिन्न।
पर भिन्नतामयी रस-लीला-धारा बहती नित अविछिन्न ॥
सुखमय मिलन सहज, नित दारुण बिरह वियोग नित्य उर दाह।
नित्य मधुर-मृदु-हास्य मनोहर, करुण रुदन, नित आह कराह ॥
है अनादि क्रन्दन यह मेरा, है अनन्त सुखमय दुख भार।
अमिलन-मिलन मिलन-अमिलन नित परम अतर्क्यमधुर सुख सार।

—श्री "भाई जी"—

संस्कृत वाङ्मय में अयोध्या

—डा० जनार्दन उपाध्याय
एम० ए०, डी० फिल०

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की पवित्र जन्मभूमि और लीला भूमि होने के कारण अयोध्या की महिमा लोकविदित है। धर्मशास्त्र, साहित्य और इतिहास आदि विविध प्रकार के ग्रन्थों से अयोध्या का परिचय प्राप्त होता है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र-सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में अयोध्या का परिचय एवं माहात्म्य-कथन मिलता है। भारतीय आस्तिक मानस में ब्रह्म के जिन दो अवतारों या लीलारूपों के प्रति विशेष निष्ठा की भावना बद्ध-मूल है, उनमें से एक हैं राम, और अयोध्या उन्हीं की पार्थिव अवतार-भूमि तथा लीला-भूमि है। दूसरा रूप है कृष्ण का, जिनकी अवतार-भूमि और लीला-भूमि मथुरा है। अयोध्या का घनिष्ठ सम्बन्ध रामकथा से है और मथुरा का कृष्ण-कथा से। भक्ति के शास्त्रीय ग्रन्थों में ईश्वर-प्राप्ति के साधन-स्वरूप जिन चार तत्वों की साधना पर बल दिया गया है वे हैं नाम, रूप, लीला तथा धाम। अयोध्या की गणना धाम के अन्तर्गत होती है।

अयोध्या की प्रसिद्धि का सर्व प्रधान कारण यह है कि यह नगरी रामकथा से सम्बद्ध रही है। प्राचीन वाङ्मय में स्वाभाविक रूप से उन-उन स्थानों पर अयोध्या के उल्लेख की संभावना अधिक है जहाँ रामकथा कही गई है। इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि राम कथा के बीज वेदों में है, भले ही एक व्यवस्थित कथा के रूप में उसका अस्तित्व बाद में सामने आया हो। लगभग ४५० वर्ष पहले पं० नीलकठ दीक्षित ने 'मंत्ररामायण' नाम से राम-कथा विषयक वैदिक मंत्रों का एक संकलन तैयार किया था। इसमें ऋग्वेद और अथर्ववेद के उन मंत्रो को प्रस्तुत किया गया है जिनमें इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के नाम आये हैं। इक्ष्वाकु[1], सुद्युम्न[2], सुदास[3], मान्धाता[4], रघु[5], तथा दशरथ[6], के नाम उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं। इन राजाओं की राजधानी अयोध्या थी, यह पुराणेतिहास में प्राप्त साक्ष्यों से पुष्ट हैं। यद्यपि वेदों में मात्र इन राजाओं के नाम हैं, इनकी कथा या इनसे

१—इक्ष्वाकुर्यस्त्वं वेद पूर्व इक्ष्वाको (अथर्व० १९।३९।९)
यस्येक्ष्वाकुरुपव्रते रेवान्मराय्येधते (ऋग्वेद १०।६०४)
२—सुद्युम्नो द्युम्नं यजमानाय देहि। (यजु० मैत्रायणी सहित ११२। ९)
३—विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायतः (ऋ० ३।५३।९)
४—यवनाश्च मान्धाता (ऋ० १०-१४६-१-८)
५—रघुश्येन पतयत् (ऋ० ५-४-९)
६—कल्याण का श्रीरामांक, पृ० ६५६

सम्बन्धित स्थानों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अयोध्या के राजाओं के नामों का प्रत्यक्ष उल्लेख होने से परोक्ष में अयोध्या के अस्तित्व की संभावना भी अवश्य की जा सकती है। राम-कथा का आरम्भ वेदों से ही हुआ है, इस तथ्य को तुलसीकृत रामचरितमानस से बहुत बल मिलता है। गोस्वामी जी बार-बार अत्यन्त दृढ़ता के साथ मानस में यह कहते हैं कि राम के नाम और चरित की महिमा का गायन वेद अनेक प्रकार से करते हैं। 'नाना पुराण-निगमागमसम्मतं यद्' तथा 'जेहि इमि गावहिं वेद बुध' आदि पंक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं।

मानस तत्वान्वेषी पं० रामकुमार दास रामायणी ने 'वेदों में रामकथा' नामक अपनी पुस्तक में वेदों को रामकथा का आदि स्रोत सिद्ध किया है। वैदिक साहित्य में अयोध्या वर्णन सम्बन्धी उनका अनुसन्धान भी यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कल्याण के 'श्रीरामाङ्क' में प्रमाणित अपने 'साकेत-दिव्य अयोध्या' नामक लेख में उन्होंने लिखा है कि अयोध्या वर्णन से सम्बद्ध साढ़े पाँच मन्त्र वेदों में हैं। वे साढ़े पाँच मन्त्र जो उस लेख में दिये गए हैं, अथर्ववेद के दशम मण्डल के हैं और यहां प्रस्तुत हैं-

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २-२८
यो वै तां ब्रह्मणो वेदाऽमृतेनावृतां पुरम् ॥
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजा ददुः ॥ २-२९
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो न जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २-३०
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ २-३१
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद यक्षमात्मन्वत तद वै ब्रह्मणो विदुः ॥ २-३२
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम् ।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्म विवेशापराजिताम् ॥ २-३३

साढ़े पाँच मन्त्रों की यह संख्या २८ वें मन्त्र से लेकर ३३ वें मन्त्र तक पूरी होती है। यों तो सभी अयोध्या के पररूप से सम्बद्ध हैं पर ३१ वें मन्त्र में तो अयोध्या का नामोल्लेख प्राप्त होता है और इसमें कहा गया है कि यह अयोध्यापुरी अष्टचक्रों तथा नवद्वारों वाली है तथा देवताओं द्वारा सेवित है, उस अयोध्यापुरी में बहुत ऊँचा अथवा बहुत सुन्दर प्रकाशपुञ्ज से आच्छादित सुवर्ण मण्डप है।

उपर्युक्त मन्त्रो से सिद्ध है कि अयोध्या की चर्चा वेदों से ही मिलने लगती है और वहाँ यह परब्रह्म या परमपुरुष की नित्य लीला भूमि के अर्थ में मान्य है। राम उसी परम-पुरुष के प्रतिरूप हैं तथा रामरूप में ब्रह्म के अवतरण की कथा पार्थिव अयोध्या से जुड़ी हुई है। वेदों में वर्णित अयोध्या वस्तुतः दिव्य तथा अलौकिक अयोध्या है और उस वर्णन से अयोध्या के पार्थिव रूप की मान्यता का प्रत्यक्ष संकेत नहीं मिलता इसीलिए यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वेदों में उल्लिखित अयोध्या इस अयोध्या से एकदम भिन्न और पृथक् तो नहीं है? यदि ऐसा है तो अयोध्या के माहात्म्य और इतिहास को उससे जोड़ने की संगति क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हम यह तो मानते ही हैं कि उपनिषदों, ब्राह्मणों संहिताओं, स्मृतियों, पुराणों तथा धर्मशास्त्र के अन्य भारतीय ग्रन्थों में वेदों की सूत्रात्मक बातों का ही उत्तरोत्तर उपबृंहण हुआ है। उत्तरोत्तर उपबृंहण के परिणाम स्वरूप ऐसे

१-कल्याण (श्रीरामाङ्क) ६५७-६६३

अनेक अर्थ और रहस्य प्रकाशित हुए हैं जिनकी कल्पना भी पहले मन्त्रों को देखने से नहीं होती थी । राम और कृष्ण उसी परम पुरुष के प्रतिरूप हैं, यह धारणा भी मन्त्रों के उत्तरोत्तर अनुसंधान से उत्तर वैदिक युग में आकर बनी थी । ठीक यही बात अयोध्या के लिए भी हो सकती है । वेदों के बाद के इन ग्रन्थों में दिव्य अयोध्या और पार्थिव अयोध्या की तात्त्विक अभेदता को माना गया है जो श्रुति सम्मत माने जाते हैं । शिव-संहिता कहती है कि परलोक में स्थित अयोध्या दिव्य भोगों की भूमि है और पृथ्वी पर प्राप्त यह अयोध्या लीला भूमि है । दोनों के स्वामी श्रीराम भोग और लीला के स्वामी हैं। उनकी विभूति निरंकुश है-

भोगस्थानं परायोध्या लीलास्थानंत्वियं भुवि
भोगलीलापतीरामो निरंकुश विभूतिकः ।। १

'कोशल' अयोध्या के दो तीन बहु प्रचलित नामों में से एक है । रामायण के प्रणेता वाल्मीकि के अनुसार कोशल उस विशाल जनपद का नाम था जिसके अन्तर्गत अयोध्या थी ।

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ।।
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।। २

बृहद्ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि अयोध्या नगरी के द्वार पर सरयू नदी क्रीड़ा करती हैं-

साकेतके पुरे द्वारे सरयू केलिकारिणी । ३

कई संहिताएँ तो अयोध्या वर्णन की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व पूर्ण हैं । इस दृष्टि से वशिष्ठसंहिता और शिवसंहिता का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है । इनमें अयोध्या के दिव्य रूप की व्याप्ति और महिमा का विस्तृत वर्णन हैं और उसी प्रसंग में त्रिपाद्विभूति, विरजा नदी, विभिन्न लोक, पंचमहावैकुण्ठ, चार पर्वत, द्वादश बन आदि के बारे में विस्तार से बताया गया है । ऐसा वर्णन विशेष रूप से वशिष्ठसंहिता में है । यह अयोध्या वर्णन वक्ता श्रोता शैली में है । ऋषि भारद्वाज के द्वारा सर्वोपरि भगवद्धाम के बारे में पूछे जाने पर वशिष्ट जी ने उन्हें दिव्य अयोध्या के बारे में इस प्रकार बताया है-

अयोध्या नगरी नित्या सच्चिदानन्दरूपिणी ।
यस्यांशेन वैकुण्ठो गोलोकादिप्रतिष्ठितः ।।
यत्र श्री सरयूर्नित्या प्रेमवारिप्रवाहिणी ।
यस्या अंशेन सम्भूता विरजादिसरिद्वराः ।। ४

वशिष्ठसंहिता के २६ वें अध्याय में अयोध्या वर्णन विस्तार से किया गया है। यद्यपि यह वर्णन दिव्य रूप का है फिर भी उससे अयोध्या के पार्थिव रूप का स्पष्ट संकेत मिलता है । वशिष्ठसंहिता में वर्णित दिव्य अयोध्या की विशेषता यह है कि वह सप्तावरण वाली है, और इसमें यह वर्णन भी है कि किस आवरण में क्या है? शिवसंहिता का अयोध्या वर्णन भी वक्ता-श्रोता शैली में हैं । इसमें भगवान् शेष अयोध्या की महिमा वेदों से कहते है। शिवसंहिता में भी दिव्य रूप का ही वर्णन है। इसमें अयोध्या के अनेक नामों का कथन है तथा आकार-प्रकार वर्णन में यह अथर्ववेद के अयोध्यावर्णन से प्रभावित है-

१-शिव संहिता पटल ५, अध्याय २ श्लोक ८
२-श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड सर्ग ५ श्लोक ५,६
३-बृहद्ब्रह्म संहिता, पाद-३ अध्याय-१, श्लोक ८९
४-पं० सरयूदास द्वारा संकलित साकेत सुषमा के पृ० ७ से उद्घृत ।

अयोध्या नन्दिनी सत्यनामा साकेत इत्यपि ।
कोसला राजधानी च ब्रह्मपुरपराजिता ॥
अष्टचक्रा नवद्वारा नगरी धर्म सम्पदाम् ।
दृष्ट्वं ज्ञाननेत्रेण ध्यातव्या सरयूस्तथा ॥

अयोध्या नगरी के अनेक नाम हैं, जैसे नन्दिनी, सत्या, साकेत, कोसला, राजधानी, ब्रह्मपुरी और अपराजिता। अष्टचक्र तथा नव द्वारों वाली यह नगरी धर्मसमृद्ध लोगों की है। इसे ज्ञान नेत्रों से देखकर इसको तटवर्तिनी सरयू का भी ध्यान करना चाहिए।

सनत्कुमारसंहिता के श्रीरामस्तवराज में भी अष्टदल पद्म वाली अयोध्या नगरी की रम्यता और रत्नसिंहासन पर आसीन राम का उल्लेख मिलता है--

अयोध्या नगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे ।
स्मरेत् कल्पतरोमूले रत्नसिंहासनं शुभम् ॥
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नानारत्नैश्च वेष्टितम् ।
रामं रघुवरं वीरं धनुर्वेदविशारदम् ।
मङ्गलायतनं देवं रामं राजीवलोचनम् ॥

रम्य अयोध्यापुरी में रत्नों से निर्मित मण्डप के मध्यवर्ती कल्पतरु के मूल में स्थित शुभ सुन्दर आभामय रत्नसिंहासन का ध्यान करना चाहिए। उस सिंहासन पर विविध रत्नों से घिरा हुआ, अष्टदल कमल है, जिसपर भगवान धनुर्विद्याविशारद कमल-नेत्र राजीव-लोचन रघुवंश-भूषण श्रीराम हैं ऐसा ध्यान करना चाहिए]

श्रीरामरहस्योपनिषद् के उत्तरखण्ड में अयोध्या को समस्त वैकुण्ठों का मूलाधार और सीताराम को नित्य-विहारभूमि माना गया है-

("साऽयोध्या पुः सर्ववैकुण्ठानामेव मूलाधारा मूल प्रकृतिः परात्सदब्रह्ममया विरजोत्तरा दिव्य रत्नकोषा तस्यां नित्यमेव सीतारामयोः विहारस्थल मस्तीति । १")

यद्यपि परायोध्या को प्रायः नवद्वारों वाली बताया गया किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में उसके चार द्वारों और उनके द्वारपालों की विशेष चर्चा मिलती है। वृहद्ब्रह्मसंहिता तथा सदाशिव संहिता में अंगद को उतरी द्वार का रक्षक, हनुमान को दक्षिणी द्वार का रक्षक, सुग्रीव को पूर्वी द्वार का रक्षक तथा विभीषण को पश्चिम द्वार का रक्षक कहा गया है-

पूर्वद्वारे तु सुग्रीवो दक्षिणे पवनात्मजः ।
पश्चिमे राक्षसाधीशो बालिपुत्रस्तथोत्तरे ॥ १
पश्चिमां पाति धर्मात्मा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।
पूर्वमावृत्य विश्वात्मा सुग्रीवस्तैजसात्मकः ॥
उत्तरं रक्षति वीरो बालिपुत्रो महाबलः ।
दक्षिणं तु सदा पाति हनुमान् रामवत्सलः ॥ २

रामभक्तों की यह दृढ धारणा है कि पार्थिव अयोध्या का प्राचीन स्वरूप भी कुछ ऐसा ही था। कथा वाचक प्रायः अपनी कथाओं में राम के समय की चार प्रमुख घटनाओं को इन चार द्वारों से जोड़ते हुए कहते हैं कि पूर्वी द्वार से राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ यज्ञ-रक्षा के लिए गये थे, दक्षिण द्वार से राम, सीता, और लक्ष्मण बन को गये थे, पश्चिमी द्वार से भरत और शत्रुघ्न ननिहाल से वापस आये थे तथा उत्तरी द्वार से राम और समस्त पुरवासी नियमित सरयू

१-साकेत सुषमा के पृ०२ से उद्धृत ।
२-वृहद्ब्रह्मसंहिता पाद ३ अध्याय १ श्लोक ९७
३-सदाशिव संहिता अध्याय १

स्नान के लिए जाते थे। लाला सीताराम ने भी इन चारों द्वारों की चर्चा की है और यह भी कहा है कि वाल्मीकीय रामायण में एक द्वार का नाम भी मिलता है।१

संहिता ग्रन्थों में वशिष्ठसंहिता अयोध्या का दिव्य, लोकोत्तर और रहस्यमय रूप प्रस्तुत करने के लिए उल्लेखनीय है। परायोध्या का सर्वाधिक विस्तार से वर्णन इसी ग्रन्थ में मिलता है। अयोध्या को वशिष्ठसंहिता में सप्तावरण वाली बताया गया है। इसके अनुसार प्रथम आवरण में विभिन्न देवता और ऋषिगण, द्वितीय आवरण में विभिन्न धर्मग्रन्थ और रहस्य ग्रन्थ, तृतीय आवरण में निर्गुण ब्रह्म, चतुर्थ आवरण में महाविष्णु लोक, रमा वैकुण्ठ लोक, अष्टभुज भूमा पुरुष लोक, महाब्रह्म लोक और महाशम्भु लोक हैं तथा मथुरा, द्वारका, काशी, काञ्ची आदि पुरियाँ हैं। पाँचवें आवरण में तेरह आवरण वाली मिथिलापुरी है, चित्रकूट पर्वत है और वृन्दावन है। छठें आवरण में अयोध्या की परिधि को स्पर्श करता हुआ चार पर्वतों (शृंगार पर्वत; मणिपर्वत, लीला पर्वत, मुक्ता पर्वत) वाला प्रमोदवन है। सातवें आवरण में सरयूनदी है जिसे परायोध्या के प्रसंग में विरजा भी कहा गया है। इसके पार परम पवित्र पुरी अयोध्या है। वेदादि ग्रन्थों में सूत्रात्मक ढंग से वर्णित परायोध्या को ही वशिष्ठसंहिता विस्तार देती है।२ वैदिक साहित्य व संहिता ग्रन्थों में अयोध्या वर्णन सम्बन्धी और भी सूत्र मिल सकते हैं। निष्कर्षतः, प्राचीन वाङ्मय में परायोध्या वर्णन अधिक था पर धीरे-धीरे उसके पार्थिव रूप का वर्णन प्रधान होता गया। वाल्मीकीय रामायण व पुराणों में आकर पार्थिव रूप की सम्यक् प्रतिष्ठा हो गई।

वाल्मीकीय रामायण में अयोध्या-वर्णन

महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण लौकिक संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ, आदि रामकथा-ग्रन्थ तथा आदि काव्य के रूप में सर्वमान्य है। राम कथा का विस्तृत और व्यवस्थित स्वरूप भी सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ में सामने आया। प्राचीन वाङ्मय में अयोध्या वर्णन का अनुसन्धान करते हुए स्वाभाविक रूप से वाल्मीकीय रामायण पर विशेष ध्यान जाता है। जिस प्रकार रामकथा को स्पष्ट और विस्तृत कलेवर में समुपस्थित करने का श्रेय रामायणकार वाल्मीकि को है, उसी प्रकार अयोध्या के स्पष्ट भव्य एवं बिस्तृत स्वरूप के सर्वप्रथम वर्णन का श्रेय भी रामायणकार को ही है। रामायण में अयोध्या का वर्णन बालकाण्ड के पाँचवें, छठें, और सातवें सर्ग में है। पाँचवें सर्ग के २३ श्लोकों में अयोध्यापुरी का वर्णन छठें सर्ग के २८ श्लोकों में दशरथ के शासनकाल में अयोध्या और वहाँ के नागरिकों की उत्तम स्थिति का वर्णन तथा सातवें सर्ग के २४ श्लोकों में राजमन्त्रियों के गुणों और नीतियों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ३ सर्गों के कुल ७५ श्लोक अयोध्या वर्णन से सम्बद्ध है। इनमें भी पाँचवें सर्ग में विशेष रूप से अयोध्यापुरी का भव्यरूपाकार और वस्तुपरक वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक श्लोकों में लोक विश्रुत अयोध्या नगरी को कोशल नामक स्फीत और महान् जनपद के अन्तर्गत कहा गया है-

१-अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ २६

२-पठनीय वशिष्ठसंहिता का २६ वां अध्याय

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयू तीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ॥
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥
राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता ।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥
तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः ।
पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा ॥ १

कोशल नाम से प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा जनपद है जो प्रचुर धनधान्य से सम्पन्न है और सरयू के तट पर बसा है। इसी जनपद में अयोध्या नाम की एक लोकविश्रुत नगरी है जिसे मानवेन्द्र मनु ने स्वयं बसाया था। यह महापुरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी आयताकार बसी हुई है और बड़ें-बड़े राजमार्गो से सुशोभित उस पुरी में नित्य खिले हुए फूल बिखेरे जाते है और जल का छिड़काव किया जाता है। जिस प्रकार देवराज इन्द्र ने अमरावती को बसाया था, उसी प्रकार महान् राष्ट्र की वृद्धि करने वाले महाराज दशरथ ने उस पूरो को पुनः विशेष रूप से बसाया था।

इस क्रम में आगे के श्लोकों में अयोध्यापुरी को विशाल कपाटों, तोरणों, आयुधों, शिल्पियों, अट्टालिकाओं, सूतों-मागधों, नाट्यसंघो, उद्यानों, आम्रवनों, सालमेखलाओं, दुर्गों, परिखाओं, गो-गज-बाजि आदि विविध कोटि के पशुओं, करदायी नरेशों, सामन्तों, देशी विदेशी वेश्यों, बड़े-बड़े प्रासादों, कूटागारों, 'रत्न'गृहों, सुन्दरी नारियों, संगीतविदों, शूरबीर, शर साधकों, सिद्ध मुनियों, अग्निहोत्री ऋषियों तथा वेदपाठी ब्राह्मणों से सम्पन्न कहा गया है। २ छठें सर्ग में अयोध्यापुरी के राजा दशरथ को दीर्घदर्शी, तेजस्वी, लोकप्रिय, धर्मपरायण, महर्षिकल्प, बलशाली, शत्रुहीन, असंख्य मित्रों से युक्त, विजितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, नीतिविद् तथा इन्द्र के समकक्ष बताया गया है।३ अयोध्या के नागरिक धर्मनिष्ठ, वैभव-सम्पन्न, वासना विकारों से मुक्त, संयमी, सुन्दर रूप और कर्म वाले, दानी, स्वाध्यायी, आस्तिक, उदार, दीर्घायुष्य सम्पन्न तथा शूरबीर हैं। ४ वह अयोध्या उत्तमोत्तम जाति के गजों, अश्वों मृगों तथा अन्य पशुओं से समृद्ध है। ५ इस सर्ग के अन्तिम श्लोकों में बताया गया है कि अखिल जगत् का पालन करने वाले दशरथ जिस पुरी के राजा हैं, उसमें दो योजन का भाग तो ऐसा है जो उसे सत्यनामा सिद्ध करता है। जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्र-लोक का शासन करते हैं उसी प्रकार शत्रुजित राजा दशरथ अयोध्या का शासन करते थे। दृढ़ तोरणों, अर्गलाओं, पवित्र एवं विचित्र गृहों वाली सत्यनामा अर्थात् अन्वर्थ संज्ञा वाली उस अयोध्यापुरी पर दशरथ ने वैसे ही शासन किया जैसे देवलोक पर इन्द्र शासन करते हैं-

---

१-वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड-सर्ग ५ श्लोक ५-९
२-द्रष्टव्य, वाल्मीकीय रामायण पंचम सर्ग श्लोक १०-२३
३- ,, ,, ,, षष्ठ ,, ,, १-६
४- ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७-२१
५- ,, ,, ,, ,, ,, ,, २२-२५

सा योजने द्वे च भूयः सत्यनामा प्रकाशते ।
यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥
तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥
तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥१

सप्तम सर्ग में अयोध्या राज्य के मन्त्रियों की गुणवत्ता और नीतिमत्ता का सविस्तार वर्णन है, जो किसी पुर या राज्य के वर्णन का अनिवार्य अंग माना जाता है। वाल्मीकीय रामायण के उक्त तीन सर्गों में अयोध्या का जो स्वरूप वर्णित है उसके बारे में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वह नगरी हर प्रकार से समृद्ध और उत्तमोत्तम विशेषताओं से युक्त है, उसमें कहीं किञ्चित् भी दोष नहीं है। यदि रामायण में अयोध्या के बारे में कही गयी बातों पर विशेष ध्यान दे तो यह विश्वास होता है कि आदर्श पुरों या नगरों के वर्णन के जो प्रतिमान कालान्तर में निश्चित किये गये, उनके लिये इस अयोध्या वर्णन ने आधारभूत सामग्री का कार्य किया होगा। इस ग्रन्थ की प्राचीनता इस विश्वास को और भी बल देती है। रामायण के अयोध्या-वर्णन की एक प्रमुख उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह वर्णन विशुद्ध रूप से पार्थिव अयोध्या का है और इसमें परायोध्या का संकेत प्राप्त नहीं होता।

पुराणों में अयोध्या

पुराणों में अयोध्या के स्वरूप और उसकी महिमा का पर्याप्त परिचय दिया गया है। अठारह महापुराणों में से लगभग ९-१० में अयोध्या की चर्चा मिलती है। ये हैं स्कन्दपुराण पद्मपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, बाराह पुराण, श्रीमद्भागवत, वायुपुराण, मत्स्यपुराण तथा ब्रह्माण्डपुराण। इनमें से अधिकतर में इक्ष्वाकु वंशी राजाओं के प्रसंग में अथवा किसी राजा, ऋषि या देवता के इक्ष्वाकुवंशी राजाओं से सम्बन्ध के प्रसंग में अयोध्या का उल्लेख मात्र हुआ, उसका कोई वर्णन नहीं हुआ। केवल दो तीन पुराण ऐसे है जिनमें अयोध्या की समृद्धि शोभा तथा महिमा का वर्णन किया गया है। इनमें सर्वाधिक चर्चित और महत्त्वपूर्ण स्कन्द पुराण है।

स्कन्दपुराण के वैष्णव खण्ड में १० अध्यायों में बड़े विस्तार के साथ अयोध्या माहात्म्य वर्णित है। आर्षग्रन्थों में पाया जाने वाला सर्वाधिक विस्तृत, तथ्यात्मक तथा वस्तुनिष्ठ अयोध्या, वर्णन यहीं है। यह मात्र भक्तों को ही सन्तोष देने वाला नहीं है, अनुसन्धान कर्त्ताओं और विद्वानों के लिए भी बड़े काम का है। यह अयोध्या के भूगोल का ठोस परिचय प्रस्तुत करता है और इस परिचय से अयोध्या के वर्तमान स्वरूप की बहुत कुछ संगति बैठ जाती है। अयोध्या का यह परिचय श्रीरोमहर्षण सूत जी कुरुक्षेत्र में उन असंख्य मुनियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं जो वहाँ राम के द्वादशवर्षीय यज्ञ में भाग लेने के लिये आये हुए थे। भरद्वाज आदि अमलात्मा मुनियों ने व्यास-शिष्य श्रीरोमहर्षण सूत जी से कहा कि हे महाभाग, आपसे हम लोगों से बिभिन्न पुराणों की विभिन्न तीर्थों से सम्बन्धित रहस्य भरी कथाएँ सुनीं। अब हमारी इच्छा आपसे महापुरी अयोध्या की उज्ज्वल महिमा को सनातन रहस्यों के साथ सुनने

१-वाल्मीकीय रामायण। बालकाण्ड सर्ग ६ श्लोक २६-२८

की है। १ सूतजी ने प्रसन्नतापूर्वक मुनिजनों से कहा– 'जिसे नारद जी से भगवान् स्कन्द ने प्राप्त किया और उन्होंने अगस्त जी को सुनाया तथा कालान्तर में जिसे अगस्त्य जी ने कृष्णद्वैपायन व्यास को और व्यास जी ने मुझको सुनाया, अयोध्या का वही माहात्म्य मैं आप लोगों को सुनाता हूँ। २ इतना कहने के पश्चात् सूतजी मुनियों के समक्ष अयोध्या का अद्भुत माहात्म्य और सौन्दर्य बखानने लगे। अयोध्यानगरी परम पवित्र है, पापी मनुष्यों को इसकी प्राप्ति असम्भव है। जिसमें साक्षात् हरि स्वयं निवास करते हैं, वह पुरी भला किसके द्वारा सेवनीय नहीं हैं ? अमरावती के समान दिव्य और परम शोभन तपस्वी महात्माओं से युक्त अयोध्यापुरी सरयू के तीर पर स्थित हैं ३। इसी क्रम में आगे के १४ श्लोकों में अयोध्या की समृद्धि तथा उसके भव्यरूपाकार का वस्तुनिष्ठ वर्णन मिलता है। ४

इन श्लोकों ने अयोध्यापुरी के हाथी, घोड़े और रथ की सवारी करने वाले वीरों, विशाल घेरों स्वर्ण-प्रभा, सम्पन्न दरवाजों, प्रशस्त राज-मार्गों, बड़े-बड़े प्रासादों, कमलयुक्त सरोवरों, वैदिक ध्वनियों से मुखरित देवमन्दिरों, भाँति भाँति के गीतवाद्योपकरणों पुष्पों, फलों, वृक्षों शीलवान् नागरिकों, प्रतिभा-सम्पन्न कवियों, वृहस्पतिसमान ब्राह्मणों, कल्पवृक्ष के समान धनिकों तथा पुरवासियों व गजबाजि आदि श्रेष्ठ कोटि के पशुओं से समृद्ध बताया गयाहै। इस प्रकार नाना विधि विशेषताओं से युक्त अयोध्या इन्द्र पुरी के समान है। इसी अयोध्या में, इक्ष्वाकु आदि सूर्यवंशोद्भुत प्रजापालक नृप हुए तथा इसके तीर पर घाघरा नदी से संगम करने वाली मानस-नन्दिनी पुण्यतोया सरयू प्रवाहित है जिसका तट भक्त-विहङ्गमों के गुंजन और कूजन से ध्वनित रहता है तथा मुनीश्वरों द्वारा सदैव सेवित है।

स्कन्द पुराणोक्त अयोध्या माहात्म्य में सभी अध्यायों में एक तीर्थ या एक से अधिक तीर्थों का वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय में विष्णुहरितीर्थ, द्वितीय में ब्रह्मकुण्ड तथा सहस्रधारा तीर्थ, तृतीय में स्वर्गद्वार तीर्थ तथा चन्द्र सहस्र व्रतोद्यापन, चतुर्थ में धर्महरि व स्वर्णखनि तीर्थ, पञ्चम में तिलोदकी गंगा तथा कौत्स वृत्तान्त, षष्ठ में गोप्तार तीर्थ, सप्तम में क्षीरोदक तीर्थ व घोषार्क कुण्ड, अष्टम में रति-कुण्ड, महारत्न तीर्थ महाभर तीर्थ सीताकुण्ड सुग्रीव तीर्थ, तथा हनुमत्कुण्ड और नवम तथा दशम अध्याय में क्षीरोदक तीर्थ, वृहस्पतिकुण्ड, रुक्मिणी कुण्ड, गया कूप आदि का वर्णन है।

स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या-माहात्म्य में विभिन्न तीर्थों की जो स्थिति हैं उसकी पर्याप्त संगति अयोध्या के वर्तमान स्वरूप से भी बैठ जाती है। समस्त तीर्थों के वर्णन में उनके माहात्म्य की आधार भूत धार्मिक-पौराणिक कथाओं का तथा उस तीर्थ के सेवन की विधि तथा उससे होने वाले फल का कथन भी सविस्तार मिलता है। वर्णित तीर्थों में एक से दूसरे की दिशा और दूरी का निर्देश बीच-बीच में किया गया है। प्रथम अध्याय में प्राप्त १५-१६ श्लोकों में अयोध्या का वह वर्णन जो उसे एक

१–स्कन्दपुराण, अयोध्या माहात्म्य, अध्याय १ श्लोक १४-१६
२– " " " " " २७-२८
३– " " " " " ३०-३१
४– " " " " " ३२-४६

प्रतापी नरेश की सुन्दर एवं समृद्ध राजधानी के रूप में प्रस्तुत करता है, वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि स्कन्दपुराण अयोध्या का एक महिमावान् तीर्थ स्थल के रूप में भी विस्तार से प्रस्तुत करता है जबकि वाल्मीकीय रामायण में यह बात इस रूप में नहीं है। दिशा और दूरी का निर्देश करते हुए स्कन्दपुराणकार ने अयोध्या का जैसा वर्णन प्रस्तुत किया है उससे अयोध्या के स्वरूप तथा उसकी भौगोलिक स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह प्राचीन अयोध्या के अनुसन्धान का आधार भी बन सकता है। स्कन्दपुराण के सकेतानुसार अयोध्या का मुख्य भाग है श्री हरि का अन्तर्गृह। सीमानिर्देश पूर्वक इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है-

सहस्रधारामारभ्य योजनं पूर्वतो दिशि।
तद्वत् दिक्प्रतीच्यां वै योजनं समतोवधिः॥
दक्षिणोत्तरभागे तु सरयू तमसावधि।
एतत्क्षेत्रस्य संस्थानं हरेरन्तर्गृहं स्थितम्॥ १

अर्थात् सहस्रधारा तीर्थ (लक्ष्मण घाट) से एक योजन पूर्व और पश्चिम तक, दक्षिण में तमसा तक तथा उत्तर में सरयू तक का क्षेत्र श्रीहरि का अन्तर्गृह कहलाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि अयोध्या का वर्तमान स्वरूप इसी अन्तर्गृह के भीतर सीमित हो गया है। स्कन्दपुराण में अयोध्या को मत्स्य के समान आकृति वाली बताया गया है-

मत्स्याकृतिरियं विप्रपुरी विष्णोरुदीरिता।
पश्चिमे तस्य मूर्द्धा तु गोप्रतार मिता द्विज॥
पूर्वतः पृष्ठभागो हि दक्षिणोत्तर मध्यमः।
तस्यां पुर्यां महाभाग! नाम्ना विष्णुर्हरिः स्वयम्॥२

अर्थात् (विष्णु के द्वारा उद्भूत) यह पुरी मत्स्याकृति वाली है, जिसका शिरोभाग पश्चिम दिशा में, गोप्तार घाट पर, आश्रित) है, अधोभाग पूर्व की ओर है तथा उत्तर और दक्षिण के हिस्से मध्यभाग के रूप में कल्पित हैं। अयोध्या के नामाक्षरों की विशिष्ट महिमा का कथन भी इस पुराण में मिलता है जिसमें अकार को ब्रह्मवाची, यकार को विष्णुवाची तथा धकार को रुद्रवाची माना गया है-

अकारो ब्रह्म च प्रोक्तं यकारो विष्णुरुच्यते।
धकारो रुद्ररूपश्च अयोध्या नाम राजते॥ ३

नामाक्षरों के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि अयोध्या को त्रिदेवात्मक शक्ति का पुंजीभूत स्वरूप माना गया है। उत्पत्ति, पालन और संहार के सूत्रधार साक्षात् परमेश्वर की यह निवास स्थली है। स्कन्द पुराणोक्त अयोध्या माहात्म्य की उक्त पंक्तियाँ अलौकिक और लौकिक अयोध्या के अभेद की ओर भी संकेत करती हैं।

पुराणों के रचनाकाल के सम्बन्ध में प्राचीन और नवीन परम्परा के विद्वानों में बड़ा मतभेद मिलता है। धार्मिक मान्यता के अनुसार समस्त पुराण व्यास प्रणीत हैं और इस प्रकार पुराणों की रचना लगभग ५,००० वर्ष पूर्व हुई, जबकि नवीन परम्परा के विद्वान किसी भी पुराण को हजार पांच सौ वर्ष से अधिक पहले का नहीं मानते। हम यह कह चुके हैं कि स्कन्दपुराण का अयोध्या वर्णन अयोध्या के वर्तमानस्वरूप से काफी मेल खाता है, किन्तु हम यह भी कह देना चाहते हैं कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि स्कन्दपुराण

१-स्कन्दपुराण अयोध्या महात्म्य अध्याय १ श्लोक ६४-६५
२- " " " " " " ६६-६७
३- " " " " " " ६०

हजार पांच सौ वर्ष के भीतर की ही रचना है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि महाराजा विक्रमादित्य ने अयोध्या की खोज करके उसे पुनः बसाया था और वर्तमान अयोध्या के जो प्राचीन से प्राचीन भवन, मन्दिर व स्थान है वे महाराजा विक्रमादित्य के समय के हैं। आज जिस स्थान पर अयोध्या नगर है वहाँ विक्रमादित्य द्वारा बसाये जाने के पहले दुर्गम जंगल था और उसके किनारे-किनारे सरयू की धारा प्रवाहित होती थी। अयोध्या का कोई पता ही नहीं था। जनश्रुति के अनुसार किसी रात्रि में सूर्यवंशी राजा विक्रमादित्य की भेंट सरयू तट स्थित निर्मली कुण्ड पर स्नान हेतु आये हुए तीर्थराज प्रयाग से हो गई। तीर्थराज और उनका घोड़ा दोनों हीं स्नान के पूर्व श्याम वर्ण थे, जबकि स्नान के पश्चात् क्रमशः गौरवर्ण और श्वेतवर्ण हो गये। बिक्रमादित्य द्वारा प्रयाग से इस चमत्कार का कारण पूछे जाने पर प्रयाग ने बताया कि अयोध्या की पवित्र भूमि है, इसी लिए ऐसा हुआ है। अयोध्या के बारे में अधिक जानने के लिए प्रयाग ने यह सलाह राजा को दी कि वे भगवान् विश्वनाथ के दरबार में जावें। विक्रमादित्य ने जाकर भगवान् विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को प्रसन्न किया। उनकी कामनापूर्ति हेतु उन्हें एक गाय और पुस्तक भगवान् ने दी और कहा कि इसी के सहयोग से तुम अयोध्या की स्थिति जान सकोगे और उसे पुनः बसा सकोगे। गाय जहाँ अपने स्तन से दूध गिरायेगी उसे राम का जन्म स्थान समझना और उस स्थान से अन्य स्थानों की दिशा दूरी इस पुस्तक से ज्ञात हो जांयगी। राजा ने ऐसा ही किया और वे अयोध्या को पुनः बसाने में सफल हुए।

इस कथा को मैंने कई बार यत्र-तत्र पढ़ा और सुना है। प्रश्न उठता है कि वह पुस्तक कौन थी। यदि एक स्थान पता लग चुका हो तो शेष अयोध्या का पता देने में वह पुस्तक उपादेय थी अर्थात् उसमें दिशा और दूरी का प्रचुर संकेत अवश्य था। यह बात प्राप्त ग्रन्थों में या तो स्कन्दपुराण में है या फिर रुद्रयामल में दोनों में आश्चर्यजनक साम्य है, अद्भुत एकरूपता है और किसी न किसी स्थान से अधिकतर स्थानों की दिशा-दूरी संकेतित है। दोनों ग्रन्थों के पाठों में ५० प्रतिशत से भी अधिक साम्य है। सम्भव है, वह पुस्तक इन्हीं दोनों में से कोई एक रही हो।

लुप्त अयोध्या के पुनः बसाये जाने की इस कथा को यहाँ देने का मेरा अभिप्राय यह है कि प्राचीन अयोध्या ठीक उसी स्थिति में पुनः बसायी गई। यह नहीं कहा जा सकता कि स्कन्दपुराण में वर्णित अयोध्या का स्वरूप यह सिद्ध करता है कि स्कन्दपुराण विक्रमादित्य के बाद की ही रचना है और उसमें वर्णित अयोध्या विक्रमादित्य द्वारा पुनः बसायी गई अयोध्या ही है। अस्तु, यह भीं सम्भव है कि स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या नगरी आज की अयोध्या से मिलती-जुलती होने पर भी पुरानी हो तथा विक्रमादित्य के पहले की हो और स्कन्दपुराण भी बहुत पहले की रचना हो। स्कन्दपुराण का 'अयोध्या माहात्म्य' बहुत अधिक लोकप्रिय है और अयोध्या के प्राचीन स्वरूप का परिचय सुलभ कराने में उद्देश्य से इसे कई बार अलग से प्रकाशित और अनूदित किया जा चुका है।

अयोध्या का परिचय प्रस्तुत करने वाले पुराणों में पद्मपुराण का भी नाम आता हैं। पुराणों के अनेक संस्करण है और उनमें प्रचुर पाठभेद मिलता है। कुछ संस्करण अब दुर्लभ भी होते जा रहे हैं अस्तु किसी भी पुराण में

कोई कथा या वर्णन होने अथवा न होने के बारे में कुछ स्पष्ट कहने में बड़ी कठिनाई है। कुछ लोगों का कहना है कि पद्मपुराण में अयोध्या का विस्तृत परिचय है और उसके अवान्तर तीर्थों की एक लघु सूची भी दी गई है, पर मुझे वह अंश उपलब्ध नहीं हो सका। पद्मपुराण के पाताल खण्ड का पूर्वार्द्ध भाग सूर्यवंशी राजाओं और उनके आदर्श जीवन की चर्चा से भरा हुआ है। इसमें भी रामकथा को अपेक्षाकृत अधिक स्थान दिया गया है। उत्तरार्द्ध के ४-५ अध्याय भी राम-कथा से सम्बन्धित हैं। पाताल खण्ड में अयोध्या का प्रसंगवश ४-५ स्थानों पर उल्लेख हुआ है। तीसरे अध्याय में राम के बन से आने के प्रसंग में अयोध्या के सुसज्जित किए जाने का वर्णन लगभग २० श्लोकों में किया गया है।[1] पाँचवें अध्याय में रामराज्याभिषेक के पश्चात् रामराज्य वर्णन है जो परिसंख्या-त्मक उक्तियों वाले कुछ श्लोक यहाँ प्रस्तुत हैं-

सदम्भा निम्नगा यत्र न यत्र जनता क्वचित् ।
कुलान्येव कुलीनानि वर्णानां च धनानि च ॥
विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित् ।
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः ॥
तमोयुक्ताः क्षपा यत्र बहुलेषु न मानवाः ।
रजोयुजः स्त्रियो यत्र नाधनं बहुला नराः ।

पद्मपुराण (पातालखण्ड) अध्याय५, श्लोक३३-३५

सैंतीसवें अध्याय में आरण्यक मुनि के अयोध्या आगमन के प्रसंग में अयोध्या का वर्णन ३-४ श्लोकों में आया है-

सुदूरान्नगरीं दृष्ट्वा सूर्यवंशनृपोषिताम् ।
पदातिरभवद्वेगाद्रघुनाथदिदृक्षया ॥
सम्प्राप्य नगरीं रम्यां अयोध्याम् जनशोभिताम् ।
मनोरथमहत्त्वेण संरूढो रामदर्शने ॥
ददर्श तत्र सरयूतीरे मण्डपशोभिते ।
रामदूर्वादलश्यामं कंजकान्तिविलोचनम् ॥ [1]

१-पद्मपुराण (पातालखण्ड) अ० ३७ श्लोक २०-३०

६५ वें अध्याय में राम के द्वारा दिग्वि-जय के लिये छोड़ा गया घोड़ा अयोध्या वापस आता है। सेना सहित शत्रुघ्न उसके पीछे-पीछे हैं। यहाँ भी अयोध्या की भव्यता की ओर संकेत किया गया है।

क्रमेण नगरीं प्राप्य सूर्यवंशविभूषिताम् ।
अनेकैः केतुभिः श्रेष्ठैः भूषितां दुर्गराजिताम् ॥

× × ×

सरयूः पुण्यसलिला पवित्रितजगत्त्रया ।
रामपादरजः पूता शरच्चन्द्रसमप्रभा ॥
हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
विचित्रतरवर्णश्च पक्षिभिः नादिता भृशम् ।

पद्म०पु० (पा०ख०) अ०६५ श्लोक १२-८

अयोध्या का उपर्युक्त वर्णन चालीसवें श्लोक तक चलता है। इस प्रकार, पद्मपुराण में अयोध्या वर्णन सम्बन्धी अनेक प्रसंग है। सर्वत्र वर्णन परिपाटी अधिक है, अयोध्या की पह-चान कराने वाले विशेष विवरण कम आये हैं। मात्र सूर्यवंश, सरयू, अयोध्या और रामादिक पात्रों की संज्ञाओं से अयोध्या-वर्णन का बोध होता है। इतना अवश्य है कि पद्मपुराणकार ने अयोध्या की दिव्यता व भव्यता को पूरी आस्था से रेखांकित किया है।

श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्द में कुल २४ अध्यायों में सूर्यवंश और चन्द्रवंश का सविस्तार वर्णन है। आरम्भ के १२ अध्यायों में वैवस्वत मनु से लेकर कुश और सुमित्र आदि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं तक की कथा है। यद्यपि इन राजाओं की कथा होने से, और विशेष विस्तार से रामकथा के होने से

१-पद्मपुराण (पातालखण्ड) अध्याय ३ श्लोक १-२०

अयोध्या के वर्णन की सम्भावना की जा सकती थी ; किन्तु, वस्तुतः यहाँ अयोध्या का नामोल्लेख मात्र ही हुआ है। पहले से ही अयोध्या का सुप्रसिद्ध और लोकविदित होना इसका कारण हो सकता है। नवम स्कन्ध के आठवें अध्याय में सगरोपाख्यान है, जिसके निम्न लिखित श्लोकों में सरयू और अयोध्या का नाम आया है—

आचरन् गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् ।
सरय्वां क्रीडतो बालान् प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम् ॥

× × ×

अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान् पुनरागतान् ।
दृष्ट्वा विसस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्यतन्वत् ॥

— श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० ८, श्लोक १७-१९

अयोध्या के अंगभूत तीर्थ नन्दिग्राम का नाम भी श्रीमद्भागवत में मिलता है। १

विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के दूसरे तीसरे और चौथे अध्याय में भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की कथा मिलती है। चौथे अध्याय की निम्नलिखित पंक्तियों में अयोध्या का नाम आया है—

बद्ध्वा चाम्भोनिधिमशेषराक्षसकुलक्षयं कृत्वा दशाननापहृतां भार्यां तद्वधादपहृतकलङ्कामप्यनलप्रवेशशुद्धामशेषदेवसङ्घैःस्तूयमानशीलां जनकराजकन्यामयोध्यामानिन्ये।

— विष्णुपुराण चतुर्थ अंश, अ० ४, ९७

मत्स्यपुराण के सूर्यवंश वर्णन में तथा भविष्य पुराण के त्रेता युगीनभूप – वृत्तान्तवर्णन में भी राजाओं की कथा के प्रसंग में उनकी राजधानी अयोध्या का नामोल्लेख हुआ है। अन्य अनेक पुराणों में भी इन राजाओं की कथाएं यत्र-तत्र मिल जाती हैं। और वहाँ यह भी स्वाभाविक है कि अयोध्या का नाम भी मिल जाय। पर ऐसा नामोल्लेख या आदर्श नगरी की १४, १५ रूढ़ विशेषताओं पर आधारित वर्णन जहाँ कहीं भी हैं हम उसे अयोध्या का महत्वपूर्ण परिचय या उल्लेखनीय वर्णन नहीं मान सकते। ब्रह्माण्डपुराण में साकेत-वर्णन होने की बात कुछ लेखकों ने लिख दी है; २ पर मेरे देखने में तो इस पुराण में अयोध्या का नामोल्लेखमात्र ही है। इसमें तीन स्थानों पर अयोध्या का नाम आया हैं, जिनमें से एक स्थान की सम्बन्धित पंक्तियां ये हैं —

अयोध्याधिपतिः श्रीमान्नाम्ना दशरथो नृपः ॥
सन्तानरहितोऽतिष्ठद्बहुकालं शुचाकुलः ॥

महापुराणों में यदि अयोध्या का विशेष विवरण कहीं है तो स्कन्दपुराण के अयोध्या माहात्म्य में ही है। इसके द्वारा अयोध्या के अवान्तर तीर्थों का भी विस्तृत परिचय मिलता है और अयोध्या के विशेष व तथ्यात्मक स्वरूप का भी बोध होता है।

कुछ पुराणेतर धर्म ग्रन्थों में भी जो पुराणों के ही अनुषंग माने जाते हैं; अयोध्या की चर्चा बहुत मिलती है।

उदाहरण के लिये- विष्णु धर्मोत्तर के प्रथम खण्ड के मार्कण्डेय-वज्र संवाद में १३ वें अध्याय के अन्तर्गत क्रमशः कोशल व अयोध्या का वर्णन देखा जा सकता है। वज्र ने भारत के ९ विभागों के सम्बन्ध में मार्कण्डेय ऋषि से पूछा, उसी प्रसंग में मार्कण्डेय ने ११ वें अध्याय में कोशल के बारे में कहा—

कोशलो नाम 'विषयः प्रभूतधनधान्यवान् ।
स्फीतग्रामगुणाढ्योऽस्ति नित्यं मुदितमानवः ॥

१- द्रष्टव्य —श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अध्याय १०, श्लोक ३९

२- द्रष्टव्य —डॉ० सरयू प्रसाद गुप्त लिखित महाभारत तथा पुराणों के तीर्थों का आलोचनात्मक अध्ययन का पृष्ठ-१४२

३- ब्रह्माण्ड पुराण, २-३-४९-५८, २-३-६३-९३, ३-४-४०-८८।

× × ×

कोशला विषये स्फीते तस्मिन्मनुजपुंगव ।

देवानामप्ययोध्यास्ति त्वयोध्या नामतः पुरी ॥१॥

विष्णुधर्मोत्तर में कोशल को पयस्विनी सरिताओं, शस्य सम्पन्न क्षेत्रों, मनोरमा स्त्रियों पुरुषार्थी पुरुषों, विदग्ध जनों, फल फूल से सम्पन्न वनों और प्रशस्त राजमार्गों तथा सुन्दर वापी कूपों से सम्पन्न बताया गया है। १

कोशल में आधि, व्याधि, चोरी,दुर्भिक्ष,अकाल मृत्यु आदि का भय नहीं है। २

अयोध्या नगरी विशाल परिखा से घिरी हुई है और सरयू के तीर पर शोभित है। वह शोभा, सम्पन्न भवनों, सुविभक्त महारथों श्रेष्ठ जनों अश्वों उत्कृष्ट कलाकारों, विद्वानों आदि से समृद्ध है। वह वीणा, वेणु, मृदङ्गादि के मधुर रव से सदैव नादित रहती है। ३ विष्णु धर्मोत्तरकार ने अयोध्या नगरी के अप्रतिम गौरव को रेखांकित करते हुए कहा है। कि ऐसा कोई शिल्प नहीं है, तथा ऐसो कोई क्रिया नहीं है, जिसे अविगत करने वाले को अयोध्या में निराश होना पड़े —

न तत् पुण्यं न सा विद्या न तच्छिल्प न सा क्रिया।

अयोध्यां प्राप्य यस्यात्रौं निराशः प्रतिगच्छति ॥

विष्णु धर्मोत्तर —अ० १२ श्लोक ६

महाभारत में प्राप्त रामाख्यान में तो अयोध्या का नामोल्लेख मात्र हो है। किन्तु अन्यत्र एक स्थान पर दो श्लोकों में उसे एक पवित्र तीर्थ के रूप में स्मरण किया गया है ?

संस्कृत के विपुल धार्मिक सैद्धान्तिक शास्त्र-ग्रन्थों और कथा ग्रन्थों में न जाने कितने स्थानों अयोध्या का कुछ न कुछ वर्णन आया होगा पर इसका अनुसन्धान और आकलन भी कोई सहज कार्य नहीं है। वाल्मीकीय रामायण में प्राप्त अयोध्या वर्णन की विस्तृत चर्चा हम पहले कर आये हैं. किन्तु विभिन्न भारतीय भाषाओं में अन्य अनेक रामायणें भी हैं, जिनमें अयोध्या का वर्णन है। इस सन्दर्भ में हम यहाँ केवल भुशुण्डिरामायण में प्राप्त अयोध्या वर्णन की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। इसके पूर्व खण्ड के अध्याय १०१ में दशरथ को तीर्थ यात्रा के प्रसंग में संक्षेप मे अवध क्षेत्र के तीर्थ वर्णित हैं। दशरथ वशिष्ठ जी से पूछते हैं कि मुझे प्रमुख तीर्थों के बारे में बताइए -

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।

तानि मे वदतां श्रेष्ठ वद विस्तरशो मुने ॥१८॥

वशिष्ठ उत्तर देते हुए सर्वप्रथम अयोध्या की महिमा कहते हैं —

अदौ तत्रैव भविकावलिदायिनीय,

दिव्या पुरी परममंगलभूग्योध्या।

आस्ते परा सकल कल्मष नाशितोया.

पुण्यां विभाति सरयूः सरितो वरिष्ठा ॥३३॥

अयोध्या का यह वर्णन दो अध्यायों में है। जिसमें स्वर्ग द्वार, सप्त हरि, ब्रह्म कुण्ड, सूर्य कुण्ड, द्वादशवन, नागेश्वर नाथ, लक्ष्मण कुण्ड; तथा नन्दिग्राम आदि तीर्थों के बारे में बताया गया है। १६४ वें अध्याय में तीर्थ यात्रा से लौटने के अनन्तर राजा दशरथ के द्वारा अयोध्या में अनेक ऋषियों मुनियों के आश्रमों का वर्णन है। अध्यात्मरामायण तथा आनन्दरामायण में अयोध्या का विस्तृत और वस्तुपरक वर्णन तो नहीं है, पर उसका एकाधिक स्थानों पर नामोल्लेख और उसके बारे

१- विष्णु धर्मोत्तर प्रथम खण्ड अ० १२ श्लोक ४ - ८

२- ,, श्लोक ९ - १२ (?)

३- ,, ,, अ० १२ श्लोक ९ - १२

४- ,, ,, अ० १३ ,, २ - ५

५- महाभारत वनपर्व (तीर्थयात्रा पर्व) अध्याय ८५ श्लोक १० - ११

में छिटपुट कथन अवश्य मिलते हैं। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में लिखी गयी अनेक रामायणें भी हैं, जिनमें न्यूनाधिक भाषा में अयोध्या की समृद्धि शोभा का वर्णन है पर उनकी चर्चा के लिए यहां अवकाश नहीं हैं।

रुद्रयामल में वर्णित अयोध्या—

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में अयोध्या का सर्वाधिक विस्तृत वर्णन रुद्रयामल तन्त्र में मिलता है। इसमें अयोध्या माहात्म्य वर्णन ३० अध्याओं में है तथा छोटे बड़े कुल मिलाकर १५२ तीर्थों का वर्णन है। रुद्रयामल का अयोध्या-माहात्म्य भी कई बार अलग से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है। इसका अयोध्या-वर्णन स्कन्दपुराण के अयोध्या वर्णन की अपेक्षा बड़ा है और स्कन्द पुराण के वर्णन से परवर्ती होने का भी संकेत इसमें मिलता है। समस्त पुराणों को व्यास-प्रणीत मानने वाले प्रायः ही रुद्रयामल को स्कन्दपुराण के बाद की रचना मानेंगे, किन्तु कुछ ऐसे भी लोग यदा-कदा मिल जाते हैं जो रुद्रयामल को ही प्राचीन मानते हैं। जो भी हो, दोनों का अयोध्या-वर्णन देखने से यह अधिक स्वाभाविक लगता है कि स्कन्दपुराण के अयोध्या वर्णन को ही रुद्रयामल में विस्तार दिया गया हो। इसमें परिवर्द्धन भी हुआ है। बहुत से तीर्थ रुद्रयामल में ऐसे हैं जिनकी चर्चा स्कन्दपुराण के अयोध्या माहात्म्य में नहीं हैं, जैसे अयोध्या के कुण्ड, तिलोदकी, शीतलादेवी मानस-तीर्थ आदि। अयोध्या के १५२ तीर्थों के अतिरिक्त रुद्रयामल के अयोध्या-माहात्म्य में देवस्थान, आश्रम आदि, एकादशी यात्रा, अयोध्या की तीनों परिक्रमाएँ, सप्तनदों, सप्तपुरियों, चौदह गुह्य स्थानों आदि का भी वर्णन है, जो स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या माहात्म्य में नहीं है।

रुद्रयामलोक्त अयोध्या-माहात्म्य हर-गौरी संवाद के अन्तर्गत है। गौरी ने अपने पति देवाधिदेव शंकर से कहा कि हे महाभाग ! मैंने आपसे नाना तीर्थों से सम्बन्धित कथाएँ सुनीं। अब मुझे श्री अयोध्यापुरी की कथा सुनाइए। मैं अयोध्यापुरी के सनातन रहस्य को, उसकी महिमा व गुणवत्ता को जानना चाहती हूं।[1] स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या माहात्म्य तथा रुद्रयामलोक्त अयोध्या माहात्म्य को देखने से एक और उल्लेखनीय तथ्य सामने आया है कि समान वर्ण्य विषय वाले प्रसंगों में दोनों ग्रन्थों में वर्णन साम्य व कथन साम्य इतना अधिक है कि लगता है कि एकही रचनाकार द्वारा रचित सैकड़ों श्लोक किसी कारणवश दोनों ही ग्रन्थों में संकलित हो गये हों। दोनों के कई श्लोकों में या तो एकदम अन्तर नहीं है, या मात्र एकाध शब्द का ही अन्तर हैं। प्रमाण के लिए अयोध्या की स्थिति के बारे में प्राप्त कथन साम्य प्रस्तुत है—

सरयूतीरमासाद्य दिव्या परम शोभना।
अमरावतीनिभा प्रायः श्रिता बहुतपोधनैः
हस्त्यश्वरथपत्याढ्या सम्पदुच्चा च संस्थिता।
प्राकाराढ्यप्रतोलीभिस्तोरणैः काञ्चनप्रभैः ॥
—स्क० अयो० मा० १। ३१-३२

सरयूतीरमासाद्य दिव्या परम शोभना।
अम रावतीति सा प्रायःश्रिता बहुतपोधनैः ॥
हस्त्यश्वरथपत्याढ्या विभूत्या च विराजिता।
प्राकाराट्टप्रतोलीभिः तोरणैः काञ्चनैः शुभैः ॥
रुद्र०अयो०मा० १।४४-४५

यह साम्य निर्देश कहाँ तक किया जाय ?

१—रुद्रयामल, हरगौरी संवाद। अयोध्या माहात्म्य, अध्याय १ श्लोक-४५-४६

शत-प्रतिशत साम्य, अधिकांश में साम्य, आंशिक साम्य तथा क्रमान्तरण या स्थानान्तरण के साथ साम्य आदि को मिलाकर देखा जाय तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि अयोध्या वर्णन सम्बन्धी जो वर्ण्य विषय दोनों ग्रन्थों में गृहीत हैं, उनमें ५० प्रतिशत से भी अधिक साम्य कि अनुरूपता है। स्कन्दपुराण के प्रथम अध्याय के जिन १५ श्लोकों में अयोध्या के परिवेश और स्वरूप-सौष्ठव का वर्णन किया गया है वे श्लोक भी रुद्रयामल में मिलते हैं। रुद्रयामल में अयोध्या की शोभा का जो अतिरिक्त वर्णन मिलता है वह ६ श्लोकों में है– इनके अनुसार उसके (विश्वकर्मा) द्वारा रचित अयोध्या नगरी समस्त देवों द्वारा नमस्कृत है, अत्यन्त रम्य तथा रत्नमण्डपों से सुशोभित है, सूर्य और अग्नि के समान प्रभा वाले, जड़े हुए अगणित रत्नों से संकुल दीवारों वाले उत्तम आवासों और दिव्य प्राकार तथा तोरणों से युक्त हैं। उसमें स्वर्णदुर्ग हैं तथा रजत ताम्र, व पीतल से कोष्ठित और परिखायुक्त धनिकों के घर हैं, विशाल उपवनों, अट्टालिकाओं, रत्नतोरणों से युक्त अनेक गृहों वाली अयोध्या विश्वकर्मा द्वारा रचित है। इस नगरी के समस्त गृह सोने, चाँदी, तथा लोहे के शिखरों से तथा नीलम, वैदूर्य मुक्ता-मरकत मणियों वाले फाटकों से सुशोभित हैं। स्वर्ण धनिकों के भवनों समान ऊंचाई वाले गृहों, सभा भवनों, चतुष्पथों तथा विचित्र शैली वालों सदनों से शोभित अयोध्या देवों द्वारा नमस्कृत है।[१]

हम कह चुके हैं कि स्कन्दपुराणमें अयोध्या को मत्स्य के समान आकृति वाली बताया गया है, अयोध्या के नामाक्षरों को प्रतीकात्मक बताया गया है और श्रीहरि के अन्तर्गृह का उल्लेख भी सीमा निर्देश पूर्वक हुआ है। ये तीनों बातें रुद्रयामल में भी लगभग तद्वत् मिलती हैं।

> श्रूयतें महिमा तस्याः मनोदत्वा च पार्वति
> अकारो वासुदेवः स्याद् यकारस्तु प्रजापतिः ॥
> उकारो रुद्ररूपस्तु तान्ध्यायन्ति मुनीश्वराः।
> रु०अयो०मा० अ० १ श्लोक ६१

× × ×

> सहस्रधारामारभ्य योजनं पूर्वतो दिशा।
> पश्चिमे च तथा देवि योजनं समतोऽवधि॥
> दक्षिणोत्तरभागे तु सरयूस्तमसावधि।
> एतत्क्षेत्रस्य संस्थानं हरेरन्तर्गृहं स्मृतम्॥
> मत्स्याकृतिरियं भद्रा पुरी विष्णोरुदीरिता।
> पश्चिमे तस्य मूर्द्धा तु गोप्रताराश्रिता प्रिये।
> पूर्वतः पुच्छभागो हि दक्षिणोत्तर मध्यमः॥
> रुद्र० अयो०मा०अ० श्लोक ६३-६७

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि रुद्रयामल में श्रीहरि के अन्तर्गृह का तथा अयोध्या की मत्स्याकारता का वर्णन तो स्कन्दपुराण जैसा ही है किन्तु अयोध्या के नामाक्षरों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति कुछ भिन्न है। इसमें अकार को वासुदेव, यकार को प्रजापति तथा उकार को रुद्ररूप माना गया है। स्कन्दपुराण में अकार को ब्रह्मा, और यकार को विष्णु बताया गया है जो इसका ठीक उल्टा है तथा उसमें धकार का प्रतीक कथन मिलता है उकार का नहीं। रुद्रयामल में धकार का प्रतीक कथन नहीं मिलता-उकार का मिलता है। अयोध्या में यह उकार कहाँ है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सम्भव है यह अयोध्या शब्द में लगी हुई युधि धातु का उकार हो। अयोध्या के शब्दार्थ

१-रुद्रयामल, अयोध्या माहात्म्य, अध्याय १ श्लोक ३७-४२

विवेचन के प्रसंग में यह व्याकरणिक तथ्यों बारम्बार उद्धृत किया जाता है कि अयोध्या का तात्पर्य है, जिससे युद्ध न किया जाय। रुद्रयामल के प्रथम अध्याय की एक पंक्ति में ऐसी ही स्पष्ट उक्ति है –

न योध्या सर्वतो यस्मात् तामयोध्यां ततो विदुः ।
रुद्र० – १ । ६३

स्कन्दपुराण के अयोध्यावर्णन से बहुत कुछ साम्य होते हुए भी रुद्रयामल के अयोध्या वर्णन की कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। शैव साधना से सम्बन्धित ग्रन्थ होने के कारण इसके वर्णन में स्वतन्त्र दृष्टिकोण की झलक भी यत्र तत्र मिलती है। फिर भी आर्ष वाङ्मय में अयोध्या का जो माहात्म्य और स्वरूप चित्रित है, रुद्रयामल उसे विकृत नहीं करता, पूर्ण और परिवर्धित ही करता है। प्राचीन वाङ्मय में अयोध्या के दोनों रूपों (परायोध्या और पार्थिव अयोध्या) का माहात्म्य कथन मिलता है। इन दोनों के तात्विक अभेद को कहीं भी नकारा नहीं गया है, उसको प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वीकृति ही दी गई है। रुद्रयामल के रचयिता ने तो परायोध्या के पृथ्वी पर अवतरण की एक कथा ही प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार ब्रह्मा के निवेदन पर भगवान विष्णु ने मनु और उनकी प्रजा के लिए गोलोक की अयोध्या के समान ही पृथ्वी पर एक दूसरी अयोध्या का निर्माण करने के लिए विश्वकर्मा को आदेश दिया। वशिष्ठ के निर्देशन में विश्वकर्मा ने उस पुरी का निर्माण किया। १

अयोध्या की अलौकिक स्थिति के सम्बन्ध में इतना प्रचुरपरिचय देने के अनन्तर रुद्रयामलकार पार्थिवअयोध्या के वर्णन में प्रवृत्त हुआ है। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में रुद्रयामल का अयोध्या-वर्णन सर्वाधिक विस्तृत, तथ्यात्मक और नवीनतम लगता है। विभिन्न स्थानों की स्थिति का निर्देश किसी प्रसिद्ध अथवा पूर्ववर्णित स्थल के आधार पर दिशा तथा कोण के अनुसार किया गया है। उदाहरण के लिए रत्नसिंहासन से कनक भवन की ओर जाने का यह संकेत देखें —

तस्मादुत्तरदिग्भागे स्थानञ्चैव मनोहरम् ।
सीतायाः भवनं दिव्यं नाम्ना कनकमण्डपम् ॥
रुद्र० अयो० मा०अ० २ श्लोक ३१

लोमश मन्दिर से जन्म स्थान की ओर यों संकेत किया है। —

लोमशात् पश्चिमे भागे जन्मस्थानं तु तत्स्मृतम् ।
धनुः पञ्चाशतादूर्ध्वं स्थानं वै लोमशस्थलात् ॥
रुद्र० अयो० मा० अ० २ श्लोक ३७

रुद्रयामल का अयोध्या वर्णन बहुत प्राचीन है या एकदम नवीन, इस विवाद में हम नहीं पड़ना चाहते किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्कन्द पुराण के बाद का है। निःसदेह अयोध्या का परिचय प्रस्तुत करने वाला यह महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ है।

अन्य ग्रन्थों में अयोध्या

एक और बात जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है वह यह कि वैदिक धर्म से इतर धर्मों के अनुयायी रचनाकारों ने भी अपने ग्रन्थों में अयोध्या का वर्णन किया है। उदाहरण स्वरूप हम अनेक बौद्धधर्मावलम्बी तथा जैनधर्मावलम्बी कवियों के नाम ले सकते हैं। बौद्धों का साहित्य तो प्रायः पालि भाषा में है किन्तु जैन कवियों ने संस्कृत में भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

१– द्रष्टव्य – रुद्रयामलीय अयो० मा० अध्याय १ श्लोक ३० ३६

प्रस्तुत किये हैं। इन कवियों नें कभी तो रामकथा के माध्यम से अयोध्या का उल्लेख किया है और कभी उनका आधार लिए बिना ही उल्लेख किया है। जैन धर्मावलम्बी कई बड़े कवियों ने संस्कृत में पुराण संज्ञक विशाल-काय चरित ग्रन्थ लिखें हैं, उनमें अयोध्या की चर्चा प्रायः आई है। इन ग्रन्थों में आदि-पुराण, उत्तर पुराण, महापुराण, और पद्मपुराण विशेष उल्लेखनीय हैं। चूँकि अयोध्या जैन धर्मावलम्बियों के आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव की जन्मस्थली है तथा बाद के और भी कई तीर्थङ्कर अयोध्या में ही जन्मे, इसलिए अयोध्या की गणना प्रमुख जैन तीर्थों के अन्तर्गत भी हुई। इस धर्म के अनुयायी अयोध्या को 'ऋषभतीर्थ' के नाम से भी पुकारते हैं। यहाँ हम श्रीजिनसेनाचार्य द्वारा प्रणीत आदिपुराण जो, इस धर्म के साहित्य का सर्वप्रमुख ग्रन्थ माना जाता है, के अयोध्या-वर्णन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। भगवत्स्वर्गावतरण(भगवान, ऋषभ के अवतरण) के निमित्त भूलोक में एक दिव्य पुरी बनाई गई --

ताभ्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पांघ्रिपात्यये ।
तत्पुर्यमुंहुराहूतः पुरहूतः पुरीं व्यधात् ॥
सुरा ससंभ्रमाःसद्यःपाकशासन-शासनात् ।
तां पुरीं परमानन्द त्व्यंधुः सुरपुरीनिभाम् ॥
स्वर्गस्यैव प्रतिच्छन्दं भूलोकेऽस्मिन्निधुत्सुभिः ।
विशेष रमणीयैव निर्ममे सागरैः पुरी ॥

आदिपुराण - १२ वां पर्व ६९-७१

आगे उस पुरी के स्वरूप की ओर यों इंगित किया गया है --

संचस्करुश्च तां वप्रप्राकारपरिखादिभिः ।
अयोध्या न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥
साकेतरुढ़िरप्यस्याः श्लाघ्यैव स्वैर्निकेतनैः ।
स्वर्निकेतमिवाह्वातुं साकूतैः केतुबाहुभिः ॥
सुकोशलेति च ख्यातिं सादेशाभिख्यया गता ।
विनीत जनताकीर्णां विनीतेति च सा मता ॥

आदि पुराण - १२ वां पर्व, ७७-७८

उक्त श्लोकों में अयोध्या के ३ अन्य नाम (साकेत, सुकोशला, तथा विनीता) मिलते हैं, जिनमें सामान्यतया साकेत ही अधिक प्रचलित है, शेष बहुत कम। १३ वें पर्व के २५ वें तथा २६ वें श्लोक में भी अयोध्या का नाम मिलता है। महापुराण में ५ श्लोकों में अयोध्या का संक्षिप्त परिचय मिलता है।[१] धनपाल की सुप्रसिद्ध रचना 'तिलक मञ्जरी' में तो अयोध्या की अद्भुत शोभा का बड़ा ही आलंकारिक और वाग्विदग्धतापूर्ण वर्णन है, अयोध्या वर्णन सम्बन्धी इसका प्रथम वाक्य लगभग साढ़े तीन पृष्ठों का है, जिसका कुछ अंश यहाँ पर प्रस्तुत है --

अस्ति रम्यता निरन्तसकलसुरलोका स्वपदापहार-शङ्कितशतक्रतु प्रार्थितेन शततमक्रतुवाञ्छाविच्छेदार्थमिव पार्थिवानामिक्ष्वाकूणामुत्पादिता प्रजापतिना, वृत्तोज्ज्वलवर्णं शालिनी कणिकेवाम्भोरुहस्य मध्यभागमलंकृत्य स्थिता भारतवर्षस्य, तुषारधवल भित्तिना विशाल-वप्रेण परिगता प्राकारेण × ×

सर्वाश्चर्यनिधानमुत्तर कोशलेष्वयोध्येति यथार्था-भिधाना नगरी।[२]

संस्कृत के ऐसे कई महाकाव्यों में

१ - महापुराण, भाग २ ३४ वां पर्व श्लोक ३-७

२ - तिलकमञ्जरी - पृष्ठ ७-११

जो राम या राम के वंश की कथा पर आश्रित हैं, श्री अयोध्या का चित्रण मिलता है। इस दृष्टि से तीन महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय हैं, रघुवंश, जानकीहरण और भट्टिकाव्य। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में वैवस्वत मनु से लेकर महाराजा कुश और उनके आगे तक की कथा लिखी है। इसमें आरम्भ में ही अयोध्या के वर्णन का अवकाश था, पर कवि ने यहां वर्णन नहीं किया। महाकाव्य के सोलहवें सर्ग में कवि ने अयोध्या की दुर्दशा का चित्रण किया है। रघुवंश में अयोध्या का यह चित्र सर्वथा यथार्थ प्रेरित और मौलिक है। कवि की प्रसंग कल्पना पाठक को और भी व्यथित, रोमांचित कर देती है। महाराजकुश अयोध्या से बहुत दूर पश्चिम दिशा में अपनी बसायी हुई नगरी कुशावती में रहने लगे थे। उन्हीं दिनों एक बार अर्धरात्रि में उन्होंने एक अदृष्टपूर्व और रहस्यमयी स्त्री को अपने समीप देखा—

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थ कलत्रवेषामदृष्टपूर्वाम् वनितामपश्यत् ॥

—रघुवंश, १६सर्ग,४

जब महाराजकुश ने विस्मय भरी मुद्रा में उसके बारे में पूछा तो उसने स्वयं को अनाथ अयोध्यापुरी की अधिदेवी बताया—

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या यानीतपौरा स्वपदोन्मुखेन।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥

—रघुवंश १४, सर्ग ६

इसी क्रम में आगे कवि ने अयोध्या को उस देवी के मुख से उस नगरी की करुणदशा का वर्णन किया है। वह कहती है कि अपनी समृद्धि से अलकापुरी के ऐश्वर्य को भी तुच्छ सिद्ध करने वाली मैं तुम्हारे जैसे रघुवंशी के जीवित रहते ही इस दीन दशा को प्राप्त हो गई हूं।१ टूटी अटारियों व परकोटों वाली मुझमें अस्तंगत सूर्य और बिखरे हुए मेघों से युक्त सन्ध्या की प्रतिस्पर्द्धा लक्षित होती है।२ मेरे राजमार्गों पर जो कभी अभिसारिकाओं के चरणाभूषणों से ध्वनित रहते थे, अब मांस ढूंढती हुई शृगालियां विचरण करती हैं। ३ स्त्रियों के कोमल करतल से प्रताड़ित होकर मृदंग वत् मधुर ध्वनि करने वाला बावड़ी का जल अब भैंसों की सीगों की चोट खाकर कठोर शब्द करता है।४ जंगल की दावाग्नि से मोरों के पंख जल गये हैं और वे नृत्यकर्मशून्य होकर जंगली हो गये हैं। ५ जो सोपानमार्ग युवतियों के चरणों में लगे हुए महावर से लाल रहते थे वे अब सिंहों के द्वारा मारे गये मृगों के रक्त से लाल रहते हैं।६ कमलबन के हाथी हिंसक सिंहों के द्वारा हताहत किये जा रहे हैं।७ इत्यादि। अयोध्या का यह चित्र कितना मार्मिक और विगलित कर देने वाला है। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में अयोध्या का रम्य और विमुग्धकारी स्वरूप ही बहुत बाद तक

१–रघुवंश, १६ वाँ सर्ग, श्लोक १०
२– ,, ,, ,, ,, ११
३– ,, ,, ,, ,, १२
४– ,, ,, ,, ,, १३
५– ,, ,, ,, ,, १४
६– ,, ,, ,, ,, १५
७– ,, ,, ,, ,, १६

चित्रित होता रहा। इतिहास साक्षी है कि पुरी ने दुर्दशा के दिन भी देखे हैं, पर उसका सर्व प्रथम चित्रण रघुवंश में ही मिलता है। कोई इसे कविकल्पना कह सकता है, पर यह कितनी सच्ची हैं। बड़े दुःख का विषय है कि आज की अयोध्या फिर उसी दिशा में पहुँच रही है। यहाँ बन्दरों के उपद्रव के जो लोग भुक्त भोगी रहे हैं या हैं उनके सामने रघुवंश का यह श्लोक कितना सार्थक है—

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः॥

[विलासिनी स्त्रियों ने दया पूर्वक जिन लताओं को झुकाकर फूल तोड़ा था, मेरी उन उद्यान लताओं को अब बन के बानर बहुत दुःख देते हैं]

अयोध्या की यह दुर्दशा रघुवंश में १२ श्लोकों में वर्णित है।१ महाराज कुश अयोध्या की यह करुण दशा सुनकर आर्द्र हो उठते है और अयोध्या देवी का आग्रह मानकर पुनः अयोध्या वापस आते हैं और उसे भलीभाँति बसाते हैं।

सिंहलकवि कुमारदास कृत महाकाव्य जानकीहरण तो अयोध्या नगरी की लोकोत्तर दिव्यता के चित्रण से ही आरम्भ होता है—

आसीदवन्यामतिभोगभारा दिवोऽवतीर्णा नगरीव दिव्या।
क्षत्रानलस्थान शमी समृद्ध्या पुरीमयोध्येति पुरी परार्ध्या॥

जानकीहरण सर्ग १; श्लोक १

[अत्यधिक भोग सामग्रियो के भार से पृथ्वी पर उतरी हुई स्वर्गिक नगरी के तुल्य, अपनी समृद्धि के कारण नगरियों में श्रेष्ठ क्षत्रियरूपी अग्नि के निवासस्थानभूत शमी वृक्ष के समान अयोध्या नाम की एक नगरी थी]

जानकीहरण में प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक १२ श्लोकों में अयोध्या का बड़ा ही भव्य और उदात्त स्वरूप चित्रित है।१ यह वर्णन विशुद्ध रूप से कलात्मक है और इसमें कवि-प्रौढ़ोक्तियों तथा वर्णनोपयोगी अलंकारों का प्रचुर प्रयोग मिलता है,। उदाहरणार्थ कवि का यह कथन कि अयोध्या के ऊँचे महलों के स्वर्ण कलशों में जटित पद्मराग मणियों की कान्ति के स्पर्श से रक्त वर्ण होने वाला चन्द्रमा मानो पुरांगनाओं के सौन्दर्य से ही लज्जित और क्षुब्ध होकर रक्तवर्ण हो गया है, प्रकाश फैलाने वाले रत्नों से युक्त काञ्चनतोरणों वाली अयोध्या में रात्रि को भी अन्धकार नहीं आ पाता; जिससे अभिसारिकाओं की मनोरथपूर्ति नहीं हो पाती,३ जिसके नगर परिखागत हंस ने नगर के भीतर के एक सुन्दर जलाशय को देखने की इच्छा से नगर प्राकार को अलंघ्य देखकर परशुराम जी के उस वाण का स्मरण किया था जिस वाण ने दृढ़ क्रौञ्च पर्वत की कन्दराओं को छेद डाला था ४ आदि। इस प्रकार अयोध्या की अनेक विशेषताएँ बता चुकने के बाद कवि ने बारहवें श्लोक में कहा कि ऐसी अयोध्या में सूर्य के समान पराक्रमी, तेजस्वी दशरथ नाम के पृथ्वीपति हुए—

तत्राऽभवत् पंक्तिरथाभिधानो भर्ता भुवो भानुनिभः प्रभावैः।
क्षत्रान्वयैर्विभ्रदलंध्यमन्यक्ष्मानाथमानं जयमानमोजः॥

१–जानकी हरण, प्रथमसर्ग, श्लोक १–१२
२– " " " २
३– " " " ३
४– " " " ५

महाकवि भट्टि ने अप्रतिम पराक्रमी और चक्रवर्ती राजा दशरथ के निवास स्थान के प्रसंग में ४ श्लोकों में अयोध्या को सुन्दरता और समृद्धि की चर्चा की है।' यह वर्णन भी अयोध्या की दिव्यता के सम्बन्ध में परम्परागत उपादानों पर ही अधिक आश्रित है। आज कहीं-कहीं उन उपादानों का किञ्चित् मौलिक क्रियान्वयन मिलता है जैसे–

अन्तर्निविष्टोज्ज्वलरत्नभासो गवाक्षजालै
रभिनिष्पतन्त्यः ।
हिमाद्रिटङ्कादिव भान्ति यस्यां
गङ्गाम्बुपातप्रतिमागृहेभ्यः ॥

[जहाँ भीतर रखे हुए उज्ज्वल रत्नों के प्रकाश गृहों के झरोखों के द्वारा बाहर निकलते हुए, हिमालय के उर्ध्वदेश से निकलते हुए गंगाजल के प्रवाह के समान शोभित होते हैं]

अन्य अनेक काव्यग्रन्थों व कथाग्रन्थों में भी अयोध्या सम्बन्धी वृतान्त प्रचुर मात्रा में भरा पड़ा है। केवल सस्कृत ग्रन्थों से ही यदि एतद्विषयक सम्पूर्ण सामग्री संकलित की जाय तो वह एक वृहदाकार ग्रन्थ का रूप ले लेगी। यह बात अवश्य है कि विभिन्न ग्रन्थों में अयोध्या का वर्णन अलग-अलग ढंग से किया गया है। प्रेरणा भेद, प्रसंग भेद, और दृष्टिकोण के भेद से अयोध्या के एकाधिक रूप संस्कृत वाङ्मय में ही चित्रित है। प्रतिनिधि स्रोतों की सम्बन्धित सामग्री का अनुशीलन करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि स्थिति के विचार से संस्कृत वाङ्मय में अयोध्या के दो रूप (परायोध्या और भौतिक अयोध्या) वर्णित हैं। भौतिक या पार्थिव अयोध्या के भी मुख्यतः दो रूप माने जा सकते हैं। पहला वह, जिसमें अयोध्या का किसी प्रतापी नरेश की अद्वितीय शोभा व समृद्धि से परिपूर्ण राजधानी मानकर चित्रित किया गया है। ऐसे वर्णनों में अयोध्या को बड़ी और दिव्य नगरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरा रूप वह है जिसमें अयोध्या को विशिष्ट माहात्म्य सम्पन्न तीर्थ अथवा धर्म केन्द्र माना गया है। वैदिक धर्मावलम्बियो के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिक्ख तथा इस्लाम धर्म के मानने वाले भी अयोध्या को अपना तीर्थ मानते हैं और उनकी इन मान्यताओं के अपने अलग-अलग कारण हैं।

परायोध्या और तीर्थ स्वरूपा अयोध्या के बारे में जो बातें कही जाती हैं वे प्रायः प्राचीन ग्रन्थों और धार्मिक परम्पराओं पर आधारित हैं। उसे आस्था के साथ ही हृदयङ्गम किया जा सकता है। परायोध्या व पार्थिव अयोध्या की तात्त्विक अभेदता के लिए भी यह बात उसी रूप में लागू होती है। प्राचीन ग्रन्थों में परालोक की अयोध्या की समानधर्मा पार्थिव अयोध्या के निर्माण के प्रसंग है और उनमें से एक दो की चर्चा इस लेख में भी की गई है। अन्य प्राचीन मध्यकालीन व आधुनिक भारतीय भाषाओं में एतत्सम्बन्धी विपुल सामग्री भरी पड़ी है जिसके समावेश का अवकाश प्रस्तुत लेख मे नहीं था। यहाँ तो मात्र संस्कृत ग्रन्थों में ही अयोध्या सम्बन्धी सामग्री की खोजबीन हमारा लक्ष्य था और उस दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रतिनिधि ग्रन्थों पर दृष्टिपात किया है। हां, एक बात और ऐसी अवश्य है जिसके बिना यह आलेख कदाचित अपूर्ण रह जाता और वह यह कि ऐसे अनेक अज्ञात रचनाकारों की अनेक रचनाएँ भी लोकमुख में जीवित हैं, जिनमें अयोध्या की महिमा के व्याज से उसका यत्किञ्चित् परिचय भी मिलता है और वे रचनाएँ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों

की अयोध्या वर्णन सम्बन्धी पंक्तियाँ से कम लोकप्रिय और चर्चित नहीं हैं, यथा—

विष्णोः पादमवन्तिकां गुणवतीं मध्यञ्च काशीपुरीम्
नाभिं द्वारवतीं पठन्ति हृदयं मायापुरीं योगिनाः ।
ग्रीवामूलमुदाहरन्ति मथुरां नासाञ्च वाराणसीम्
एतद् ब्रह्मविदो वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरीं मस्तकम् ॥

× × ×

यस्यां भाति प्रमोदकाननवरं रामस्य लीलास्थलं,
यत्र श्रीसरिताम्बरा च सरयू रत्नाचलः शोभते ।
ध्येया ब्रह्ममहेशविष्णुमुनिभि र्ह्यानन्ददा सर्वदा,
सायोध्या परमात्मनो विजयते धाम्नां परा मुक्तिदा ॥

—❀—

LIFE.

Mau comes into this world without his consent and leaves it agai st his will: on earth he is misjudged and misunderstoo i. In infancy he is an angel; in boyhood he is a devil; in manhood he is a fool, If he has a wife and family he is a chump. If he is a bachelor he is inhuman and mean. If he enters a publie-house he is a drunkard. If he stops out he is a tempe rence, fanatic and a miser, If he is a poor man he has no braink. If he is rich he has all the luck in [the world and a crook· If he has brains he is eonsidered too smart. If he goes to church he is a hyprocrite; if he stays away he is a sinful man. If he gives to ch rity or does a good turn it is for advertisement–if he does not, he is stingy a id mean. When he comes into the world everybody wai ts to kiss him, before he goes out everybody wants to kick him. If he dies young there w s a great future before him– if he lives to a ripe old ge everyone hopes he has made a will. It is, therefore, impossible to please everyone so do your duty and be fearless, use yvur own commonsense and even if you do make a mistake it is better than doing nothing. Keep smiling as nobody wants to hear about your troubles, they have wagon loads of their own.

भक्ति का स्वरूप और उसका विकास

गोपाल सिंह (विशारद), साहित्य-रत्न
विद्याभूषण, वकील; शपथायुक्त, श्री अयोध्या

दुःख एक ऐसी अवस्था है जिसमें आस्तिक ही नहीं, कभी कभी नास्तिक व्यक्ति भी व्यग्र होकर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर उठता है। जिस समय दृष्ट शक्ति के रक्षण से कष्ट पाने वाला दुखी व्यक्ति हताश हो जाता है, उस समय वह अदृष्ट शक्ति का चिन्तन करने लगता है। वैसे भी, मन की ऐसी कष्ट देने वाली अवस्था, जिससे छुटकारा पाने की सदा इच्छा रहती है, इच्छापूर्ति प्रायः उपायान्वेषण से होती है।

अभाव की पूर्ति के लिये मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृति होती है। जिस के पास धन नहीं है, वह धनोपार्जन द्वारा धनाभाव की पूर्ति का प्रयत्न करना चाहता है, जिसके पास ज्ञान की कमी है, वह ज्ञानार्जन द्वारा ज्ञानाभाव की पूर्ति करना चाहता है, इत्यादि। यही जब जीव का स्वभाव है, तो अल्पायु चिरायु बनना और शक्तिहीन, शक्तिवान् बनना एवं दुःखी व्यक्ति सुखी बनना अवश्य चाहेगा। जीव में सभी वस्तुओं की न्यूनता है। किन्तु, परमात्मा में सभी वस्तुएं विद्यमान होकर वह परिपूर्ण है। अतः परमात्मा से मिलकर उसके पास से इन वस्तुओं के लाभ की लालसा मनुष्यों की होती हैं, उस परमात्मा के पास जाने या उसका सामीप्य प्राप्त करने के उपायों का नाम भक्ति या उपासना है।

ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहते हैं, भक्ति भगवान के प्रति अनुराग रूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकार के हैं; यथा स्नेह, प्रेम, और श्रद्धा। अपने से छोटों में अनुराग स्नेह, समान-समान में अनुराग प्रेम, और श्रेष्ठों में अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीनों प्रकार के प्रेम लौकिक तथा नश्वर हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त परमेश्वर के प्रति जो अनश्वर तथा अलौकिक अनुराग है, उसे भक्ति कहते हैं।

भक्ति के लक्षण और भी स्पष्ट करने के लिये यह कहा जायगा कि मनुष्य जितना पशु-भाव के अधिकार को छोड़ता हुआ, देव-भाव के अधिकार को प्राप्त करता जाता है, उतना ही उसमें प्रेम और अनुराग की वृद्धि होती जाती है, अनुराग और प्रेम पहचानने का लक्षण यह है, कि मनुष्य जितना अपने स्वार्थों को भूलकर दूसरे के स्वार्थों को अपना समझता जाय उतना ही वह मनुष्य प्रेमिक कहलाता है।

माता पिता, कन्या तथा पुत्र के लिये अपने स्वार्थों को भूलकर पुत्र-कन्या के

सुख से अपने को जितना सुखी समझते हैं, उतना ही वे प्रेमिक माता-पिता कहलाते हैं। पति-पत्नि के लिये, पत्नि पति के लिये, मित्र—मित्र के लिये, जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करते हुए, एक दूसरे के दुःख से अपने को दुखी अनुभव करेंगे, उतना ही वे प्रेम-राज्य के अधिकारी माने जाते हैं, दूसरे के दुःखार्थ अपने को भूलना, दूसरे के सुख के लिये अपने सुख का विसर्जन करना, स्वयं दूसरे का बन जाना, यही अनुराग की भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत में श्रद्धा, प्रेम और स्नेह रूप से तीन प्रकार का होता है, जैसा कि, पहले कहा जा चुका है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्ध्वगामी श्रद्धा; और सहगामी प्रेम तीनों में ही लौकिक नाशवान अवलम्बन होने से तीनों दुःख के मूल हैं, किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं होता। भक्ति का अधिकारी भगवान् का उपासक, संसार को भूलकर अपने अनुराग-प्रवाह को अलौकिक, अनश्वर, नित्यानन्द-रूप भगवान् की ओर प्रवाहित करता है। अतः दुःख लवलेश विहीन एतादृश अलौकिक अनुराग ही भक्ति वाच्य का पद है।

भारत में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने से हिन्दू जनता के लिये हृदय में गौरव, अभिमान और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियां और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सान्त्वना का दूसरा मार्ग ही क्या हो सकता था? काल के प्रतिनिधि कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये भक्ति का एक नया मैदान खोजने लगे।

क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि, उसकी लपेट में न केवल हिन्दू जनता ही, प्रत्युत देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये, और प्रेम स्वरूप परमात्मा को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला।

रामानुजाचार्य जी, जो संवत् १०७३ में थे, ने शास्त्रीय पद्धति से जिस भक्ति का निरूपण किया था, उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी। गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य जी (सं १२५४-१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्व भाग में जयदेव के कृष्ण-प्रेम संगीत की गूंज चली आ रही थी, जिसके सुर में मिथिला कोकिल विद्यापति ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्य भारत में एक ओर तो ईसा की १५ वीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द जी हुए।

जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया और एक बड़ा भारी सम्प्रदाय खड़ाकर दिया, दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्य जी ने प्रेम-मूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्परायें चलीं जिनमें आगे चलकर हिन्दी काव्यों को प्रौढ़ता पर पहुंचाने वाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ।

गोपाल सिंह (विशारद)
साहित्य रत्न, वकील-
श्रीअयोध्या

DAILY RESOLVE

I WILL THIS DAY TRY TO LIVE A SIMPLE, SINCERE, AND CALM LIFE; REPELLING PROMPTLY EVERY THOUGHT OF DISCONTENT, ANXIETY, DISCOURAGEMENT, IMPURITY AND SELF-SEEKING; CULTIVATING CHEERFULNESS. MAGNANIMITY, CHARITY AND HABIT OF HOLY SILENCE; EXERCISING ECONOMY IN EXPENDITURE, CAREFULNESS IN CONVERSATION, DILIGENCE IN APPOINTED SERVICE; FIDELITY TO EVERY TRUST AND CHILD-LIKE TRUST IN GOD.

समाज में धर्म तथा कर्म की महत्ता

--पी०पी०श्रीवास्तव

धर्म व कर्म मानव-जीवन में दो ऐसे क्षेत्र हैं जो अभिन्न, असीमित तथा मनुष्य के प्रत्येक क्षण व पल में विद्यमान रहते हैं। ये दोनों ही क्षेत्र ईश्वरमय, शक्तिमय, विद्यामय व सभी गुणों से सम्पन्न हैं। मानव रचना के समय जिस प्रकार से स्त्री पुरुष, दो हाथ, दो पाँव, दो कान, दो आँख आदि बने उसी प्रकार से समाज को सुचारु रूप से संचालन करने के लिये ही धर्म तथा कर्म की उत्पत्ति हुई और इन्हीं दो महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर ही हमारे सारे क्रिया कलापों की आधारशिला टिकी हुई है। इन्हीं दो तत्वों से चेतना होती है, चेतना से ही ज्ञान होता है तथा ज्ञान से ही हमारे सारे क्रियाकलापों का संचालन होता है। समाज रूपी रथ का सुचारु रूप से संचालन हम इन्हीं दो धुरों के सहारे कर सकते हैं। पर यह आवश्यक है कि हमारे रथ के ये धुर मजबूत हों, समान रूप से बने हों तथा जिस पैमाने में चाहिये उसी पैमाने में इनकी रचना की जाये। अगर किसी भी तरफ का धुर असमान, असंतुलित होगा तो रथ तो चलेगा ही नहीं, अगर कुछ चला भी तो उस रथ में तथा इसके बगल में चलने वाले लोगों को क्षति पहुँच सकती है। अतएव हमारे समस्त धर्म-गुरुओं, कर्म-गुरुओं, जो कि इस समय मठाधीश हैं, पुजारी हैं, भक्त हैं, धार्मिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं तथा न्यायाधीशों, नेताओं, शिक्षकों उद्योग पतियों सभी का बहुत बड़ा दायित्व समाज के प्रति अपने-अपने क्षेत्र में करने कराने के लिए है। यह कैसे हो सकता है इस सम्बन्ध में अलग-अलग लोगों का कुछ प्रयास रहा है पर मिलकर के नहीं, जिसका नतीजा यह रहा कि अभी भी हम ३४ वर्ष की आजादी में कुछ उन्नतिशील कार्य नहीं कर सके या जहाँ से चले थे कुछ माने में उससे भी पीछे हो गये।

मेरे विचार से तो प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता ने धर्म को ही अपनाया, कर्म पर यथोचित ध्यान नहीं दिया। इसका फल यह हुआ कि बाहरी शक्तियों ने इसे गुलाम बनाया, यहां के धर्म को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया और हमारी उन्नति को बार-बार हमले कर के पीछे ढकेलते रहे। जब हम पाश्चात्य सभ्यता का सिंहावलोकन करते है तो यही पाते है कि उन्होंने कर्म की महत्ता को अधिक उजागर किया, जिसका फल यह रहा कि उनकी सभ्यता आधारहीन, शक्तिहीन तथा खोखली है। लोगों के अन्तर्गत विक्षोभ frustration, द्वेष, लालच, स्वार्थ ही भरा है। प्रेम, स्पर्धा तथा जीवन के मूल्य को समझने की शक्ति नहीं है, क्षणिक सुख तथा सम्पत्ति प्राप्त करने में लगे हैं तथा उसका नतीजा यह है कि दैत्य के रूप में उनकी सभ्यता हमारी सभ्यता के ऊपर बार-बार प्रहार करती आई है तथा क्षति पहुँचाती आई। इस परिस्थिति में हमारे देश के धर्म तथा कर्म



श्री पी० पी० श्रीवास्तव

गुरुओं का कर्तव्य बहुत ही बड़ा है जिसका ही वर्णन करना वश की बात नहीं है। कुछ धर्म गुरुओं ने पाश्चात्य देशों में कुछ काम अवश्य किये पर ठोस रूप में नहीं; वह भी पश्चात्य ढंग पर। पाश्चात्य लोगों को आकर्षित करने तथा कुछ निहित स्वार्थ पूर्ण भावना को ऊपर रखते हुए किया गया। त्याग व तपस्या का आधार न लिया गया, efforts में कुछ दोष दिखाई देता है। अफ़सोस है कि इस कार्य में हमारे सभी धर्म-गुरुओं का मतैक्य नहीं हो सका। अगर इनका मतैक्य रहना तो काफी ठोस तथा फलदायक कार्य इस दिशा में हो सकता।

यही स्थिति हमारे कर्म गुरुओं की रही। मतैक्य होकर काम करना तो हमारे किसी भी वर्ग के स्वभाव के खिलाफ है। स्वतंत्रता के बाद इसी भावना ने कर्म क्षेत्र में बाधायें प्रदान कीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि लोगों को सही दिशा नहीं मिल सकी तथा लोग कर्म क्षेत्र में भटकने में ही सारा समय गँवा बैठे, और आज इतने समय के बाद भी हम कुछ अर्जन नहीं कर सके। यह हमारे कर्म गुरुओं, नेताओं, सांसदो की कमी रही। उन्हों ने अपनी ही कुल्हाड़ी से, जिस डाल पर बैठे थे उसको काटा अपने तो गिरे ही, साथ में डाल के नीचे रहने वालों को भी खत्म कर दिया। त्याग व तपस्या का उदाहरण जो कि हमें भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी से मिला उसको इन लोगों ने ताक पर रखकर देश में कुरीतियों, भ्रष्टाचार; स्वार्थपरता आदि निहित स्वार्थों, को बढ़ावा दिया और नतीजा यह हुआ कि आज देश में भुखमरी, गरीबी, छीनाझपटी, द्वेष, घृणा आदि विकराल रूप मे अपना रूप धारण किये हमारे ऊपर बढ़ आया है। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है "सकल पदारथ यही जगमाही। कर्म हीन नर पावत नहीं"।

यह तो अलग-अलग विवेचना रही. धर्म तथा कर्म गुरुओ की। अब हम विचार करें कि इस दिशा मे हम कैसे आगे बढ़ें कि जिससे ये दोनों ही पहलू अपनी-अपनी महत्ता को समझकर, अपवेको एक मंच पर लाकर अपना भूमिका ठीक कर सकें। वर्तमान संवैधानिक दृष्टिकोण से यह एक असम्भव सी बात है कि सरकार या सरकारी संस्थायें धार्मिक क्षेत्र में कुछ योगदान कर सके। वे अपने कर्म के क्षेत्र में ही कुछ कर सकती हैं पर दिशा सही उनको अगर मिल सकी तभी। या धार्मिक क्षेत्र में बहुत कुछ किया जा सकता है जिसमें कि भारतवर्ष के ७० करोड़ लोगों का योगदान आर्थिक तथा शरीरिक रूप में मिल सकता है। यह तभी हो सकता है जब हमारी धार्मिक संस्थायें, धर्म गुरु व्यापक विचार रखकर समाज सेवा का धर्म मानकर, एकमत होकर, निःस्वार्थ तथा श्रद्धा और निष्ठा की भावना से जुटें। वे एकमत होकर या प्रेम, सदभावना प्रगतिशील विचारो का संचार कर सकें तथा देश में व्याप्त कुरीतियों विचारधाराओं को समाप्त कर, एक नयी सामाजिक राजनैतिक विचार धारा दे सकें। इस धर्म से सम्बन्धित लोगों को ही करना होगा उन्हें ही आगे आना होगा। उनसे ही भारतीय समाज का कल्याण हो सकता है।

—जय धर्म जय कर्म—

—❀—

जासु कृपा निर्मल मति पावौं

– हरी सरन अग्रवाल

प्रातर्वन्द्य श्री गोस्वामी जी ने श्री राम-चरितमानस के बालकाण्ड में विस्तृत बन्दना की है। उस बन्दना के प्रकरण में आपने जगज्जननी श्री सीता जी की बन्दना दो चौपाइयों में की है।

वे चौपाइयां हैं —

जनकसुता जगजननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुना निधान की ।।
ताके जुग पद कमल मनावौं।
जासु कृपा निर्मल मति पावौं ।।

श्री गोस्वामी जी ने यह बन्दना इसलिए की है कि वे श्री सीता जी की कृपा को प्राप्त करके शुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर सकें, ऐसी बुद्धि, जिसमें किसी प्रकार का मल न हो। जिसके आलोक में वे रामचरित मानस जैसे प्रातिभ काव्य की रचना कर सकें। जो रजोगुण एवं तमोगुण को अभिभूत करके उद्रिक्त-सत्त्वगुणजन्य हो। किन्तु, ऐसी बुद्धि की प्राप्ति तो बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी से ही हो सकती है। जो ज्ञानाकर हो उसी से ऐसी बुद्धि मिल सकती है। श्री सीता जी ज्ञानाकर हैं। वे ही बुद्धि की वास्तविक अधिष्ठात्री देवी हैं। सरस्वती जी में तो वह शक्ति श्री सीता जी की कृपा से ही प्राप्त है।

श्री वत्साङ्क मिश्र के शब्दों में –

लोके वनस्पति-बृहस्पति-तारतम्यं,
यस्याः कटाक्षपरिणाममुदाहरन्ति।
सा भारती भगवती तु यदीयदासी,
तां देव देवमहिषीं श्रियमाश्रयामः ॥
'श्री स्तव'

वनस्पति होना बुद्धिमान्द्य की पराकाष्ठा है। बृहस्पति होना बुद्धि-प्रकर्ष की पराकाष्ठा है। श्री सरस्वती जी की कृपा का अत्यन्त अविषयभूत जीव वनस्पति के समान अज्ञ होता हैं। श्री सरस्वती जीं का परम प्रियपात्र बृहस्पति शब्द वाच्य है।

किन्तु वे सरस्वती जी भी भगवान् की परम प्रियतमा श्री-देवी की प्रियतमा दासी हैं। श्री देवी तो पूर्ण षडैश्वर्यों की अधिष्ठात्री देवी हैं। ज्ञान उस षडैश्वर्य का एक अंग है। इसी अभिप्राय को हृदय में रखकर श्री गोस्वामी जी ने श्री सीता जी से रजोगुण एवं तमोगुण को अभिभूतकर उद्रिक्तसत्त्वजन्य ज्ञान प्राप्ति हेतु उनकी कृपा की प्रार्थना की है।

प्रार्थना की पहली चौपाई में आपने श्री सीता जी के लिए अन्वर्थ विशेषणों का प्रयोग किया है। आपने उनको सर्वप्रथम जनकसुता बतलाया है। यह बिशेषण श्री सीता जी के पितृवंश की ओर संकेत करता है। जनक-वंश ज्ञान-गरिमा के लिए वेद विख्यात है। उपनिषदों में इसकी भरपूर चर्चा की गयी है। आपके पिता जनक जी को ज्ञानियों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। आप उन्हीं श्री जनक जी की पुत्री हैं। अतएव भी आपका ज्ञानाधि-

ष्ठात्री देवी होना स्वाभाविक है।

किन्तु किसी की भी वदान्यता सहेतुक होती है, निर्हेतुक नहीं। श्री सीताजी ज्ञानाधिष्ठात्री देवी हैं फिर भी आपकी सहसा इतनी कृपा कैसे संम्भव है, जिसके द्वारा प्रेरित होकर आप प्रातिभकाव्य प्रणयनोपयोगिनी बुद्धि को प्रदान कर दें ? इस शंका का निरास करते हुए श्री गोस्वामी जी कहते हैं— 'जगजननी'

अर्थात् श्री जानकी जी जगत् की माता है और भगवान् श्री राम जगत् के पिता। इतिहास और पुराण साक्षी हैं कि श्री-देवी सहित श्री भगवान् ही श्रीसीता और श्रीराम के रूप में अवतीर्ण हैं – 'राघवत्वेऽभवत् सीता' यह विष्णु पुराण कहता है। भगवान् को जगत् का पिता, जगत् का मूल, जगत् के आधार आदि वेदों में स्थान-स्थान पर बतलाया गया है। अतएव श्री सीता जी का जगन्माता होना स्वाभाविक है। माता अपने पुत्र और विनयसम्पन्न पुत्र के लिए महान् से महान् त्याग कर सकती है। श्री सीता जी का तो कहना ही क्या ? वे तो अपने भक्तों को सब कुछ भी देकर यही अनुभव करती हैं कि मैंने इसे अभी कुछ भी नहीं दिया। देखें श्रीपराशर भट्टर के भावों को—

'ऐश्वर्यमक्षरगतिं परमं पदं वा,
कस्मैचिदञ्जलिभरं वहते वितीर्य।
अस्मै न किञ्चिदुचितं कृतमित्यथाम्ब,
त्वं लज्जसे कथय कोऽयमुदारभावः॥

(श्री गुणरत्नकोश)

जब श्रीसीता जी इतनी उदार हैं तो उनके लिए प्रातिभ-काव्य प्रणयनोपयोगिनी बुद्धि का प्रदान कौन सी बड़ी बात है ?

किन्तु यहाँ पर भी एक शंका सहज ही उत्पन्न हो जाती है। वह यह है कि शास्त्रों में सर्वज्ञ तत्त्व को एक ही बतलाया गया है। वह तत्त्व परमात्म तत्त्व ही है। उसी को सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण तेज, सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण बल का आश्रय बतलाया गया है। श्री सीता जी को तो शास्त्रों में साक्षात् कहीं भी ऐश्वर्याधिष्ठात्री नहीं कहा गया है। ऐसी स्थिति में तो शास्त्रैकचक्षुष् विद्वानों की दृष्टि में श्री गोस्वामी जी का श्री सीताजी से प्रातिभकाव्य-प्रणयनोपकर्त्री कारयित्री प्रतिभा हेतु प्रार्थना अरण्यरोदन ही प्रतीत होता है।

इस शंका का अपनोदन करते हुये श्री गोस्वामी जी कहते हैं 'अतिसय प्रिय करुना निधान की' अर्थात् श्री सीताजी भगवान् की अत्यन्त प्रियतमा हैं। उनके ही मनोविनोदार्थ भगवान् अपनी लीला विभूति की सृष्टि, स्थिति और पालन तथा संहार किया करते हैं

'श्रियं समस्त चिदचिद् विधानव्यसनं हरेः।
अङ्गीकारिभिरालोकैः सार्थयन्त्यै कृतोऽञ्जलिः।

महर्षि बाल्मीकि के शब्दों में श्रीराम प्रभु श्री सीता जी को अपने से अभिन्न मानते हैं। जिस तरह चाँद से चाँदनी का अपृथक सिद्ध सम्बन्ध है भानु से प्रभा का अपृथक्सिद्ध सन्बन्ध है उसी तरह, श्रीराम और श्रीसीता का अपृथक् सिद्ध सबन्ध है।

'अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा।

यह श्री रामचन्द्र की उक्ति है। श्री सीता जी भी कहती हैं-

'अनन्या राघवेणाऽहं भास्करेण प्रभा यथा'

मानस में भी श्री सीता जी कहती हैं—

प्रभा जाइ कहाँ भानु बिहाई ।'

श्री सीता जी के ही लिये भगवान् श्री राम ने बालि का बध, समुद्र पर पुल का निर्माण, तथा रावण का बध किया था। जिस आकारत्रय सम्पन्ना सीता जी का चरम विश्लेष भगवान् को भी मर्त्यलोक छोड़ने के लिये विवश कर दिया' वे श्री सीता जी श्री राम प्रभु को कितनी प्रियतमा हैं, उसे तो कोई 'प्राणेभ्योऽपि गरीयसी' कान्ता का प्रणयी ही अनुभव कर सकता है।

लोक न्याय के अनुसार सामान्य पत्नियों का भी अधिकार पति के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पर देखा जाता है और उस पत्नी के अधिकार के विषय में क्या कहना है, जिसकी प्रसन्नता के लिये पति हर असंभव कार्य को करने के लिये उद्यत हो जिसके मायिक तथा अल्पकालिक वियोग--व्यथा से आर्त होकर पति 'चेतनाचेतनेंषु ज्ञानशून्य' होकर 'लता-तरु पाँती' से उसका पता पूछता चलता हो वह पत्नी अपने पति के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों की स्वामिनी है, यह स्वतः सिद्ध है। अतएव वे सर्वज्ञ प्रभु के खजाने से उद्रिक्त सत्व सम्पन्न ज्ञानांश का प्रदान स्वेच्छया प्रदान करने में सर्वथा स्वतंत्र हैं। इसीलिये गोस्वामी जी ने उनके चरण कमलों की बन्दना करते हुये कहा—

'जासु कृपा निरमल मति पावौं।'

४५ सदर बाजार
लखनऊ

अमृत वाणी

—श्री श्याम सुन्दर बेरीवाला

१ बदला लेने की भावना कभी मन में मत आने दो। अपना बुरा करने पर, गाली देने पर, निन्दा करने पर, मारने पर भी किसी का कभी बुरा न करो, न बुरा चाहो। बदला लेने की भावना बहुत बुरी है।

२ मन में सदा पवित्र भाव रखो, सब का हित चाहो, सबको उत्तम परामर्श दो; बुरी सम्मति मत दो। जो दूसरों में बुरे भाव फैलाने में सहायक होता है; वह बहुत बड़ा पाप करता है, उसका कभी हित नहीं हो सकता। अहित वाणी और शरीर से होता है।

३ असावधानी विनाश को बहुत शीघ्र बुला लाती है। सचेत रहो, सावधान रहो, जीवन महल के किसी भी दरवाजे से काम क्रोध रूपी किसी भी चोर को अन्दर न घुसने दो। सावधानी ही साधना है।

४ जीवन के एक-एक क्षण को मूल्यवान समझो और बड़ी सावधानी के साथ प्रत्येक क्षण भगवत् चिन्तन करते हुये लोक-हित के कार्य में बिताओ।

५ सुख चाहते हो तो दूसरों को सुख दो। मान चाहते हो तो मान प्रदान करो। हित चाहते हो तो हित करो, और बुराई चाहते हो तो बुराई करो। याद रखो जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल मिलेगा।

६ जहाँ तक बने, विषयों का संग्रह न करो, विषयों का चिन्तन न करो, विषयी पुरुषों का सङ्ग न करो, विषयाशक्ति बढ़ाने वाले दृश्य न देखो, बात न सुनो और इस तरह के ग्रन्थ न पढो, जिसके कारण मनका, धन का और रूप का लोभ उत्पन्न होता हो।

७ पाप को छोटा समझकर उससे कभी बेख़बर न रहो। याद रखो, आग की जरा सी चिनगारी बड़े भारी शहर को जला देती है। यह मत समझो कि काम-क्रोध लोभ का क्षणिक आवेश हमारा क्या बिगाड़ सकेगा।

८ मनुष्य के जीवन के एकक्षण का भी पता नही, न जाने किस पल में प्रलय हो जाय, कब मृत्यु आ जाय। पलक मारते-मारते मृत्यु के ग्रास बन जाओगे, फिर कब करोगे। मौत की घड़ी तो सदा ही सिर पर ही झूल रही है। जरा सा भी समय भगवान के भजन के बिना नहीं बिताना चाहिये। अभी जो जिस अवस्था में है उसे उसी अवस्था में साधन आरम्भ कर देना चाहिये। समय का मूल्य समझ कर आधे क्षण का भी विलम्ब नहीं करना चाहिये।

९ भोगों में सुख नही है, जैसे पानी में घी नहीं है बालू में तेल नहीं है, अग्नि में शीतलता नहीं है, अतः जो कोई भोगों से सुख की आशा करता है, उसे सदा निराश ही रहना पड़ता है। जितना अधिक तुम भोगों

की ओर अग्रसर होओगे, सदा सर्वदा दुःख सागर में डूबे रहोगे। वासना के ही कारण सारे दुःख मिलते हैं, इसलिये जो विषय वासना त्याग देता है, वही सुखी है।

१० मनुष्य को पाँच ऋण सदा ही चुकाना चाहिये। धन के प्राप्त होने पर दान करना चाहिये।

११ उन्नति चाहने वाले पुरुष को निद्रा, तन्द्रा भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घ सूत्रता इन छः दोषों का त्याग कर देना चाहिये।

१२ बुढ़ापा सुन्दर रूप को, आशा धीरता को मृत्यु प्राणों को, दोष देखने की प्रवृत्ति धर्माचरण को, क्रोध लक्ष्मी को, नीच पुरुषों की सेवा अच्छे शील स्वभाव को, काम लज्जा को और अभिमान सबको नष्ट कर देता है।

१३ निन्दक नियरे राखिये,
आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना,
निर्मल करै सुभाय॥

दुर्जन के लिये दुर्जन मत बनो। दुर्जन की दुर्जनता को अपनी सज्जनता से दबाओ।

१४ भगवान दीन बन्धु हैं। दीनों को बन्धु बनाकर, उनसे सौहार्द का व्यवहार करके ही दीन बन्धु की कृपा प्राप्त होती है। उनका पूजन, उनकी प्रार्थना – जीवन का सबसे महत्व पूर्ण अङ्ग और सबसे आवश्यक कार्य यही है।

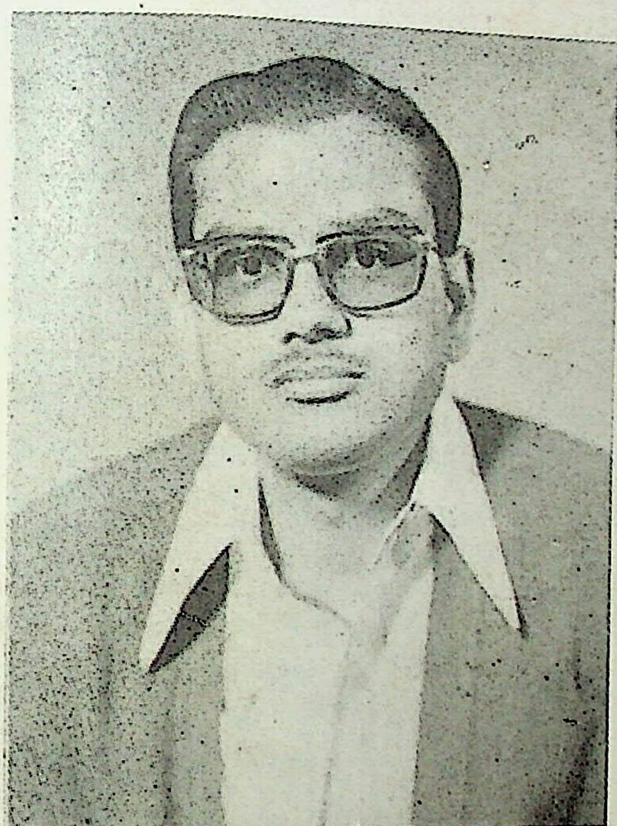
१५ व्यर्थ है शरीर का मोह, व्यर्थ है विजय का मोह, व्यर्थ है ऐश्वर्य का मोह, व्यर्थ है मान सम्मान का मोह, मोह का महल ढहेगा ही जीवन प्रारम्भ दुःख से हुआ और उसका पर्यवसान दुःख में हुआ।

१६ पर निन्दा न करो- पर निन्दा मत सुनो जहाँपर निन्दा होती हो, वहाँ मत बैठो दूसरे का दोष कभी मत देखो। अपने दोषों को सदा ही देखो। पर निन्दा सर्वदा त्याग करने योग्य है। प्रत्येक में कुछ न कुछ गुण है। दोष के अंश को छोड़कर गुण के अंश को ग्रहण करो इससे हृदय शुद्ध होगा, दोष की आलोचना करने से आत्मा मलिन हो जाती है। मनुष्य में दोषों का रहना असम्भव नहीं है, परन्तु उसमें जितना सा गुण है, उसी को लेकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। सरल हृदय से किसी की प्रशंसा करने से ईश्वरोपासना का काम होता है। दूसरे के गुण कीर्तन से पाप-ताप भाग जाते हैं। शान्ति आनन्द का आगमन होता है, निन्दा करने पर अपने सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

१७ भजन के लिये, कम बोलना, कम खाना कम सोना, सत्सङ्ग करना, एकान्त वास करना और आलस्य को अपने पास कदापि नहीं आने देना चाहिये, आलस्य भजन सत्संग का शत्रु है।

प्रत्येक गृहस्थ को कुछ समय भजन के लिये अवश्य लगाना चाहिये। ऐसा करने में आत्म विश्वास होता है। भगवान का भजन ही सार है। यह मनुष्य देह भजन करने के लिये मिला है।

१८ १ संसार को स्वप्नवत् जानो।
२ अति हिम्मत रक्खो।
३ अखण्ड प्रफुल्लित रहो, दुःख में भी।
४ परमात्मा का स्मरण करो।
५ किसी को दुःख मत दो।



श्री श्याम सुन्दर बेरीवाल

६ मर्यादानुसार चलो ।

७ जिससे तुमको नीचा देखना पड़े ऐसा काम मत करो, सावधान रहो । कोई कार्य ऐसा न हो कि चलते समय पछताना पड़े ।

८ मांस, मछली, अन्डे, मदिरा आदि पीना तो दूर, इन्हें छुओ भी मत । इन्हें अपने घर में मत आने देना । ये पापों की जड़ हैं ।

९ गौ-ब्राह्मण, देव मन्दिरों को श्रद्धा से सिर झुकाओ, प्रणाम करो ।

१० बहुत भयानक समय आने वाला है । अपने सनातन धर्म को मत छोड़ो ।

११ परस्त्री, परधन को भयानक विष के समान मानकर त्याग करना ।

१२ अपने को सबसे छोटा समझना, अभिमान न करना, घृणा न करना, कम बोलना, सत्य बोलना, दीनो पर दया करना, सबकी सेवा करना, पापों से सावधान रहना, सुवर्ण और स्त्री इनसे बचकर रहना, ये साधक के आवश्यक गुण हैं ।

१९ भोग्य वस्तु के साथ अधिक प्रेम होने से चित्त के नीचे जाने की संभावना होती है । विलासिता का सर्वदा त्याग करना चाहिये । भजन, भोजन और निद्रा नियत समय में ही होना चाहिये । शिष्टाचार को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ।

२० जो काम स्वयं कर सको, उसी में हाथ लगाओ, दूसरों के बलपर काम उठाने में अशान्ति भोगनी पड़ेगी ।

२१ पापियों के ऐश्वर्य को देखकर धर्म के फल में संदेह मत करो । विषयी और पापियों का सङ्ग साक्षात् विष से अधिक भयावह है । विषय तो साक्षात् अग्नि है और विष भी अग्नि के सम्पर्क में रहने वाले चिमटे के समान हैं । इसलिए चिमटों से सदा बचते रहो । विषयी और दुर्जनों से व्यवहार न करो । यदि कोई कार्य आ ही जाये तो इन लोगों से काम लेकर जल्दी से जल्दी दूर हट जाना चाहिये ।

२२ सदा उचित और अनुचित का ध्यान रखो । किसी के दबाव में आकर अनुचित कार्य करके पाप का संग्रह मत करो, क्योंकि जब उस पाप का फल तुम्हारे पास आयेगा तब तुम्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा । इसलिये जो कुछ करो, पाप पुण्य का विचार करके करो । ऐसा बीज मत बोओ जिसमें कांटे फलें, क्योंकि संसार में रहना नहीं है, जाना आवश्यक है साथ कुछ नहीं जायेगा । उदर पोषणके लिये अपने भाग्य पर बिश्वास करो । पेट के लिये धर्म मत छोड़ो । चरित्रवान् बनो । पाप करने से डरो । पाप जो हो जाये उसका स्मरण करो, छोड़ने की प्रतिज्ञा करो । समाधिस्थान, श्मशान का स्मरण करने से पाप दूर होता है । पापों से बचना हो तो सदा प्रभु का स्मरण करते रहना चाहिये कि वह सर्व व्यापी है, हमें हर समय देखता है ।

२३ प्रेम वह अग्नि है, जिसमें पाप और ताप जलकर भस्म हो जाते हैं । प्रेम से अपने मन, बचन और कर्म को पवित्र करो । कभी परस्पर द्वेष मत करो । अपने जीवन को सुखमय और आनन्दमय बनाने के लिये एक दूसरे से प्रेम करो । देश प्रेम करो ।

जा घर प्रेम न संचरै, सो घर जान मसान ।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिनु प्रान ॥

Hate the sin but love the sinner Love your enemies, Bless them that curse you. Do good to them that hate you

२३ विनम्र बनो । जो नम्र है उसे न किसी से भय

है और न पतन की चिन्ता।

सबते लघुता है भली लघुता से सब होय।
जस द्वितिया को चन्द्रमा सीस नवैं सबकोय ॥

नम्रता मानव जीवन का भूषण है। सच्चा बड़प्पन और सभ्यता विनम्रता में ही है। यदि संसार में उन्नति करना चाहते हो तो विनम्र बनो।

२४ समय का सदुपयोग करो। गया हुआ धन, खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या, लौट सकती है। परन्तु गया हुआ समय कदापि नहीं लौट सकता। जीवन बड़ा ही अल्प है, अतः आज के कार्य को कल पर मत छोड़ो, समय को व्यर्थ न जाने दो। समय के मूल्य को समझो। एक-एक क्षण का सदुपयोग करो।

1. Time is money
2. Watch your word
3. Watch your actions
4. Watch your thoughts
5. Watch your character
6. Watch your heart.

२५ असफलताओं से घबराओ मत। असफलता तो सफलता की सीढ़ी है। निरन्तर उद्योग करते रहो सफलता मिलेगी अवश्य।

जब तक न पूरा कार्य हो उत्साह से करते रहो।
पीछे न हटिये एक तिल आगे सदा बढ़ते रहो ॥
बाधाएँ कब बांध सकती हैं आगे बढ़ने वालों को।
विपदायें कब रोक सकती हैं मरकर जीने वालों को ॥
देख कर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं।
रह भरोसे भाग्य के दुःख भोग पछताते नहीं ॥

२६ किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का क्लेश मत दो, दया मनुष्य जीवन की सुगन्धि है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

सबके साथ दयालुता का व्यवहार करो, इससे क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं।

A kind heart is a fountain of gladness making evrything of its vicinity freshen into smiles.

२७ सत्य की महिमा महान् है। मनुष्य के लिये सत्य की रक्षा से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। जो असत्य भाषण करता है उसके तप आदि सारे कार्य निष्फल हो जाते हैं। सत्य से ही सूर्य तपता है, अग्नि जलती है वायु चलती है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती हैं। अतः धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं।

२८ सहनशील बनो, सङ्कटों से घबराना नहीं चाहिये। दुःख-सुख, मान-अपमान, हानि-लाभ में सम रहना चाहिये। जो सहनशील होता है वह सब कुछ जीत लेता है। मूर्खों के दुर्व्यवहार और कटु बचनों को सहन करो। सभाओं, समाजों और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असहनशीलता और क्रोध को त्याग कर सहनशील बनो।

२९ स्वाध्याय जीवन के लिये परमावश्यक है। जिस प्रकार शारीरिक उन्नति के लिये भोजन आवश्यक है ठीक उसी प्रकार आत्मिक उन्नति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है। इससे विचारों में पवित्रता आती है। वेद अध्यन से मनुष्य बड़े पापों से बच जाता है। स्वाध्याय के द्वारा मन पवित्र हो जाता है। जिससे मनुष्य पापों की ओर नहीं झुकता। अनार्ष, गन्दे, भद्दे उपन्यास और नाटक नहीं पढ़ना चाहिये। इससे समय का दुरुपयोग और जीवन का पतन होता है।

३० सत्संग की महिमा महान् है। सत्संगी बनो

तो जीवन का निर्माण होगा, यदि कुसंग में पड़ गये तो पतन होगा। पूर्ण विद्वान, योगियों और महात्माओं के साथ रहने से मनुष्य उन्नत होता है।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई॥

It is better to be alone than in a bad company

सत्सङ्ग त्रिविध तापों को दूर करके जीवन को निर्मल बनाता है।

आदमी को चाहिये दुनियाँ में रहना इस तरह जिस तरह तालाब के पानी में रहता है कमल। इस संसार में रहते हुये एक भी दुर्गुण, दुर्व्यसन, कुभावना, कुवासना, और गन्दे विचार न आने दो।

If every year you rooted out one of your faults you would soon become a perfect man

बुराई को तुरन्त छोड़ देना चाहिये। बुरी आदत भी छूट सकती है:-

बनी जो चीज है इस खाक से वह टूट जाती है।
करो कोशिश कमर कसकर, पड़ी लत छूट जाती है।

३१ ईमानदारी मनुष्य जीवन की आधार-शिला है। जिस प्रकार मकान के लिये छत, कुएं के लिये जल, और दीपक के लिये तेल है इसी प्रकार मनुष्य के लिये ईमान की आवश्यकता है।

An honest man is God,s best creation No legacy is so rich as honesty

अपने व्यवहार से ईमानदार बनो। जीवन के हर कार्य क्षेत्र में ईमानदार व्यक्ति का ही सम्मान होता है। बेइमान व्यक्ति का यह लोक और परलोक दोनों खराब हो जाते हैं, उसका आदर और सम्मान समाप्त हो जाता है। Just as health is to the body the same is honesty to the soul. A man of words not of deeds, is like a garden full of weeds

किसी को जल्दी में कोई बचन मतदो। पहले सोचो और फिर बोलो एकबार बचन देकर उसका पालन करो।

"अयोध्या--दर्शन"

—विष्णु प्रसाद पाठक,

प्रमुख दर्शनीय स्थान

श्रीराम जन्म भूमि–

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की जन्म-स्थली होने के कारण भारतीय तीर्थों में अयोध्या का अपना सर्वप्रमुख स्थान है। भगवान् राम की जन्म स्थली के विषय में कथा यों प्रसिद्ध है कि यह त्रेतायुग के बाद अनेक बार लुप्त (नष्ट भ्रष्ट) हुयी तथा कई बार बसाई गयी। महाराजा विक्रमादित्य के समय मात्र इतनी ही जानकारी अयोध्या के विषय में हो पायी थी कि अयोध्या नगरी सरयू नदी के तट पर कहीं स्थित है। धर्मानुरागी महाराजा विक्रमादित्य ने इस नगरी का अन्वेषण करके इसके जीर्णोद्धार का निश्चय किया। एतदर्थ उन्होंने सर्व प्रथम अयोध्या का अन्वेषण किया, तत् पश्चात् (कामधेनु) गौओं के माध्यम से भगवान् राम की जन्म स्थली भी खोज निकाली। अयोध्या नगरी के अन्वेषण तथा पुनः श्री राम की जन्म भूमि की खोज के विषय में एक रोचक कथा अयोध्या के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। विस्तार के भय से उस कथा का उल्लेख यहां नहीं किया जा रहा है। [सुधी पाठकवृन्द कृपया इस हेतु 'जन्म भूमि का इतिहास, एवं श्री अवधवासी सीतारामजी द्वारा विरचित अवध की शोभा नामक पुस्तकों का अवलोकन करें।] यहाँ समास में जन्म भूमि का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है – जन्म भूमि (भगवान् राम की जन्म स्थली) का अन्वेषण विक्रमादित्य ने किया। उस स्थल पर उन्होंनें शालग्राम प्रस्तर का एक दिव्य एवं विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया। इसमें ८४ कसौटी के खम्भे लगे थे। कहते हैं, इन कसौटी के खम्भो को हनुमानजी लंका से उखाड़ कर अयोध्या ले आए थे। इस समय जो मन्दिर है, उसमें मात्र १६ कसौटी के खम्भें विद्यमान हैं। विक्रमादित्य-कालीन श्री रामजन्मभूमि मन्दिर में श्रीरामलाल जी की भव्य प्रतिमा स्थापित थी। यह मन्दिर विशाल ऊँचे ऊँचे कई शिखरों से मंडित था। कहते हैं, ब्राह्मणों द्वारा भगवान् राम का अर्चन पूजन होता था। वेदध्वनि का उच्चारण अहर्निश होता था। वेदविधि से अनुष्ठानादिक कार्य सम्पन्न होते थे। यहाँ पर दर्शन करने से सौ कपिला गौ के दान के बराबर पुण्य भी प्राप्त होता है। यहाँ दर्शन करने से अभीष्ट की सिद्धि मिलती है।

एक प्राचीन आख्यान के अनुसार महाराज विक्रमादित्य अपने प्रशासन काल में संपूर्ण भारतीय तीर्थों का उद्धार कर रहे थे। अपने इसी अभियान में वे घूमते हुये अयोध्या आये। किन्तु देश एवं काल के दीर्घ विप्रकर्ष के

कारण अयोध्या का ठीक-ठीक पता लगाना मुश्किल प्रतीत हो रहा था। अर्धरात्रि को वे सरयू नदी के तट पर वहीं खड़े थे, जहाँ वर्तमान गुप्तारघाट है। उसी समय उन्होंने सहसा देखा एक पुरुष को; जो कृष्ण वर्ण का था और काले घोड़े पर चढ़ा हुआ था। वह पुरुष घोड़े पर चढ़े हुए ही सरयू नदी में प्रवेश कर गया। सरयू में प्रवेश करते ही उस पुरुष का वर्ण गौर तथा घोड़े का रंग उजला हो गया। दोनों कान्ति भासुर प्रतीत हो रहे थे। राजा विक्रमादित्य यह सब कुछ देख रहे थे। उन्होंने उस पुरुष को रोककर पूछा आप कौन हैं? उस पुरुष ने बतलाया -

मैं तीर्थराज प्रयाग हूँ! दिनभर के पापियों के स्नान से कलुषित होकर प्रत्येक दिन मैं यहाँ स्नान करने आता हूँ। यहाँ स्नान करते ही मैं पुन: अपना स्वाभाविक रूप प्राप्त कर लेता हूँ। यही गुप्तारतीर्थ है।

राजा विक्रमादित्य ने तीर्थराज से राम जन्म भूमि का पता पूछा तो तीर्थराज ने राजा को एक गौ प्रदान करते हुए कहा-

यह गौ जिस स्थान पर पहुंचकर स्वयं दुग्धक्षरण करने लग जाय समझना वही राम जन्मभूमि है। राजा विक्रमादित्य ने उस गौ के माध्यम से राम जन्मभूमि को खोज निकाला यह वही राम जन्म भूमि है जो आज जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ी हुई है। किन्तु यह अपनी पुरानी पवित्रता को साथ लिए हुए है। यह वही दिव्य स्थल है, जहां भगवान् राम आविर्भूत हुए थे, यह वही दिव्य स्थान है जहाँ से दक्षिण भारत के आळ्वार सन्त मधुर कवि को दिव्य प्रकाश मिला और यह वही स्थान है जिसकी विराट ज्योति दक्षिण भारत के श्री रङ्गम दिव्य देश के रूप में दक्षिण भारत का सिरमौर बना हुआ है। चैतमास की रामनवमी को भगवान राम के जन्मोत्सव के पावन पर्व पर देश विदेश के करोडों श्रद्धालु भक्त इस मंदिर में अब भी प्रति वर्ष दर्शन करने आते हैं।

—: कनक भवन :—

श्री राम जन्म भूमि के उत्तर पूर्व में स्थित कनक भवन के विषय में एक रोचक कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है। जब विदेह-राजपुत्री श्री जानकी जी अयोध्या (अपने ससुराल) राजा दशरथ के राजमहल में आयीं तो महारानी कैकेयी जी ने कनक निर्मित अपना महल उनको मुँह दिखावें के प्रथम भेंट स्वरूप प्रदान किया था। इसमें श्री राम और किशोरी जी की दिव्य प्रतिमाएँ स्थापित की गयी हैं। साधुओं में, विशेषतः रसिक सम्प्रदाय के सन्तों में इस स्थान के प्रति विशेष निष्ठा है।

महाराजा विक्रमादित्य ने अयोध्या अन्वेषण के बाद कनक भवन मंदिर का भी निर्माण करवाया था, जिसे यवन सैय्यद मसऊद गाजी ने तोड़ डाला। तब से यह स्थान भग्नावस्था में पड़ा रहा। बाद में टीकमगढ़ स्टेट की महारानी श्री वृषभानु कुवंरि जी ने एक सुन्दर विशाल भवन उसी स्थान पर पुन: निर्मित करवाया जो आज भी वर्तमान है।

हजारों की संख्या में हिन्दू संत तथा गृहस्थ तीर्थ-यात्री बराबर श्री कनक-भवन विहारी-विहारिणी जी के दर्शन हेतु आते हैं। मंदिर में स्थापित विहारी-विहारिणी जु (श्री राम चन्द्र जी तथा महारानी जानकी जी) की प्रतिमा अतीव देदीप्यमान, अत्यधिक भव्य है। भक्त जन दर्शन करते हुए अपने तृषित नेत्रों की क्षुधा पिपासा को शान्त नहीं कर पाते तथा बराबर हृदय में उस माधुरी मोहनी मूर्ति की छवि का अवलोकन करना चाहते हैं। प्रातः एवं सायं कालीन आरती का दृश्य

बड़ा ही मनोहारी होता है।

इस समय कनक भवन में श्री बलदेव जी प्रधान अर्चक हैं। आपको भगवतकृपा तथा उनके दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य भी मिल चुका है। कनक भवन के दक्षिण फाटक पर सामने पश्चिम तरफ कलकत्ता के सेठों के सहयोग द्वारा एक जानकीबाग निर्मित किया गया है जो कनक भवन मन्दिर के आकर्षण में चार चांद लगा देता है।

मंदिर के मुख्य द्वार पर भीलनी शबरी की मूर्ति स्थापित है। शाम को फव्वारों के बीच शबरी की प्रतिमा की अतीव विचित्र शोभा दर्शनीय है। चैत रामनवमी, जन्मोत्सव पर्व के अवसर पर इस मंदिर के विशेष आयोजन रेडियो स्टेशन द्वारा प्रसारित किए जाते हैं।

—※—

—: हनुमान गढी :—

राम कोट के पश्चिम द्वार पर हनुमान जी रक्षक के रूप में स्थित हैं। यहाँ पर महाराजा विक्रमादित्य ने हनुमान जी का एक मंदिर बनवाया था। उस स्थान को लोग "हनुमान टीला" कहने लगे। लखनऊ के एक नवाब मन्सूर अली खाँ सफदर गंज साहब के शासन काल में बाबा अभयराम दास जी त्यागी नामक एक महात्मा कुटी बनाकर यहाँ निवास करने लगे थे। कहते हैं, वे सिद्ध महात्मा थे। उनको हनुमान जी का दर्शन प्राप्त हुआ था।

सम्प्रति स्थित हनुमान जी के मन्दिर को ठिकैत राय के द्वारा नवाब मन्सूर अली ने बनवाया था, जो आज "हनुमान गढ़ी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। मंदिर में हनुमान जी की मूर्ति माता अञ्जनी के क्रोड में स्थापित की गयी है, जो स्वर्ण निर्मित है, जो सदैव तुलसी दल से आच्छादित रहती है।

यहाँ श्री हनुमान जी के मन्दिर की यह विशेषता है कि जो श्रद्धालु भक्त जिस अभीष्ट की कामना से श्री अञ्जनी सुत हनुमान जी के मंदिर में दर्शनार्थ आता है उसका मनोरथ अवश्य पूर्ण होता है।

हनुमान गढ़ी की व्यवस्था के लिए चार पट्टियाँ हैं। हरिद्वारी, बसंतिया, उज्जैनिया और सागरिया। इन चारों पट्टियों के अलग अलग महन्थ हैं, उनके ऊपर एक बड़े महंथ हैं। जिन्हें लोग गद्दी नशीन कहते हैं।

वर्तमान में श्री श्री १००८ बाबा दीन बन्धु दास जी महाराज हनुमान गढी के गद्दी नशीन के पद पर सुशोभित हैं। इनके पूर्व पूज्यपाद महंथ राम बालक दास जी गद्दीनशीन थे।

मंदिर में प्रति दिन हनुमान जी का विधिवत् पुजन – अर्चन कर्मनिष्ठ ब्राह्मण पुजारियों द्वारा होता है।

हजारों यात्री अयोध्या दर्शन के अवसर पर भी अञ्जनी सुत हनुमान जी की इस गढ़ी पर आते हैं, लड्डू फूल माला आदि से पूजन भोग राग करते हैं तथा अपनी श्रद्धा एवं प्रार्थना को भी पवन सुत के चरण कमलों में निवेदित करते हैं। यहाँ प्रत्येक सायंकाल को मानस प्रवचन अयोध्या के विशिष्ट व्यासों द्वारा होता है, जो इस मंदिर का विशेष आकर्षण है।

—※—

रत्नसिंहासन :-

यह मन्दिर 'कनक-भवन' के दक्षिण दिशा में है। यहां भगवान् राम का पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ था। इस स्थान की महिमा अब भी पूर्व रूप में स्पष्ट है। मुसलमान शासकों के समय जो मुकदमा अनिर्णीत रह जाता था। उसका फैसला यहीं होता था। इस मन्दिर के सम्बन्ध में बहुत सी कथाएं प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर तीन मूर्तियाँ महाराजा समुद्र गुप्त के समय की आज भी प्रतिष्ठित हैं।

सीताकूप :-

जन्मभूमि के अग्नि कोणीय दिशा में सीता कूप स्थित है। यहां का जल मूल नक्षत्र में उत्पन्न बालकों की मूल शाँति के अवसर पर काम आता है। यहां भी दशरथ जी के रनिवास का (महल के अन्तः भाग में स्थित) कूप था, जिसकी पूजा विवाह पर्व पर हुआ करती थी। सीता जी के नाम पर इसे सीता कूप कहा जाने लगा। इस कूप के विषय में अनेकानेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध है।

कौशिल्या भवन :-

इस भवन के स्थिति के विषय में प्रातः स्मरणीय गोस्वामी जी ने मानस में स्पष्ट किया है- "वंदउँ कौसिल्या दिसि प्राची।

कीरति जासु सकल जगु माची।

श्रीराम जन्मभूमि के उत्तर पूर्व में लगभग १०० गज की दूरी पर महाराज दशरथ की प्रधान महिषी महारानी कौशल्या का भवन अवस्थित है, जिसका निर्माण करीब २५० वर्षों पूर्व हुआ था। पहले विक्रमकाल में जो भवन पूर्व निर्मित था उसका ध्वंसावशेष मात्र ही उपलब्ध था।२५० वर्षों पूर्व बने वर्तमान मन्दिर में महारानी कौशिल्या की लगभग ३ फिट ऊँची मुदित मुख मुद्रा में बालक राम को गोद में लिए हुई प्रतिमा की स्थापना की गयी है। इस प्रतिमा के अतिरिक्त राम तथा सीता की मूर्ति, श्रीहनुमान जी की मूर्ति तथा लक्ष्मण भरत एवं शत्रुहन की बैठी हुई प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी हैं। श्रीराधाकृष्ण की भी मूर्ति मन्दिर में विराजमान है। श्रीराम जन्मोत्सव (चैतरामनवमी) तथा विवाहोत्सव (अगहनशुक्ल की पंचमी) के पावन पर्व पर इस मन्दिर में विशेष आयोजन होता है। सम्प्रति इस मन्दिर के महंथ धर्मानुरागी, उदारसत्व मानसाचार्य पं०कौशलकिशोर त्रिपाठी जी हैं।

कैकेयी भवनः—

जन्मस्थान से उत्तर लगभग १०० गज की दूरी पर कैकेयी भवन की खड़हर स्थिति है। अपने जीर्ण शीर्ण अवस्था में कैकेयी जी का मन्दिर आज भी इस स्थान पर विद्यमान है। इसी स्थल पर महारानी कैकेयी के गर्भ से श्री भरत लाल जी उत्पन्न हुये थे। यहाँ एक शिवालय है जिसमें श्री गणेश जी की एक सुन्दर प्रतिमा है। इस स्थान का दर्शन करने का बड़ा माहात्म्य वर्णित हैं।

सुमित्रा भवन :—

श्रीराम जन्म-भूमि के दक्षिण पार्श्व पर लगभग ५० कदम की दूरी पर सुमित्रा भवन स्थित है। यह भवन सीता कूप के अत्यन्त समीप उसके ठीक सामने स्थित है। इसी स्थान पर महारानी सुमित्रा देवी के गर्भ से श्री लक्ष्मण जी और श्रीशत्रुघ्न जी पैदा हुए थे। बाबरी आक्रमण के दौरान जन्मभूमि के निकट वर्ती स्थित होने के कारण यह स्थान भी नष्ट भ्रष्ट होकर ध्वंसावशेष मात्र ही रह गया था। इस स्थान पर 'सुमित्रा भवन' लिखा

हुआ एक पत्थर गड़ा हुआ है। एक फूस की झोपड़ी में जन्मभूमि के एक संत द्वारा मूर्ति स्थापित करके इस समय पूजा पाठादि की व्यवस्था की जा रही है।

कैकेयी-कोपभवन :—

मंदिर श्री कौशल्या भवन के पूर्व लगभग १० कदम की दूरी पर कैकेयी कोप भवन मंदिर स्थित है। महारानी कैकेयी ने महाराजा दशरथ से अपने लिये दो वरदान प्राप्त करने के लिए मन्थरा की मंत्रणा को मान कर इस भवन का शरणग्रहण किया था। यहाँ भामिनी कैकेयी की लेटी हुयी प्रतिमा तथा समीप में स्थित वल्कल वेषधारी श्रीरामलक्ष्मण तथा सीता जी की प्रतिमा विराजमान है। महाराज दशरथ एवं सुमन्त्र जी की मूर्ति भी इन्हीं मूर्तियों के साथ प्रतिष्ठापित की गयी है। कैकेयी कोपभवन के एक भाग में भगवान् के २४ अवतारों की भी प्रतिमाएं सगृहीत करके स्थापित की गयी हैं। हनुमान जी की भी एक विशाल मूर्ति है। अयोध्या के दर्शनीय मंदिरों में इसका भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है।

जन्मस्थान (सीता रसोइयां) :—

जन्मभूमि के उत्तर जन्म स्थान तथा सीता रसोई समन्वित रूप से एक ही मन्दिर के अलग-२ भाग में स्थित है।

इस मन्दिर में चक्रवर्ती महाराजा दशरथ सहित चारो राजकुमारों की प्रतिमाएं स्थापित है। मंदिर के अन्तः भाग में प्राचीन कालका चित्र है। भित्तियों पर अंकित इन चित्रों में आचार्य प्रवर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य जी महराज को उनके द्वादश शिष्यों द्वारा उन्हें परिसेवित चित्रित किया गया हैं। इस मंदिर में जगन्नाथ जी, श्री बलभद्र जी तथा श्रीसुभद्रा की प्रतिमाएं स्थापित हैं। प्रतिमाएं अतीव भव्य तथा दीप्तिवान हैं। मंदिर के निचले प्रकोष्ठ में ठीक बाईं तरफ सीढ़ी के मार्ग से सीता रसोई को जाने का रास्ता हैं। यहां सीता जी पाक बनाती थीं। सीता जी की एक प्रतिमा वहां स्थापित है, नीचे चौका बेलन तथा बैठकी आदि पत्थर निर्मित रखे हुए हैं। मन्दिर जन्मस्थान के वर्तमान महंथ श्रीहरि-हरदास जी हैं।

मन्दिर श्री छोटी देवकाली :—

श्री हनुमानगढ़ी के उत्तर तरफ जाने वाली राजमार्ग पर नये घाट की ओर इस समय करीब एक फर्लांग की दूरी पर बाईं तरफ एक गली इटौवा ताल (सप्तसागर) की तरफ जाती है। इसी गली में यह श्री देवकाली जी का मन्दिर स्थित है। श्री छोटी देवकाली श्री अवध की ग्राम देवी मानी जाती हैं। प्राचीन काल की मिथिलाधाम की यह वही सर्वमङ्गला गिरिबर-राजकिशोरी पार्वती जी हैं जिनका पूजन श्रीमिथिलेश राजकुवरि जगज्जननि जानकी नित्य प्रति किया करती थीं। विवाहोपरान्त जब माता जानकी अयोध्या आने लगीं तो अपने साथ अपनी प्रिय पूज्या देवी श्री गिरजा जी को भी अपने साथ ही अयोध्या लेती आयीं थीं।

महाराज दशरथ जी ने उनकी स्थापना सप्तसागर (इटौवा) के समीप एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर किया। इस मन्दिर में श्री जानकी जी नित्य-नियम पूर्वक प्रातः काल अपने राजमहल (कनक भवन) से आकर सप्त सागर मज्जन करके परम शक्ति गिरजा की विधिवत् उपासना (अर्चन वन्दनादि) किया करती थीं। इस मन्दिर में श्री देवकाली जी का मुख भाग मात्र की एक देदीप्यमान भव्य मूर्ति स्थापित है। नित्य प्रति सैकड़ों श्रद्धालु भक्त

जन इस मन्दिर में माँ के पूजन एवं दर्शन के लिये आते हैं। यहाँ जो भक्त भक्तिपूर्वक पूजन करता है उसकी सम्पूर्ण मनोकामनाएं सिद्ध होती हैं।

मतगयन्द(मातगैंड) जी का स्थानः—

श्री मत्तगयन्द जी का स्थान कनक भवन मन्दिर के उत्तर पूर्व में है। मतगयन्द जी लंकाधिपति श्री विभीषण जी के पुत्र थे। ये रामकोट (दुर्ग) के उत्तर फाटक के कोतवाल (प्रधान रक्षक) थे। यह माना जाता है कि जब किसी भी व्यक्ति की कोई वस्तु खो जाती है तो उनके यहाँ यदि वह खिचड़ी की मानत करे, तो खोई वस्तु उसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर दर्शन करने से मनुष्य को सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं। सर्व प्रथम यह मन्दिर त्रिकोणाकार था, जिसमें गदाधारी काले पत्थर की मूर्ति रखी हुई थी, किन्तु कालान्तर में यह मन्दिर धराशायी हो गया था। सन् १९२६ में उसी स्थान पर नीचे कुएं से मिला हुआ पश्चिम तरफ मतगयन्द जी का एक नया मन्दिर बन गया है। इसमें लाल रंग की पत्थर की एक सुन्दर मूर्ति स्थापित है। कहा जाता है कि अयोध्या में दर्शन करने का पुण्य तब तक यात्री को प्राप्त नहीं होता जब तक यात्री (दर्शक) अयोध्या में स्थित मतगयन्द जी के इस मन्दिर में दर्शन करने नहीं आता है।

श्री नागेश्वर नाथ जी का मन्दिरः —

श्री नागेश्वर नाथ भारतीय द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है। इनकी स्थापना महाराजा रामचन्द्र जी के पुत्र महाराजा 'कुश' ने की थी। महाराजा कुश के द्वारा इस ज्योतिर्लिङ्ग की स्थापना कैसे हुई ? इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा अयोध्या के इतिहास में मिलती है। कथा इस प्रकार से है। एक दिन महाराजा कुश पावनसलिला सरयू नदी में स्नान कर रहे थे तो उनके एक हाथ का बलय सरयू में स्नान करते समय जल में गिर गया। उस बलय (कंगन) को नाग कन्या उठा ले गयी। जल में काफी खोज बीन करने के बावजूद भी जब कुश उस बलयको प्राप्त नहीं कर सके, तब कुपित होकर उन्होंने जल को सुखा देने की इच्छा से अग्नि शर का संधान किया, इसपर जल जन्तु व्याकुल होने लगे। नागराज स्वयं वह 'कर-बलय' लेकर महाराज कुश जी की शरण में आकर उनको उसे सादर भेंट किये। नागराज आते समय अपने साथ अपनी कन्या को भी लाये थे; उन्होंने महाराज कुश से अपनी कन्या के साथ पाणिग्रहण स्वीकार करने की प्रार्थना भी की। कहते हैं कि उसी समय भक्तवत्सल भगवान् आशुतोष प्रकट होकर अपने भक्त नागराज को कुश से मिला दिये। उन्होंने कुश से नागराज की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने को कहा। महाराजा कुश ने भी भगवान् शिव के कहने पर नागकन्या से शादी करके इस घटना के स्मारक में उस स्थल पर भी नागेश्वर नाथ जी की स्थापना की। उसी स्थान पर आज भी एक विशाल शिव मन्दिर (नागेश्वरनाथ जी का मन्दिर) सरयू तट पर लक्ष्मण सहस्र धारा के पूर्व भाग पर स्थित है। हर त्रयोदशी को हजारों की संख्या में तीर्थ यात्री सरयू स्नान करके इस ज्योतर्लिङ्ग पर जल चढ़ाते हैं तथा विधिवत् पूजन-अर्चन आदि करते हैं। श्री शिवरात्रि महापर्व पर इस मन्दिर में विशेष कार्यक्रम आयोजित होते हैं। इस अवसर पर भगवान् शिव की बारात भी यहाँ से निकलती है।

सरयू स्नान करके यहां इस मन्दिर में आकर सरयू जल से शिवलिङ्ग को स्नान कराने

तथा दर्शन करने का विशेष महात्म्य है। यहां शिवलिङ्ग के दर्शन मात्र से श्रद्धालु भक्तों की सभी इच्छाएं पूर्ण होतीहैं।

—: श्री कालेराम जी का मन्दिर :—

उपरोक्त श्री नागेश्वर नाथ जी मंदिर से सटा हुआ ही श्री कालेराम जी का मंदिर है। यह नागेश्वर नाथ मंदिर के दक्षिण भाग में स्थित है। इस मंदिर में विक्रमादित्य कालीन मूर्तियां स्थापित हैं, जो पहले श्री राम जन्म भूमि में स्थापित थीं।

इसकी कथा यों प्रसिद्ध है कि जब बाबर श्री राम जन्म भूमि मंदिर को तोड़वाने लगा तो पुजारियों ने भगवान् की मूर्तियों को विधर्मी यवन-आततायियों के हाथों में ये पवित्र प्रतिमाएं न जाने पावें इस बात को विचार करके मूर्तियों को सरयू जल में प्रवाहित कर दिया। सौभाग्यवश एक दक्षिणी ब्राह्मण को ये मूर्तियां लक्ष्मण सहस्रधारा में प्राप्त हुयीं। वे उनकी उपासना करने लगे। धीरे धीरे एक स्थान बनाकर उनको (प्रतिमाओं को) वहाँ स्थापित कर दिया गया।

दक्षिणी ब्राह्मण द्वारा निर्मित उस मंदिर मे आज भी उत्सवों में महाराष्ट्रीय हरिकीर्तन आदि का भव्य आयोजन समय-२ पर होता रहता है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की विशेष रूप से इस मन्दिर के प्रति निष्ठा दृष्टिगत होती है।

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध गायनाचार्य श्री विष्णु दिगम्बर जी भगवत् दर्शन करने अयोध्या जब भी आते थे। तो इसी मंदिर में ठहरते थे। अयोध्या के प्राचीन मंदिरों में कालेराम जी मंदिर का अपना प्रमुख स्थान है। अयोध्यास्थ मंदिरों में यह मंदिर अत्यधिक प्रतिष्ठित एवं विख्यात है।

—: लक्ष्मण किला :—

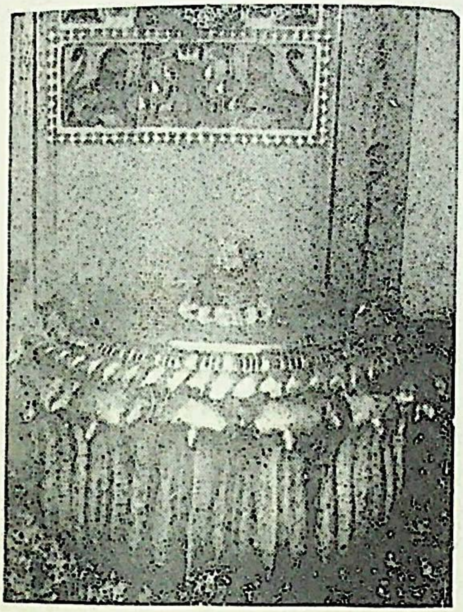
पावन सलिला सरयू के तट पर स्थित लक्ष्मण किला का निर्माण मुबारक अली खाँ ने करवाया था, अतः इसे किला मुबारक भी कहा जाता था। श्री स्वामी युगलानन्य शरण जी महाराज, निर्मली कुण्ड पर एकान्त में तप करते थे। वे रसिक सम्प्रदाय के सन्त थे।

अंग्रेजों ने जब निर्मली कुण्ड पर अंग्रेजी रेजीडेन्स स्थापित करना चाहा तो इन्हें स्थान ढूढने के लिए कहा गया। उन्होंने इसी किले को ही पसन्द किया। तब से वे किले में ही रहने लगे। महाराज स्वामी युगलानन्य शरण जी बहुत बड़े विद्वान् तथा जानकी सखी सम्प्रदाय के महात्मा थे।

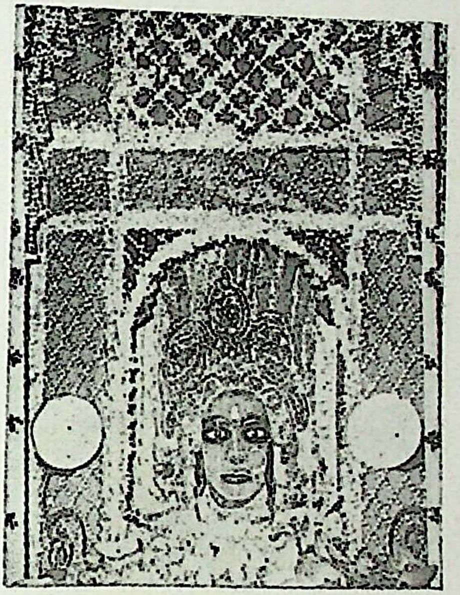
उनके साकेतवासी होने के उपरान्त कालान्तर में दीवान रीवां श्री दीनबन्धु जी ने इस स्थान पर जहाँ महात्मा युगलानन्य जी महाराज तप किया करते थे; एक विशाल मंदिर भी बनवाया। यह मन्दिर किला के समान ऊँचा है इसके परकोटे इतने ऊँचे हैं कि आज भी लकड़मण्डी (गोण्डा) से दिखाई देता है। यहाँ की शोभा अद्भुत है।

शामे अवध प्रसिद्ध ही है। शाम को किला की शोभा द्विगुणित हो जाती हैं। उस समय इसकी शोभा मनोहारिणी हो जाती है।

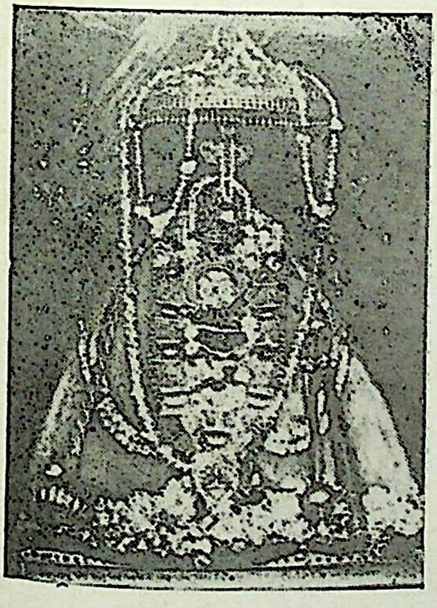
वर्तमान में मानस मर्मज्ञ श्रीसीताराम शरण जी (किलाधीश) इसके महान्त हैं। ये महान धर्मानुरागी, उदार चेता, एवं विद्याप्रेमी सन्त हैं। इनकी कृपा हमेशा सन्तों, विद्वानों तथा विद्यार्थियों पर रहती है। कई विश्वविद्यालयों के शोध छात्र इनके विशाल ग्रन्थागार



नागेश्वरनाथ



छोटी देवकाली



हनुमानगढ़ी



कनक भवन

से हिन्दी संस्कृत के प्रचुर साहित्य को प्राप्त करके लाभान्वित हो चुके हैं।

इनका मानस प्रवचन प्रसिद्ध है। मानस प्रवचन हेतु कई बार आपको बाहर जाने का भी सौभाग्य मिल चुका है।

—※—

—: मणिपर्वत :—

इसका दूसरा उपनाम रत्नाचल भी है। इसे मणिकूट के नाम से भी जाना जाता है। यहां तिलोदकी गंगा का स्रोत अशोक वन तथा आनन्द वन का प्रान्त भाग है। यह सघन आम निकुञ्जों से आच्छादित हरित वनस्पतियों से व्याप्त सुन्दर वनप्रान्त की शोभा से उपेत पर्वत जैसा अयोध्या का उन्नत प्रान्त है। यह स्थान भी रघुनाथ जी तथा श्री जनकनन्दिनी जानकी जी का क्रीडा क्षेत्र हैं।

महात्मा बुद्ध ने मार को जीतने के लिए इसी स्थान पर ६ वर्षों तक कठिन तप किया था। मणिपर्वत पर तपस्या करने से सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पहले इस स्थान पर भगवान् बुद्ध का स्मारक स्तम्भ था। मुसलमानों ने इस स्तम्भ को खुदवा कर जमीन में गड़वा दिया था।

हजारों कब्रें यहां प्राप्त हुई थीं। कालान्तर में शकद्वीप के राजा मानसिंह ने मणिपर्वत के उस मनोरम प्रान्त के कुछ बचे हुए अंशों की रक्षा की, जो क्रीडा शैल आज भी हिन्दू भक्तों के समक्ष है।

इस शैल पर एक छोटा सा मन्दिर है। यहां श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की तीज को एक बड़ा झूलनोत्सव (मेला) लगता है। अयोध्या के प्रमुख मन्दिरों से भगवान् की झांकी, रथ द्वारा उस क्रीड़ा शैल के मनोरम प्रान्त में सजा-धजा कर गाजे-बाजे के साथ रामधुन के गर्जन के साथ लायी जाती है। यहां आम्र वृक्षों की टहनियों पर झूला डालकर भगवान् की मूर्तियों को झूला झुलाने के बाद अयोध्या में झुलनोत्सव प्रारम्भ होता है। क्रीड़ा शैल के ऊपर चढ़कर मन्दिर से अवध का दृश्य देखने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता है।

—※—

श्री क्षीरेश्वर नाथ जी का मन्दिर

हनुमान गढ़ी चौराहा से फैजाबाद, लखनऊ जाने वाली सड़क पर श्री राम अस्पताल के सामने वाले राजमार्ग के पूर्व क्षीरसागर है। यह एक साधारण गड्ढे के रूप में इस समय स्थित है। यह स्थान अयोध्या राजा के अधिकार में है।

इस समय इसमें जल नहीं है। इसी सागर के समीप ही श्री क्षीरेश्वर नाथ महादेव जी का छोटा सा शिवालय है।

आज यह मन्दिर अपने वर्गाकार में भक्त जनों के द्वारा सेवित है। यहां एक विशाल शिव लिङ्ग है। प्रति दिन सैकड़ों श्रद्धालु भक्तजन शिव लिङ्ग पर सरयू जल चढ़ाते हैं, तथा फल-फूलों से श्री शिव जी की अर्चना करते हैं।

—※—

श्री ऋषभदेव जी का मन्दिर

अयोध्या के राय गंज मुहल्ले में स्थित श्री ऋषभ देव जी का मन्दिर बहुत ही विशाल है। श्री ऋषभ देव जी अयोध्या के राजा थे। बाद में इन्होंने जैन धर्म को अंगीकार कर लिया। इस मन्दिर में २१ फिट की संगमरमर पत्थर की बनी हुयी, जैनधर्मानुरागी श्री ऋषभ देव दिगम्बर जैन की मूर्ति प्रतिष्ठित है। वस्तुतः अयोध्यास्थ जैन मन्दिरों में इस मन्दिर की मूर्ति सबसे

बड़ी है। श्रीऋषभदेव जी की मूर्ति के अति-रिक्त श्री महावीर जी तथा अन्य ५ जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ भी हैं, जो काले संग-मरमर के पत्थर की बनी हुई है। इसमें ३ मूर्तियाँ ही काले संगमरमर की बनी हैं।

अयोध्या में अन्य दो जैन मन्दिर क्रमशः दिगम्बर जैन तथा श्वेताम्बर जैन मन्दिर कटरा मुहल्ला में स्थित हैं।

तुलसी चौरा

यह स्थान अयोध्या में दन्त धावन कुण्ड के पास उत्तर-पूर्व दिशा पर स्थित है। यह एक सुन्दर तथा भव्य मन्दिर है। इसके अन्तः भाग में मानस-प्रणेता महाकवि संत तुलसीदास जी की प्रतिमा स्थापित है। यहाँ पर ही बैठ कर तुलसीदास जी ने मानस का प्रणयन प्रारम्भ किया। इसलिए इस स्थान को 'मानस जन्म-भूमि' भी कहा जाता है।

श्रीतुलसी स्मारक भवन :—

तुलसी चौरा के समीप में ही भारत सरकार ने ४½ लाख रुपये की लागत से लोकनायक महाकवि तुलसी दास जी की स्मृति में 'तुलसी स्मारक भवन' का निर्माण करवाया है। इस भवन में प्रतिवर्ष महाकवि गोस्वामी तुलसी दास जी की जयंती (जन्मोत्सव पर्व) श्रावण शुक्ला सप्तमी को विशेष आयोजन के साथ मनायी जाती है। गत वर्ष १९७९ में 'मानस चतुश्शती समारोह'- सरकार द्वारा आयोजित किया गया था। इसमें भिन्न (साहित्यिक एवं सांस्कृतिक) कार्य आयो-जित किये गये थे। देश विदेश के विभिन्न भाषा-भाषी विद्वान् इस आयोजन में सम्मिलित हुए थे। इस भवन में प्रतिदिन सायंकाल विद्वान रामायणियों तथा संत महात्माओं के मानस प्रवचन होते हैं। यहां प्रचुर तुलसी-साहित्य का एक विशाल ग्रन्थागार है। पुस्तकालय एवं वाचनालय की भी व्यवस्था है। तुलसी पर अनुसंधान करने वाले अनु-संधाताओं के लिये यहाँ तुलसी-साहित्य पर उत्तम सामग्री उपलब्ध है। इन सभी पर होने वाले व्यय की व्यवस्था का भार उ०प्र० शासन वहन करती है।

श्रीभगवदाचार्य-स्मारक सदन :—

श्री भगवदाचार्य स्मारक सदन हनुमानगढ़ी चौराहा से नये घाट की ओर जाने वाली सडक पर अयोध्या डाकघर से बाएं जाने वाली सड़क पर स्थित है। यह भवन महात्मा भगवदाचार्य जी की पुण्य स्मृति में निर्मित किया गया है। इसमें एक बड़ा वाच-नालय तथा पुस्तकालय भी है। बहुत दिनों तक इस स्मारक भवन की व्यवस्था श्री वासु-देवाचार्य ब्रह्मचारी जी की देख रेख में चली। यहां एक विशाल भवन के अन्दर श्रीभगवदा-चार्य जी की प्रतिमा स्थापित है। ब्रह्म-चारी जी के दिवगंत होने पर अब इसकी व्यवस्था श्रीलक्ष्मणकिलाधीश जी माहराज करते हैं। इसके विस्तृत मैदान में अयोध्या की रामलीला कमेटी द्वारा श्रीरामलीला का आयोजन होता है। अयोध्या की सार्वजनिक सभाएँ, प्रायः इसी भवन में होती हैं।

अयोध्या की छावनियां :—

अयोध्या में साधु संतों की सेवा हेतु सेठ महाजनों के सहयोग से निर्मित एवं सचा-लित महान् वीतराग तपस्वियों की तपोभूमि छावनियों के रूप में आजभी अपने पुण्य कार्य में सलग्न हैं। इन छावनियों के नाम भी उन्हीं तपोनिष्ठ तपस्वियों के नाम पर हैं। यहाँ की छावनियों में गौ, ब्रह्मण तथा साधु, संतों को प्रतिदिन सदावर्त भण्डारा का आयोजन होता है। अयोध्यास्थ प्रमुख छावनियों

में ४ छावनियां हैं ।

(१) श्रीरघुनाथ दास जी की छावनी (बड़ी छावनी)
(२) श्रीमणिराम दास जी की छावनी (छोटी छावनी)
(३) श्री तपस्वी जी की छावनी
(४) श्री बाबा रामप्रसाद जी की गद्दी (छावनी)

अयोध्या के कुण्ड :—

अयोध्या के इतिहास में प्राचीन कुण्डों एवं सरोवरों की संख्या लगभग ५० तक बतायी जाती है जो प्रामाणिक भी है । इनमें बहुत से कुण्ड (सरोवर) आज लुप्त हो चले हैं । अयोध्या के सभी कुण्डों तथा सरोवरों का नाम दे पाना तो कठिन होगा फिर भी कुछ प्रमुख कुण्डों का नाम यहाँ प्रस्तुत है ।

(१) राम सरोवर (रामतीर्थ) (२) सीताकुण्ड (३) दशरथ कुण्ड (४) रुक्मिणी कुण्ड (५) लक्ष्मण कुण्ड (६) भरतकुण्ड (७) ब्रह्मकुण्ड (८) निर्मली कुण्ड (९) बृहस्पति कुण्ड (१०) श्री हनुमान कुण्ड (११) वासुकी कुण्ड (१२) सूर्य कुण्ड (१३) स्वर्णखनि कुण्ड (१४) श्रीसुग्रीव कुण्ड (१५) खजुलो कुण्ड (१६) बैतरणी सर (१७) तिलोदकी गंगा (१८) अग्नि कुण्ड (१९) धनयक्ष कुण्ड (२०) चन्द्र सरोवर (२१) बशिष्ठ कुण्ड (२२) विभीषण कुण्ड (२३) विद्या कुण्ड (२४) सप्तसागर (२५) दन्तधावन कुण्ड (२६) विदेहसर (जनौरा) तथा (२७) शत्रुघ्न-कुण्ड आदि ।

अयोध्या के प्रमुख पर्वत :—

संहिता ग्रन्थों में अयोध्या के पर्वतों की चर्चा आती है । इनमें मात्र एक मणिपर्वत आज प्रकट अस्तित्व में है । शेष तीन (लीला-पर्वत, मुक्ता पर्वत, और नील पर्वत) और थे ।

अयोध्या के टीले :—

ऐतिहासिक दृष्टि से अयोध्या के टीलों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये टीले महा पराक्रमी वीरों के आवास थे । प्राचीन काल में इनपर विशाल अट्टालिकाएँ थीं । अब ये मात्र ऊचे- २ पहाड़ी टीले के रूप में ही शेष हैं । इन टीलों का परिचय अयोध्या के ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत है ।

(१) सुग्रीव टीला :–

यह टीला हनुमानगढ़ी के दक्षिण तरफ है । इस स्थान पर एक टूटा भवन बना हुआ है । यह श्री सुग्रीव जी के प्राचीन मन्दिर का भग्नावशेष है । कहा जाता है कि इस टीले के आस पास कभी-कभी महर्षि लोमश के दर्शन हो जाया करते हैं । यह किंवदन्ती आज भी अयोध्या में प्रसिद्ध है ।

(२) नलनील टीला :–

यह टीला अमावा राजा कोठी के पृष्ठ भाग पर स्थित है ।

(३) अंगद टीला :–

यह टीला श्रीरामचिकित्सालय के नैऋत्यकोण पर स्थित है । इस पर प्राचीनकाल में श्रीअंगद जी का भवन निर्मित था । यहाँ पर त्रेतायुग में श्रीअंगद जी का निवास स्थान बना हुआ था ।

(४) कुबेर टीला :—

यह टीला श्रीरामजन्मभूमि के दक्षिण पश्चिम कोण पर स्थित है । इस टीले के परितः प्राकृतिक सुषमा दर्शनीय है ।

(५) लक्ष्मण टीला :–

सरयू नदी के तटपर लक्ष्मण जी के मन्दिर की पश्चिम दिशा में लक्ष्मण घारा के ठीक ऊपर लक्ष्मण किला बहुत ही प्राचीन

ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थान है। त्रेतायुग में यहाँ श्री लक्ष्मण जी (शेषावतार) भगवान का दुर्ग था।

—❀—

अयोध्या के घाट

अयोध्या के प्राचीन इतिहास के अनुसार सरयू नदी के किनारे अनेक घाट हैं। उनकी संख्या ४० के आस पास है। प्रमुख घाटों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है। :—

१- गुप्तार घाट (गुप्तहरि घाट)

इसी पवित्र घाट पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम चन्द्र जी सरयू में गुप्त होकर अपने दिव्य लोक (साकेत धाम) को चले गये थे। यहां श्री गुप्तहरि (भगवान रामचन्द्र जी) का अति प्राचीन मन्दिर है। प्रत्येक वर्ष शरद पूर्णिमा को स्नान पर्व का बहुत बड़ा मेला यहाँ लगता है।

यह घाट फैजाबाद नगरपालिका क्षेत्र में अयोध्या की १४ कोसी परिक्रमा के अन्तर्गत आता है।

—❀—

निर्मलीकुण्ड घाट

यह घाट गुप्तार घाट के पश्चिम दिशा में लगभग १ मील की दूरी पर स्थित है। इसके समीपवर्ती मैदानी क्षेत्र में मिलिट्री रेजीडेन्ट स्थित है।

—❀—

यमस्थली घाट [जमथरा]

यह घाट फैजाबाद में सरयू तट पर नगर के पश्चिम किनारे पर है। यह जमथरा घाट के नाम से विख्यात है। यम द्वितीया को यहाँ बने मन्दिर पर स्नान पर्व का मेला होता है। काफी भीड़ होती है, श्रद्धालु भक्त जन जमथरा घाट पर स्नान करके यम भगवान धर्मराज का दर्शन करते हैं।

—❀—

चक्रतीर्थ घाट

सरयू नदी के तट पर स्थित यह एक कच्चा घाट है। इसमें सीढ़ियां पक्की नहीं हैं। यह घाट अयोध्या के माँझा क्षेत्र में पड़ता है। इस समय घाट की दशा अत्यन्त दयनीय है।

—❀—

प्रह्लाद घाट

चक्र तीर्थ घाट की उत्तर दिशा में लगभग दो फर्लाङ्ग पर सरयू नदी के किनारे प्रह्लाद घाट है। यहां बाबा रगड़ दास जी तपस्वी का आश्रम भी स्थित है। वर्तमान बाबा जी अपने इसी आश्रम में रहते हैं। छोटा सा मन्दिर भी बना है। उसमें भगवान की प्रतिमा है। यहां सन्तों एवं अभ्यागत अतिथियों की सेवा तथा भोजन आदि की व्यवस्था महात्मा जी की तरफ से नित्य होती है।

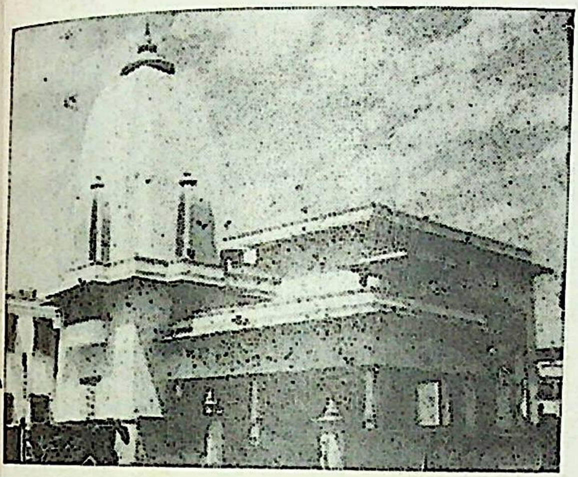
—❀—

—: ब्रह्मकुण्ड घाट :—

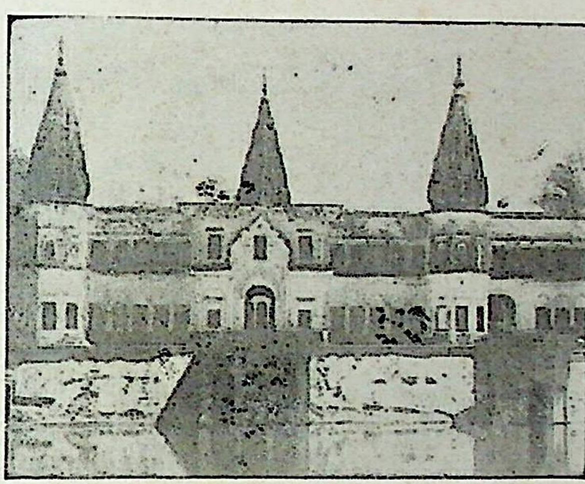
नदी के तट पर ही प्रह्लाद घाट के उत्तर कुछ ही दूरी पर ब्रह्मकुण्ड घाट है। प्रथमतः ब्रह्म कुण्ड पक्का बँधा था जो इस समय गिरा पड़ा है। घाट के समीप में ही श्री ब्रह्मदेव जी का एक छोटा सा मन्दिर है। जिसमें ब्रह्मा जी की चतुर्भुजी मूर्ति स्थापित है।

यहाँ सन्त गुरु नानक जी एक बार आकर ठहरे थे। कहते हैं कि गुरुनानक जी को चतुरानन ब्रह्मा जी के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे।

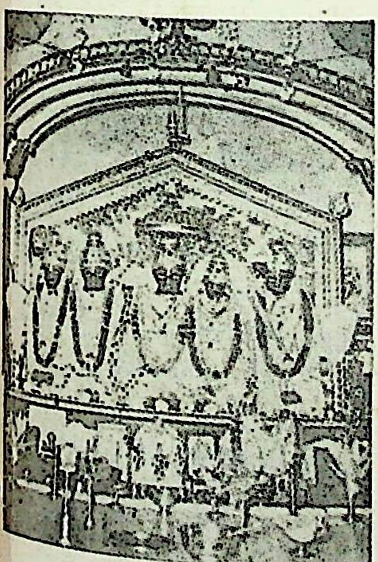
इसी घाट के ऊपर ब्रह्मा जी के मन्दिर



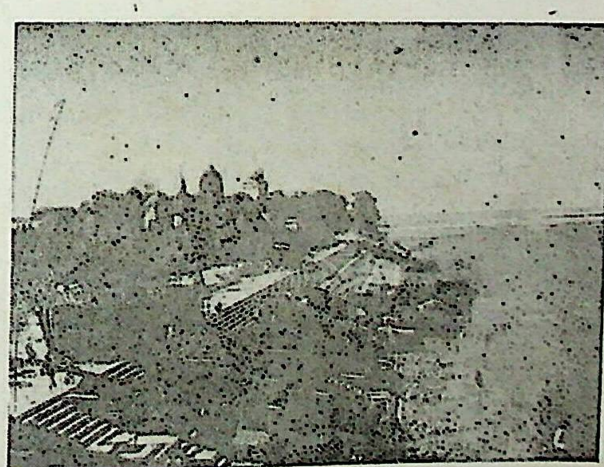
तुलसी स्मारक भवन



गुप्तारघाट



कालेराम जी का मन्दिर



सरयूघाट

के पास ही विशाल सिक्ख मन्दिर (सिक्ख गुरुद्वारा) भी स्थित है, जहाँ वर्ष में हजारों सिक्ख यात्री गुरु जी के दर्शन करने के लिए अयोध्या आते हैं । शाम के समय सूर्यास्त की शोभा इस घाट पर खड़े होकर देखने में आनन्दानुभूति होती है ।

सुमित्रा घाट

घाटों के इसी क्रम में ब्रह्मकुण्ड के बाद उत्तर दिशा में स्थित सुमित्रा घाट है । पूर्वकाल में यह क्षत्रियों द्वारा निर्मित पक्का घाट था । उसके दोनों बुर्जों पर सुमित्रा कुंज और उर्मिला श्रुतिकीर्ति कुंज विद्यमान थे तथा वहां एक तेजस्विनी वृद्धा रहा करती थी । कहते हैं, लोग उसका दर्शन करने जाते थे । दर्शन का प्रभाव यह होता था कि दर्शनार्थियों को पुराने रोगों से छुटकारा मिल जाता था ।

कौशल्या घाट :–

सुमित्रा घाट के लगभग १०० कदम उत्तर कौशल्या घाट है । इस घाट पर एक सिद्ध महात्मा तपस्वी बाबा मुक्तामणि दासजी रहा करते थे । वे बड़े ही रसिक कवि थे । उनकी भाव भरी कविता को सुनकर गोस्वामी तुलसीदास जी महराज भी प्रसन्न हो गये थे। उन्हीं को शिष्यपरम्परा में एक थे जटिल बाबा । महात्मा जटिल बाबा जी की सरयू जी में बड़ी निष्ठा थी कहते है, कि जब तक बाबा जी जीवित रहे, सरयू जी की धारा ने घाट कभी नहीं छोड़ा । सरयू जी बाबा जी को भोजन करने के लिए दिव्य भोगों का थाल दिया करती थी । इस समय कौशल्या घाट पक्की सीढ़ियों वाला बँधा हुआ घाट है । दोनों ओर बुर्ज बने हुए हैं । पानी भी बराबर रहता है, कभी-२ धारा दूर अवश्य चली जाती है । बरसात में जल स्तर काफी बढ़ जाता है ।

कैकेयी घाट :–

यह घाट पक्का बना हुआ है । इसके पास ही घाट के ऊपरी सिरे पर, बाबा ध्यानदास की कुटी है । इसके आस-पास मल्लाहों तथा गोड़ियों की बस्ती है । पुराने मल्लाह कहा करते थे कि इस घाट में जल की धारा में कभी-२ मन्थरादासी के केश दिखाई पड़ते थे । जिस वर्ष ये केश दिखाई पड़ते थे उस वर्ष कोई न कोई अप्रिय घटना अवश्य घटती थी, इसीलिए लोग उसे मन्थरा के केश कहते थे । इस घाट के अतिरिक्त यह केश अन्य किसी घाट पर नहीं दिखाई पड़ते थे । इस समय इस घाट पर सरयू की धारा घाट छोड़कर काफी दूर पर बहती है ।

राजघाट :–

यह घाट कैकेयी घाट के उत्तर करीब १ फर्लाङ्ग की दूरी पर है । यह एक पक्का बधा हुआ घाट है । यहाँ सरयू की धारा बराबर प्रवाहित होती रहती है । अयोध्या निवासी तथा तीर्थ यात्री अयोध्या के विभिन्न मेलों एवं स्नान पर्वों के अवसर पर इस घाट पर सरयू की निर्मल एवं गम्भीर जल धारा में स्नान करते हैं । त्रेतायुग में भी इस घाट का अपना विशिष्ट स्थान था । भगवान् राम के शासन काल में यहाँ इस घाट पर चारो वर्णों के लोग स्नान करते थे । प्राचीन काल में राजा प्रसेनजित ने यहाँ एक अग्रहार बनाया था, जिसमें कल्प-केतु नाम वाले मुनि रहते थे । "राजघाट सब विधि सुन्दर बर । मज्जहिं जहाँ मुदित चारिउ नर ।"

ऋणमोचन घाट :–

पापमोचन घाट राजघाट के पूर्व दिशा

में २० मीटर की दूरी पर स्थित है। इस घाट के आगे ऋणमोचन घाट है। यहां पीपल और पाकड़ के अनेक वृक्ष हैं। इस स्थान का ध्वंसावशेष अब भी स्पष्ट रूप से मिलता है। एक टूटे-फूटे मंड़प में शिवलिङ्ग भी विद्यमान है। श्रद्धालु स्नानार्थी भक्तजन इसपर नित्य जल चढ़ाते हैं। प्राचीन काल में जब मन्दिर अपनी अच्छी अवस्था में था तो उसके आश्रय में तांत्रिक लोग निवास करते थे। श्री गुरु गोरखनाथ जी के शिष्य श्री सुन्दर नाथ जी (गोपी चन्द्र भरथरी) ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके यहीं तपसाधना की थी, तथा गुरु के ऋण से मुक्त हुए थे। कहा जाता है कि इस घाट पर नित्य स्नान करके जाव मातृ-पितृ ऋण से मुक्त हो जाते हैं।

नयाघाट [धर्मराज घाट] :-

श्री हनुमानगढ़ी चौराहे से ठीक उत्तर की ओर जाने वाले राजमार्ग पर करीब १ मील की दूरी पर नयाघाट स्थित है। यह पक्का बँधा घाट है। सरकार ने इसी घाट के किनारे फैजाबाद से गोण्डा को जोड़ने के लिए एक पक्का पुल बनवा दिया है। यहाँ सरयू की धारा अति प्रवाहमयी है। विभिन्न पर्वों पर स्नानार्थियों की सबसे अधिक भीड़ इसी घाट पर होती है।

वासुदेव घाट :—

नयाघाट पूर्व कुछ ही दूरी पर वासुदेव घाट नामक एक दिव्य स्थल है। कहा जाता है कि प्रथम प्रलय के पश्चात् श्री मनुजी को भगवान (मत्स्यनारायण) मच्छ अवतार का दिव्य दर्शन इसी स्थल पर हुआ था।

बिल्वहरि घाट !-

यह स्थान अयोध्या जी से करीब १० मील पूर्व सरयू नदी के किनारे पर स्थित है। यहाँ एक प्राचीन शिवालय के अन्दर विक्रमादित्य के समय की महादेव जी की प्राचीन प्रतिमा विराजमान है। इससे कुछ ही दूर पर उत्तर दिशा में महाराज दशरथ जी का अंतिम दशगात्रसंस्कार सम्पन्न किया गया था।

अयोध्या के समीपवर्ती तीर्थ :-

श्री रामचन्द्र जी की जन्मस्थली अयोध्या नगरी के समीप में स्थित प्रमुख तीर्थों में मखौड़ा, श्रीनन्दि ग्राम, सूकरखेत (गोण्डा) तथा श्री शृङ्गीऋषि का आश्रम अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इन तीर्थ स्थलों का समास में परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है :—

मखौड़ा (मख-भूमि)

यह महाराज दशरथ जी की यज्ञ भूमि है। महाराज दशरथ जी ने इसी स्थान पर पुत्रेष्टि यज्ञ श्री शृङ्गीऋषि एवं गुरु वशिष्ठ जी के आचार्यत्व में सम्पन्न किया था। मानस में इस बात का उल्लेख बालकाण्ड में किया गया है—

शृङ्गी रिषहिं बशिष्ठ बुलावा।
पुत्र काम सुभ जग्य करावा॥

यह स्थान सरयू नदी के उस पार उत्तर में करीब १० मील पर मनोरमा नदी के किनारे अवस्थित है। यहाँ प्रति वर्ष चैत शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा के अवसर पर बहुत बड़ा मेला लगता है। यह अयोध्या पुरी की ८४ कोसी परिक्रमा के अन्तर्गत आता है। इस पुण्य स्थल के दर्शन के प्रभाव के विषय में ऐसा कहा जाता है कि यदि कोई बन्ध्या स्त्री चैत शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को यहाँ आकर सरयू के निर्मल जल में भक्तिपूर्वक स्नान करके इस पवित्र भूमि का श्रद्धाभक्ति पूर्वक दर्शन करके वहाँ की कुछ मिट्टी लेकर खाले तो उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति अवश्य होती है।

नन्दिग्राम (भरत कुण्ड)

अयोध्या पुरी से १४ मील दक्षिण फैजाबाद से इलाहाबाद जाने वाली सड़क पर नन्दिग्राम नामक भरत जी की साधना स्थली है। यहाँ इस समय एक पुराना मन्दिर बना हुआ है। जहाँ भरत जी की प्रतिमा स्थापित है। समीप में ही एक सुन्दर सरोवर है। इसे भरत कुण्ड कहते हैं। इसी के उत्तर दिशा में थोड़ी दूर पर श्री भरत जी की गुफा है। श्री रामचन्द्र जी के वन चले जाने पर भरत जी ने अपने बड़े भाई भगवान राम की चरण पादुका अयोध्या की राजगद्दी पर प्रतिष्ठापित करके इसी स्थान पर १४ वर्षों तक कठिन तपश्चर्या की थी।

कहते हैं जो फल हजारों वर्ष काशी में वास करने, प्रयाग में माघ स्नान करने से तथा गया में श्राद्ध करने से मिलता है; वही फल नन्दिग्राम दर्शन करने मात्र से प्राप्त होता है।

सूकर खेत (गोण्डा)

सरयू नदी के उस पार अयोध्या से करीब ८ मील उत्तर-पश्चिम में यह स्थल है। यह महात्मा बाबा वेणी माधव दास जी की तप स्थली है। इसे बहुत लोग तुलसी दास जी की जन्म भूमि मानते हैं। राजापुर नामक ग्राम यहीं स्थित हैं।

श्री गोस्वामी जी ने निःसन्देह रूप से इसी पुण्य क्षेत्र में राम कथा को अपने गुरु के मुख से सर्वप्रथम श्रवण किया था।

" मैं निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहि तस बालपन तब अति रहेउ अचेत ॥"

श्रृङ्गी ऋषि

महाराज दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ को सम्पन्न करने वाले श्रृङ्गी ऋषि का आश्रम सेरवा घाट में स्थित है।

—: अयोध्या की परिक्रमा :—

अयोध्या में ४ परिक्रमाएँ होती हैं। :-

८४ कोसी परिक्रमा

यह परिक्रमा सरयू जयन्ती के अवसर पर ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष १५ तिथि से प्रारम्भ की जाती है।

१४ कोसी परिक्रमा

अयोध्या की १४ कोसी परिक्रमा कार्तिक शुक्ल पक्ष नवमी को होती है। यह परिक्रमा अयोध्या के परितः १४ कोस की दूरी पर बने परिक्रमा मार्ग से कहीं से भी प्रारम्भ की जा सकती है। नवमी में ही प्रारम्भ होकर नवमी तिथि को उसी दिन पूरी की जाती है।

यह परिक्रमा अयोध्या के माझा क्षेत्र से होती हुयी जनौरा, गुप्तार घाट आदि स्थानों से होकर पुनः सरयू तट पर मिलती है।

पंच कोसी परिक्रमा

यह अयोध्या नगरी की परिक्रमा है। अयोध्या की सबसे छोटी परिक्रमा सरयू के किनारे से होकर रानोपाली होते हुए बीच में अयोध्या के मन्दिरों की परिक्रमा करते हुए पुनः सरयू तट पर आकर मिलने वाले परिक्रमा पथ से भी जाती है। यह परिक्रमा कार्तिक शुक्ल पक्ष को एकादशी को सम्पन्न होती है।

(४) नित्य की परिक्रमा :—

प्रतिदिन अयोध्या के मन्दिरों में प्रातः एवं सायं आरती के बाद श्रद्धालु भक्तों के द्वारा की जाने वाली नित्य परिक्रमा भी भगवान् के मन्दिर में बने हुए परिक्रमा मार्ग जो मंदिर में बनाया गया है, पर होती है, आरती की शोभा को देखने के बाद स्तुति एवं परिक्रमा का विधान सम्पन्न किया जाता है;

अयोध्या के मेलें

भगवान रामकी पावन जन्म-भूमि अयोध्या नगरी में प्रतिदिन उत्सवों एवं पर्वों का विधान आयोजनादि होता रहता है। इनमे प्रमुख मेले निम्नांकित है-

[१] चैतरामनवमी

यह मेला चैत मास के शुक्ल पक्ष को नवमी तिथि को होता है। उस दिन भगवान् राम के जन्मोत्सव पर्व को मनाने देश-विदेश के लाखों तीर्थ यात्री श्रद्धालुभक्त श्रीअयोध्या के मन्दिरों में दिन के १२ बजे उक्त तिथि को सम्पन्न होने वाले भगवान् के जन्मोत्सब की शोभा देखने आते हैं। उस दिन बड़ी संख्या में आयी हुयी हिन्दू जनता श्री सरयू नदी के तटों पर बने विभिन्न घाटों पर स्नान भी करती है। सरकार ने इस मेले को प्रयाग के माघ मेले की भाँति राजकीय मेला घोषित किया है। तथा इस मेले की व्यवस्था भी उचित रूप से करती है।

कार्तिक पूर्णिमा (स्नान पर्व) :—

कार्तिक में अयोध्या में सरयू स्नान करने का काफी माहात्म्य पुराणों में वर्णित है। पूरे कार्तिक भर दूर-२ से संत, गृहस्थ, भक्तजन आकर अयोध्या में कल्पवास करते हैं तथा कार्तिक शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को सरयू की पावन धारा में अवगाहन करते हैं और जन्मभूमि, नागेश्वरनाथ, हनुमानगढ़ी, आदि प्रमुख मन्दिरों का दर्शन करते हैं। सरकार इस मेले में भी काफी व्यवस्था करती है।

श्रावण झूला :—

श्रावण मास के शुक्ल पक्ष के तीज तिथि से पूर्णिमा तक यह मेला श्रीराम चन्द्र जी के झूलनोत्सव के रूप में मनाया जाता है। प्रत्येक मन्दिर में झूले पर नखशिख श्रृंगार से अलंकृत भगवान् राम लक्ष्मण एवं माँ जानकी की झांकी सजायी जाती है। स्थान-स्थान पर कथिकों के नृत्य तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का, तथा शास्त्रीय संगीत का आयोजन पूरे मेलें भर चलता रहता है। खाकी अखाड़ा, त्रिदण्ड स्वामीके आचारी मन्दिर कोशलेससदन बड़ी जगह, तथा अशर्फी भवन विशेष रूप से कत्थकों के नृत्य एवं गायन के आयोजन के साथ झूले का यह समारोह सम्पन्न होता है।

श्रीरामविवाहोत्सव :—

अगहन मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को भगवान् राम का विवाहोत्सव सम्पन्न होता है। इस दिन सायंकाल बारात विभिन्न मन्दिरों से निकलती है। रथों पर श्रीराम लक्ष्मण जी वे एवं भरत शत्रुघ्न जी के वेष में श्रृंङ्गार किये हुए मूर्तियों को बैठाकर अयोध्या की प्रमुख सड़कों पर शोभा यात्रा निकाली जाती है। कनकभवन, विजहुतीभवन, आदि प्रमुख मन्दिरों में श्रीरामजी का विवाहोत्सव कार्य-क्रम बड़े ही धूम-धाम से सम्पन्न होता है।

इन मेलों एवं पर्वो के अतिरिक्त भी अयोध्या में विभिन्न मेले एवं पर्व आयोजित होते हैं जो महत्वपूर्ण हैं।

—❀—



श्री राधेश्याम अग्रवाल
सामाजिक कार्यकर्ता

दान महिमा

राधेश्याम अग्रवाल

धर्म प्राण भारत का इतिहास दान की गाथाओं से परिपूर्ण है। वेद, वेदान्त, इतिहास पुराण तथा काव्य दान की महिमा का गान करते नहीं अधाते। दान का अर्थ है- अपनी किसी वस्तु को सर्वदा के लिये मनसा वाचा, कर्मणा किसी दूसरे को दे देना।

'स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादनम् दानम्'।
(म० भाष्य)

इस दान की महिमा को बतलाते हुए ऋग्वेद का कहना हैं कि अपने चित्त को, बिना दान किये हुए केवल अपने खा लेना, केवल पाप खाना है।

'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० १०।११७।६)

अथर्ववेद उपदेश देता है- हे मानव, सैकड़ों हाथों से सप्रयत्न सम्पत्ति का अर्जन करके, हजारो हाथों से समाज का कल्याण करने के लिए समाज में बांट दो।

'शतहस्तसमाहर सहस्रहस्तसंकिर।'
(अथर्ववेद- ३।२४।५)

सम्पूर्ण विद्या प्राप्तकर गार्हस्थ्य जीवन में प्रविविक्षु शिष्य का समावर्तन संस्कार करते हुए आचार्य उपदेश देते हैं कि तुम्हें अतिथि देव होना चाहिये।

'अतिथिदेवो भव।' (तै० उ० वल्ली) उन आये हुए अथितियो को दान देना आवश्यक है; अतएव तू उन्हें श्रद्धापूर्वक, नम्रता पूर्वक तथा कहीं अतिथि का अपमान न हो जाय इस भय से डरते हुये दान देना चाहिये।

श्रद्धया देयम्।
अश्रद्धयाऽदेयम्।
ह्रिया देयम्।
भिया देयम्।
(तै० उ० शिक्षा वल्ली)

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार तत्त्वज्ञ जीव वेदवाक्यों के अनुसार यज्ञ, दान; तपस्या तथा उपवास के द्वारा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते हैं-

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति।
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन
(बृ० उ० ४ ४ २२)

सभी उपनिषदों के सार भूत गीता में भगवान् ने कहा है, मनुष्य को तीन कार्य कभी नहीं त्यागना चाहिये, इनको सदा करते रहना चाहिये। वे हैं-

(i) यज्ञ (ii) दान और (iii) तपस्या।

ये तीनों कार्य मनिषियों को पवित्र करने वाले हैं।

'यज्ञ-दान-तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(गीता० १८।५)

विचारकों के अनुसार धन की तीन गतियाँ होती हैं-

(i) दान (ii) भोग और (iii) नाश-

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

गोस्वामी जी कहते है, धन तो वही सराहनीय है जिसकी प्रथम गति होती है- अर्थात् जिसे सद् देश में तथा सत्काल में सत्पात्र को दिया जाय है।

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी ।

(रामचरितमानस)

गीता में दान का तीन प्रकार वर्णित है- सात्त्विक, राजस और तामस ।

सात्त्विक दान वह, जो प्रत्युपकार (बदले में कुछ मिलने) की भावना से विरक्त होकर सद्देश तथा सत्काल में सत्पात्र को दिया जाय।

'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं विदुः ।।

(गी० १७ । २०)

पुराणों में सात्त्विक दान करने वाले दानियों को सप्रेम स्मरण किया गया है। शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, बलि और राजा रन्तिदेव की सात्त्विक दान-कथा से सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य आलोकित है ।

राजस दान को विवेचित करते हुंए भगवान्, श्रीकृष्ण ने गीता में कहा—प्रत्युपकार प्राप्त की भावना से, अथवा किसी फल विशेष को प्राप्ति की इच्छा से कुद्रव्य का दुःखित मन से दिया जाने वाला दान राजस दान होता है।

'यत्त् प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

(गीता १७ । २१)

पुराणों में ऐसे दानों की भी चर्चा की गयी है । कर्ण राजस दानी ही था। उसने अपने जीवन के सर्वस्व अभेद्य कवच और कुण्डल का दान करके उसके बदले में इन्द्र से एक अमोघ बाण माँग लिया, जिसके द्वारा उसने घटोत्कच को मारा। किन्तु कर्ण को महादानी कहा जाता है । राजस दान के द्वारा लोकाभ्युदय भी निस्सीम होता है ।

तामस दान की चर्चा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

(गी० १७ ।२२)

देश और काल का विचार किये बिना निन्दित देश और निन्दित काल में निन्दित पात्र को अनादर एवं अपमान पूर्वक दिया जाने वाला दान तामस दान है । दान भी जीव को बचा लेता है । इतिहास पुराण प्रसिद्ध राजा नृग का नाम तथा उनकी दान कथा को कौन नहीं जानता है ? किन्तु उनके दानांश में तामस लेशमात्र आ जाने का फल हुआ कि उन्हे कृकलास (गिरगिट) शरीर धारण करके वर्षों तम साच्छन्न कूप में रहना पड़ा, किन्तु अन्त में उन्हें भी भगवान् के चरण कमलों की प्राप्ति हुई ।

उपर्युक्त विवेचन का मात्र इतना ही प्रयोजन है कि दानदाता दान के समस्त रूपों से परिचित रहें और कलि में भवसागर संतरण के एक मात्र साधन दान के सहारे देश और समाज में अपने तथा अपने वंश का नाम उजागर रखें ।

धर्म शास्त्रों में दान की की गयी चर्चा को चार उपशीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है। (१) दान का महत्त्व (२)सफल दान (३) दान का फल (४) निष्फल दान। स्मृति चर्चित इन उपशीर्षकों की संक्षिप्त चर्चा हमे यहां करना चाहिये-

दान का महत्त्व

युगधर्मों की चर्चा करते हुए मनु कहते हैं

सत्ययुग में तपस्या, त्रेता युग में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलियुग में दान मुख्य धर्म है।

"तपः परं कृतयुगे, त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे ज्ञानमित्याहुर्दानमेकं कलौ युगे॥"

(मनुस्मृति १।८६)

अत्रि स्मृति के अनुसार इस लोक और परलोक में वेद से बड़ा शास्त्र नहीं है, माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं और दान से बड़ा कोई मित्र नहीं है।

नास्ति वेदात्परं शास्त्रं, नास्ति मातुः परो गुरुः।
नास्ति दानात्परं मित्रमिहलोके परत्र च॥

(अत्रि स्मृति १३८)

सफल दान

मनुस्मृति ३।९६ में वेदज्ञ ब्राह्मणों को सविधि भिक्षा तथा जलदान करने को सफल दान बतलाया गया है। मनुस्मृति ७।८२ के अनुसार समावर्तन संस्कार के पश्चात् आचार्य-गृह से घर लौटने वाले स्नातक ब्राह्मण को दिया गया दान दाता के धन-धान्य की अक्षय बृद्धि करता है। मनुस्मृति ८।३९४-३९५ के अनुसार राजा को चाहिये कि वह अन्धे, जड़, पङ्गु, वृद्ध तथा वैदिकों का उपकार करने वाले से किसी प्रकार का कर न ले, तथा वैदिक रोगी, आर्त बालक, बृद्ध, अकिञ्चन, महाकुलीन तथा उत्तम चरित्र वाले व्यक्ति को दान एवं मान से सम्मानित करे।

मनुस्मृति ११। १ से ६ के अनुसार संतान के लिए विवाह करने वाले, यज्ञ करने वाले पथिक, सर्वस्व दक्षिणा देकर विश्वजित यज्ञ करने की इच्छा वाले, माता-पिता एवं आचार्य के भोजनादि के लिए याचना करने वाले, तथा रोगी ये धर्म भिक्षुक हैं। इनको विद्या के तारतम्य से दान देना चाहिये। इनको यथेष्ट दान देने वाले का दान सफल दान होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १ श्लोक २०० — २०१ के अनुसार - कल्याणकामी पुरुष को चाहिये कि वह विद्या, तपस्या तथा वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, सुपात्र ब्राह्मण को ही गो, तिल आदि का दान करे, कुपात्र ब्राह्मण को नहीं।

अत्रि स्मृति ३३९ तथा ३४० श्लोक के अनुसार कल्याण कामी को चाहिये कि वह वेदज्ञ, शास्त्र कुशल, मातृ-पितृ भक्त स्वपत्नी गामी शील तथा चारित्र्य परिपूर्ण एवं प्रातः काल स्नायी ब्राह्मण को दान दे। इस तरह सफल दान की चर्चा - बृहद यमस्मृति अध्याय ४ श्लोक ५३-५५, संवर्त स्मृति श्लोक ४५-५०, बोधायन स्मृति प्रश्न २ अध्याय ३ अंक २४, गौतम स्मृति, अध्याय ५ अंक ९, कात्यायन स्मृति खण्ड १५ श्लोक ७-९' बृहस्पति स्मृति श्लोक ५६-५८, पराशर स्मृति ६५, व्यास स्मृति ४।४८ दक्ष स्मृति १-३८ तथा ३-२६ शातातप स्मृति ७८, बशिष्ठ स्मृति ६।२९ एवं बृहत्पराशरीय धर्मशास्त्र ८।२४६ में की गयी है।

दान का फल :-

इस उपशीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं का सफल दान करने वाले यजमान को प्राप्त होने वाले ऐहिक एवं आमुष्मिक फलों की चर्चा हम करेंगे।

मनुस्मृति के अनुसार जल दान करने वाले को तृप्ति, अन्न दान करने वालें को अक्षय सुख, तिल दान करने वाले को मनोभिलषित संतान, दीप दान करने वाले को उत्तम नेत्र, सवारी और शय्यादान करने वाले को प्रियतमा पत्नी, अभय दान करने वाले को ऐश्वर्य, धान्य करने वाले को चिरस्थायी सुख, तथा वेददान (वेदपढ़ाने) वाले को ब्रह्मलोक, प्राप्त होता है। जल, अन्न, गौ, भुमि, वस्त्र तिल, स्वर्ण, धा आदि के दान से वह दान ही

श्रेष्ठ है। यजमान जिस भावना से भावित होकर सफल दान करता है, जन्मान्तर में वह उसी के अनुकूल फल प्राप्त करता है।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥
यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चन सर्पिषाम् ॥
येन येन तु भावेन यद् यद्दानं प्रयच्छति।
तेन तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥
(मनुस्मृति अध्याय ४ श्लोक २२९-२३४

याज्ञवल्क्य स्मृति में गोदान की महिमा की चर्चा करते हुए बतलाया गया है कि– जो यजमान सोने से सींग तथा चांदी के खुर मढ़ाकर वस्त्र सहित कांस्य की दोहनी और दक्षिणा के साथ सीधो दुग्ध देने वाली गौ का दान सुपात्र ब्राह्मण को देता है, वह जितने रोम उस गौ के शरीर में होते हैं उतने वर्ष स्वर्ग लोक में सुख को प्राप्त करता है। इसी विधि से कपिला गौ को दान करने वाले के सात पुरखे तर जाते हैं। इसी विधि से उभयतामुखा सवत्सा गौ का दान करने वाले यजमान गौ तथा बछड़े के शरीर में रहने वाले रोम परिमित युगों तक स्वर्ग में सुखोपभोग करते हैं। गौ के बच्चा देने के समय जब तक बछड़े के दोनों पैर और मुख उसकी योनि में दिखायी पड़ते हैं, तब तक बछड़े के भूमि पर गिरने से पूर्व तक) वह गौ उभयतोमुखी कहलाती है और वह पृथ्वी के सदृश मानी गयी है। निरोग ब्यायी हुई अथवा बिना ब्यायी हुई किसी प्रकार का गो दान करने वाला दाता स्वर्ग सुख भोग करता है। थके हुए के श्रमको दूर करने से, रोगी की सेवा तथा देवता की पूजा करने से तथा ब्राह्मण के चरण तथा उसके उच्छिष्ट को धोने से गौ दान करने का फल प्राप्त होता है।

हेम शृंगी खुरै रौप्यैः सुशीला वस्त्रसंयुता।
सकांस्यपात्रा दातव्या क्षिरिणी गौः सदक्षिणा ॥
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरान् रोमसम्मितान्।
कपिला चेत्तारयति भूयश्चासप्तमं कुलम् ॥
सवत्सा रोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्।
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेणविधिना ददन् ॥
यावद्वत्सस्य पादौ द्वौ मुखं योन्यां च दृश्यते।
तावद् गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥
यथाकथंचिद्दत्त्वा गां धेनुंवाऽधेनुमेववानुं।
अरोगामपरिक्लिष्टां दाता स्वर्गं महीयते ॥
श्रान्तसंवाहनं रोगी–परिचर्या सुरार्चनम्।
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः अध्याय १ श्लोक २०४-२००)

इसी प्रकार अत्रिस्मृति २२८-२२९, संवर्त स्मृति ८०-८६, बोधायन स्मृति २।३।६८-६९, संवर्तस्मृति ५२ से ९०, बृहस्पतिस्मृति श्लोक ५ से ३३, बृहत्पराशरीयधर्मशास्त्र अध्याय ८ श्लोक २०२ से २०७, व्यासस्मृति अध्याय ४ श्लोक २८ से ४५ तक तथा शातातपस्मृति १४२ से १४५ में अनेक प्रकार के दानों का फल वर्णित है। दान दाताओं के लिए इन सबों की जानकारी अत्यावश्यक है, जिससे कि वे दान के द्वारा अपने मनोभिलषित फल को प्राप्त कर सकें।

निष्फलदान

दान दाताओ के लिए दान संबन्धी इस अंश की जानकारी अत्यावश्यक है। हो सकता है कि इसका जानकारी के अभाव में वे अपनी गाढ़ी कमाई का अंश उद्देश्य विशेष से दान करके भी पुण्य फलों की प्राप्ति के बदले में पाप का ही अर्जन कर रहे हों अथवा अपने किये हुए दान का कुछ भी प्रतिफल नहीं

प्राप्त कर रहे हों। अतएव इस अंश की चर्चा हम अन्य अंश की अपेक्षा कुछ विस्तार पूर्वक करना चाहेंगें। मनुस्मृति के अनुसार- जो यजमान दान धर्म को जाने विना मोहान्ध होकर मूर्ख ब्राह्मण को, देवताओं की प्रीति के लिए, हव्य तथा पितरों की प्रीति के लिए कव्य दान करता है उसके उस दान का फल नष्ट हो जाता है। विद्वान् तथा तपस्वी ब्राह्मण के मुख में दी गयी हव्य तथा कव्य की आहुति महान कष्ट तथा महान् पाप से मुक्त कर देती है। अतएव देवताओं तथा पितरों की प्रसन्नता के लिए विद्वान ब्राह्मण को ही भोजन कराना चाहिये, मूर्खं को नहीं, क्योंकि खून से सने हाथों की शुद्धि खून से नहीं होती है।

नश्यन्ति हव्यकव्यानि ; नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥
विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥
ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥

मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ९७,९८,१३२

मनुस्मृति अध्याय ४ श्लोक १८८ से १९७ के अनुसार मूर्ख ब्राह्मण सुवर्ण, भूमि, अश्व, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल, अथवा घृत का दान लेकर उसी तरह नष्ट हो जाता है जिस तरह अग्नि के सम्बन्ध से काष्ठ जलकर नष्ट हो जाता है। अतएव धर्मज्ञ यजमान को चाहिये कि वह विडाल-व्रती अथवा बकव्रती वेदाध्ययन पराङ्मुख ब्राह्मण को किसी प्रकार का दान न दे। ऐसे ब्राह्मण को दान देकर दाता नरक गामी होता ही है ऐसा ब्राह्मण भी दान लेकर स्वयं नरकगामी बन जाता है। जिस तरह पत्थर की बनी नाव से नदी को पार करने की इच्छा वाला नाव के साथ जल में डूब जाता है उसी प्रकार दान के ज्ञान से रहित दाता तथा प्रतिग्रहीता दोनों नरक गामी हो जाते हैं। वस्तुतः लोभी तथा पाखण्डी होकर भी जो दिखाने के लिऐ धर्म करता है किन्तु हिंसा, निन्दा तथा द्वेष में सदा संलग्न रहता है, उसे विडाल व्रती कहते हैं।

वृहत्पराशरीय धर्मशास्त्र के अनुसार - सौदा बेचते समय मुफ्त दिया गया (घलुआ), आरूढ़ पतित को दिया गया, अन्याय पूर्वक कमाये गये धन का दान, पतित ब्राह्मण को दिया गया दान, चोर को दिया गया दान, गुरु से द्वेष करने वाले को दिया गया दान, कृतघ्न को दान, ग्राम याचक को दान, निन्दित को दिया गया दान, वेश्यागामी को दिया गया दान, जिसके घर में स्त्रियां उपपति रखती हों उसको दिया गया दान, सदा स्त्री के वश में रहने वाले को दिया गया दान तथा सर्प पकड़ने वाले को दिया गया दान ये सभी व्यर्थ दान होते हैं।

पण्यस्थाने तु यद्दत्तं वृथा दानं तदुच्यते ।
आरूढपतिते चैव अन्यायोपार्जितं च यत् ॥
व्यर्थम् ब्राह्मणे दानं पतिते तस्करेऽपि च ।
गुरोरप्रीतिजनके कृतघ्ने ग्रामयाचके ॥
ब्रह्मबन्धौ च यद्दत्तं यद्दत्तं वृषलीपतौ ।
वेदविक्रयिणे चैव यस्याश्चोपपतिर्गृहे ॥
स्त्रीजिते चैव यद्दत्तं ,व्यालग्राहेऽपि निष्फलम् ।
परिचारकेऽपि यद्दत्तं वृथा दानानि षोडश ॥

वृहत्पराशरीय धर्म शास्त्र अ० ८, श्लोक ३१४-३१७

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के दानों की चर्चा शास्त्रों में की गयी है, जो दान आज सामाजिक दान का रूप धारण कर लिए हैं।

मन्दिर निर्माण करने के कार्य में सहयोग प्रदान करने का शास्त्रों में विलक्षण माहात्म्य दिया है। इससे मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो बैकुण्ठ अथवा गोलोक को प्राप्त

होता है। मन्दिर बनानेवाला अपनी विगत सौ पीढ़ी के पितरों को तथा आने वाली सौ पीढ़ी के वंशजों को भगवद्धाम में पहुँचा देता है।

अग्नि पुराण के अनुसार तीर्थ में, पवित्र स्थान में, सिद्धसंग में किसी का मन्दिर बनवाता है उसे अन्यत्र मन्दिर बनाने का जो काम मिलता है उससे तिगुना मिलता है। वही इस लोक में कीर्ति का भागी होता है।

कृष्णस्य वासुदेवस्य यः कारयति देवगृहम्।
जातः स एव सुकृतिः कुलं तेनैव तारितम्॥
विष्णुरुद्रार्कदेव्यादेर्गृहकर्ता स कीर्तिभाक्।
किं तस्य वित्तनिचयैर्मूढस्य परिरक्षिणः॥
दुःखार्जितः कृष्णस्य न कारयति केतनम्।
येऽनुमोदन्ति कृष्णस्य क्रियमाणं नरा गृहम्॥
तेऽपि पापैर्विनिर्मुक्ताः प्रयान्त्यच्युतलोकताम्।

अग्नि पुराण

बड़े बड़े भाइयों से जिस कार्य की प्राप्ति नहीं होती वह भी देवालय का निर्माण कराने मात्र में प्राप्त हो जाती है। देवालय का निर्माण करा देने पर समस्त तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त होता है

फलं यन्नाप्यते यज्ञैर्धीमि कृत्वा तदाप्यते।
देवागारे कृते सर्वतीर्थस्नानफलं लभेत॥

अग्निपुराण

मदर्थां सम्प्रतिस्थाप्य मन्दिरं कारयेत् दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रिताम्॥
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सदनाभुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात॥

श्रीमद्भागवत

यमराज अपने दूतों से देव मन्दिर बनवाने वालों को लक्ष्य कर कहते हैं- जिन्होंने भगवान् विष्णु का मन्दिर बनवाया हो उनके वंश में सौ पीढ़ी तक के मनुष्यों की ओर तुम लोग बुरे भाव से न देखना। भगवान् की प्रतिमा बनाने वाला विष्णु लोक को प्राप्त होता है, उसकी स्थापना करने वाला भगवान् में लीन हो जाता है और देवालय बनवाकर उसमें भगवान की प्रतिमा स्थापना करने वाला सदा भगवान् के लोक में निवास करता है

अग्निपुराण

समुत्पाद्य धनं कृत्वा स्वल्पेनापि सुरालयम्।
कारयित्वा हरेः पुण्यं सम्प्राप्नोत्यधिकं वरम्॥

अग्नि पुराण में कहा है:—

प्रारब्ध से मिले अथवा पुरुषार्थ से-किसी भी उपाय से धन को प्राप्त कर उसे उत्तम ब्राह्मणों को दान दें अथवा कोई स्थिर कीर्ति बनवायें।

स्कन्द पुराण में विशेष रूप में कहा है कि सबसे पहला दान अपने गुरु को दिया जाये वही सर्वोत्तम है। विद्यार्थी को देने से चौगुना फल हो जाता है।

पिता माता पत्नी एवं भाई-बन्धुओं को देने से दान का पुण्य होता है। बहिन, भानजे, मामा, बुआ के लड़के यदि दरिद्र हो तो उन्हें भी दान करना चाहिये। अपने पास का पात्र सर्वोत्तम होता है। देश में अराजकता के समय धन, स्त्री आदि छिन जाने पर जो कष्ट में रहते हैं उनको देना अति पुण्य का काम है। अपना वंश चल रहा हो तो सर्वस्व दान नहीं करना चाहिये। अपने कुटुम्ब का विरोध नहीं होना चाहिये, अपने आश्रितों को भोजन पान की व्यवस्था करके तब दान करना चाहिये। यदि कोई अतिथि भोजन के समय आ जाय तो उसे अवश्य भोजन कराना चाहिये अन्न, विद्या, वस्त्र, गाय, भूमि, स्वर्ण, घोड़ा, हाथी इनका दान उत्तम है। ओढ़ने के कपड़े, औषध देना मध्यम दान है

जूता, वाहन, छाता, वर्तन, आसन आदि देना छोटा दान है

दान यज्ञों का समूह है, दान से शत्रु मित्र हो जाते हैं। दान में सब निहित है

अतः दान को परम धर्म मानते हैं। दान से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। दान धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों को प्राप्त करने का साधन है। इसमे रोग का भी नाश होता है। मांगने पर देना चाहिये, श्रद्धा पूर्वक और शक्ति अनुसार देना चाहिये।

रहीम एक नवाब थे। वे प्रतिदिन दान दिया करते थे। एक दिन एक व्यक्ति कई बार दान को गया उस समय गंग कविने उनसे कहा --

सीखे कहाँ नवाब जू देनी ऐसी देन।
ज्यों-ज्यों कर ऊँचे चढ़े त्यों-त्यों नीचे नैन।

तब रहीम ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया-

देनेहारा और है, जो देता दिन रैन।
लोग भरम हम पं करैं या विधि नीचे नैन ।।

दान दो, नम्रता पूर्वक दो। कुढ़कर, जलकर, खीझकर और दुःखी होकर नहीं देना चाहिये।

"हस्तस्य भूषणं दानम्"

अतः दान दो, दानी बनो। यदि आप कहेंगें कि हमारे पास धन नहीं, हम कहां से दें-एक कवि के शब्दों में आपके पास देने के लिये कितना कुछ है:-

प्रेम पडोसी को दो, मित्र के सत्य हृदय दो।
मानहीन की मान भीत को सदा अभय दो ।।
भक्तिपूर्ण मन से दो पिता को आदर ।
भाई बहनों को ज्यादा सम्मति सादर ।।
शुभ आचरण स्वयं को दो बच्चों को शिक्षा ।
दीन जनों को दो उनका हक समझ सुभिक्षा ।।
अपने को इज्जत दो सेवादो जन जन को ।
प्रभु के पावन चरणों में दो निज मन को ।।

=

तन से सेवा कीजिये, मन से भले विचार।
धन से इस संसार में करिये पर उपकार ।।

यदि कुछ दे नही सकते तो मन से ही दूसरों को भलाई की भावना करो। ईमानदारी से व्यापार करो, कार्य करो।

आप भी दूसरों के लिये मंगल कामना तो कर ही सकते हैं, यदि किसी को कुछ दे नहीं सकते तो किसी के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और घृणा की भावना न रक्खें।

दान देने से स्वार्थ-बुद्धि दूर होकर आत्मा का विकाश होता है।

अथर्ववेद कहता है :—

दान देना कभी न छोड़ो !

दानाय लक्ष्मीः सुकृताय विद्या ;
चिन्ता परं ब्रह्म विचारणाय ।।
परोपकाराय धनानि यस्य,
धन्यस्त्रीलोकीतिलकः स एव ।।

अर्थ :— वह मनुष्य लोकों का सिरमौर है; धन्य है, जिसका धन दान के लिये हो, विद्या सुकर्म करने के लिये हो, चिन्ता केवल ईश्वर उपासना के लिये हो और जिसकी वाणी परोपकार के लिये हो।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नोदकं।
स्वय न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।।
धराधरो वर्षति नात्महेतवे,
परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

अर्थ :— नदियां अपना पानी स्वयं नहीं पी लेती हैं। और वृक्ष अपने फलों को स्वयं नहीं खा लेते हैं। बादल अपने लिए नहीं बरसते, सज्जनों का धन एवं विभूतियां परोपकार के लिये ही होती हैं।

जहां घृणा संदेह भरा हो,
वहाँ प्रेम दो, दो विश्वास।

जहां दोष हो, क्षमादान दो,
अन्धकार में भरो प्रकाश ।।
दो निराश को आशा निश्चित,
भय पीडित को अभय दान ।
करो विषादपूर्ण मानव को,
घनानन्द का निर्मल दान ।।
दो मुझयि मन वाले को,
अति उल्लास जनक उत्साह ।
जागृत करो हृदय जन जन के,
प्रिय प्रभुरति की निज सुचि चाह ।।
सब में हरि है सब में हरि है,
सब हरि की लीला के रूप ।
बनों सभी के सेवक सबके,
सुखद हितैषी सुहृद अनूप ।।

जीवन में साधना की परम आवश्यकता है । जिस प्रकार गन्दी नाली साफ करते समय बदबू अधिक आती है उसी प्रकार साधना करते समय मन में ठहरा हुआ विकार निकलता है ।
साधना से आनन्द की प्राप्ति होती है । आनन्द की अभिलाषा कोई मिटा नहीं पाता । आनन्द को देखा भी नहीं, फिरभी आनन्द की अभिलाषा होती है । इससे भलीप्रकार सिद्ध हो जाता है कि भगवान आनन्दघन प्रत्येक मानव को बुला रहे हैं । देर न करो, शीघ्र इधर से उधर देखो ! ऐसा करने से वे स्वयं अपनालेंगे ।

मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रति जाने प्रियोऽसि मे ।।

——

मानव जीवन में मानस का महत्त्व

—राधेश्याम अग्रवाल

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी द्वारा रचित मानस के दोहे चौपाई मन्त्र-सदृश पवित्र एवं प्रभावकारी हैं तथा आश्रित भक्त को उनके इच्छानुसार फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं।

श्रीरामचरित मानस का पाठ या अनुष्ठान करने से अथवा इस ग्रन्थ के दोहे, चौपाइयों को सिद्ध करके मन्त्र की भाँति जप करने से अनेक सकाम एवं निष्काम साधकों को अभीष्ट की प्राप्ति हुई है। ऐसे प्रसंग प्रायः कल्याण में छपते रहते हैं। यहाँ अनुष्ठान में उपयोग होने वाले कुछ मानस-सिद्ध मन्त्र दिये जा रहे हैं, जिससे मानव जीवन में लोग लाभ उठा सकते हैं।

१ विचार शुद्ध करने के लिये :—

वाके जुग पद कमल मनाऊँ।
जासु कृपा निरमल मति पाऊँ॥

२ संशय निवृत्ति के लिये :—

राम कथा सुन्दर करतारी।
संसय विहग उड़ावन हारी॥

३ ईश्वर से अपराध क्षमा कराने के लिये :—

अनुचित बहुत कहेऊँ अग्याता।
छमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता॥

४ विरक्ति के लिये :—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भवरस विरति॥

५ ज्ञान प्राप्ति के लिये :—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम शरीरा॥

६ भक्ति की प्राप्ति के लिये :—

भगत कलपतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दयाकरि राम॥

७ श्री हनुमान जी को प्रसन्न करने के लिये :—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू।
अपने बस करि राखेउ रामू॥

८ मोक्ष प्राप्ति के लिये :—

सत्यसंघ छोड़े सर लच्छा।
काल सर्प जनु चले सपच्छा॥

९ श्री सीताराम जी के दर्शन के लिये :

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर श्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि-कोटि सत काम।

१० कामना सिद्धि के लिये :—

जनकसुता जगजननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुना निधान की॥
ताके जुगपद कमल मनाऊँ।
जासु कृपा निर्मल मति पाऊँ॥

११ सहज स्वरूप दर्शन के लिये :—

भगत वछल प्रभु कृपा निधाना।
विश्ववास प्रगटे भगवाना॥

१२ भगवत प्रेम की प्राप्ति के लिये :—

कामिहि नारि पिआरि जिमि
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर
प्रिय लागहु मोहि राम॥

१३ श्री गिरजा जी की प्रसन्नता के लिये :—

जय जय गिरिवर राजकिशोरी।
जय महेश मुख चन्द्र चकोरी॥

१४ अमंगल नाश के लिये श्री रामलला जी की प्राप्ति के लिये—

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी॥

१५ प्रेम बढ़ाने के लिये :-
सब नर करहिं परस्पर प्रीती ।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

१६ विपत्ति नाश के लिये :-
राजिव नयन धरे धनुसायक ।
भगत बिरति भंजन सुख दायक ॥

१७ संकट नाश के लिये :--
१ जो प्रभु दीनदयाल कहावा ।
आरति हरन बेद जस गावा ॥
२ जपहि नामु जन आरत भारी ।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
३ दीन दयाल बिरद संभारी ।
हरहु नाथ मम संकट भारी ॥

१८ कठिन क्लेश-नाश के लिये :-
हरत कठिन कलि कलुष कलेसू ।
महामोह निसि दलन दिनेसू ॥

१९ विघ्न-विनाश के लिये :-
सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेहीं ।
राम सुकृपा बिलोकहिं जेहीं ॥

२० खेद नाश के लिये :-
जब ते राम व्याह घर आए ।
नित नव मंगल मोद बधाए ॥

२१ उपद्रवों और रोगों की शान्ति के लिये :-
दैहिक दैविक भौतिक तापा ।
राम राज नहिं काहुहि व्यापा ॥

२२ विष नाश के लिये :-
नाम प्रभाव जान सिव नीको ।
काल कूट फलु दीन्ह अमीको ॥

२३ भूत भगाने के लिये :--
प्रनवउँ पवन कुमार खलवन पावक ग्यानघन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चापधर ॥

२४ खोई हुई वस्तु पुनः प्राप्त करने के लियें :-
गई बहोर गरीब नेवाजू ।
सरल सबल साहिब रघुराजू ॥

२५ जीविका प्राप्ति के लिये :--
बिस्व भरन पोषन कर जोई ।
ताकर नाम भरत अस होई ।

२६ दरिद्रता दूर करने के लिये :—
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के ।
कामद धन दारिद दवारि के ॥

२७ लक्ष्मी प्राप्ति के लिये :-
जिमि सरिता सागर महु जाहीं ।
जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बुलाए ।
धरमसील पहिं जाहि सुभाए ॥

२८ पुत्र प्राप्ति के लिये :--
प्रेम मगन कौसिला
निसि दिन जात न जान ।
सुख सनेह बस माता
बाल चरित कर गान ॥

२९ सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये :-
जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं ।
सुख सम्पति नाना बिधि पावहिं ॥

३० सिद्धि प्राप्ति के लिये :--
साधक नाम जपहिं लव लाए ।
होहि सिद्ध अनिमादिक पाए ॥

३१ सब सुख प्राप्ति के लिये ।
सुनहि विमुक्त विरत अरु विषई ।
लहहिं भगति गति संपति नई ।

३२ मनोरथ सिद्धि के लिये :--
भव भेषज रघुनाथ जसु
सुनहि जे नर अरु नारि ।
तिन कर सकल मनोरथ
सिद्ध करहि त्रिपुरारि ॥

३३ मुकदमा जीतने के लिये :—
पवनतनय बल पवन समाना ।
बुधि विवेक विग्यान निधाना ॥

३४ शत्रु को मित्र बनाने के लिये :—
गरल सुधा रिपु करहिं मिताई ।
गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥

३५ शत्रुता नाश के लिये :--

वयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई॥

३६ विवाह के लिये :--

तब जनक पाइ वसिष्ठ आयसु
ब्याह साज संवारि के।
मांडवी श्रुतिकीरति उर्मिला
लई कुअँरि हँकारि के॥

३७ यात्रा की सफलता के लिये :--

प्रविसि नगर कीजे सब काजा
हृदय राखि कोसलपुर राजा॥

३८ परीक्षा में पास होने के लिये :-

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।
जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥

३९ विद्या प्राप्ति के लिये :--

गुरु गृह गए पढ़न रघुराई।
अल्पकाल विद्या सब पाई॥

४० उत्सव की सफलता के लिये :--

सिय रघुवीर बिबाहु
जे सप्रेम गावहि सुनहि।
तिन्ह कहु सदा उछाहु
मंगलायतन रामजसु॥

४१ विजय के लिए :--

समर विजय रघुबीर के
चरित जे सुनहिं सुजान।
विजय विवेक बिभूति नित
तिन्हिं देहिं भगवान॥

४२ संकट नाश के लिए :--

मो सम दीन न दीनहित
तुम समान रघुबीर।
अस विचारि रघुबंश मनि
हरहु विषम भवपीर॥

४३ मोक्ष प्राप्ति के लिए :--

सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥

४४ शान्ति प्राप्ति के लिए :--

दीप शिखा सम जुवति तन,
मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद;
करहिं सदा सतसंग॥

४५ आनन्द प्राप्ति के लिए :--

सिय रघुवीर विवाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्हकर सदा उछाहु मंगलायतन राम जस॥

रामायण की सम्पूर्ण कथा मनुष्य के जीवन को उन्नत बनाने वाली है, नित नूतन प्राण का सञ्चार करने वाली है। राम की पितृ भक्ति तथा प्रजावत्सलता, सीता की पति परायणता, लक्ष्मण और भरत की भ्रातृ सेवा, हनुमान की भक्ति, ये कुछ ऐसी बाते हैं जिन्हें रामायण मानव मात्र को अन्त काल तक सिखलाती रहेगी। भारत में देहात में रहने वालों के लिये रामचरित मानस जीवन का आधार है। इसके मनन से स्वार्थत्याग, इन्द्रिय-जय, मनका संयम, चित्त का पावित्र्य, करुण रसकी अत्युत्कटता कर्तव्यपरायणता, निष्का-मना, सेवा भाव का प्रादुर्भाव हुआ ही करता है। रामायण हमारा संजीवन अमृत है। इससे मन, हृदय, आत्मा को बड़ी शान्ति मिलती है। भक्ति-भाव का यह समुद्र ही है जितना जो इसमें गहिरे उतरे उतने ही रत्न इसमें पा सकता है।

बनादास तुलसी गोसाईं महराज पद,
कलिराज उदधि जहाज औतार हैं।
राखि लियो जनश्रुत सकल पुरान बीज,
नातो डूबि जातो सकल मरिजाद है।

मानस महिमा

माता पिता पुत्र से प्रिया से सुख होता नहीं,
सच्चे सुख का निवास कौन बतलाती है।
संयम, नियम तप धर्म में लगाती हुई,
विश्व से विरक्ति सविशेष उपजाती है॥
कामका विजेता कर देती है सचेता और,

अति भव्य भागीरथी भक्ति को बहाती है।
रामचन्द्र जी के ध्रुव ध्यान में निमग्न हुए,
मानस मनुष्य को महेश्वर बनाती है॥

धार्मिक तत्व के पर्वतों से,
अभिभूषित रम्य मनोहर है।
राम की भक्ति का हाँ इसमें,
भरपूर भरा जल सुन्दर है॥

हवन की सामग्रीः—

१ चन्दन का बुरादा २ तिल, घी, चीनी, अगर, तगर, कपूर, केसर, नागरमोथा, पंचमेवा जौ और चावल॥

जानने की बातें—

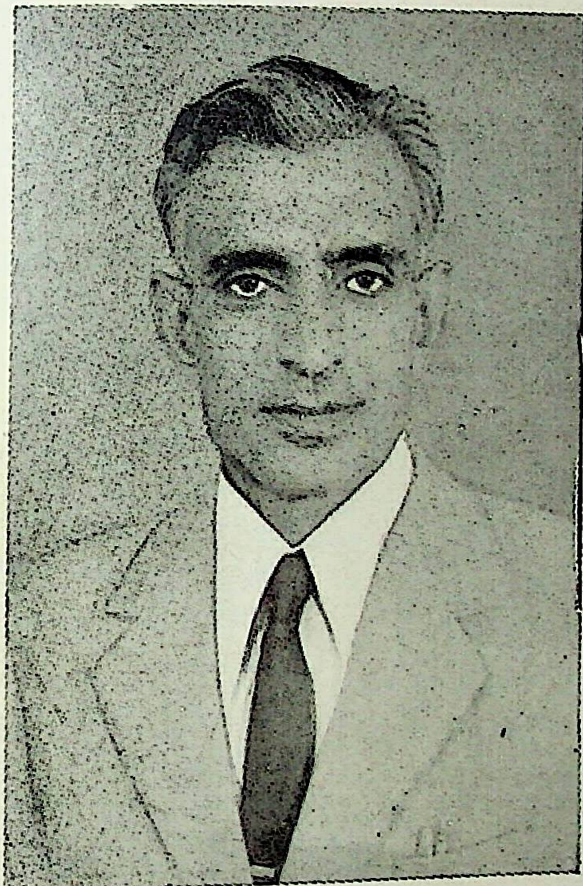
जिस उद्देश्य के लिए जिस चौपाई, दोहे या सोरठा का जप करना बताया गया है उसको सिद्ध करने के लिये उसके द्वारा १०८ बार हवन करना चाहिये। यह हवन केवल एकही दिन करना है। हवन के लिए १ सेर सामग्री सब मिलाकर चाहिये। बैठने के लिये आसन ऊन या कुशका होना चाहिये।

हवन करने के बाद दोहे या चौपाई का प्रति दिन कम से कम एक माला जप सुविधा हो उस समय करना चाहिये।

प्रत्येक कार्य की सफलता के लिये रामायण के सुन्दर काण्ड का एक पाठ प्रतिदिन करना चाहिये। इसके करने से इच्छित कार्य की प्राप्ति होती है। धन प्राप्ति के लिये किष्किन्धा काण्ड का पाठ भी किया जाता है।

केवल उत्तर काण्ड के १४ दोहे तक का पाठ भी जीवन में सफलता दिलाने वाला है। रामायण सभी समय और सभी कालके लिये प्रत्येक मानव के लिये जीवन की सभी परिस्थितियों में उपयोगी ग्रन्थ है, जीवन को सफल बनाने का एक साधन है। कलियुग में मानस ने लोगों का उद्धार किया, कलियुग के कुटिल जीवों का कल्याण किया। श्रीरामचरित मानस कलियुग के दोषों को दूर करने वाला है, पाप हरण करने वाला है। सदा मंगल करने वाला है। विज्ञान, भक्ति का देने वाला है। माया, मोह और मल को दूर करने वाला है। इस मानस सरोवर रूपी श्रीरामचरितमानस में जो स्नान करते है अर्थात् कहते, सुनते और अनुमोदन करते हैं वे मनुष्य संसार रूपी घोर रविकर से संतप्त नहीं होते। इस प्रकार रामचरित मानस आज सारे विश्व के लिये परम हितकारी सिद्ध हो रहा है।

-०-



श्री त्रिभुवनपाल गोयल

नवरात्र-उपवास

—श्री त्रिभुवनपाल गोयल

उपवासों में नवरात्र के अवसर पर किये गये नवरात्र व्रत या नवरात्रीय उपवास का अपना विशेष स्थान है। यद्यपि यह उपवास अल्पकालिक उपवासों की सीमा में आता है, किन्तु ठीक विधि से करने पर इसका परिणाम बहुत ही चामत्कारिक है।

नवरात्र व्रतों की मुख्य विशेषता यह है कि ये वर्ष के ऐसे अवसरों पर करने पड़ते हैं जब ऋतु में परिवर्तन होता है। एक बार तब जब ऋतु शिशिर से ग्रीष्म की ओर जाती है और दूसरी बार जब ग्रीष्म से शिशिर की ओर बढ़ती है। साधारणतया यह देखा जाता है कि ऋतु परिवर्तन के इन मोड़ों पर अधिकतर लोग सर्दी, जुकाम, बुखार, पेचिस, मल, अजीर्ण चेचक, कालरा, इन्फ्लुएँजा आदि रोगों से पीड़ित हो जाते हैं अतः ऋतु-परिवर्तन मानव-शरीर में छिपे हुए विकारों एवं ग्रन्थि-विषों को उभाड़ देता है, अतः उस समय उपवास द्वारा उनको बाहर निकाल देना न केवल अधिक सुविधाजनक होता है, बल्कि आवश्यक और लाभकारी भी। इस प्रकार नवरात्र में किया गया एक व्रत वर्ष के दूसरे अवसरों पर किये गये साधारण उपवासों से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। नवरात्र व्रतों के समय साधारणतया संयम ध्यान और पूजा की त्रिवेणी बहा करती है अतः यह व्रत शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सभी स्तरों पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है और उपवासकर्त्ताको कल्याणकारी मार्ग की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा और क्षमता प्रदान करता है।

नवरात्र व्रत प्रतिवर्ष चैत तथा आश्विन मास में शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से लेकर नवमी तक किया जाता है। इनमें पहला व्रत राम जन्म के पूर्वकाल में तथा दूसरा रावण-वध के पूर्वकालमें पड़ता है। ये दोनों ही अवसर उल्लासकारी होते हैं अतः इनका प्रभाव भी उपवासकर्त्ताके जीवन पर वैसा ही पड़ता है।

भारतीय साहित्य में राम को शक्ति, ज्ञान और आनन्दका प्रतीक तथा रावणको मोह अर्थात् अन्धकार का प्रतीक माना गया है अतः यह अपेक्षा की जाती है कि नवरात्र व्रतोंकी सफल समाप्तिके बाद उपवासकर्त्ताके जीवन में क्रमशः मोह आदि दुर्गुणों का विनाश होकर उसे शक्ति, ज्ञान एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि सही सिद्धान्त को समझकर उसके अनुकूल यदि विधिपूर्वक सही प्रयोग किये जांय तो साधनकी सफलता निश्चय है अतः ठीक ढंग से नवरात्रीय उपवास को करने से यह निश्चित है कि शरीर को रोगों से और इन्द्रियों को थकावट से मुक्ति मिल जायगी तथा मन और बुद्धि के स्तर पर शान्ति और ज्ञान की उपलब्धि का मार्ग भी प्रशस्त हो सकेगा।

अवश्य ही ऐसा एक ही बार के उपवास से सम्भव नहीं है। शरीर में बहुत दिनों से दूषित मल का जो संचय होता रहा है वह धीरे-धीरे

हो निकल पायेगा। यह वांछनीय भी नहीं है कि बहुत तेजी के साथ यह मल निकाल दिया जाय क्योंकि वैसा करने के लिए लम्बी अवधि का उपवास करना पड़ सकता है, जो सबके लिए शक्य नहीं है और अनेक कारणों से निरापद भी नहीं है। नवरात्रीय उपवास जो छः महीनों के अन्तर पर पड़ता है और जिसे केवल नव दिनों तक करना पड़ता है क्रमशः शरीर को शुद्ध करने के लिए पर्याप्त है और नियमित ढंग से करने पर इनमें किसी प्रकार के उपद्रव की भी सम्भावना नहीं रहती। लगातार २-३ वर्षों में पड़ने वाले ४-६ नवरात्रों में इसे कर लेने से शरीर काफ़ी शुद्ध हो जाता है और आगे व्रत करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती।

नवरात्रीय उपवास एक पूर्ण उपवास है किन्तु इस ओर धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए। पृथ्वी तत्त्व वाले आहार को छोड़कर क्रमशः जल-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व और अन्त में वायु-तत्त्व के सहारे नवरात्रीय उपवास करने का कार्य-क्रम बनाना चाहिए। आकाश तत्त्व के आधार पर उपवास करना बहुत कठिन है। यह न तो सबके लिए शक्य है और न आवश्यक ही। इसे तो कुछ थोड़े से अत्यधिक गम्भीर आध्यात्मिक साधक ही अपना सकते हैं। यह कठिन तपका मार्ग है जिसपर चलने के लिए सबको प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है अतः इस पुस्तक में इसकी चर्चा नहीं की गई है। केवल जल-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व और वायु-तत्त्व वाले साधनों के सहारे ही उपवास करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है।

आहार-क्रम—

नवरात्र वाले प्रत्येक बार के उपवास में आहार-क्रम का परिवर्तन आवश्यक है। पृथ्वी-तत्त्व वाले पदार्थों का जिनमें अन्न, दाल, मांस मछली मुख्य हैं, आहार उपवास काल में बिल्कुल ही बन्द कर देना चाहिये: ऐसा न करने से उपवास का उद्देश्य ही पराजित हो जायगा। उपवासकर्त्ता की सुविधा के लिए हम नवरात्र के प्रारम्भिक उपवास के क्रम में ३-४ उपवासों की आहार-तालिका नीचे दे रहे हैं। इस क्रम से उपवास करने पर उपवास-कर्त्ता उपवास काल में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करेगा और वह अधिक विश्वास पूर्वक अगले नवरात्र के लिए अपने को तैयार पायेगा।

प्रथम नवरात्र—

पहली बार के नवरात्र-व्रत में आहार को त्यागकर दिनमें गूदेदार मौसमी फल जिनमें अमरूद, सेव, केला, पपीता, आदि प्रमुख हैं लेने चाहिए। किन्तु कोई भी गूदेदार फल दोपहर से पूर्व न लिया जाय क्योंकि उस समय जीवनी शक्ति मल निष्कासन में लगी रहती है। गूदेदार फल लेने पर उसे ही पचाने में जीवनी शक्ति को लग जाना पड़ेगा जो वांछनीय नहीं है। उस समय फल का रस. नीबू का पानी अथवा शहद मिश्रित जल ही लेना चाहिए। थोड़ी थोड़ी मात्रा में कच्चे खाये जाने योग्य उन तरकारियों का सलाद भी लेना चाहिये जो फलों की भांति खाये जाते हैं जैसे ककड़ी, खीरा, गाजर, टमाटर आदि। रात्रि में लौकी, परवल, नेनुआ, पपीता, पालक. चौलाई, बथुआ आदि जैसी सब्जियों में जो भी उपलब्ध हो उन्हें उबालकर खाना चाहिए। सोते समय एक पाव से डेढ़ पाव तक दूध भी लिया जा सकता है। नव दिनों तक इसी प्रकार का आहार ग्रहण करते हुए पहले नवरात्र का उपवास पूरा करना चाहिए। उपवास तोड़ते समय पहले दिन मध्याह्न

के बाद पकाई गई हरी सब्जियों के साथ थोड़ी मात्रा में अन्नमय भोजन ग्रहण किया जा सकता है। २-४ दिनों तक इसी प्रकार का सयमित भोजन करते हुए समन्वित भोजन पर आ जाना चाहिए।

द्वितीय नवरात्र—

दूसरी वार नवरात्र व्रत करते समय गूदेदार फलों का त्याग कर केवल रसदार फलों तथा सब्जियों के रस पर ही व्रत करना चाहिए। रसदार फलों में सन्तरा, मुसम्मी, बेल अनानास आदि फल आते हैं। डाभ का पानी भी बहुत हितकर है। सब्जियों में लौकी, पपीता परवल, नेनुआ, गाजर तथा अन्य प्रकार के उपलब्ध शाकों को उबालकर उनका रस और थोड़ी मात्रा में उनका गूदा भी लिया जा सकता है। इस नवरात्र में दूध का लेना बन्द कर देना चाहिए। इसी क्रम से नव दिनों तक उपवास करने के बाद उपवास तोड़ते समय पानी मिला कोई फल का रस लेने के बाद पकाई हुई सब्जियों से यह व्रत तोड़ना चाहिए। उसके बाद थोड़ी मात्रा में कच्चे सलाद को भी लिया जा सकता है। सलाद फल अथवा सब्जी किसी का भी हो सकता है। एक दिन के बाद सोने समय आहार में दूध को शामिल किया जा सकता है। तीसरे दिन से रुचि के अनुसार रोटी अथवा चावल को भी भोजन में शामिल कर अपने मर्मान्वित आहार पर आ जाना चाहिए। अन्न की मात्रा धीरे-धीरे ही बढ़ाना चाहिए।

तृतीय नवरात्र—

तीसरे नवरात्र में सब्जियों का रस छोड़ कर केवल फलों के रस पर ही उपवास करना चाहिये। इन फलों में सन्तरा, मुसम्मी, डाभ का रस ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यदि कोई रसदार फल उपलब्ध न हो तो पानी में शुद्ध शहद मिलाकर लेना चाहिए। हाँ, इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि शहद पूर्णतया शुद्ध हो। एक गिलास पानी में २-३ चम्मच शहद से अणिक नहीं मिलाना चाहिए। उसमें कागजी नीबू का रस भी एक चम्मच लिया जा सकता है किन्तु नीबू का रस पानी में मिला कर अलग से ही पीना अधिक उपयोगी होता है। केवल फलों के रस पर उपवास करने वालों को थोड़ी विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। उन्हें शारीरिक श्रम यथासम्भव बहुत कम कर देना चाहिए। फलों के रस पर उपवास करने वाले को नवें दिन सन्तरा, अंगूर, अनानास या डाभ आदि के रस से ही उपवास तोड़ना चाहिए, किन्तु उसके साथ पानी भी मिला हो। साधारणतया एक गिलासमें आधा पानी और आधा फल का रस हो। कुछ घण्टों के बाद पकाई गई हरी सब्जियों का रस लेना चाहिए। अगले दिन रसाहार करते हुए उबाली हुई तरकारियाँ लेनी चाहिए। फलों अथवा खीरा ककड़ी-टमाटर आदि का सलाद भी थोड़ी मात्रा में लिया जा सकता है। तीसरे दिन इसके अतिरिक्त आहार में दूध को शामिल कर लेना चाहिए। चौथे दिन से एक दो रोटी भी ली जा सकती है। उसके बाद क्रमशः अपने समन्वित भोजन पर आ जाना चाहिए। किन्तु अन्नमय भोजन दिन-रात में केवल एक बार ही ग्रहण करना चाहिए।

चतुर्थ नवरात्र—

चौथी बार नवरात्र व्रत करते समय भी तीसरे नवरात्र की भाँति ही सन्तरे, मुसम्मी आदि का रस लेते हुए उपवास करना चाहिये किन्तु रस की मात्रा कम कर देनी चाहिए। इस में भी आधा पानी मिलाकर ही ग्रहण करना चाहिए। रसके अभाव में मधुमिश्रित

जल लेना चाहिये। दिन रात में इस प्रकार का रस या मधु-मिश्रित जल अपनी अवश्यकता के अनुसार लेना चाहिये। चौथा नवरात्र केवल पानी पर भी किया जा सकता है यदि उपवास-कर्ता को पिछले उपवासों में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हुआ हो। किन्तु ऐसे उपवास के लिए पानी बहुत शुद्ध होना चाहिये। यदि बीच धारा का गंगाजल सुलभ हो सके तो ऐसे उपवास के लिए उतम होगा। यदि गंगाजल उपलब्ध न हो तो बाष्प जल (डिस्टिल्डवाटर) का प्रयोग किया जाना चाहिये। केवल पानी पर उपवास करना अन्य दृष्टिकोण से उपयोगी हो सकता है किन्तु शीघ्र शरीर शोधन के दृष्टिकोण से वह उतना उपयोगी नहीं है जितना सन्तरे के रस अथवा मधु-मिश्रित जल पर उपवास करना क्योंकि पानी के साथ अथवा मधु मिला होने के कारण अंतडियों में चिपके हुए मल को निकालने में अधिक सुविधा होती है और उपवास काल में हो रहे टूट-फूट की आंशिक रूप में पूर्ति भी होती रहती है। चौथी बार नवरात्रीय उपवास करने वालों को भी अपना उपवास उसी विधि और क्रम से तोड़ना चाहिये। जैसा तीसरी बार व्रत करने वालों के लिये बताया गया है।

इन नवरात्रीय उपवासों के करते समय स्वतः अपने विषय में अपनी क्षमता का अन्दाज लगा लेना चाहिये। यदि कभी ऐसा लगे कि अगली बार के लिए निर्धारित आहार क्रम के अनुसार उपवास करने में कठिनाई होगी तो उसे छोड़कर उसी आहार क्रम को दुहरा देना चाहिये, जिसके आधार पर पहला उपवास किया गया है। जब पूर्ण आत्म-विश्वास हो तभी एक क्रम के बाद दूसरा क्रम अपनाया जाय। उपवास के दौरान यदि बीच में ही किसी कारणवश उपवास तोड़ देने का विचार पैदा हो जाय तो वैसा करने में हर्ज नहीं है। किन्तु उपवास तोड़ने समय उन्हीं विधियों को अपनाया जाय तो तोड़ने के लिए बताई गई है।

एनिमा और स्नान–

उपवास-काल में जब तक शरीर पूर्णरूपेण शुद्ध न हो कमजोरी का लगना स्वाभाविक है। कमजोरी की हालत में एनिमा का लेना लाभप्रद होता है. वैसे उपवास काल में प्रति दिन प्रातः और सायं शौच से निपटने के एक घण्टे बाद 'शक्तिदायक' एनिमा अवश्य लेना चाहिये, भले ही शौच पूर्णरूपेण स्वच्छ हुआ हो अथवा एनिमा लेना निष्फल लगे। एनिमा का उद्देश्य शिथिल हो गयी आँतों को ठण्डक पहुंचा कर उन्हें अपना ठीक प्रकार से कार्य करने के लिए सक्षम बनाना है। उपवास काल में एनिमा लेने का मात्र उद्देश्य भीतर जमे हुये मल को बाहर निकालना नहीं अपितु आँतों को पुनः शक्तिशाली बनाना है, जिससे मल-निष्क्रमण के अपने कार्य को वे अच्छे ढङ्ग से कर सकें। अतएव 'शक्तिदायक' एनिमा तब भी लेना चाहिये जब पेट या आँत में मल के होने की सम्भावना न हो। इस प्रकार के एनिमा से कोई हानि नहीं होगी। एनिमा एक पाव ठण्ढे पानी का लेना हितकारी है। उसे लेकर १० मिनट तक अन्दर ही रोकना चाहिये। पानी की ठण्ढक आँतों को सतेज बनाती है और धीरे-धीरे उन्हें स्वतः ठीक ढङ्ग से कार्य करने योग्य बना देती है। उपवास की अवधि में एनिमा के बाद प्रातः एवं सायं ठण्ढे पानी से स्नान करना चाहिये। इससे ताजगी और स्फूर्ति बनी रहेगी। जो लोग एनिमा न लेना

चाहते हों उन्हें भी रगड़-रगड़ कर दिन में दो बार स्नान अवश्य कर लेना चाहिये। इससे मल निकालने के लिए रोमकूपों का मार्ग खुल जायगा। एनिमा न लेने की दशा में शौच होने में कुछ बिलम्ब हो सकता है किन्तु उससे कुछ विशेष हानि नहीं होगी। बाद में बिना एनिमा लिये भी खुल कर शौच होने लगेगा।

विश्राम—

उपवास की अवधि में शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से बचना चाहिये। पूर्ण विरक्ति तथा विश्राम का उपभोग इस लिये नहीं करना चाहिये कि काम करने के लिये शक्ति अथवा जीवनी शक्ति में कमी हो गई है, अपितु इस विशेष प्रयोजन से कि पाचन एवं सम्भरण क्रिया में लगने वाली सम्पूर्ण शक्ति शरीर के टाक्सीन (मल विकार तथा रक्त दोष) बाहर करनेमें लग सके। यदि पूर्ण विश्राम के इस सिद्धान्त की साधक अवहेलना करता है तो इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि उपवास द्वारा पूर्ण लाभ न प्राप्त कर सके भले ही वह अपना उपवास कितनी ही सफलतापूर्वक, धार्मिक निष्ठा एवं लम्बी-अवधि के लिये क्यों न करें। अतः जहाँ तक सम्भव हो उपवासकर्त्ता को अपने को अधिक से अधिक विश्राम की स्थिति में रखना चाहिये। विश्राम की कमी होने से आंतरिक सफाई का कार्य समुचित रूप से न हो सकने की सम्भावना बनी रहेगी जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि जीवनी शक्ति के जागरण में अवरोध उत्पन्न हो जायगा। जो लोग जल अथवा जल में मधु के रस पर पहली बार उपवास कर रहे हों उन्हें तो विशेष रूप से इस ओर ध्यान देनाचाहिये। उन्हें यह भी चाहिये कि शय्या से बहुत धीरे से उठें और धीरे-धीरे सतर्कता पूर्वक चलें क्योंकि उन्हें कभी-कभी चक्कर भी आ सकता है अथवा आंखों के सामने कुछ क्षणों के लिये अन्धेरा छा सकता है, वमन भी हो सकता है। यह शरीर के अङ्गों से निकलने वाले विष का प्रभाव है जो मल के उभरने से होता है। अतः यह भी उपयुक्त होगा कि प्रारम्भ में केवल जल या मधु मिश्रित जल पर किये गये उपवास किसी सुयोग्य निर्देशक की देख रेख में किये जायँ तथा उपवास काल में पूर्ण विश्राम किया जाय। निर्देशक ऐसा होना चाहिए जो उपवास के सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित हो तथा जिसने स्वयं केवल जल अथवा शहद मिश्रित जल पर एक से अधिक बार सफल उपवास किया हो।

विश्राम के साथ-साथ उपवासकर्त्ता के रहने का वातावरण भी स्वच्छ होना चाहिये। उसे स्वच्छ वायु का अधिक से अधिक सेवन करना चाहिए और यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो भी उसे कम से कम सुबह शाम स्वच्छ वायु सेवन के लिए खुली हवा में टहल आना चाहिए। उपवास काल में प्रातः कालीन धूप का भी सेवन करना उपयोगी है। साथ ही सुबह शाम आधे घन्टे तक ध्यान मुद्रा में बैठना भी उपवास काल में बड़ा गुणकारी है।

अन्य सावधानियां—

उपवासकर्ता को प्रारम्भ में कभी विस्मय पूर्ण अनुभव हो सकते है अतएव उपवास की अवधि में होने वाली प्रक्रियाओं का ज्ञान कर लेना भी आवश्यक हैं। इस प्रकार के उत्पात तब अधिक होते हैं जब शरीर में विकार की मात्रा अधिक रहने पर भी एकाएक केवल जल अथवा जल में थोड़ा मधु घोलकर उसमें नीबू

जल लेना चाहिये। दिन रात में इस प्रकार का रस या मधु-मिश्रित जल अपनी अवश्यकता के अनुसार लेना चाहिये। चौथा नवरात्र केवल पानी पर भी किया जा सकता है यदि उपवास-कर्ता को पिछले उपवासों में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हुआ हो। किन्तु ऐसे उपवास के लिए पानी बहुत शुद्ध होना चाहिये। यदि बीच धारा का गंगाजल सुलभ हो सके तो ऐसे उपवास के लिए उत्तम होगा। यदि गंगाजल उपलब्ध न हो तो वाष्प जल (डिस्टिल्डवाटर) का प्रयोग किया जाना चाहिये। केवल पानी पर उपवास करना अन्य दृष्टिकोण से उपयोगी हो सकता है किन्तु शीघ्र शरीर शोधन के दृष्टिकोण से वह उतना उपयोगी नहीं है जितना सन्तरे के रस अथवा मधु-मिश्रित जल पर उपवास करना क्योंकि पानी के साथ अथवा मधु मिला होने के कारण अंतड़ियों में चिपके हुए मल को निकालने में अधिक सुविधा होती है और उपवास काल में हो रहे टूट-फूट की आंशिक रूप में पूर्ति भी होती रहती है। चौथी बार नवरात्रीय उपवास करने वालों को भी अपना उपवास उसी विधि और क्रम से तोड़ना चाहिये। जैसा तीसरी बार व्रत करने वालों के लिये बताया गया है।

इन नवरात्रीय उपवासों के करते समय स्वतः अपने विषय में अपनी क्षमता का अन्दाज लगा लेना चाहिये। यदि कभी ऐसा लगे कि अगली बार के लिए निर्धारित आहार क्रम के अनुसार उपवास करने में कठिनाई होगी तो उसे छोड़कर उसी आहार क्रम को दुहरा देना चाहिये, जिसके आधार पर पहला उपवास किया गया है। जब पूर्ण आत्म-विश्वास हो तभी एक क्रम के बाद दूसरा क्रम अपनाया जाय। उपवास के दौरान यदि बीच में ही किसी कारणवश उपवास तोड़ देने का विचार पैदा हो जाय तो वैसा करने में हर्ज नहीं है। किन्तु उपवास तोड़ते समय उन्हीं विधियों को अपनाया जाय तो तोड़ने के लिए बताई गई है।

एनिमा और स्नान—

उपवास-काल में जब तक शरीर पूर्णरूपेण शुद्ध न हो कमजोरी का लगना स्वाभाविक है। कमजोरी की हालत में एनिमा का लेना लाभप्रद होता है। वैसे उपवास काल में प्रति दिन प्रातः और सायं शौच से निपटने के एक घण्टे बाद 'शक्तिदायक' एनिमा अवश्य लेना चाहिये, भले ही शौच पूर्णरूपेण स्वच्छ हुआ हो अथवा एनिमा लेना निष्फल लगे। एनिमा का उद्देश्य शिथिल हो गयी आँतों को ठण्डक पहुंचा कर उन्हें अपना ठीक प्रकार से कार्य करने के लिए सक्षम बनाना है। उपवास काल में एनिमा लेने का मात्र उद्देश्य भीतर जमे हुये मल को बाहर निकालना नहीं अपितु आँतों को पुनः शक्तिशाली बनाना है, जिससे मल-निष्क्रमण के अपने कार्य को वे अच्छे ढङ्ग से कर सकें। अतएव 'शक्तिदायक' एनिमा तब भी लेना चाहिये जब पेट या आंत में मल के होने की सम्भावना न हो। इस प्रकार के एनिमा से कोई हानि नहीं होगी। एनिमा एक पाव ठण्ढे पानी का लेना हितकारी है। उसे लेकर १० मिनट तक अन्दर ही रोकना चाहिये। पानी की ठण्डक आँतों को सतेज बनाती है और धीरे-धीरे उन्हें स्वतः ठीक ढङ्ग से कार्य करने योग्य बना देती है। उपवास की अवधि में एनिमा के बाद प्रातः एवं सायं ठण्ढे पानी से स्नान करना चाहिये। इससे ताजगी और स्फूर्ति बनी रहेगी। जो लोग एनिमा न लेना

चाहते हों उन्हें भी रगड़-रगड़ कर दिन में दो बार स्नान अवश्य कर लेना चाहिये। इससे मल निकालने के लिए रोमकूपों का मार्ग खुल जायगा। एनिमा न लेने की दशा में शौच होने में कुछ बिलम्ब हो सकता है किन्तु उससे कुछ विशेष हानि नहीं होगी। बाद में बिना एनिमा लिये भी खुल कर शौच होने लगेगा।

विश्राम—

उपवास की अवधि में शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से बचना चाहिये। पूर्ण विरक्ति तथा विश्राम का उपभोग इस लिये नहीं करना चाहिये कि काम करने के लिये शक्ति अथवा जीवनी शक्ति में कमी हो गई है, अपितु इस विशेष प्रयोजन से कि पाचन एवं सम्भरण क्रिया में लगने वाली सम्पूर्ण शक्ति शरीर के टाक्सीन (मल विकार तथा रक्त दोष) बाहर करनेमें लग सके। यदि पूर्ण विश्राम के इस सिद्धान्त की साधक अवहेलना करता है तो इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि उपवास द्वारा पूर्ण लाभ न प्राप्त कर सके भले ही वह अपना उपवास कितनी ही सफलता-पूर्वक, धार्मिक निष्ठा एवं लम्बी-अवधि के लिये क्यों न करें। अतः जहाँ तक सम्भव हो उपवासकर्त्ता को अपने को अधिक से अधिक विश्राम की स्थिति में रखना चाहिये। विश्राम की कमी होने से आंतरिक सफाई का कार्य समुचित रूप से न हो सकने की सम्भावना बनी रहेगी जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि जीवनी शक्ति के जागरण में अवरोध उत्पन्न हो जायगा। जो लोग जल अथवा जल में मधु के रस पर पहली बार उपवास कर रहे हों उन्हें तो विशेष रूप से इस ओर ध्यान देना चाहिये। उन्हें यह भी चाहिये कि शय्या से बहुत धीरे से उठें और धीरे-धीरे सतर्कता पूर्वक चलें क्योंकि उन्हें कभी-कभी चक्कर भी आ सकता है अथवा आंखों के सामने कुछ क्षणों के लिये अन्धेरा छा सकता है, वमन भी हो सकता है। यह शरीर के अङ्गों से निकलने वाले विष का प्रभाव है जो मल के उभरने से होता है। अतः यह भी उपयुक्त होगा कि प्रारम्भ में केवल जल या मधु मिश्रित जल पर किये गये उपवास किसी सुयोग्य निर्देशक की देख रेख में किये जायँ तथा उपवास काल में पूर्ण विश्राम किया जाय। निर्देशक ऐसा होना चाहिए जो उपवास के सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित हो तथा जिसने स्वयं केवल जल अथवा शहद मिश्रित जल पर एक से अधिक बार सफल उपवास किया हो।

विश्राम के साथ-साथ उपवासकर्त्ता के रहने का वातावरण भी स्वच्छ होना चाहिये। उसे स्वच्छ वायु का अधिक से अधिक सेवन करना चाहिए और यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो भी उसे कम से कम सुबह शाम स्वच्छ वायु सेवन के लिए खुली हवा में टहल आना चाहिए। उपवास काल में प्रातः कालीन धूप का भी सेवन करना उपयोगी है। साथ ही सुबह शाम आधे घन्टे तक ध्यान मुद्रा में बैठना भी उपवास काल में बड़ा गुणकारी है।

अन्य सावधानियां—

उपवासकर्ता को प्रारम्भ में कभी विस्मय पूर्ण अनुभव हो सकते है अतएव उपवास की अवधि में होने वाली प्रक्रियाओं का ज्ञान कर लेना भी आवश्यक हैं। इस प्रकार के उत्पात तब अधिक होते हैं जब शरीर में विकार की मात्रा अधिक रहने पर भी एकाएक केवल जल अथवा जल में थोड़ा मधु घोलकर उसमें नीबू

का रस निचोड़ कर उसपर ही उपवास किया जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। कभी-कभी आलस्य, अनिद्रा, वमन की इच्छा, सिर में चक्कर, बेचैनी या सोते समय बुरे एवं भयावने सपने आदि आ सकते हैं परन्तु इससे या इनमें से किसी एक से भी घबड़ाना नहीं चाहिये। यह तो शुभ लक्षण है यद्यपि विकार तेजी से निकलने के कारण अनुकूल नहीं होते और कभी कभी असह्य भी हो जाते हैं।

उपवास काल में शरीर से गन्दगी निकालने वाले मार्गों को अपने कार्य को तेजी से करने में प्रवृत होना पड़ता है परन्तु यदि शरीर में इतनी गन्दगी भरी होती है कि वे निष्कासन मार्गों की सामर्थ्य से अधिक हों तो शरीर को विवश होकर गन्दगी दूर करने का नया रास्ता निकालना पड़ता है जो कभी-कभी उत्पात का रूप ले लेता है। अतएव उपवास काल में जब कभी कमजोरी मालूम पड़ें या कोई अन्य उत्पात हो तो उसे शुभ अथवा मित्र मान कर ग्रहण करना चाहिए। धैर्यपूर्वक उपवास की प्रक्रिया को अग्रसारित करना चाहिए क्योंकि उत्पात के प्रकट होने से ही यह विदित होता है कि शरीर में पड़ा हुआ मल (विकार) तथा शारीरिक अंगों की प्रक्रिया से निकलने वाले बिष उभड़ गये हैं। उसने अपनी जगह छोड़दी है और वह बाहर निकलने के लिये मार्ग ढूंढ रहा है। ऐसी स्थिति में उपवास कर्त्ता को शान्त रह कर अपनी सम्पूर्ण इच्छा शक्ति से इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि जीवनी शक्ति मल को निकालने की प्रक्रिया में पूर्ण सहयोग प्रदान करें। ज्योंही मल निकल जायेगा उत्पात स्वयं शान्त हो जायेगा, शरीर निर्मल होकर नव-स्फूर्ति तथा आनन्द से भर जायेगा। सम्पूर्ण वातावरण मङ्गलमय प्रतीत होने लगेगा।

उपवास तोड़ना—

उपवास के प्रारम्भ की विधि जान लेने के पश्चात् उसकी समाप्ति की विधि के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी आवश्यक है। यहां यह स्मरणीय है कि उपवास करना बहुत सरल है परन्तु उपवास तोड़ने के लिए आत्म संयम एवं सावधानी की जरूरत होती है। नवरात्र व्रत अथवा किसी भी व्रत को तोड़ते समय जिह्वा पर पूर्ण नियन्त्रण उचित है। उपवास तोड़ने के कई दिन बाद तक जो भोजन ग्रहण किया जाय वह पुष्टिकर न होकर शीघ्र पच जाने योग्य और मल निष्कासन में सहायक होना चाहिए। मल निष्कासन की जो प्रक्रिया उपवास में प्रारम्भ हुई थी उसे अकस्मात् बन्द न कर धीरे-धीरे बन्द करना चाहिए, और भोजन पाचन की जिस क्रिया को बिल्कुल स्थगित अथवा बन्द कर दिया गया था उसमें धीरे-धीरे ही प्रगति लानी चाहिए। आलू अथवा स्टार्चयुक्त अन्य सब्जियों तथा केला आम जैसे अन्य भारी गूदेदार फलों को तोड़ते समय अथवा एक दो दिन बाद तक नहीं लेना चाहिए! सब्जियों नें नमक की मात्रा अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए। उपवास तोड़ने के सम्बन्ध में आहार का जो क्रम प्रत्येक उपवास के लिए निर्धारित किया गया है उसके अनुसार आहार ग्रहण करने से कोई उपद्रव पैदा नहीं होगा साथ ही उपवास काल में और कम हुए वजन की भी शीघ्र पूर्ति हो जायेगी।

आहार के त्याग के कारण उपवासकर्ता में भोजन की लालसा बहुत बढ़ी हुई होती है। साथही उस समय जठराग्नि उत्तेजित रहती है जिससे अपनी साधारण खुराक से अधिक खा लेने में वह डरता नहीं किन्तु इस असावधानी

से उपवास करने का मूल उद्देश्य फलीभूत नहीं हो सकता। ऐसा करने से शरीर के जो विकार बाहर निकल रहे थे वे रुक जायेंगे जिससे रोग तथा कमजोरी से पीड़ित होने की सम्भावना रहेगी। अतः उपवास के बाद भोजन की काफी सावधानी बरतनी चाहिए।

उपवास काल में वजन का कम होना स्वाभाविक है किन्तु ठीक ढंग से उपवास तोड़ने से उसकी पूर्ति में विलम्ब नहीं होता। उपवास के बाद पाचन और अभिशोषक की क्रियाओं के ठीक ढंग से कार्य करने के कारण शरीर की ग्रहणशीलता काफी बढ़ जाती है जिससे टूट-फूट की पूर्ति में अधिक समय नहीं लगता। यही कारण है कि अपना वजन बढ़ाने के इच्छुक क्षीण कार्य व्यक्तियों के लिए भी अल्पकालिक उपवास का सहारा लेना लाभप्रद होता है।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परां अष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः
ये भूतले वा दिवि चान्तरिक्षे रसातले प्राणिगणाश्च केचित्।
भवन्तु ते सिद्धियुजो मयाऽद्य स्तुते जगद्धातरि वासुदेवे!
अज्ञानिनो ज्ञानविदो भवन्तु प्रशान्तिभाजः सततोग्रचित्ताः।
मया च विश्वम्भरणे ह्यनन्ते स्तुते जगद्धातारं वासुदेवे।
शृण्वन्ति ये मे स्तुवतस्तथान्ये पश्यन्ति ये मामिदमीरयन्तम्।
देवासुराद्या मनुजास्तिरश्चो भवन्तु तेऽप्यच्युतयोगभाजः

सेवा भावना

श्री रामदास जालान

नीति-ग्रन्थों में प्राणियों के, विशेष रूप से मनुष्य के, कुछ विशिष्ट गुणों की चर्चा मिलती है। उन अनेक गुणों में से एक है सेवा भावना। इसकी साधना कोई सरल बात नहीं है। कहा गया है —

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'

अर्थात् सेवा धर्म बड़ा ही गहन है और योगियों के लिए भी अगम है। श्रद्धा, दया, विनम्रता, और त्याग आदि भाव सेवा भावना को प्रेरित एवं पुष्ट करते हैं। यह ऐसा गुण है कि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे के बीच की दूरी समाप्त कर देता है। बड़े से बड़ा शासक, अधिकारी, विद्वान कौन ऐसा है कि जो अपने निकट के सेवकों के प्रति आत्मीयता एवं सदाशयता का भाव न रखता हो। हमारी प्रकृति में और जो भी विकार हों उन सबसे होने वाले अनिष्ट से हम केवल सेवा-भावना का आश्रय लेकर मुक्त हो जाते हैं। सेवा-भावना का प्रभाव और क्षेत्र अतीव व्यापक है। हमारे धर्मग्रन्थ कहते हैं कि बड़ों की सेवा करनी चाहिए। इसके अन्तर्गत हम माँ की सेवा, पिता की सेवा, गुरु की सेवा और अपने से वरिष्ठ जनों की सेवा की गणना करते हैं। यही सेवा-भावना क्रमशः व्यापक होते हुए गो-सेवा, ब्राह्मण-सेवा, दीन-दुखियों की सेवा, समाज-सेवा और देश सेवा का रूप धारण करती है। सेवा का सर्वाधिक व्यापक और उदात्त लक्ष्य है प्राणि-मात्र की सेवा। जब हम प्राणि-मात्र की सेवा को ही अपना परम धर्म मानें, जब हमारी चित्तवृत्ति केवल इस बात को लेकर व्यग्र रहने लगे कि हम प्राणियों की कितनी अधिक से अधिक सेवा करलें तो समझिए यही सर्व श्रेष्ठ धर्म है। पूज्य गोस्वामी जी ने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहि भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

अर्थात परोपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं और परपीड़न से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। यह बहुत स्पष्ट बात है कि जब हम प्राणियों की सेवा करेंगे तो हमें उनकी शुभभावनाएं प्राप्त होगीं और जब उन्हें पीड़ित करेंगे तो हम उनके द्वारा अभिशप्त होंगे। प्राणियों की सद्भावना को हमें बहुत बड़ी निधि माननी चाहिए और समस्त प्राणियों के कल्याण में रत रहना चाहिए।

भूले हुए को ठीक रास्ता बताना, भूखे को भोजन कराना किसी की उचित आवश्यकता की पूर्ति कर देना, चोट खाये हुए को दवा देना या अस्पताल पहुँचा देना, जो रोगी हैं, वृद्ध हैं, अशक्त हैं उन्हें उठाना, सहारा देना, उनका मैला गीला वस्त्र, मल मूत्रादि साफ करना सेवा के ऐसे उदाहरण हैं जिनकी समता न तो बड़े बड़े यज्ञानुष्ठानों से की जा सकती है और न लाखों करोड़ों के दान से की जा सकती है। अपनी-अपनी परिस्थिति और अपने-अपने साधन के अनुसार सेवा-

भावना को जीवन में अपनाना चाहिए । जो लोग धनाधीश हैं वे धर्मशालाएँ बनवाते हैं अस्पताल बनवाते हैं, कुएँ-सरोवर बनवाते हैं किन्तु यदि हम उतने सामर्थ्यवान नहीं हैं तो यह नहीं समझना चाहिए कि हम सेवा कर ही नहीं सकते । लोगों के लिए छोटी-छोटी सुविधाएँ जुटाना, जैसे रास्ते की गन्दगी साफ करना, काँटे हटाना, भूखे को अपने भोजन में से कुछ भाग दे देना, किसी नासमझ को कोई बात समझा देना, कोई अच्छी सीख दे देना भी बहुत बड़ी सेवा है । यदि भगवत्कृपा से हमें अच्छे संस्कार मिले हैं तो हमें उसका पूरा-पूरा उपयोग सेवा कार्य में और सेवा-भावना के प्रचार में चाहिए । अपने शरीर, अपने शरीर के रक्त की जितनी बूँदें, कोष का जितना पैसा और जीवन का जितना समय सेवा में लग जायगा, वह धन्य हो जायेगा ।

प्रायः हम अपने में यह विकार पाते हैं कि हम दूसरों की सेवा कम से कम करना चाहते है और दूसरों से अपनी सेवा अधिक से अधिक लेना चाहते हैं । यह अनुचित है इसका ठीक उल्टा उचित है; अर्थात् हमें दूसरों से सेवा यथासम्भव कम से कम लेनी चाहिए और दूसरों की सेवा अधिक से अधिक करनी चाहिए । अधिक सेवा लेने से अपनी सेवा करने की वृत्ति को क्षति पहुँचती है । सेवा उत्साह-भावना से भरी हो और निष्काम हो तो कहना ही क्या । अपने बच्चों की सेवा भी अपना धर्म मान कर करो, इस प्रत्याशा से मत करो कि वे बड़े होकर तुम्हारी जीविका के आधार बनेंगे । कुछ लोगों का कहना है कि वे सिद्धान्ततः सेवा-भावना को उत्कृष्ट समझते हुए भी एकदम घर के या आत्मीय जनों के आगे अपनी सेवा-भावना को नहीं ले जा पाते; उनसे हमारा कहना है कि वे किसी को दूर या पराया न समझें । हर रोगी को अपने घर का रोगी समझें, हर बच्चे को अपने घर का बच्चा समझें, हर वृद्ध पुरुष और स्त्री को अपने माँ-बाप के तुल्य समझें । इससे उनकी सेवावृत्ति का मानसिक व्यवधान दूर होगा, लोक सेवा में उनके संलग्न होने का मार्ग प्रशस्त होगा । अगर समाज के सभी व्यक्तियों में श्रेष्ठ कोटि की सेवाभावना का विकास हो जाय तो यह समाज ईर्ष्या-द्वेष, दुःख-दैन्य अधिकारगत विवाद, लोभ-दम्भ-पाप आदि से सर्वथा मुक्त होकर स्वर्ग बन जाय ।

सेवा भावना की अच्छी से अच्छी उपलब्धि तब होगी जब हम स्वयं को लोक का दास समझेंगे । अपने स्वामित्व की भावना को हम जितना ही घटा सकेंगे; दासत्व की भावना को उतना ही बढ़ा सकेंगे । यही साधना सेवावृत्ति का मूल मन्त्र है । दास्य-भावना से किये गये सम्बन्ध-बिस्तार में कोई अवरोध नहीं आयेगा किन्तु यदि हम स्वामित्व भावना (अर्थात् स्वामी समझने की भावना) से सम्बन्ध-विस्तार करने की चेष्टा करेंगे तो पग-पग पर अवरोध आयेगा, चित्त अशांत होगा, सद्गुणों का ह्रास होगा । भक्तशिरोमणि श्री गोस्वामी जी इसी लिए भक्ति के दास्यभाव को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, भगवान को सेव्य मानते हैं और स्वयं को मानते हैं सेवक । यही सम्बन्ध स्थापित कर वे पूरे आत्मविश्वास से घोषणा करते हैं —

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि ॥

भगवान् सदैव सेव्य हैं और वे चूँकि अखिल लोक के मूर्तिमान स्वरूप हैं अस्तु सम्पूर्ण लोक ही हमारा सेव्य है । लोक की सेवा भगवान् की सेवा है, प्राणियों की सेवा भी भगवान् की सेवा है ।

-※-

तनाव

□ लक्ष्मीकान्त झुनझुनवाला
मैनेजिंग डाइरेक्टर
के० एम० एस० एम०, मोतीनगर,
फ़ैज़ाबाद

अपने समाज में अधिकतर लोग या तो व्यापार में लगे हैं या सरकारी तथा निजी फर्मों में बौद्धिक काम यानि दिमाग से करने वाला काम कर रहे हैं। दोनों ही कामों में प्रत्येक आदमी के ऊपर मानसिक तनाव बराबर बना रहता है, चाहे सरकारी कार्य हो या निजी। जैसे ही जिम्मेदारी अपने ऊपर आती है मानसिक तनाव शुरू हो जाते हैं।

मानसिक तनाव छोटी या बड़ी बात के लिये हो सकते हैं। कभी चपरासियों की हड़ताल पर पानी या चाय का न मिलना या दस लाख रुपये का ठेके के टेण्डर का मन्जूर न होना भी हो सकता है। व्यापार में भाव की गड़बड़, सरकारी नियन्त्रण, निरीक्षक इन्सपेक्टर का आना जाना ग्राहक व मुलाजिमों को तनाव आ जाना रोजमर्रा की बात है। यदि हम चाहें इन तनावों से छुटकारा नहीं मिल पाता। घर पर भी यही तनाव की स्थिति बनी रहती है। पारिवारिक कलह, बिजली कटना, गैस खतम हो जाना, चीनी या मिट्टी के तेल का परमिट, बच्चों का स्कूल में प्रवेश (ऐडमिशन) बराबर हम पर अतिरिक्त तनाव डालते हैं। यह सब इन तनावपूर्ण स्थिति में यह सोचकर कि इसमें क्या हो सकता है भुगतते रहते हैं। यह तनाव हमारी दिनचर्या का एक अंग बन गया है।

मैंने कई बार इस पर विचार करके देखा है कि इस तनाव को हम कैसे सहज बना सकते हैं। अमेरिका प्रवास के समय वहां के लोगों को ५ दिन इस तनाव में रहने के बाद २ दिन छुट्टी मनाते देखा। उन दो दिनों में उनका रक्त चाप या उनका तनाव एकदम समाप्तप्राय था। वे इस समय में काम की बात नहीं करते। चार बजे शाम शिकागो के लिये एड्रिल से बस जाती थी। मैं बस स्टेशन आया, आधा घण्टे पहले पहुंचा था। ड्राइवर से पूछा कि किस बस में बैठना है। कोकोकोला पीते हुए उसने उत्तर दिया मेरी ड्यूटी चार बजे से शुरू होती है। मैंने बिचारा कि यह गाड़ी चलाने के तनाव को चार बजे से पूर्व अपने ऊपर नही लेना चाहता। हम लोग इसके विपरीत रविवार को अन्य मण्डियों में जाकर वहां का काम करते हैं। यदि हम छुट्टी वाले दिन अपने परिवार के साथ व अन्य परिवारों में मिलकर छुट्टी बिताएं तब अवश्य हमारा तनाव कम होगा तथा हम आराम (रिलैक्स) महसूस करेंगे।

एक दूसरा पथ सेवा का है। हम जैसे ही

किसी जरूरतमन्द को कुछ भी उसकी इच्छानुसार देते हैं वैसे ही हमारी आत्मा में नयी चेतना जागती है। हम महसूस करते हैं कि ईश्वर ने हमें यह जीवन किसी उद्देश्य के लिए दिया है। चोट लगे कबूतर को प्राणदान देकर गौतम बुद्ध बन गये। उन्होंने जीवन का उद्देश्य पा लिया। हम भी जब किसी प्राणी पर या किसी मनुष्य पर अपने पास से कोई नेक कार्य करते हैं, आत्मसन्तोष मिलता है। मानसिक तनाव से बचने का यह भी एक तरीका है कि हम अपने आप को रोज कर रहे हुए उद्यम से अलग ले जाकर समाज सेवा का कार्य करें। अन्य लोगों के मिलने से आनन्द आता है तो सेवा करने से आत्मतृप्ति की अनुभूति होती है। मनुष्य को दोनों की ही जरूरत होती हैं। हमें अपने काम के साथ कुछ समय दूसरों के साथ एक दूसरे से सेवा में अवश्य बिताना चाहिये।

पापों में मन लगाना तनाव को निमंत्रण देना है, जैसे किसी को अकारण सताना, गलत बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेना, शोषण करना, जमाखोरी करना, व्यभिचार करना, डकैती डालना, हत्या करना, धोखाधड़ी करना, प्रवंचना करना आदि-आदि। इन घटनाओं से मन ग्लानियुक्त एवं अशान्त रहता है तथा फँसाने या बचाने का तरह-तरह का कुचक्र करता है। न्यायालयों से चाहे दण्ड मिले या न मिले, ईश्वर का न्यायालय न्याय करने से नहीं चूकता है। अस्तु, उसके न्यायालय में अपने अपराधों को स्वीकार कर लेना चाहिये एवं पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहिये। अन्यथा विकृत होने के कारण स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और मनुष्य उन्माद, रक्तचाप, क्षय, हृदय, गैस और कुष्ठ रोगों का शिकार हो जाता है।

यदि मनुष्य तनाव उत्पन्न करने वाली समस्त घटनाओं को भुला दे और प्रसन्न चित्त हो जाय तो तनाव दूर हो जाता है लेकिन घटनाओं को भुलाना आसान नहीं है। घटनाएं मन को कुरेदती रहती हैं। कुछ लोग तनाव को दूर करने के लिये नशे तथा निद्रा की गोलियों का प्रयोग करते हैं। इससे न तो मन स्वस्थ रहता है न शरीर। पारस्परिक समझौता, स्वस्थ मनोरंजन, भ्रमण, वनविहार, (पिकनिक) तीर्थ यात्रायें, दृश्य दर्शन, देव-दर्शन, सत्संग, संगीत, आराधना, कीर्तन और भजन तनाव को दूर करने के अच्छे साधन हैं। पर सबसे अच्छा साधन है अपने आराध्यदेव के चरणों में अपने पाप-पुण्य सुख-दुख को को सौंप देना। फिर तो क्या कहना है, मनुष्य कर्तव्य करता हुआ निर्द्वन्द हो जाता है।

स्वाभाविक वेगों का रोकना भी तनाव का कारण होता है, जैसे अधोवायु, मल-मूत्र, जृम्भा, (जम्हाई) छींक, रुदन, निद्रा. भूख-प्यास, काम आदि-आदि। इन वेगों का निवारण कर लेना ही तनाव से बचना है अन्यथा मस्तिष्क विकृत एवं शरीर रुग्ण हो जाता है।

यह अनुभव की बात है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी कभी-कभी मौन धारण करना, इन्द्रिय निग्रह करना, उपवास व्रत करना, एकान्त वास करना, धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ना आदि तनाव को दूर करता है।

संसार का सबसे दुखी प्राणी वह है जो अनीश्वरवादी होता है, दुश्चरित्र होता है, और अकर्मण्य होता है। तनाव का शिकार भी वही होता है। इसके विपरीत भाग्यवान वह है जो ईश्वरवादी होता है, तथा कर्मयोगी होता है। उसे संसार के रोग-शोक नहीं सताते हैं।

मानस में नारी का महत्त्व

□ रानी लीला रामकुमार भार्गव

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"
जहां नारी की पूजा होती है वहां देवताओं का निवास होता है ।

मानस में जो उच्च स्थान गोस्वामी जी ने नारी जाति को दिया है वह सर्व विदित है । फिर भी सर्वसाधारण में यह भ्रांति फैली हुई है कि गोस्वामी जी स्त्रियों के विरोधी थे, यह कहना उनके साथ सरासर अन्याय है । मानस में जिन नारी-पात्रों के चरित्र का चित्रण किया गया है उनमें से कुछ आसुरी प्रवृत्ति की नारियों को छोड़कर सभी महिलाओं का चरित्र आदर्श एवं अनुकरणीय दिखाया गया है । पार्वती जी और सीता जी तो जगत जननी शक्ति का रूप हैं; इन्हें साधारण नारी की कोटि में समझना मूर्खता होगी ।

"सिय वरनिय तेई उपमा देई ।
कुकवि कहाय अजस को लेई ।।"

ये प्राकृत नारी नहीं है । शिव और विष्णु की आदि-शक्ति हैं —

"सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य-विहारिणी
वंदे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ।"

भवानी-शङ्कर, सीता-राम इसमें भी भवानी और सीता का नाम पहिले आया है ।

गोस्वामी जी ने शिव और सती की महिमा का वर्णन याज्ञवल्क्य के द्वारा सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है ।

"शिव सम को रघुपति व्रतधारी,
बिनु अघ तजी सती अस नारी ।"

एक ओर जहां शिव के लिए 'रघुपति व्रतधारी' विशेषण का प्रयोग उनके व्रत की महत्ता को प्रकट कर रहा है, दूसरी ओर उससे यह सिद्ध होता है कि उनकी आसक्ति सती ऐसी महान् नारी में भी न थी, क्योंकि वे भगवान् में दृढ़ विश्वास निष्ठा और भक्ति का होना ही विशिष्ट धर्म समझते थे । उन्होंने अपने अनुभव से इसी को सार समझकर जगत को निःसार निश्चित कर दिया था ।

"उमा कहऊं मैं अनुभव अपना,
सत हरिभजन जगत सब सपना ।"

दूसरी ओर पति परित्यक्ता होने के कारण सती विरह की अग्नि में जल रही थी । सीता का वेष धारण कर जो महान् अपराध उनसे हो गया था उसका उन्हें कितना पश्चात्ताप था वह इस चौपाई से प्रतीत होता है.—

"कहि न जाइ कछु हृदय गलानीं,
मनमहुं रामहिं सुमिरि सयानी ।

जौं प्रभु दीनदयालु कहावा,
आरति हरन बेद जसु गावा ।
तौं मैं विनय करउँ कर जोरी,
छूटउ बेगि देह यह मोरी ।"

उन्हें असह्य वेदना थी, वे इस शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर शिव प्राप्ति के लिए धारण करना चाहती थीं ।

"पति परित्याग हृदय दुख भारी,
कहइ न निज अपराध विचारी ।"

यह उनके पातिव्रत धर्म की पराकाष्ठा थी । भगवान ने उनकी मनोकामना पूरी की । वे हिमांचल के घर पैदा हुई । पार्वती को शिव प्राप्ति के लिए नारद जी ने तपस्या करने का उपदेश दिया था । पार्वती जी ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य को और हजारों वर्ष तक घोर तप किया । सप्तऋषि उनकी परीक्षा लेने आये और कई प्रकार के प्रलोभनों द्वारा उनका तप भंग करने का प्रयास किया, परन्तु वे अपने संकल्प में अडिग थीं ।

"जनम कोटि लगि रगर हमारी,
बरउं शभु न त रहउं कुँवारी ।"
महादेव अवगुन भवन,
विष्णु सकल गुन धाम ।
जेहिकर मन रम जाहि सन,
तेहि तेही सन काम ।"

उनकी निष्ठा और प्रेम देखकर सप्तऋषि बोले:—

"देखि प्रेमु बोले मुनि ग्यानी,
जय जय जगदम्बिके भवानी ।"

पार्वती जी को समस्त विश्व ने जगत जननी के रूप में पूजा । सीता जी ने भी स्वयंवर से पहिले पार्वती जी का पूजन किया था और उन्हें जगत जननी कह कर संबोधित किया था ।

सीता जी के ऐश्वर्य का वर्णन गोस्वामी जी मानस के प्रारम्भ में इस श्लोक से करते हैं:—

उद्‌भव-स्थिति-संहारकारिणीं, क्लेश हारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥"

आप ही सृष्टि की रचना करती हैं, आप ही पालन करती हैं और आप ही संहार करती हैं । हे राम वल्लभा ! हम आपको नमस्कार करते हैं ।

गिरा अर्थ जल बीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न ।
बंदौं सीताराम पद,
जिनहि परम प्रिय खिन्न ।"
"जानी सियँ बरात पुर आई,
कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ।
हृदयँ सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं,
भूप पहुनई करन पठाईं ॥"

सभी सिद्धियां सीता की आज्ञा मानकर जनवासे गईं और देवलोक के सुख संपदा और भोग विलासों को लेकर बरातियों का सत्कार किया ।

"बिभव भेद कछु कोउ न जाना,
सकल जनक कर करहिं बखाना ।
सिय महिमा रघुनायक जानी,
हरषे हृदयँ हेतु पहिचानी ।

यह था सीता जी का ऐश्वर्य । अब उनके माधुर्य का अवलोकन करिये ।

जनक सुकृत मूरति बैदेही ।
दशरथ सुकृत राम धरि देही ।

नारि धर्म के निर्वाह के लिये ही जानकी

जी, जनक की पुत्री वन कर अवतरित हुई थीं।

सीता जी की माधुर्य-लीला जनक जी की वाटिका से ही प्रारम्भ होती है। विश्वामित्र जी की आज्ञा से राम-लक्ष्मण पुष्प-वाटिका में फूल लेने के लिये आते हैं, उसी समय जानकी जी वहां आती हैं; "तेहि अवसर सीता तंह आई, गिरिजा पूजन जननि पठाई। संग सखी सब चतुर सयानी, गावहिं गीत मनोहर वानी।"

जब सीता चारों ओर चकित होकर देखती हैं कि नृप किशोर कहां गये "लता ओट तब सखिन लखाये, श्यामल गौर किशोर सुहाये। देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।। लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी। जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।।" तब सिद्धियां, जो श्रुतियां थीं, लता की ओट में ब्रह्म रूपी राम के दर्शन जीव रूपी सीता को कराती हैं।

आइये, कुछ क्षणों के लिये जनकपुर की नारियों की एक झलक देख लीजिये। यहां गोस्वामी जी ने इनके चातुर्य की बड़ी प्रशंसा की है और सिद्ध किया है कि ये नारद मुनि से भी अधिक सयानी हैं। "संग सखी सब चतुर सयानी" क्योंकि ये व्यक्ति-विशेष के नेत्रों के आँसुओं को देख कर हृदयगत सुख-दुख का निर्णय दे देती हैं। "एक सखी सिय संग बिहाई, गई रही देखन फुलवाई, तेई दोउ बंधु विलोकेउ जाई, प्रेम विवस सीता पँह आई।

तासु दशा देखी सखिन,
पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हर्ष कर,
पूछहि सब मृदु बैन।

नेत्रों के आंसू देखकर सखी पहिचान गई कि हर्ष के आंसू हैं।

पार्वती जी के जन्म के पश्चात् जब नारद जी हिमवान के घर गये तो उन्होंने उनके चरण धोकर सब भांति से उनका स्वागत किया। "निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना, सुता बोलि मेली मुनि चरना। त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम, गति सर्वत्र तुम्हार। कहहु सुता के दोष गुन, मुनिवर हृदय विचारि।" तब नारद मुनि बोले "कह मुनि विहँसि गूढ़ मृदु वानी, सुता तुम्हारि सकल गुन खानी। सुन्दर सहज सुशील सयानी, नाम उमा अम्बिका भवानी। सब लच्छन सम्पन्न कुमारी। होइहि संतत पियहि पियारी। होईहि पूज्य सकल जगमाहिं, एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं। सैल सुलच्छन सुना तुम्हारी, सुनहू अब अवगुन दुइचारी। अगुन अमान मातु पितु हीना, उदासीन सब संसय छीना। जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल वेष। अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त अस रेख। सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी, दुखदंपतिहि, उमा हरषानी। सकल सखी गिरिजा गिरि मैना, पुलक शरीर भरे जल नैना। नारद हू यह भेद न जाना, दसा एक समुझब बिलगाना।" आंख के आंसुओं को त्रिकालज्ञ नारद जी नहीं समझ पाये और जनकपुर की ललनाओं ने आंसुओं को देखकर ही हर्ष शोक का निर्णय ले लिया था। ये वे नारियां हैं जिन्होंने अखिल ब्रह्मांड के नायक राम का दर्शन अपने झरोखों पर ही किया था। 'जुवती भवन झरोखन्हि लागीं, निरखहिं राम रूप अनुरागी। देखन नगर भूप सुत आये, समाचार पुरबासिन्ह पाये। धाए धाम काम सब त्यागी

मनहुं रंक निधि लूटन लागी ।" यद्यपि पुरवासी अपने काम छोड़ कर चौराहों पर राम, लक्ष्मण को देखने दौड़ पड़े परन्तु धन्य हैं जनकपुर की नारियां जो ब्रह्म को अपने नगर में आया हुआ जानकर भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करतीं। प्रभु को उनकी रुचि रखने के लिये उनके झरोखे-झरोखे जाकर दर्शन देना पड़ा। "राम सदा सेवक रुचि राखी, वेद पुरान संत सब साखी।" ये सब राम के सौंदर्य की सराहना करती हैं, उन पर मंत्र-मुग्ध हो जाती हैं और कहती हैं—

"कहहु सखी अस को तनु धारी, जो न मोह यह रूप निहारी"। साथ ही साथ यह भी कहती हैं कि "जोग जानकिहि यह वर अहई।" दूसरी ओर देखिये शूर्पणखा राम का रूप देखकर मंत्र-मुग्ध होकर कहती है "तुम सम पुरुष न मो सम नारी, यह सँजोग विधि रचा विचारी। ताते अब लगि रहेउं कुंवारी, मन-माना कछु तुमहि निहारी।" क्योंकि उसकी आसुरी प्रवृत्ति थी, अतः उसे उसका परिणाम भी उसी प्रकार मिल गया। सुरसा, सिंहिका और लंकिनी भी आसुरी प्रवृत्ति की थीं। त्रिजटा यद्यपि राक्षसी नारी थी परन्तु राम भक्त होने के कारण उसका चरित्र बहुत ऊंचा था "त्रिजटा नाम राक्षसी एका, राम चरन रति निपुन बिवेका" गोस्वामी जी ने उसे सम्मान दिया है। सीता जी ने उसे माता कहकर सम्बोधित किया है। 'मातु विपति संगिनी तैं मोरी।' जब सीता जी रामचन्द्र जी के वियोग में बिरह अग्नि में जल रही थीं वहां अशोक वाटिका में उनके दुःख को बटाने वाली एकमात्र संगिनी त्रिजटा ही थी। सीता जी को राम के विरह में एक एक क्षण भारी हो रहा था, उनकी विरह व्यथा निम्न चौपाइयों और दोहों में झलक रही है "अवगुन एक मोर मै माना, बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना। नाथ सो नैनन कर अपराधा, निसरत प्राण करहि हठि वाधा। विरह अग्नि तन तूल समीरा, स्वास जरइ छन माहि सरीरा। नयन स्रवहि जल निज हित लागी। जरै न पाव देह विरहागी। नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रिका, जाहि प्राण केहि वाट।" यह सीता की विरह वेदना की पराकाष्ठा है।

सीता जी के चरित्र का चित्रण जो गोस्वामी जी ने किया है सही रूप में करना मेरी ऐसी तुच्छ बुद्धि की स्त्री के लिये संभव नहीं है। सीता जी जब वल्कल पहिन राम के साथ बन को जाने लगीं तब उन्हें देख सभी विकल हो गये। राजा जनक प्रेम से विह्वल होकर बोले "तापस वेष जनक सिय देखी, भयउ प्रेमु परितोषु विसेखी। पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ, सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ," पुत्र तो एक ही कुल को पवित्र करता हैं, परन्तु पुत्री यदि सुयोग्य और यशस्वीनी हो तो दोनों कुल को पवित्र कर देती है। यहां गोस्वामी जी ने नारी का महत्त्व नर से अधिक गरिमामय दिखाया है। सीता जी का वर्णन तो अकथनीय है। इस कारण इसको यहीं विश्राम देकर मैं अब आप लोगों का ध्यान माता कौशल्या की ओर आकृष्ट करती हूं। जो अखिल ब्रह्माण्ड-नायक की जननी हैं उनके विषय में भी कुछ कहना कठिन काम है। उनका चरित्र तो आदर्श था ही। जब बनगमन का समय आया तो उन्होंने राम से कहा कि यदि केवल पिता की आज्ञा है तो तुम रुक जाओ परन्तु यदि माता की भी आज्ञा है तो बन तुम्हारे लिए सौ अयोध्या के समान है। "जो पितु मातु कहेउ बन जाना

तो कानन सत अवध समाना।" यद्यपि कैकेयी जी की घोर अनीति उनके सामने थी, वे विना अपराध राम को वन भेजकर अपने पुत्र भरत को राजगद्दी दिलवा रही थीं फिर भी कौशल्या जी के हृदय में तनिक भी द्वेष का संचार नहीं हुआ, भरत और राम को एक ही समान समझा। जब भरत ननिहाल से लौटकर आये और माता कौशल्या के पास गये तो जो दशा माता की हुई, इन अर्धालियों में साफ झलक रही हैं। "भरतहिं देखि मातु उठि धाई, मुरुछित अवनि परी झइँ आई। सरल सुभाय मायँ हियँ लाये, अति हित मनहुं राम फिरि आये। मत तुम्हार यह जो जग कहहीं, सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं। अस कहि मातु भरतु हिय लाये। थन पय स्रवहिं नयन जल छाये।" कौशल्या मां आतुर होकर दौड़ी और मूछित होकर गिर पड़ी; उनके स्तनों से दूध की धारा बहने लगी और इससे अधिक प्रमाण भरत को सगा बेटा समझने का और क्या हो सकता है। जब चित्रकूट में जनक जी की पत्नी सुनयना से कौशल्या जी की भेंट हुई तो उन्होंने कहा "मोरे सोचु भरत कर भारी," गूढ़ सनेह भरत मन मांहो : रहे नीक मोंहि लागत नाहीं।" धन्य थी कौशल्या माता। त्रेता युग तो नारी का ही युग था। इस युग में स्त्रियां पति के साथ रण स्थल में भी जाती थीं। कैकेयी ने इसी के परिणामस्वरूप दो वर मांगे थे। जब राजा दशरथ ने भरत को राज्य की घोषणा की तो मंथरा ने कैकेयी को उसके विरुद्ध भड़काया और वहुत रुष्ट हुई। "सुनि प्रिय वचन मलिन मनु जानी।" "पुनि अस कवहुं कहिसि घर फोरी। तो धरि जीभ कढ़ावउं तोरी। भरत न मोहि प्रिय राम समाना, सदा कहहु यह सब जग जाना।" ऐसी शुद्ध हृदया और विदुषी होते हुए भी कैकेयी मंथरा की बातों में कैसे आ गई। इसमें न तो कैकेयी का दोष था न मंथरा का। ये तो सारा षड्यंत्र देवताओं का था। सरस्वती ने ही उन दोनों की बुद्धिफेर दी थी। यदि कैकेयी न होतीं तो राम वन न जाते और रावण आदि राक्षसों का विनाश न होता। सच पूछा जाय तो कैकेयी ने राम को वन भेजकर बड़ी दूरदर्शिता का कार्य किया था, इससे इनकी गूढ़ राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता हैं। वह जानती थीं दशरथ राम को इतना प्यार करते हैं कि अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकते थे। इसी कारण कैकेयी ने संसार में अपयश सहकर भी यह योजना बनाई, ऋषियों मुनियों का उपकार किया और दुष्टों का विनाश कराया। जिस समय लक्ष्मण जी राम के साथ वन गमन की आज्ञा के लिये सुमित्रा जी के पास गये उन्होंने सहर्ष बड़े ही शिक्षा पूर्ण बचनों द्वारा आज्ञा दी "तात तुम्हारि मातु बैदेही, पिता रामु सब भांति सनेही। अवध तहां जहँ राम निवासू, तहईं दिवस जहँ भानु प्रकासू।" अतएव यदि राम सीता वन को जा रहे हैं तो यहां तुम्हारा कोई काम नहीं। उनके साथ वन को जाओ, उनकी सेवा करो और अपना जन्म सफल करो। वही माता पुत्रवती है जिसका पुत्र राम भक्त है अन्यथा वंध्या रहना ही अच्छा है। कितना ऊंचा निःस्वार्थ भाव है। सुमित्रा सुष्टुमित्रा जो हैं।

मानस में राम की अनन्य भक्ता शबरी का चरित्र भी अद्वितीय है। उनकी दीनता की उपमा तो कोई भी नहीं कर सकता। वह कहती है "अधम ते अधम अधम अति नारी, तिन में मैं मति मंद गंवारी" उसकी भक्ति, श्रद्धा और प्रेम देखकर भगवान राम

कहते हैं "कह रघुपति सुनु भामिनि बाता, मानऊं एक भगति कर नाता।" इसी नाते तो राम ने शबरी के जूठे बैर बार बार प्रशंसा करके खाये थे। जो गति योगियों को भी दुर्लभ होती है वही गति राम ने शबरी को सुलभ कर दी। धन्य हैं गोस्वामी तुलसीदास जिन्होंने अपने महाकाव्य में एक अधम नारी को इतना ऊंचा स्थान दिया। क्या मानस से अधिक समाजवाद आज आपको कहीं दिखाई देता है? अनुसूया जी ने अपने तपोवल से गंगाजी को चित्रकूट में बुला लिया था और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को छोटे-छोटे बालक बनाकर पालने में झुलाया था। उन्होंने सीता जी को भी पातिव्रत धर्म की शिक्षा दी थी। किष्किंधा कांड में जब वाली भगवान राम से कहता है कि "मैं बैरी सुग्रीव पियारा, कारन कवन नाथ मोंहि मारा" भगवान कहते हैं "अनुज वधू, भगिनी सुत नारी. सुनु सठ कन्या सम ए चारी।" इन्हें जो बुरी दृष्टि से देखता है उसे मारने में कोई पाप नहीं। "मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना, नारि सिखावन करसि न काना।" मूर्ख, तुझे इतना अभिमान हो गया है कि तूने अपनी स्त्री की सीख नहीं मानी। "तारा विकल देखि रघुराया, दीनि ज्ञान हर लीनी माया।" तब तारा ने भक्ति का वरदान मांग लिया। यही दशा नारी की सीख न मानने से रावण की हुई। मंदोदरी ने हर प्रकार से रावण को समझाया, ऊंचे से ऊंचे ज्ञान की शिक्षा दी, भगवान राम का ऐश्वर्य समझाया "मुनिवर जतन करही जेहि लागी, भूप राज तजि होंहि विरागी, सोई कौशलाधीश रघुराया, आयो करन तोहि पर दाया। जो पिय मानहु मोर सिखावन, सुजस होइ तिहुँ पुर अति पावन। अस बिचार सुनु प्राणपति, प्रभु सन बैर विहाय। प्रीत करहु रघुवीर पद, मम अहिवात न जाय।" परन्तु रावण पर उसका कोई असर नहीं हुआ तभी तो उसकी यह दशा हुई। "राम विमुख अस हाल तुम्हारा, रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।" यद्यपि मंदोदरी राक्षसेन्द्र रावण की पत्नी थी फिर भी बड़ी विदुषी और दूरदर्शी थी। यदि रावण उसकी शिक्षा को गंभीरता से धारण करता तो उसका यह हाल न होता। मानस की एक अर्धाली पर हमारी अधिकांश वहिने गोस्वामी जी की कटु आलोचना करती है। और वह है "ढोल गंवार शूद्र पशु नारीं। सकल ताड़ना के अधिकारी।" मानस में सुपात्रों के साथ ही साथ कुपात्र भी हैं। इन्हीं कुपात्रों में से समुद्र भी एक था। और उसी के मुख से ये वाक्य निकले थे। उसने स्वयं अपने लिये भी जड़ शब्द का प्रयोग किया है वह जड़ है भी। उसने भगवान राम को तब तक रास्ता नहीं दिया जब तक उसे ताड़ना नहीं मिली, "विनय न मानै जलधि जड़, गये तीन दिन बीति, बोले राम सकोप तब भय बिनु होय न प्रीति। काटे पै कदरी फरै कोटि जतन कोऊ सींच, विनय न मान खगेस सुनु डांटे पै नव नीच।" समुद्र ने स्वयं ही कहा है कि ताड़ना के अधिकारी केवल हम ही नहीं ढोल गंवार शुद्र पशु नारी भी हैं। इस विषय में गोस्वामी जी की आलोचना करना उचित नहीं। उन्होंने तो मानस की समस्त नारी पात्रों के चरित्र का दिग्दर्शन उच्च कोटि का ही किया है। नारी को संपूर्ण अधिकार नर के समान ही दिये हैं। उन्हें पुरुषों के समान ही और कहीं कहीं अधिक पूजनीय, अभिनंदनीय और सराहनीय बताया है। अयोध्या कांड में अवधवासी जब चित्रकूट पहुंचे तो "करि मज्जन पूजहिं नरनारी,

गणप गौरि त्रिपुरारि तमारि । रमा रमन पद बंदि बहोरी, विनवहि ग्रंजुलि ग्रंचल जोरी।" उपासना का संपूर्ण ग्रधिकार समान था। पत्नी के बिना यज्ञादि नहीं हो सकते थे। किष्किंधा कांड के ३०वें दोहे में—

"भव भेषज रघुनाथ जस,
सुनहिं जे नर अरु नारि ।
तिनकर सकल मनोरथ
सिद्ध करहिं त्रिपुरारि ॥"

गोस्वामी जी नारी के ही कारण महान हुए। नारी के ही उपदेश ने उनकी जीवन-दिशा को ऐसा मोड़ दिया था जो साहित्य के इतिहास में अमरता की वाहक बन गई। ग्रंत में गोस्वामी जी से कहे बिना न रहा गया।

कटे एक रघुनाथ संग बांध जटा सिर केश।
हम तो चाखा प्रेम रस, नारी के उपदेश ॥"

जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा ।
पस्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा ॥
सो राम रमा निवास संतत दासबस त्रिभुवन धनी ।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी ॥

जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रय सूल ।
सो कृपाल मोहि तो पर, सदा रहऊ अनुकूल ॥

—मानस

श्रीरामचरितमानस के मौलिक सिद्धांत
एवम्
तदनुकूल साधन प्रणाली

□ श्रीहृदयनारायणजी "योगीजी"

(क) श्रीमानस के मौलिक सिद्धान्त

श्रीरामचरितमानस मानव की व्यक्तिगत और सामूहिक--समस्त समस्याओं पर जो प्रकाश प्रस्तुत करता है, वह युग-युगान्तर तक पथभ्रष्ट मानव का पथ-प्रदर्शन करने में पूर्ण रूप से समर्थ है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। भगवान् शिव और माता पार्वती को साक्षी बनाकर मानसकार श्रीरामायण की फलश्रुति इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

जे एहि कथहि सनेह समेता।
कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं रामचरन अनुरागी।
कलिमल रहित सुमंगल भागी॥

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर, जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

अर्थात् जो व्यक्ति इस ग्रन्थ को मन लगाकर सुनेगा, बुद्धि लगाकर समझेगा और चित्त लगाकर उसके अनुसार आचरण करेगा, उसके जीवन में आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा, उसके बाह्य जीवन में सब प्रकार मंगल होगा—अभाव मिटेंगे, सुख मिलेगा। उसका आन्तरिक जीवन कलि-मल-रहित होगा, उसके समस्त दोषों की निवृत्ति होगी, और उसे राम के चरणों में अनुराग (प्रेम) प्राप्त होगा जो सुख और शान्ति, स्वर्ग और मोक्ष—से परे की वस्तु है।

दूसरे स्थान पर गोस्वामी जी ने लिखा है—

सुनु खगपति यह कथा पावनी।
त्रिविध ताप भव भय दावनी॥

अर्थात् भगवान् की यह पवित्र कथा तीनों तापों को दूर करने वाली है। शरीर से रोग, मन से चिन्ता और बुद्धि से भय को मिटाकर मनुष्य के जीवन में शक्ति आनन्द और ज्ञान का संचार करने वाली है।

अब समझना यह है कि श्रीरामायण के इन दावों का आधार क्या है। यद्यपि यह पवित्र ग्रन्थ, जिसमें प्रभु की लीला का वर्णन है, उनके समान ही अनन्त है और इसके रहस्य को प्रभु ही जानते हैं या जिसे वे जना दें, वह भी किसी अंश में जान सकता हैं; फिर भी अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार, जैसा कुछ गुरुकृपा से और सन्तों के आशीर्वाद से मैं

समझ सका हूं, उसे उन मित्रों के लिए व्यक्त करता हूं, जो श्रीरामचरितमातस में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर कुछ साधना करके अपने जीवन में परिवर्त्तन लाना चाहते हैं।

श्रीमानस का सिद्धान्त यह है कि हम किसी भी दुःख के निवारण करने की चेष्टा करने से पहले उसके मूल कारण को जानने का प्रयास करें। जैसे जुकाम होने पर हम क्या औषध सेवन करें, यह न सोचकर हमें पहले यह सोचना चाहिए कि हमें जुकाम हुआ ही क्यों है। इस सम्बन्ध में भी श्रीमानस के उस प्रकरण में स्पष्ट संकेत मिलता है, जिसमें श्री लखनलाल जी ने भगवान् राम से प्रश्न किया था और दुःख की निवृत्ति का साधन ज्ञान और वैराग्य समझ कर उसके सम्बन्ध में ही पहले जानना चाहा था—

कहहु ग्यान विराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।
ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जाते होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ॥

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् राम ने दुःख का मूल कारण माया वतला कर उसी के सम्बन्ध में सबसे पहले प्रकाश डाला। उसके बाद उसकी निवृत्ति के साधन ज्ञान, वैराग्य को समझाने का प्रयत्न किया। उनके वचन हैं—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मन मति चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥

यहाँ भगवान् ने माया के दो रूप बताये हैं। एक 'मैं-मेरा' जिसके कारण प्राणी संसार में दुःख भोग रहा है और दूसरा 'दृश्य-प्रपंच', अर्थात् जहाँ तक इन्द्रियों और मन का व्यापार है।

माया का शाब्दिक अर्थ है (मा=नहीं, या=जो) जो नहीं है, फिर भी प्रतीत होती है। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, यद्यपि कहीं सर्प नहीं है। इसमें दो पक्ष हैं—(१) जो है सो मालूम नहीं हो रहा है, (२) जो नहीं है, सो मालूम हो रहा है, अर्थात् रस्सी है पर मालूम नहीं होती और सर्प नहीं है, जो मालूम होता है। यही श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्त है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। अर्थात् ब्रह्म यथार्थ सत्य है यद्यपि (मोह के कारण) उसकी प्रतीति नहीं हो रही है और प्रपंच (जगत) प्रातीतिक सत्य मात्र है, यथार्थ नहीं, जैसा दिखाई देता है वैसा नहीं।

यही श्री मानस का दर्शन है। इसी दर्शन को जीवन में उपलब्ध करने की प्रणाली का श्रीमानस में विशद विवेचन है, जिसे **'विश्वास'** और **'श्रद्धा'** का मार्ग कहा गया है; यथा—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

मेरा विश्वास है कि यदि श्रीमानस के इस जीवन-दर्शन को मानव समझ सका, तो उसके जीवन से दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो सकता है। भावना-प्रधान साधकों के लिए भक्ति या शरणागति का मार्ग है और विचार-प्रधान साधकों के लिए श्रद्धा, अर्थात् ज्ञान का। एक में सरल अन्तःकरण वाले साधक सत्संग द्वारा अदृश्य प्रभु में अटूट विश्वास करके भगवद्दर्शन करते हैं और उनका प्रेम प्राप्त करके

समस्त दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। दूसरे में बुद्धि-प्रधान साधक खोज के द्वारा दृश्य जगत् का अबाधित ज्ञान प्राप्त करके तप का मार्ग अपनाते हैं और आत्मदर्शन करके समस्त दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। दोनों मार्गों से दुःखों का विनाश होता है; यथा—

ग्यानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

विश्वास के मार्ग का सिद्धान्त निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादित है—

यहि महँ आदि मध्य अवसाना।
प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

इससे स्पष्ट है कि श्रीमानस के प्रारम्भ, बीच और अन्त में, अर्थात् आदि से अन्त तक भगवान् राम ही प्रतिपादित हैं, जिनके विषय में कहा गया है—

सहज प्रकाश रूप भगवाना।

अर्थात् भगवान् सहज प्रकाशरूप हैं। श्रीमानस में दो प्रकार के प्रकाशकों का वर्णन है। एक पराश्रित प्रकाशक जैसे चिराग, जो दीया, घी और वत्ती के सहारे ही प्रकाश देता है और बत्ती के जल जाने, घी के समाप्त हो जाने या दीया के टूट जाने पर, बुझ जाता है और दूसरा है सहज प्रकाशक, जिसे किसी वाह्य सहारे की अपेक्षा नहीं रहती, जो स्वतः ही प्रकाश रूप है। इस प्रकाशक की उपमा मणि से दी गई है, जो दिन और रात बिना किसी वाह्य उपकरण के प्रकाशित रहता है। श्रीमानस में प्रतिपादित भगवान् मणि के समान ही प्रकाशक हैं, जो सहज प्रकाशरूप हैं, दिन-रात प्रकाश देते हैं तथा भीतर और बाहर प्रकाश करते हैं; यथा—

सहज प्रकास रूप दिन राती।
नहिं तहँ चहिय दिया घृत बाती॥
राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु, जो चाहसि उजियार॥

श्रीरामायण में इस सहज प्रकाशरूप भगवान् के एक रूप और एक स्वरूप का वर्णन पाया जाता है। स्वरूप प्रकृति से पार है, जहाँ मन-वाणी नहीं पहूँच सकती—

राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

एवम्

मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति करि कहई।
जो तिहुँ काल एक रस अहई॥

यही वेदों में आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[1]

इसी प्रकार श्रीरामायण में भगवान् का एक रूप भी बताया गया है। वह घट-घटवासी है; यथा—

सीय राम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि

इसी को वेदों में इन शब्दों में कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।

अर्थात् प्रभु जड़ चेतन—सब में व्याप्त हैं।

---

१. तैत्तरीय उपनिषद् २/४
२. ईशावास्य उपनिषद्-१।

(ख) साधना-प्रणाली

श्रीमानस ऐसा मानता है कि जो व्यक्ति भगवान् के प्रकृति-पार-स्वरूप का सुमिरन और उसके घट-घटवासी रूप का भजन करेगा, उसके सारे दुःख मिट जाएँगे। अथवा जो खोज के द्वारा संसार को अनित्य और असुख अनुभव करके उससे हटकर तप की ओर बढ़ेगा, उसके भी सारे दुःख मिट जाएँगे। भक्तिमार्ग के साधक को भगवान् के सुमिरन और भजन का मार्ग अपनाना चाहिए, क्योंकि श्रीमानस के शब्दों में विपत्ति तभी तक है, जब तक मनुष्य सुमिरन और भजन नहीं करता। इस तथ्य को निम्नलिखित पंक्तियाँ सिद्ध करती हैं—

कह हनुमंत विपति प्रभु सोई।
जब तब सुमिरन भजन न होई॥

सुमिरन की प्रणाली नारद जी एवं मनु शत-रूपा के प्रकरण में वर्णित है। सुमिरन में प्रथम मन को भगवान् के किसी भी नामरूप के सहारे एक विन्दु पर केंद्रित किया जाता है—

निरखि सैल सर विपिन विभागा।
भयेउ रमापति पद अनुरागा॥
सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।
सहज विमल मन लागि समाधी॥

अथवा

द्वादस अक्षर मंत्रवर, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पदपंकरुह दंपति मन अति लाग॥
करहिं अहार साक फल कंदा।
सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा॥

सुमिरन की इस प्रक्रिया में प्रथम मन को सब ओर से हटाकर एक विन्दु पर केन्द्रित किया जाता है, जिसे एकाग्रता कहते हैं; जैसे—

चश्म बन्दो गोश बन्दो लब वे बन्द।
गर नवीनी रुये हक़ बर मन बे खन्द॥

इसके बाद एकाग्रता की एक ऐसी सघन अवस्था आती है, जिसमें यदि मन में लय और विक्षेप की अवस्थाएं बाधक न हों, तो वह विन्दु भी हट जाता है और मन निर्विषय हो जाता है। यही सुमिरन की अवस्था है, जिसे समाधि या ध्यान भी कहते हैं और जिसकी परिभाषा इस प्रकार है—

"ध्यान निर्विषयम् मन:"[1]

अहंकार के विलय की इस अवस्था को सूफ़ी सन्तों और कवियों ने भी बड़े सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है—

वह सिजदा क्या रहे एहसास जिसमें सर उठाने का।
इबादत और बक़ैदे नोश तौहीने इबादत है॥

× × ×

बे-ख़ुदी छा जाये ऐसी दिल से मिट जाये ख़ुदी।
उसके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है॥

× × ×

झलक होश की है अभी बेख़ुदी में,
बड़ी ख़ामियाँ हैं मेरी बन्दगी में।
कैसे कहूँ कि ख़त्म हुई मंजिले फ़लां?
इतनी तो खबर है कि मुझे कुछ खबर नहीं।

सुमिरन की साधना में कभी मन विन्दु से से हटकर इधर-उधर भागता है, जिसे 'विक्षेप' कहते हैं और कभी नींद आ जाती है, जिसे 'लय' की संज्ञा दी गई है। मन के यही दो मल हैं और यदि मन इन दो मलों से रहित हो जाये तो—'सहज विमल मन लागि समाधी' की अवस्था प्राप्त होगी, अर्थात् अहंकार का

१. सांख्य सूत्र-६/१५।

विलय हो जाएगा। और ऐसी स्थिति में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सबका विलय हो जायेग।यह, अवस्था साधन से भी प्राप्त की जाती है, जैसा कि नारद, मनु महराज अथवा शिवजी के प्रकरण में पाया जाता है; जैसे–

संकर सहज सरूप सम्हारा।
लागि समाधि अखंड अपारा॥

प्रेम के अतिरेक में भी समाधि की यही अवस्था विना प्रयास ही प्राप्त हो जाती है; जैसे–

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुद्धि चित्त अहमिति बिसराई॥

माता शवरी ने भी इस अवस्था को सहज ही प्राप्त कर लिया था–

स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई।
सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा॥
पुनि पुनि पद-सरोज सिर नावा॥

यही दशा सुतीक्ष्ण जी की भी स्वत: ही हो जाती है–

दिसि अरु विदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेऊँ कहा नहिं बूझा॥

कोल-भीलों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बात है–

करहिं जुहार भेंट धरि आगे।
प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े।
पुलक शरीर नयन जल बाढ़े॥
राम सनेह मगन सब जाने।
कहि प्रिय वचन सकल सनमाने॥

इस अवस्था के प्राप्त होते ही भक्त अपनी बुद्धि में एक अपूर्व प्रकाश का अनुभव करता है, जिससे द्वैतभावना मिट जाती है और सर्वत्र एक ही सत्ता विद्यमान दिखती है और तब भय नाम की वस्तु रह ही नहीं जाती। साथ ही कर्तृत्व मिट जाता है और इसलिए वन्धन, अर्थात् आवागमन भी मिट जाता है, क्योंकि वन्धन का कारण कर्म नहीं, कर्तृत्व है; यथा–

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।[1]

मन में एक अद्भुत आनन्द समा जाता है, जिससे भारी-से-भारी दुःख में भी भक्त विचलित नहीं होता; जैसे–

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।[2]

और ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है कि दुःख का कारण परिस्थिति नहीं, बल्कि आशक्ति है, जो उस आनन्द में स्वत: ही मिट जाती है। शरीर में भी अथक शक्ति का अनुभव होता है और साधक ऐसा अनुभव करता है कि शक्ति का केंद्र भगवान् है, न कि भंजन। आन्तरिक शक्ति के जागरण से ही उसके सारे रोग मिट जाते हैं। इसीलिए तीनों ताप मिटने की बात श्रीमानस में भगवान् के प्रति अनुराग से सम्बन्धित की गई है और भगवान् के चरणों के निरादर से, अर्थात् उनके चरणों में प्रेम न होने के कारण रोग, वियोग, दीनता, मलिनता और आवागमन होता है। यह बात शिवजी ने भगवान् राम की स्तुति करते समय स्पष्ट कर दी है–

बहु रोग वियोगन्हि लोग हए।
भवदंघ्रि निरादर के फल ए॥
भव सिन्धु अगाध परे नर ते।
पद-पंकज प्रेम न जे करते॥
अति दीन मलीन दुखी नित ही।
जिनके पद-पंकज प्रीति नहीं॥

१. ईशावास्य उपनिषद्। २. भगवद्गीता।

भजन के सम्बन्ध में भी श्रीमानस की यह विचारधारा है कि भगवान् सबमें व्याप्त है, ऐसा जानकर जो मवकी सेवा और सबसे प्रेम किया जाता है, वही 'भजन' है। भगवान् राम ने अपने ही श्रीमुख से अपने मित्रों को विदा करते समय स्पष्ट कहा है—

अब गृह जाहु सखा सकल भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम॥

अर्थात् प्रभु की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए स्वार्थपरता को छोड़कर प्रभु के नाते सबकी सेवा की जाए। इस प्रकार की 'सेवा' अर्थात् 'भजन' के फलस्वरूप मनुष्य के जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता, क्योंकि सेवक ही सेव्य बन जाता है। अतः सुमिरन और भजन से मनुष्य की अशांति और अभाव मिट जाते हैं। इस सिद्धांत का जो साधक अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहे, उसे चाहिए कि प्रतिदिन २४ घंटे में से आधा घण्टा किसी एकान्त स्थान में सूर्योदय से पहले पूर्वाभिमुख या भगवान् की कोई मूर्ति हो तो उस तरफ मुख करके बैठे और भगवान् के किसी भी नाम या रूप का सहारा लेकर अपने मन को एकाग्र करने की चेष्टा करे। बहुत दिनों के निरन्तर अभ्यास के बाद यदि मन के दोनों दोष—लय और विक्षेप, मिट जाते हैं, तो अहंकार के विलय की अवस्था आने लगती है। विक्षेप और लय मिटाने की साधना के दो अंग हैं—सेवा और तप। सेवा का अर्थ है अपने धन का (कम से कम दशांश), समय, शक्ति और भोजन (चतुर्थांश) का एक निश्चित अंश जनता-जनार्दन की सेवा में निःस्वार्थ भाव से लगाना। दस इन्द्रियों से मनुष्य सुख चाहता है, इसीलिए दशांश और भोजन के चार प्रकार है अतः भोजन के चौथाई का नियम है। तप में भोजन को और विशेषकर अन्न को कम करने की आवश्यकता है। अपने भोजन में कुछ शाक, फल, कन्द का समावेश करना इस साधन में विशेष सहायक होता है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि मेरे बहुत से मित्रों ने अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार साधनत्रिक—सुमिरन, सेवा, तप—का अभ्यास किया है। इन्हीं को बाइबिल में Prayer, Charity and Fasting तथा कुरान शरीफ में नमाज, जकात और रोजा, श्री गीता में यज्ञ, दान और तप यथा श्रीमानस में सुमिरन, अभोग और उपवास कहा गया है। मेरे मित्रों की प्रत्यक्ष अनुभूति है कि उनके जीवन से रोग, दुःख और भय मिटते जा रहे हैं। बिना औषध-सेवन के रोगनिवारण तथा बिना परिस्थिति-परिवर्तन के चिन्तामुक्ति और बिना अध्ययन के मोह का नाश भी होता जा रहा है। ऋतु-परिवर्तन अथवा खान-पान में किंचित् परिवर्तन का भी शरीर पर प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मन भी परिस्थिति से अतीत होते जा रहे हैं। साधना के पहले जो घटनाएं उनके मन को विचलित कर देती थीं, अब उन पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं और जिन बातों का उन्हें भय बना रहा करता था, अब उन्हें उनका भय नहीं सताता।

इस सम्बन्ध में यह निवेदन कर देना अत्यावश्यक है कि हम लोग श्रीरामचरितमानस में प्रतिपादित केवल भगवान् के सुमिरन और भजन की ही बात करते हैं। किसी अन्य प्रकार की गुप्त साधना या साम्प्रदायिकता आदि से सम्बन्ध नहीं रखते और न ऐसी साधना ही करते या कराते हैं जो सर्वसाधारण न कर सके। मेरे मित्रों का प्रत्यक्ष अनुभव है कि उनके

शरीर में शक्ति, मन में आनन्द और बुद्धि में ज्ञान का संचार होता जा रहा है।

श्रीरामचरितमानस में विचार-प्रधान साधना का सिद्धान्त मायावाद के रूप में प्रतिपादित है। यह वेदोक्त है। मुण्डकोपनिषद् में कुछ ऋचाएं ऐसी हैं, जिनसे इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है; यथा—

..द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समनं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
३।१।१

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचित मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
३।१।२

यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति
॥३।१।३

इन ऋचाओं का आशय संक्षेप में यह है कि दो पक्षी सखा भाव से एक पेड़ का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें से एक पेड़ के फल को खाता है, अर्थात् वहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला है और दूसरा उसके फल को नहीं खाता, अर्थात् अंतर्मुखी प्रवृत्ति वाला है। वह असमर्थता, शोक और मोह से ग्रस्त है, अर्थात् उसके शरीर में शक्ति के स्थान पर कमजोरी, मन में आनन्द के स्थान पर दु:ख और बुद्धि में ज्ञान के स्थान पर मोह है। जब वह दूसरे पक्षी को, जो अन्तर्मुखी प्रवृत्तिवाला है, देखता है और उसमें सामर्थ्य, आनन्द और ज्ञान को पाता है तथा अपनी हीन दशा का कारण अपनी वहिर्मुखी प्रवृत्ति को समझकर उस प्रवृत्ति को छोड़ देता है, तो वह भी असमर्थता, मोह और शोक से रहित हो जाता है। इसी सिद्धान्त का दिग्दर्शन श्री गीता के तीसरे अध्याय में वहां मिलता है, जहाँ भगवान् कृष्ण अर्जुन के एक प्रश्न का उत्तर देते हैं; यथा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष:।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित: ॥३।३६

अर्थात् अर्जुन भगवान् से पूछता है—वह कौन-सी शक्ति है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य न चाहने पर भी हठात् पाप का आचरण कर बैठता है और दु:ख भोगता है?

उसके उत्तर में भगवान् ने कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३।३७

अर्थात् वह काम ही है, और उसका स्थान इन्द्रियां, मन और बुद्धि हैं; यथा—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥३।४०

अर्थात् इन्द्रियों में कमजोरी, मन में दु:ख और बुद्धि में भय इस 'काम' के ही कारण होता है, यानी त्रिताप का कारण 'काम' है। काम-नाश के फल-स्वरूप मनुष्य त्रिताप से मुक्त हो जाता है। उसके सब रोग, दु:ख और भय मिट जाते हैं। जिसे श्रीगीता में 'काम' कहा गया है, उसे ही श्रीमानस में 'मोह' की संज्ञा दी गई है। श्रीमानस में सब दु:खों का मूल कारण मोह बताया गया है।

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला

मोह का अर्थ है, अंधकार। जिस प्रकार अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी साँप मालूम होती है और इस गलत धारणा के कारण कि वह साँप है, यह गलत मान्यता हो जाती है कि वह काट खायेगा इसके फलस्वरूप यह

गलत क्रिया होतीं हैं कि मनुष्य डर कर भागता है, जिनसे उसके दिल की धड़कन बढ़ जाती है और वह लड़खड़ाकर गिर जाता है। इस प्रकार मोहरूपी अंध- के कारण गलत मानने और परिणामस्वरूप गलत क्रिया के क्रम से उसे दुःख की प्राप्ति होती है। इन सबका मूल कारण मोह, अर्थात् अन्धकार ही है।

(१) इसी मोह के कारण मनुष्य की धारणा (जानकारी) में शक्ति का सम्बन्ध भोजन से है और भोजस जितना ही पौष्टिक होगा, उतनी हीं शक्ति बढ़ेगी, ऐसी मान्यता भी है। इससे स्वभावतः अधिक भोजन की क्रिया होती है और परिणामस्वरूप शरीर में मल का संचय होता रहता है, जो कालान्तर में रोग के रूप में प्रकट होता है।

(२) इसी तरह मोह के कारण ही धन एवं धन द्वारा संगृहीत वस्तुओं में सुख है, ऐसी धारणा होती है। धन वटोरने से सुख मिलेगा, ऐसी मान्यता होती है और धन-संग्रह करने की क्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप मन में विक्षेप आ जाता है, जो चिन्ता के रूप में प्रकट होता है।

(३) ऐसे ही पढ़ने-सुनने से ज्ञान होता है, इस धारणा के आधार पर जितना पढ़ेंगें-सुनेंगे, उतना ही ज्ञान होगा, ऐसी मान्यता के होने से अधिक अध्ययन किया जाता है, जिसके कारण बुद्धि में ज्ञान के स्थान पर अहंकार संचित होता है, जो आवागमन का कारण है।

इसी मोह को शरीर में मल, मन में विक्षेप और बुद्धि में आवरण कहा गया है, जिसके फलस्वरूप रोग, दुःख और भय नामक त्रिताप होते हैं। अतः त्रिताप से मुक्त होने का साधन यह है कि हम भोजन, धन और अध्ययन के सम्बन्ध में गहराई से विचार करें। खोज करने से हमें संसार में ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो अधिक भोजन के द्वारा अपने शरीर में किसी अंश में पशुबल का समावेश तो कर पाते है, परन्तु भयानक रोगों से ग्रस्त रहते है और विना पूरीं आयु भोगे स्वर्ग सिधार जाते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी मिलेंगे, चाहे वे गिनती में बहुत ही थोड़े ही क्यों न हों, जो शक्ति का सम्बन्ध-भोजन से न मानकर संयम की ओर अग्रसर होते हैं और उसके द्वारा शरीर में एक आन्तरिक शक्ति के जागरण का अनुभव करते है, जिसके परिणामस्वरूप वे रोग-मुक्त होकर वेद के इस वाक्य—जीवेम शरदः शतम् अदीनास्याम शरदः शतम् के अनुसार निरोग रहकर सौ वर्ष की पूरी आयु भोगते हैं तथा शरीर त्याग भी कष्टप्रद नहीं होता; यथा—

सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।

मैंने भी इस सम्बन्ध में जो प्रयोग किये हैं, उनसे मालूम होता है कि कुछ हफ्तों के लिए पानी पर और वर्षों फल तथा सब्जियों पर आसानी से रहा जा सकता है। इससे शरीर में आरोग्य अथवा अथक परिश्रम करने की सामर्थ्य और वृद्धावस्था में भी युवा- पन का अनुभव किया जा सकता है। मेरे कुछ मित्र तो कुछ न खाकर; यहां तक कि निराजल भी नौ दिनों तक लगातार अपने सारे काम करते रहते हैं और कभी भी किसी प्रकार की शक्तिहीनता (कम- जोरी) नहीं महसूस करते। श्रीमानस के सिद्धान्तों को यदि जनता ठीक से समझ कर इस प्रकार प्रयोग कर सके, तो व्यक्ति, समाज, देश तथा विश्व का भी कल्याण हो सकता है।

इस सम्बन्ध में हमारा बल 'समझने' पर

अधिक हैं, क्योंकि विना सोचे समझे क्रिया करने से वांछित फल नहीं मिल सकता । सिद्धान्त को सही रूप में समझ लेने पर यदि क्रिया कभी गलत भी हो जाए, तो उससे उतनी हानि नहीं होती।

खोज करने वालों को ऐसे भी व्यक्ति आसानी से मिल जाएंगे, जो बहुत धनी होने पर भी मन से अशांत और चिन्ताग्रस्त हैं। इनके विपरीत ऐसे भी लोग हैं, चाहे उनकी संख्या कम ही हो, जो निर्धन होने पर भी सर्वथा चिन्तामुक्त हैं और एक आन्तरिक आनन्द का सतत अनुभव करते रहते हैं तथा उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी कम-से-कम उतनी देर के लिऐ शान्ति का अनुभव करते हैं।

इस सम्बन्ध में भी हम लोगों ने जो प्रयोग किये हैं, उनका परिणाम यह हुआ है कि अपने समय, शक्ति भोजन और धन का आंशिक रूप (धन का दशांश) भी निस्स्वार्थ भाव से प्रभु के नाते जनता-जनार्दन, बालगोपाल, दरिद्रनारायण और संत-भगवंत की सेया में अर्पिन करने से मन, परिस्थिति से अतीत होने लगता है और विषम परिस्थितियों में भी मन में शान्ति बनी रहती है। साथ ही जीवन से अभाव मिट जाता है और किसी-न-किसी प्रकार प्रभु आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते रहते हैं। यह अनुभव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

इसी प्रकार खोज करने वालों को ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं होगी, जो शास्त्रीय शिक्षा (Academic Education) या किताबी ज्ञान से वंचित होने पर भी प्रकाश अथवा ज्ञान के केंद्र हैं। बहुत से साधु-महात्मा जिनकी गणना ज्ञानियों में है, अधिकतर अशिक्षित ही थे। स्वामी शरणानन्द जी महाराज ऐसे ही ज्ञानी और उच्चकोटि के व्यक्तियों में से एक थे। उनकी स्कूली शिक्षा प्रायः नहीं के बराबर थी। रामकृष्ण परमहंस जो जगत्प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द जी के गुरुदेव थे, इसी कोटि में आते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शक्ति, ज्ञान और आनन्द का सम्बन्ध भोजन, अध्ययन और धन से वैसा नहीं है, जैसा कि आज का मनुष्य समझ रहा है और इसी अज्ञान के कारण ही वह रोग, दुःख और भय से ग्रस्त है। इनका सम्बन्ध किसी ऐसी सत्ता से है, जो प्रत्येक मानव के अन्दर विद्यमान है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः देखते हैं कि जब रात्रि में हम चारपाई पर शिथिल होकर लेट जाते हैं (पैर से चलना, हाथ से पकड़ना बन्द कर देते हैं) तथा निद्रा में प्रवेश करते हैं (बाह्य नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियों का कार्य बन्द कर देते हैं) और स्वप्नावस्था (जिसमें बुद्धि क्रियाशील रहती है) के बाद गहरी नींद में सो जाते है, तब अपने शरीर की थकावट खो कर हम नई शक्ति और ताजगी का अनुभव करते हैं तथा मन की चिन्ता खोकर 'हम खूब आनन्द से सोये' ऐसा कहते हैं। ऐसी अवस्था में उसी केन्द्र से संस्पर्श होने के कारण ही हमारे शरीर और मन में शक्ति और आनन्द आ जाते हैं। जिस प्रकार गहरी निद्रा में प्रवेश होने पर शरीर, मन और बुद्धि की गति रुक जाती है, उसी प्रकार ऐसी निष्क्रियता की स्थिति जाग्रत् अवस्था में भी अभ्यास के द्वारा लायी जा सकती है और जो जो व्यक्ति इस साधना का अभ्यास करेगा, उसका भीतर के केन्द्र से संस्पर्श हो सकेगा, जिसके फलस्वरूप उसे शक्ति, ज्ञान और आनन्द मिलने लगेगा। श्रीरामचरितमानस में इसे तप

की साधना कहा गया है; यथा—

उर धरि उमा प्रानपति चरना ।
जाइ विपिन लागीं तप करना ॥
अति सुकुमार न तनु तप जोगू ।
पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू ॥
नित नव चरन उपज अनुरागा ।
बिसरी देह तबहिं मनु लागा ॥
संवत सहस मूल फल खाए ।
सागु खाइ सत बरस गंवाए ॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा ॥
किए कठिन कछु दिन उपवासा ॥

इस तप के तीन अंग हैं—(१) चित्तवृत्ति का निरोध (सुमिरन), (२) इन्द्रियों का संयम (अभोग) और (३) भोजन का क्रमिक परित्याग (उपवास)।

इस साधना के परिणामस्वरूप मानव के सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं; यथा—भए मनोरथ सुफल तव, सुनु गिरिराज कुमारि।' और उसके शरीर में अखण्ड शक्ति, मन में अखण्ड आनन्द और बुद्धि में अखण्ड ज्ञान का संचार होने लगता है और जीवनकाल में सब प्रकार के सुखों का लाभ तथा शरीर छोड़ने पर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्रीरामायण में इन तीनों का क्रमश भोजन-संयम के लिए पेड़। अभोग के लिए, नाखून और चित्तवृत्ति निरोध के लिए पहाड़ का प्रतीक बतलाया गया है; यथा—'गिरि तरु नख आयुध सब बीरा' इस आयुध से मोह का नाश होकर राम-राज्य की स्थापना होती है, जिससे जीवन में किसी प्रकार का दुःख नहीं रह जाता।

संक्षेप में श्रीमानस प्रतिपादित यहाँ बताये गए दोनों मार्गों—(१) सुमिरन और भजन एवं (२) तप—द्वारा मनुष्यों के दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और सुख की उपलब्धि होती है और उनका शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास होता है।



धर्म की अवधारणा

□ प्रो० दुर्गादत्त पाण्डेय

धर्म का उद्गम-स्थल गंगोत्री की गंगा के सदृश है, किन्तु काल-प्रवाह की काली छाया के प्रभाव से उसने कानपुर या हुगली की गंगा का रूप ले लिया है। जिस तरह राज्य का निर्माण मानव जीवन की खुशहाली के लिए हुआ, किन्तु कालांतर में चलकर राज्य हृदयहीन, उच्छृंखल और निरंकुश हो गया; उसने जब चाहा व्यक्ति को कीड़े-मकोड़ों की तरह मसल डालने का प्रयास किया, उसी तरह धर्म के मूल में समग्र विश्व के कल्याण की पूत भावना निहित है, परन्तु धर्म के ठेकेदार धर्म की शिवात्मा को कुचलकर उसे अपने स्वार्थ की सिद्धि का साधन बना रहे हैं। धर्म की ओट में राजनैतिक नेता साधारण जनता को भुलावा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में सफल हो रहे हैं। नैपोलियन का कथन प्रसंगानुकूल है—"मेरे ऐशो-आराम को लोग इसलिए सहन करते हैं, क्योंकि वे धार्मिक हैं"। मनुष्य सुख और शान्ति के लिए धर्म की शरण में जाता हैं। परन्तु धर्म ने विश्वबन्धुत्व की भावना और जीव कल्याण-हेतु संस्थाओं की जितनी अधिक वृद्धि की हैं, दुर्भाग्यवश उससे कहीं अधिक आपसी भेद-भाव और रक्तपात की वृद्धि में सहयोग दिया है।[1]

'धर्म' शब्द 'धृञ्' (धारणे) धातु में 'मन्' प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न होता हैं। धर्म का व्युत्पत्ति-लभ्य-अर्थ तीन प्रकार से समझाया गया है-(१)'धरति धारयति वा लोकम्' अर्थात् लोक को धारण करने वाला तत्त्व धर्म है। (२) 'धृयते लोकः अनेन इति धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा लोक को धारण किया जाता हैं. वह धर्म है। (३) धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'[2] अर्थात् धर्म के मूल में 'धारण' का विचार निहित है। बौद्ध-भिक्षु थित्तिल ने भी धर्म को धारक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। 'धर्म मानव-मस्तिष्क अथवा हृदय में भी स्थित नहीं है। समग्र विश्व ही धर्म की अभिव्यक्ति है। चन्द्रमा का उदय और अस्त होना, जल का बरसना, फसल का अंकुरित होना, और मौसम का बदलना धर्म के कारण हीं संभव है। धर्म अखिल ब्रह्माण्ड की वह 'नियामकशक्ति' है, जिसके निर्देशन में सभी पदार्थ अपने निर्दिष्ट पथ पर नियमित रूप से गतिमान हैं। उसका समर्थन विज्ञान भी करता है, न्यूटन और लैपलेस जैसे वैज्ञानिक भी उक्त तथ्य के हिमायती

1—Nothing has made the brotherhood of man more tangible than religion; nothing has bred more bitter enmity between man and man than religion; nothing has built more charitable institutions, more hospitals for men and even for animals than religion, nothing has deluged the world with more blood than religion.

—विवेकानन्द, ज्ञानयोग (अद्वैताश्रम, कलकत्ता, 1961), पृ० 373

2—महाभारत, कर्ण-पर्व—69–59।

हैं। 'वस्तुतः, धर्म जड़ और चेतन सभी वस्तुओं में अनुगत मूल सत्ता है।[1] **नारायणीयोपनिषद** में भी धर्म को विश्व का आधार, पाप का निवारक और अप्रत्यक्षजन्य परमसत्ता कहा गया है,[2]

तात्पर्यतः, धर्म वस्तु-अवस्तु अथवा आत्म-अनात्म की विधायक वृत्ति है। यह विश्व का 'सत्' और उसकी प्राणशक्ति है। धर्म सबका उपजीवक और लोकस्थिति का कारण है। यह जीवन का सत्य है, उसका उन्नायक एवं सम्पोषक तत्त्व है और विश्व की प्रकृति को निर्धारित करने वाली नियामक शक्ति है। वास्तव में धर्म वस्तु, व्यक्ति और समाज के अस्तित्व का आधार हैं। अग्नि का धर्म उष्णता है, जल का धर्म शीतलता है, शब्द का अर्थ अर्थबोधकता है, मनुष्य का धर्म विचारशीलता है और समाज का धर्म नैतिक व्यवस्था है। सुधा का धर्म अमरता है और गरल का मृत्यु—'सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु।'

नैतिक व्यवस्था के अभाव में समाज अनियन्त्रित जंगल हो जाता है, जहाँ झाड़-झंखाड़ उगते हैं। वैचारिक शक्ति के अभाव में मनुष्य पशु हो जाता है। मनुष्य संस्कृत पशु है। पशुओं की तरह मनुष्य भी मूलप्रवृत्तियों के साथ जन्म लेता है। पशु प्राकृतिक परिवेश में जहाँ-के-तहाँ पड़े रह जाते हैं। वे नग्न पैदा होते हैं और नग्न ही मर जाते हैं। किन्तु मनुष्य वैचारिक शक्ति के उपयोग से अपनी चरित्र-वाटिका में मूल प्रवृत्तियों को मनमोहक ढंग से सजाता है, सवाँरता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन की दृष्टि से मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है—

> 'आहार निद्राभयमैथुनं च,
> सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्
> धर्मोहि तेषामधिको विशेषो,
> धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

कहीं कहीं धर्म के स्थान पर 'ज्ञान' शब्द उक्त श्लोक में दृष्टिगत होता है। वस्तुतः, मनुष्य का धर्म उसकी ज्ञान-शक्ति ही है। यही धर्म अथवा ज्ञान-शक्ति मनुष्य को पशु से पृथक् करती है। ज्ञान 'प्रजा' का अर्थद्योतक है और प्रजा नैतिक नियमों का आगार है—'ऋतंभरा च तत्र प्रजा'। इसीलिए यास्क ने निरुक्त अथवा निघण्टु शास्त्र में नैतिक नियम को ही धर्म की संज्ञा है। ऋग्वेद में आया हुआ 'ऋत' शब्द भी 'नैतिक संस्थान' का अर्थबोधक है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म वास्तव में वस्तु, व्यक्ति और समाज की वह चेतनशक्ति है, जिसके निकल जाने से उनकी या तो संज्ञा खो जाती है या रूप विकृत हो जाता है। तात्पर्यतः, धर्म को नष्ट करने वाला स्वयं नष्ट हो जाता है और धर्म की रक्षा करने वाले की स्वयं रक्षा होती हैं—'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

1—Dharma, this law of righteousness, exists not only in a man's heart and mind, it exists in the universe also. All the universe is an embodiment and revelation of Dharma. When the moon rises and sets, the rains come the crops grow, the season changes, it is because of Dharma, for Dharma is the law of residing in the Universe which makes matter act in the ways revealed by studies of modern sciences in Physics, Chemistry, Zoology, Botany and Astronony. Dharma is the true nature of every existing thing animate and inanimate"

U. Thithila, The Path of the Buddha.

२–धर्मो विश्वः जगतः प्रतिष्ठा, धर्मेण पापं अपनुदति, सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति।

—नारायणीयोपनिषद

निष्कर्षतः, 'धारक तत्त्व' के रूप में धर्म 'मूलसत्ता' का पर्याय लगता है। वेदान्त में इस 'मूल सत्ता' को 'ब्रह्म' कहा गया है और मीमांसा में 'धर्म'। 'ब्रह्मजिज्ञासा'[1] और 'धर्म-जिज्ञासा'[2] के मूल में वास्तविक सत्ता की अनुभूति विषयक अवधारणा विद्यमान है। 'मूलसत्ता' का विपरिलोप कथमपि संभव नहीं है। अव्यभिचारी सत् के रूप में यह सत्ता आन्तरिक एवं बाह्य सभी अवस्थाओं में अनुगत रहती है। 'अनुवृत्ति सत् का लक्षण है और व्यावृति असत् का।'[3] विनाश आकार का होता है, वृत्ति का नहीं। 'घट-वस्तु' का विनाश संभव है, घट-वृत्ति' का नहीं। विनाश नामरूपात्मक जगत् का होता हुं, उसके अधिष्ठान का नहीं। धर्म उस वट-बीज के सदृश है जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड विशाल वट-वृक्ष की तरह गुप्तरूप में समाया हुआ है। खण्डधर्मिणी बुद्धि अज्ञानवश घट को मृत्तिका से अथवा जगत् को ब्रह्म (मूल सत्ता) से पृथक् करके देखने का प्रयास करती है।

'सत्' यदि वेदान्त की मूलसत्ता (ब्रह्म) है, तो साम्यवाद का 'द्वन्द्वन्यायनिष्ठ भौतिकवाद' भी तद्वत् है। यह 'द्वन्द्व' मूलसत्ता की तरह अनश्वर है। द्वन्द्व 'वाद' और 'प्रतिवाद' का द्वन्द्व है जिनका संविलयन 'संवाद' में हो जाता है। 'संवाद' पुनः 'वाद' का रूप ले लेता है, जहाँ से प्रतिवाद स्वतः फूट निकलता है। यह क्रम अविरल चलता रहता है सम्पूर्णत्ववृत्ति की तलाश में। इस प्रकार 'सत्' विरोधी तत्त्वों का संघात है, जहां विधर्मियों का आपसी अनुप्रवेश है। सभी वस्तुओं के अस्तित्व परस्पर-अनुप्रविष्ट हैं। सभी मनुष्यों की सत्ता एक दूसरे में अन्तर्निहित है। एक का कल्याण सबके कल्याण में ओतप्रोत है। राम का अस्तित्व श्याम में समाया है और श्याम का राम में। ऐसी स्थिति में वर्गभेद एक छलना नहीं तो और क्या है? वर्ग-भेद को समाप्त करके सर्वहारा वर्ग अथवा साम्यवाद की स्थापना ही तो धर्म की प्रतिष्ठापना है, क्योंकि यह साम्यवाद ही मूलसत्ता (ब्रह्म) की तरह सर्वानुगत है। धर्म का यह स्वरूप स्वीकार कर लेने से साम्यवाद, मानवतावाद, विज्ञानवाद, ईश्वरवाद, जैन और बौद्ध धर्म निर्वैर भाव से एक ही 'धारक तत्त्व' पर सुस्थिर होकर मानव-कल्याण में अभिरत हो सकते हैं और धर्म की मूल अवधारणा को आत्मसात् कर सकते हैं। अब हम धर्म की ऐसी परिभाषा पर विचार करेंगे जो सभी धर्मों की आत्मा का संस्पर्श करती है—

"धर्म वह सर्वांगपूर्ण अभिवृत्ति है, जो समाज-समादृत आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आत्मसमर्पण एवं अन्तर्ग्रसन हेतु व्यक्ति को सम्पूर्ण विश्व की ओर अभिमुख करती है।[4]

ज्ञान, राग और क्रिया का समाकलित रूप ही 'सर्वांगपूर्ण अभिवृत्ति' है। ज्ञान रूढ़ियों एवं अन्ध विश्वासों से धर्म की रक्षा करता है। राग धर्म को कोरी बौद्धिकता से उतार कर उसे हृदय पर अवस्थित करता है। क्रिया धर्म की रागात्मक अनुभूति का बाह्य प्रकाशन है। 'सम्पूर्ण विश्व' का अभिप्राय है—विश्व की समष्टि अथवा विश्व की सभी घटनाओं का व्यवस्थित ऐक्य। आकाश-पाताल तक व्याप्त सभी जीवों के प्रति समदृष्टि रखना और सम्पूर्ण विश्व के प्रति अनुक्रियाशील होना ही सर्वांगपूर्ण धार्मिकता है। धर्म के विषय के प्रति पूर्णरूप से आत्मनिवेदित होना 'अन्तर्ग्रसन' है। राम नाम से 'सजल नयन पुलकित गात' होना और रामनाम की निन्दा से तिलमिला जाना ही सच्ची धार्मिक अनुभूति है—'पायउ परम

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, चतुः सूत्री (प्रथम सूत्र)।
२. 'अथातो धर्मजिज्ञासा'—जैमिनिसूत्र (प्रथम सूत्र)।
३. छान्दोग्योपनिषद्, ६/२२; ब्रह्मसूत्र, २/१/११ पर शांकर भाष्य।
४. डॉ० मसीह, समकालीन धर्मदर्शन—पृ० ७

विश्राम न राम समान प्रभु आनहु कहूं ।' तुलसी का 'सीयराममय सब जग जानी' और सूर का 'जित देखूं तित स्याम मई री' तथा मीरा का मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' अन्तर्ग्रस्त धार्मिक अनुभूति के प्रमाण हैं। धर्म का विषय प्रकृतितः 'समाज-समादृत आदर्श' है । यह आदर्श ईश्वर भी हो सकता है और मानव-मूल्य भी । इसीलिए हॉफडिंग ने धर्म को मूल्यों की संरक्षा में विश्वास कहा है।[1] इस प्रकार धर्म का विषय राम-रहीम और केशव-करीम के अतिरिक्त साम्यवाद, मानवतावाद और विज्ञानवाद भी हो सकता है । मानव-मूल्यों की सुरक्षा में सन्नद्ध होने के फलस्वरूप ही जैन धर्म और बौद्ध धर्म को भी धर्म की संज्ञा दी जाती है। धर्म का आदर्श कोरी कल्पना न होकर वर्त्तना की वर्त्तना अथवा यथार्थ का भी यथार्थ है । यथार्थ है, किन्तु अब उसे नहीं होना चाहिए । आदर्श नहीं है और अब उसे ही होना चाहिए । आदर्श जब यथार्थ का रूप ले लेता है, तब उससे भी उत्कृष्ट कोटि का आदर्श प्रगति के पथ को प्रशस्त करने लगता है। विश्व के विकास की यही कहानी है इसीलिए धर्म को विश्व का प्रतिष्ठापक कहा गया है ।

निष्कर्षतः, धर्म सबका उपजीवक और अखिल विश्व का आश्रयस्थल है। आत्मा को स्वस्थ बनाने के लिए मूल्यों का अनुसंधान है, पूर्णता की दिशा में अग्रसर होने का उत्प्रेरक विन्दु है, संस्कृति का एकमात्र उद्गम-स्थल है और ऐहिक एवं पारलौकिक सुख का आधार है ।[2]

'धर्म सत्य है'—यह सम्प्रदाय-दृष्टि है। 'सत्य धर्म है'—यह परमार्थ दृष्टि है। सम्प्रदाय दृष्टि को परमार्थ दृष्टि पर अवस्थित करके ही मानव मूल्यों की रक्षा की जा सकती है और धर्म के नाम पर आये दिन होने वाली विनाशकारी घटनाओं से व्यक्ति और समाज की रक्षा की जा सकती है। 'धर्म सत्य है'—यह दृष्टिकोण सभी अनर्थों का मूल है। इसी आधार पर विश्व के सभी सम्प्रदायगत धर्म अपने को ही सत्य एवं श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और अन्य धर्मों को झुठलाने में सारी शक्ति लगा देते हैं। परिणामतः, विश्व में प्रायः विद्वेष, घृणा, कलह और रक्तपात देखा जाता है । 'सत्य धर्म है इस कथन का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है। 'सत्य' को धर्म मान लेने से जन-जन में प्रेम और शान्ति का संचार होता है, आस्तिक और नास्तिक का मतभेद समाप्त हो जाता है और आस्तिकों का ईश्वर विषयक विवाद भी शान्त हो जाता है । सत्य की शक्ति के सामने नास्तिक भी नतमस्तक हो जाता है । धर्म का 'सत्यस्वरूप' जब ओझल हो जाता है, तब यही 'सद्धर्म' विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त होकर अनाचार का अड्डा बन जाता है । उपनिषद् में 'एक सत्' की प्रतिष्ठा है, जिसे विद्वान् विविध रूपों में निरूपित करते हैं-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।' 'चाहे राम कहो या रहीम कहो, मतलब तो ख़ुदा की चाह से है'—ऐसा कहकर औपनिषदिक वाणी का ही समर्थन किया गया है । महामनीषी तुलसीदास ने भी 'सत्य' को ही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।[3] धर्म का सत्य, विज्ञान का सत्य नहीं है । धर्म का सत्य त्रिकाला बाधित सत्य है—

'त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वं' ।[4] विज्ञान का सत्य दिक्काला‌च्छन्न होने के कारण बाधित सत्य है । विज्ञान जिस सत्य को आज प्रतिष्ठित कर रहा है, विज्ञान का उत्कृष्ट ज्ञान कल उसे मिथ्या भी घोषित कर सकता

1—Religion is faith in conservation of values—Hoffding.

२—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्-सिद्धिः स धर्मः' महर्षि कणाद, वैशेषिक सूत्र ।

३—'धरम न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥ —मानस २ । ९५

४—ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, भूमिका (सत्यानन्दी दीपिका), पृ० ३ ।

है—'ज्ञानवाध्यत्वं मिथ्यात्वं'।[1] तात्पर्यतः, धर्म का सत्य निरपेक्ष अथवा परोक्ष प्रसूत है और विज्ञान का सत्य अथवा प्रत्यक्षजन्य।

सत्य समरस है; अवरोधी है। सम्प्रदायगत धर्म इस सत्य का आत्मसात् करने में अक्षम है। सभी धर्म वास्तव में एक ही सत्य की विविध अभिव्यक्तियां हैं; एक ही वृक्ष के रंग-विरंगे फूल हैं। यदि सभी धर्मों को यह अनुभव होने लगे कि उनके द्वारा धर्म का विवेचन एकदेशीय अथवा आंशिक है तो उनमें परिव्याप्त आपसी विरोध स्वतः शान्त हो जायेगा। वस्तुतः ईश्वर के रूपान्तरण से सत्य के चिरन्तन-स्वरूप में अन्तर नहीं आता है। तत्वतः कोई भी धर्म निकृष्ट नहीं है। धर्म के पीछे निहित उसकी स्वार्थोन्मुखी भावना ही बुरी है। तात्विक धर्म वासना और स्वार्थ के परित्याग का धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते हुए दूसरों के धर्म को विकसित होने का अवसर प्रदान करे, क्योंकि सभी धर्मों के मूल में एक ही सद्धर्म है। भगवद्गीता भी इसी बात को पुष्ट करती है।[2] 'स्वधर्म' आनुवांशिक अथवा सांस्कारिक होता है, जिसे समझना और तदनुकूल आचरण करना अन्य धर्मों की अपेक्षा सहज है। जिस प्रकार मनुष्य घर की भाषा सीख जाता है, उसी प्रकार वह पुस्तैनी धर्म को सहजता से हृदयङ्गम कर लेता है। निश्छल भाव से स्वधर्म का सम्यक् परिपालन करते हुए मनुष्य 'परमसत्' को आत्मसात् कर सकता है। गोस्वामी तुलसीदास का भी यही मन्तव्य है—'सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती'॥ धर्म की प्रकृति वस्तुतः अविरोधी है।[3] 'सर्वधर्म-समभाव' में सही धर्म की झांकी देखने को मिलती है। धर्म के मर्म को वही समझता है, जो सभी धर्मों के मूल में एक ही सत्य का दर्शन करता है। वस्तुतः सम्प्रदायगत धर्म निरर्थक नहीं है, यदि उसके निर्देशन में व्यक्ति सद्धर्म के अनुकूल आचरण करता रहे। मंदिर में जन्म लेना बुरा नहीं है; अपितु मंदिर में ही रहकर मर जाना बुरा है। मूर्ति का महत्व प्रतीकात्मक है, जिसका प्रभाव ऐसे व्यक्तियों की चेतना पर पड़ता है, जिन्होंने मानसिक प्रतिमाओं का प्रयोग करना नहीं सीखा है। प्रतीक अकथनीय का कथन है, अनिर्वचनीय का निर्वचन हैं और दुरनुबोध का अवबोध है। पौराणिक गाथाएँ धर्म के मर्म को समझने में सहायक हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर, पूजा संध्या, नमाज, त्रिशूल, वीणा, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि को 'परम धर्म' समझ लेना अविवेक है।[4] प्रतीक्य क्रमशः प्रतीक का रूप लेता जाता है, जब तक कि 'परमसत्' की सम्प्राप्ति नहीं हो जाती। प्रतीक को प्रतीक्य समझ लेना ही अज्ञान है। निष्कर्षतः, सम्प्रदायगत धर्म प्रतीक हैं और सद्धर्म प्रतीक्य है। अतः सम्प्रदायगत धर्म को 'सद्धर्म' समझना भ्रमात्मक है। सद्धर्म सहअस्तित्व का धर्म है। उसकी प्रवृत्ति 'जिओ और जीने दो' की प्रवृत्ति है। परम सत्य की खोज उसका लक्ष्य है। वह हिंसा, द्रोह, अज्ञान, छद्म और पाखण्ड से मुक्त है। उसे सुष्ठु तर्क का सम्बल मिला है। जिसप्रकार फिटकरी जल की गन्दगी को साफ कर देती उसी प्रकार सुष्ठु तर्क रूढ़ियों का उच्छेदन करके धर्म का प्राञ्जल स्वरूप उजागर कर देता है। कुतर्क धर्म का परिष्कार न करके धर्म का

1—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, भूमिका (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ३

2—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। —भगवद्गीता।

3—धर्मो यो बाधते धर्मं, न स धर्मो कुधर्म तत्। अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसत्तम। —महाभारत

4—When we think of religion, probably a group of things will come to mind, such as churches, prayers, sermons, songs, collections, creeds and rituals, people sitting together quietly, but evidently these things are not religion'—G. T. W. Patrick, Introduction to Philosophy of Religion.

परित्याग कर देता है–'जिमि कुतर्क कर धर्महिं दूरी।'

धर्म 'रेलिजन' (Religion)[1] का समानार्थी नहीं है। रेलिजन लैटिन शब्द 'रेलिगेयर' (Religare) से उत्पन्न है, जिसका शाब्दिक अर्थ बन्धन है। धर्म बन्धन न होकर नियमन है। बन्धन 'परतन्त्रता' का बोधक है और नियमन 'स्वतंत्रता' का। स्वतंत्रता न तो अतंत्रता है और न ही परतंत्रता; अपितु यह ज्ञानतंत्रता है। ज्ञानतंत्रता आत्मानुशासत अथवा आत्मनिर्धारण की अवस्था है, जिसे विकास की आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकारा जाता है। 'रेलिजन' की प्रमुखतः दो मान्यताएँ हैं–(१) दैवीशक्ति के प्रति अनुजा की भावना। (२) एक मजहवी संगठन में संगठित होने की महती उत्कण्ठा।[2] धर्म का कोई मजहवी संगठन नहीं है। यह किसी दैवीशक्ति के प्रति प्रतिवद्ध नहीं। धर्म अनन्त आकाश की तरह व्यापक है, जहां समग्र विश्व विश्राम करता है। 'रेलिजन' रूढ़िपरक होने के कारण संघर्ष, विद्वेष और रक्तपात का प्रेरक हेतु है। धर्म विवेकपरक होने के कारण शान्ति, प्रेम, बन्धुत्व और आनन्द का उत्स है—'धर्मेण सुखमासीत'। घृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, वुद्धि विद्या, सत्य, अक्रोध धर्म के दस लक्षण हैं।[3] कीर्ति, लक्ष्मी, घृति, मेघा, तुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा तथा मति धर्म की दस पत्नियां हैं,[4] जिनके अभाव में धर्म मात्र कर्मकाण्ड अथवा रीति-रिवाज का अड्डा बनकर रह जाता है। शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मुद, स्मय. योग, दम, अर्थ, स्मृति, श्रेय और प्रश्रय धर्म के पुत्र हैं। सद्धर्म के अनुकूल आचरण करने से व्यक्ति को फल के रूप में इन पुत्रों का लाभ होता है। 'रेलिजन' विवेक को मार देता है और अन्धविश्वास में लोगों की रुचि जागृत करके उन्हें प्रसाद, तन्द्रा, काम, क्रोध, लोभ, मोह और कुतर्क का शिकार वना देता है।

सम्प्रदायगत धर्म अविकसित धर्म है। अविकसित धर्म वस्तुतः धर्म ही नहीं है, जिस तरह अध खिली कली फूल नहीं है। यही कारण है कि अधूरी धर्मपरायणता व्यक्ति को गुमराह करती रही है और उसे युद्ध में झोंकती रही है। सम्प्रदायगत धर्म के प्रलयकारी रूप को विश्व ने प्रत्यक्ष देखा है। लोगों ने तलवार के वल पर धर्म का प्रचार किया है, प्रलोभन देकर धर्म-परिवर्तन किया है और ईश्वर की नैकविध मान्यताओं के आधार पर भेद-भाव का वर्त्ताव किया है। विश्वधर्म को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की एक मोटी परत ढ़के हुए है। सभी धर्मों की आत्मा (विश्वधर्म) इसी परत के नीचे क्रन्दन कर रही है। जव धर्म पर रूढ़ियों का आधिपत्य हो जाता है, तव वे अपने छद्म-रूप में समाज के टुकड़े-टुकड़े कर डालती हैं। प्रगति-शील इस्लाम-धर्म ने जव रूढ़ि का रास्ता पकड़ा, तब मानव-रक्षक धर्म मानव भक्षक वन गया। विश्व-वबन्धुत्व के उपदेशक ईसाईधर्म ने जव रूढ़ि के 'अधिनायकत्व' को स्वीकार किया, तब कैथोलिक और 'प्रोटेस्टेन्ट' के संघर्ष के रूप में धर्म वन्धुहन्ता बन गया। नैतिकतावादी वौद्धधर्म जव रूढ़ियों के अधीन हुआ, तव व्रजयान-तंत्रयान के रूप में धर्म और अनैतिकता का प्रचारक वन गया। तात्विक धर्म— नैतिकता जिसका आदर्श है, विवेक जिसका सम्बल है,

---

1—Everyman's Encyclopaedia, Volume X, Fourth Edition (1958), P. 512.

2—Chamber's Twentieth Century Dictionary. (1947)

3—घृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम् ॥—मनुस्मृति।

4—(क) कीर्तिर्लक्ष्मीः घृतिर्मेघा, तुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा।
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव, पत्न्यो धर्मस्य ता दश ॥ —महाभारत ६६।१५

(ख) श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ॥ —श्रीमद्भागवत, ४।१।४९

चरमसत्य जिसका लक्ष्य है और प्रेम जिसका साधन है—विवेकहीन, ज्योतिहीन, रूढ़िपरक, अमानवीय धर्म को कैसे अङ्गीकार कर सकता है ?

धर्म महज रूढ़ियों और रीति-रिवाजों का परिपालन मात्र नहीं है । पण्डित, पुरोहित, पादरी और मौलवी धर्म के मर्म को तो जानते नहीं और कोरे कर्मकाण्ड—उपवास, रोजानमाज, पूजा-पाठ आदि—को ही धर्म मान बैठते है । धर्म के इन अन्ध-भक्तों ने ही धर्म की हानि की है । अंधे कभी अंधों का मार्गदर्शन नही कर सकते । परिणामतः, धर्म का सत्य रूप जन-मानस से निरंतर ओझल होता गया । प्रेम के स्थान पर घृणा, दया के स्थान पर क्रूरता और श्रद्धा के स्थान पर कुतर्क की नींव दृढ़ होती गयी फलतः, समाज अवनीति के गर्त में गिरता गया । धर्मविषयक भ्रान्त धारणाओं ने मानव-मस्तिष्क को जड़ बनाने का प्रयास किया और वैज्ञानिक एवं वैचारिक प्रगति के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न कीं । दुर्भाग्य-वश, इसी घिनौने सम्प्रदायगत धर्म की चपेट में तात्विक धर्म भी आ गया । फलतः, धर्म के प्रति सत्य के आराधकों में एक तरह से विरक्ति की भावना दृढ़तर हो गयी । धर्म के नाम पर लोग नाक- भौं सिकोड़ने लगे । जब धर्म अपने अनुयायियों को चींटियों की परवाह करना सिखायेगा, किन्तु मानस का शोषण करने के लिए उन्हें पूरी छूट दे देगा; जब धर्म अपने समर्थकों के प्रति सदय बनने को कहेगा, किन्तु दूसरे धर्म के अनुयायियों को तलवार की धार से हनन करने की बात को न्यायोचित ठहराएगा, तब हर समझदार व्यक्ति धर्म से घृणा करने लगेगा । बनार्डशॉ का विचार प्रसंगानुकूल है—'किस तरह युद्ध छिड़ते ही गिरिजाघर अपने देश के कार्य को सराहने लगते हैं और जीसस के वचनों को भूलकर युद्ध को भड़काते हैं । यदि युद्ध छिड़ते ही गिरजाघरों को बन्द कर दिया जाय, तो अच्छा हो । उन्हें शान्ति स्थापित होने पर ही खोला जाय ताकि संघर्ष को और भी अधिक खूनी बनाने में गिरिजाघर अपना योगदान न दे सकें ।"[1] ईसाईधर्म से स्वयं निष्कासित होने के बाद टॉलस्टॉय ने अपने उत्तर में लिखा—"प्रारंभ में मैं शान्ति की अपेक्षा रूढ़ियों से प्रेम करने लगा । तत्पश्चात् गिरिजा-घर के स्थान पर ईसाईधर्म मेरा प्रिय बना । आज मैं विश्व की किसी वस्तु से बढ़कर सत्य से प्रेम करता हूँ । [2]

आधुनिक काल में सबसे अधिक दुर्दशा यदि किसी विषय की हुई है तो वह धर्म है । मार्क्स की दृष्टि में 'धर्म सताए हुए प्राणियों का रुदन है, निर्दयी विश्व का हृदय है, नितान्त अध्यात्महीन परिस्थियों की आत्मा है और गरीबों की अफ़ीम है, जिसके नशे में उन्हें लूटा जाता है ।......ईश्वर का विचार विगड़ी हुई सभ्यता की आधार शिला है ।[3] लेनिन ने धर्म को आध्यात्मिक अत्याचार की षडयंत्र कहा है । एंगेल्स ने—'धर्म' शब्द को ही झूठा और सारहीन सिद्ध किया है । तार्किक भाववादी विचारक प्रो० अय्यर ने नैतिकता (धर्म) को सम्प्रत्यय न मानकर प्रत्ययाभास कहा है । व्यवहारवादी मनोविज्ञान का जनक वाट्सन धर्म का मूल ही नष्ट कर देता है और उत्तेजना-प्रतिक्रिया के सूत्र में मनुष्य के सभी व्यापारों को बांधकर मानव-जीवन में पाशविक व्यापारों से पृथक् धर्म को मानता ही नहीं । सिगमण्ड फ्रायड

१—बनार्डशॉ, कॉमनसेनस् ऑव दि वार ।

1—"I began by loving my orthodox faith more than my place, then I began to love Christianity more than my church and now I love Truth more than anything in the world—"
—Tolstoy, Essays and Letters, P. 381

3—"Religion is the sob of the oppressed creatures, the heart of a heartless world, the spirit of condition utterly unspiritual. It is the opium of the poor......The Idea of God is the keystone of a perve rtd civilization"—Marx

4—'Ethical concepts are psuedo' —लैंग्वेज, ट्रूथ एण्ड लॉजिक, डॉवर पब्लिकेशन, पृ० ११२

ने धर्म को 'सामूहिक विक्षिप्तता कहा है।'[1] उसके विचार में धर्म मनस्ताप अथवा मनोव्याधि के सिवा कुछ नहीं है।

धर्म में अनास्था का मूल कारण यह है कि धर्म का सच्चा स्वरूप लोगों के सामने रखा ही नहीं गया। वस्तुतः, धर्म न तो अफ़ीम की गोली है और न ही मनोव्याधि है। यह स्वस्थ मस्तिष्क की खोज है और मानवता की संजीवनी बूटी है। यह सत्य है कि धर्म के नाम पर लोगों को जिन्दा जलाया गया है, लूट-खसोट और शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ाया गया है और धर्म के ठेकेदारों द्वारा स्वार्थ की सिद्धि-हेतु इसका दुरुपयोग किया गया है। फिर भी 'धर्म मानव-जीवन की अमूल्य निधि है।' वास्तव में रूढ़िवादी धर्म को ही अफ़ीम की गोली से उपमित किया जा सकता है, जिसके नशे में गरीबों का शोषण होता रहा है। सम्प्रदायगत धर्म ही सामूहिक विक्षिप्तता अथवा पागलपन का कारण है, क्योंकि जब साम्प्रदायिक धर्म की खुमारी चढ़ती है तब लोग एक दूसरे की हत्या करने में बेसुध हो जाते हैं। धर्म पर जितने आक्षेप लगाये गये हैं, वे धर्म पर टिकते ही नहीं हैं। धर्म व्यक्ति और समाज की सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए है। चाकू दैनिक जीवन में काम आने वाली उपयोगी वस्तु है, धोती तन ढकने के लिए है। यदि चाकू से किसी की हत्या कर दी जाय या धोती से कोई अपना गला घोंटकर आत्महत्या कर ले, तो इसमें चाकू और धोती का क्या दोष है? जब मानव-समाज चाकू और धोती जैसी चीज स्थूल वस्तुओं का दुरुपयोग कर सकता है, तब धर्म जैसी सूक्ष्म वस्तु का यदि वह दुरुपयोग करे, तो आश्चर्य ही क्या है? धर्म को नशा या मानसिक रोग कहकर मानवता के हित में इसे त्यागने की बात कही है। यह आत्मघाती प्रवृत्ति है। यह नाक पर मक्खी बैठने से मक्खी को उड़ाने के बजाय नाक को ही काट डालने-जैसा उपाय है। ऐसा करने से मानवता धर्म के लाभकारी प्रभावों से वंचित रह जायेगी। वस्तुतः, न तो धर्म को खोया जा सकता है और न ही उसके लाभकारी प्रभावों को ठुकराया ही जा सकता है। धर्म कोई स्थूल वस्तु नहीं है, जिसे पाया या खोया जा सके। यह तो हमारी आत्यन्तिक सत्ता है, जिसे भुलाया तो जा सकता है, परन्तु खोया नही जा सकता। धर्म को भूल जाने से ही मनुष्य दुःख-द्वन्द्व में पड़ जाता है।

क्या साम्यवादी विचार ही धर्म का सर्वस्व है? क्या आर्थिक व्यवस्था धर्म का सही विकल्प है? यह सत्य है कि साम्यवाद आर्थिक समस्या के समाधान में एक महत्वपूर्ण कदम है। किन्तु आर्थिक समस्या ही मानव की एकमात्र समस्या नहीं है। आखिर, भौतिक प्रगति का आश्रयस्थल क्या है? क्या बाह्यीकरण से मानव संतुष्ट हो जायेगा? क्या मानव यह प्रश्न नहीं पूछेगा—'कोऽहं, कस्त्वं, कुत आयातः? भौतिक प्रगति का आश्रयस्थल स्वयं भौतिकता नहीं हो सकती, क्योंकि जो प्रकृतितः नश्वर है वह किसी का साध्य नहीं है। अतः, भौतिक प्रगति का पर्यवसान आध्यात्मिकता में होना चाहिए। मनुष्य में आत्मातिक्रमण की सदैव आकांक्षा रही है, जिसके फलस्वरूप वह ईश्वर की शरण में जाता रहा है और सृष्टि के कण-कण में ईश्वर का दर्शन करके जीवन में स्थिरता, सद्भाव और शान्ति का अनुभव करता रहा है। "धर्म का सम्बन्ध सर्वोच्च सत्ता से है, जो स्वरूपतः असामान्य है। असाधारण सत्ता की अनुभूति के लिए मानव की असाधारण शक्तियों का उद्बोधन होना चाहिए। असामान्य अनुभूति मनस्ताप नहीं है। असामान्यता के बिना सर्वोच्च सत्ता के प्रति अनुक्रियाशील होना कठिन है।"[1] विलियम जेम्स के विचार में, धर्म की अनुप्रेरणा से मानव-जीवन की मलिनता दूर होती है, जीवन-संघर्ष में साहस का संचार होता है, जीवन में सार्थकता आती है और आनन्द का अनुभव होने

1—Religion is the mass obsessional neurosis of mankind—Civilization and its Discontents (1930), P 23

लगता है। जिस धार्मिक सत्ता से व्यक्तियों में संघटन, पुनरुज्जीवन और समाकलन संभव हो, क्या उसे काल्पनिक कहा जायेगा ?" यथार्थ जीवन पर यथार्थ प्रभाव डालने वाला धर्म अवश्य ही यथार्थ होगा। धर्म के प्रभाव से डाकू वाल्मीकि कविवर-संत हो गये और कामुक तुलसीदास भक्तवर मनीषी। स्वयं फ्रायड ने धर्म के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि ईश्वर को पिता का प्रतीक मान लेने से वह प्रेम और भरोसा का आधार बन जाता है। प्रेम से कामवृत्ति का उदात्तन होता है और सभ्यता के क्षेत्र में प्रगति होती है। वृत्तियां उदात्त होकर सर्जनकारी बन जाती हैं। यौन-प्रेम विराट् होकर परमात्मा के प्रति असीम अनुराग में ढल जाता है। ईश्वर को प्रेम मान लेने से प्रेम का भूखा मानव प्रेम की वेदी पर सर्वार्पण कर देता है और स्वार्थोन्मुखी प्रवृत्तियों से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार धर्म वैयत्तिक जीवन की परिष्कृति है। धर्म की शरण में जाने से आज भी अनेक मनस्तापियों में आत्मबल, आत्मविश्वास और जीवन की उलझनों के प्रति अभियोजन-क्षमता आ जाती है। ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, और नित्य मान लेने से मनुष्य कुत्सित कर्म करने का दुस्साहस नहीं करता। 'नैतिक संस्थान' (जहां कर्मों का लेखा-जोखा होता है) की सत्ता में आस्था रखने से मनुष्य की सत्कार्य में रुचि होती है और वह स्वार्थ एवं वासना की परिधि से ऊपर ऊठकर समाज- कल्याण में अभिरत होता है, क्योंकि अब उसे ज्ञान हो गया कि वर्तमान जीवन के सत्कर्मों के आधार पर भावी जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है। धर्म के संस्पर्शन से ही विज्ञान मानव-जीवन का भूषण बन सकता है। इसीलिए महात्मा गांधी कहा करते थे कि—"वैज्ञानिक प्रगति के पूर्व धार्मिक प्रगति अत्यावश्यक है।' राधाकृष्णन् ने धर्म की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा है—"धर्म आत्मानुशासन है और बुराइयों से लड़ने की प्रेरणा है। धर्म लोभ और घृणा से मनुष्य की रक्षा करता है और उसमें नैतिक बल को जन्म देकर विश्व की संरक्षा-हेतु साहस का संचार करता है।"[1] कार्लयुंग के विचार में, "धर्म बाल्यावस्था की ओर प्रत्यावर्त्तन है। जैसे बालक अपने पिता पर आश्रित रहकर निश्चिंतता का अनुभव करता है, वैसे भक्त भी ईश्वर की शरण में जाकर समस्त मानसिक तनावों से मुक्त होना चाहता है। रामानुज-दर्शन में इसे 'मार्जारकिशोरन्याय' की संज्ञा दी गयी है।

युंग की दृष्टि में वास्तविक धर्म आत्मसंवर्धन का धर्म है। वह सम्पूर्णत्ववृत्ति के सफल होने को धार्मिकता कीं संज्ञा देता है। इस महान् आदर्श का बीज प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित है। प्रारंभ में यह आदर्श पिता रूप में था। बाद में 'टोटम' और कालांतर में चलकर एकेश्वर के रूप में परिणत हो गया। एकेश्वर से भी उच्चतर आदर्श की खोज अभी जारी है। सम्पूर्णत्व की सम्प्राप्ति हेतु बेचैनी, व्याकुलता अथवा मनस्ताप स्वाभाविक है। यह मनस्ताप स्वाभाविक है। यह मनस्ताप धर्म का आदि है। अन्त नहीं। "अभी तक कोई भी मनस्तापी ऐसा नहीं मिला है, जिसके मनस्ताप का अन्तिम समाधान धार्मिक अनुभूति के बिना हुआ हो।"[2] पुनः, "जो अनुभूति जीवन को सार्थक, सुन्दर और शोभनीय बनाये और जीवन में स्थिरता और शान्ति का संचार करे, उसे भ्रम कहने का अधिकार किसे है ?"[3]

---

1. Religion is the discipline which touehes the conscience and helps us to struggle with evil and sordidness, saves us from greed and hatred, releases moralpower and imparts courage in the enterprize of saving the world'—Radhakrishnan, Religion and Society, P. 242
2. Jung : Modern Man In Search Of A Soul, P. 259
3. Jung ; Psychology and Religion, P 113

धर्म पुरुषार्थ का मेरुदण्ड है। धर्म ही अर्थ एवं काम का विधायक और मोक्ष का प्रदाता है। धर्म सम्मत अर्थ और काम ही निष्काम कर्म है, जो मोक्ष की आधारशिला है। धर्म-दृष्टि से ही योगी कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है। तात्पर्यतः धर्म उस बहुदलीय पुष्प के सदृश्य है, जो अर्थ और काम रूपी पंखुड़ियों को सुनियोजित करके मोक्ष-सौरभ विखेरता है। धर्म इहलोक का नियमन करते हूए परलोक के साथ व्यक्ति को जोड़ देता है। इस प्रकार धर्म प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक विचारों को समन्वित करने का एक सफल प्रयास है, जहां पशुत्व और देवत्व का संगम होता है। धर्म के अभाव में अर्थ और काम-सम्वन्धी एषणाएं निरर्थक हैं—धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।' महाभारस।

धर्म एक गत्यात्मक अवधारणा है। धर्म का अन्तस स्थिर है; चिरन्तन है। किन्तु युगानुरूप उसकी काया वदलती रहती है। डॉ० भगवानदास के विचार में, "विविध देशों और कालों के चक्र में जो एक ही द्वन्द्वात्मक महानियम को चक्कर लगाते देखते हैं, वे ही विद्वान् हैं।"[1] दान देना धर्म है। दया भी धर्न है। किन्तु रोगी के अनुनय-विनय पर दया से द्रवित होकर उसे कुपथ्य देना अधर्म हैं। दान और दया स्वरूपतः सार्वदेशिक और सार्वकालिक धर्म हैं। किन्तु व्यवहार में उनके प्रयोय का तरीका परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। माता, पत्नी, पुत्री और वहन सभी का नित्य-धर्म 'नारीत्व' है। किन्तु उनके नारीत्व-धर्म का व्यावहाहिक रूप एक-दूसरे से भिन्न है। एक ही नारी माता, पत्नी, बहन और पुत्री के रूप में भिन्न-भिन्न आचरण करती है। जैनियों के अनुसार भी धर्म और अधर्म क्रमशः गति और स्थिति के कारण हैं। गतिशीलता ही जीवन है और स्थिरता मृत्यु। इस प्रकार धर्म जीवन है और अधर्म विकसनशील जीवन का शत्रु है।

व्यवहारतः, धर्म के दो पहलू हैं—निरपेक्ष धर्म और सापेक्षधर्म। निरपेक्षधर्म नित्य, शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। स्थिति, स्वभाव, वर्ण आश्रम और आयु के अनुसार धर्म का व्यावहारिक रूप बदलता रहता है। पिता का धर्म का व्यावहारिक रूप बदलता रहता है। पिता का धर्म पुत्र के धर्म से, माता का धर्म पत्नी के धर्म से, ब्राह्मण का धर्म क्षत्रिय के धर्म से, गृहस्थ का धर्म ब्रह्मचारी के धर्म से और शिशु का धर्म वृद्ध के धर्म से भिन्न होता है। शिशु का तुतलाना अच्छा लगता है। वृद्ध का तुतलाना नही। मनुष्यता सभी में अनुगत नित्यधर्म है। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई और पति के रूप में भिन्न-भिन्न आचरण करता है। हिंसा स्वरूपतः बुरी है। वैदिक काल में 'वैदिकीहिंसा' को हिंसा नहीं माना जाता था। क्योंकि यज्ञ में पशु का प्रवेश मात्र चमत्कार था। बाद में चलकर मूर्ख लोग भी इस प्रकार का यज्ञ करने लगे, जिससे हिंसा वढ़ने लगी। इसीलिए बौद्ध-काल में वैदकी हिंसा को भी हिंसा कहा गया। प्राचीन भारत में यज्ञ ज्ञान और योग को ही धर्म समझा जाता था। मध्य-युग में भक्ति को धर्म कहा गया और वर्तमानयुग में जन-सेवा को धर्म की कोटि में रखा गया है।

१—समानं नियमं चैकं विधिं जगति सर्वदा।
सर्वत्र आवर्त्तमानं ये पश्यन्ति ते हिपण्डिताः॥ पुरुषार्थ, सस्ता साहित्य-मण्डल प्रकाशन पृ० २७९।

धर्म को लोगों के आचरण से निष्कार्षित मानना धर्म के वास्तविक स्वरूप को विकृत करना होगा। वास्तव में प्रत्येक आचरण आदर्श बनने के पूर्व धर्म की कसौटी पर कसा जाता है। यदि धर्म मात्र आवेगात्मक आचरण है तो वह वैयक्तिक सुविधा बनकर रह जायेगा। ऐसे धर्म के प्रति विवेकी प्राणी में सार्वभौम आदेश के रूप में असीम श्रद्धा जगाने का हमें क्या अधिकार रह जायेगा? किन्तु जिसे धर्म का तनिक भी ज्ञान है, वह जानता है कि धर्म एक अनिवार्यता है, जो सभी विवेकियों से अनिवार्य रूप में अपना पालन करवा लेता है। धर्म को परखने की क्षमता प्रातिभदृष्टि में है, चर्मदृष्टि में नहीं। सत्य का सत्यापन बहुमत से न होकर विकसित प्रतिभा के आधार पर होना चाहिए।

सापेक्षधर्म वास्तव में निरपेक्षधर्म के विविध प्रयोग हैं। 'अवश्य कर्तव्यता' के भाव के रूप में निरपेक्ष धर्म सभी धर्मों में अनुगत है। अवमूल्यन केवल सापेक्ष-धर्म का होता है। पुनर्मूल्याङ्कन हेतु निरपेक्ष धर्म सभी धार्मिक प्रतिमानों में नित्य ही प्रवहमान है। यही धर्म का तात्विक स्वरूप है।

—दर्शनशास्त्र विभाग
गनपतसहाय महाविद्यालय
सुलतानपुर।



वंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोइ ॥
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल बिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु ॥
—मानस

केवल बुद्धि की ही बुद्धि होने से मनुय बहुधा हृदय शून्य हो जाता है। दया, प्रेम, शान्ति आदि हृदय के सात्विक गुण हैं। वे बुद्धि के प्रखर तेज से झुलस जा सकते हैं

-विवेकानन्द

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका । भये नाम जपि जीव बिसोका ।।
बेद पुरान संत मत एहू । सकल सुकृत फल राम सनेहू ।।

निन्दा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमन्दिर सुखपुंज ॥

परिशिष्ट

तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विज्ञान-धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ ॥

धन्य देश सो जहं सुरसरी । धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी ।
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ।।
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी । धन्य पुण्यरत मति सोई पाकी ।
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा । धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ।।
सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्री रघुवीर परायन, जेहिं नर उपज विनीत ।।

-मानस

धर्मप्राण महा मनस्वी



श्री किशनलाल रासीवासिया

वात्सल्य मूर्त्ति



श्रीमती रुक्मिणी देवी रासीवासिया

'रामचरित मानसभवन ट्रस्ट' : प्रगति के बढ़ते चरण

० राधेश्याम अग्रवाल

मानसभवन के निर्माण के संकल्प का जो शुभ संयोग है, वह श्री रामजन्मभूमि मंदिर के विवाद से सम्बन्धित है। विवादग्रस्त श्री रामजन्मभूमि के प्रमुख वादी ठा० गोपाल सिंह 'विशारद' हैं, जो हिन्दुओं के इस श्रद्धाकेंद्र को उनके पक्ष में मुक्त कराने के लिए मुकदमे की पैरवी के निमित्त धर्मानुरागी महानुभावों से मिलते रहते थे। धर्मप्राण नागरिकों एवं उदारमना श्रेष्ठिवर्ग से सक्रिय सहयोग और आर्थिक समर्थन इस पवित्र कार्य के लिए प्राप्त करना सदैव उनका लक्ष्य रहा है। इस प्रयोजन से बरावर सेठ श्री जयदयाल जी गोयनका तथा सेठ श्री युगलकिशोर बिड़ला से वे मिलते रहते थे। सन् १९५८ ई० में, चैत के महीने में, विशारद जी तीन मास के लिए ऋषिकेश पहुंचे और वहाँ सेठ श्री जयदयाल जी गोयनका से बात की। प्रसंगवशात् गोयनका जी ने विशारद जी से यह अभिलाषा व्यक्त की कि जिस प्रकार अपने विशिष्ट धर्मग्रन्थ श्रीमद्-भगवद्गीता के नाम पर गोरखपुर में गीताभवन की स्थापना की गई है उसी प्रकार परम-पवित्र ग्रन्थ श्रीराम-चरितमानस के नाम पर अयोध्या में एक मानसभवन की स्थापना की जा सके तो बड़े हर्ष की बात होगी। इस सुझाव से प्रेरित और प्रभावित होकर ठा० गोपाल सिंह विशारद और श्री श्रीराम रस्तोगी ने श्री राम-जन्मभूमि के अखण्ड कीर्तन के संचालक बाबा राम-लखन शरण के सामने यह प्रस्ताव रखा। बाबा जी ने श्रीरामजन्मभूमि से लगी हुई थोड़ी सी भूमि सन् १९५५ में ही खरीदी थी। यह तय पाया कि इस भूमि का उपयोग मानसभवन के लिए कर लिया जाय। विशारद जी ने तथा रस्तोगी जी ने बाबा रामलखनशरण से एक ट्रस्ट लिखवा लिया। इसी ट्रस्ट का नाम है 'श्रीरामचरितमानसभवन ट्रस्ट'। मानसभवन के निर्माण और प्रबन्ध का पूरा भार इसी ट्रस्ट पर रहा है और आज भी है। इस ट्रस्ट की पहली बैठक २७-९-१९५८ को हुई जिसमें सेठ श्री जयदयाल जी गोयनका को इस ट्रस्ट का प्रधान; श्री के० के० नायर को उपप्रधान, मुझे (राधेश्याम अग्रवाल) को मंत्री तथा श्री श्रीराम रस्तोगी को कोषाध्यक्ष चुना गया। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मानुरागी प्रतिष्ठित लगभग १० महानुभाव इसके ट्रस्टी बने। इनमें श्री घनश्यामदास जालान, श्री सालिकराम रस्तोगी तथा बाबा रामलखन शरण. ठा०गोपाल सिंह 'विशारद' आदि प्रमुख थे।

ट्रस्ट बनने के बाद लगभग ५ वर्षों तक भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। इसी बीच ट्रस्टी श्री घनश्यामदास जी जालान का स्वर्गवास हो गया और १९ मई १९५९ को इस स्थान पर स्व० जालान जी के पुत्र श्री रामदास जालान जी को रिक्त स्थान पर ट्रस्टी बनाया गया। सन् १९६४ में सेठ श्री जयदयाल गोयनका जी की मृत्यु के कारण प्रधान का पद रिक्त हो गया और इस पद पर रायबहादुर श्री रामप्रसाद जी राजगढ़िया को चुना गया। भवन निर्माण सम्बन्धी सक्रियता १९६४ से शुरू हुई। श्री राजगढ़िया जी के साथ मैं भी पर्याप्त सक्रिय हुआ और

भवन का शिलान्यास कराया गया तथा निर्माण कार्य आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम गोरखपुर निवासी जालान परिवार के सहयोग से कमरे बनने आरम्भ हुए। सामने एक कमरा श्री रामदास जी जालान का बना और फिर उसी क्रम में ४-५ कमरे बने। जब निर्माणकार्य चल निकला तो एक-दो वर्ष में ही ऐसा लगने लगा कि मानसभवन के कल्पित स्वरूप को आकार देने के लिए भूमि कम है। परिणाम स्वरूप २१ जून १९६६ को श्री इम्तियाज अहमद, श्री अहमद हुसेन और श्री अमानत अली तथा श्री जौहरअली से आस-पास की भूमि खरीदी गई। इस भूमि में एक कुएँ का निर्माण कराया गया। श्री सालिकराम रस्तोगी तथा श्री कन्हैयालाल जालान इस दौर में धनसंग्रह और निर्माणयोजना में वहुत अधिक दत्तचित्त रहे।

इस प्रकार मानसभवन का निर्माण और विकास चलता रहा। श्री रामजन्मभूमि के ऐतिहासिक स्थल पर वन रहे इस भव्य भवन को लोकप्रियतापूर्ण चर्चा बढ़ती रही और इस कार्य को देखने वाले तथा इसके बारे में सुनने वाले लोग प्रभावित होते रहे। २९-३-६९ को रस्तोगी जी के रिक्तपद पर श्रीरामदास जालान को इस ट्रस्ट का कोषाध्यक्ष वनाया गया। सन् १९७० में श्री किशनलाल जी रासिवासिया का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। श्री युगल किशोर जालान के प्रयत्न से तिनसुखिया से चार कमरों के निर्माण के लिए धनराशि प्राप्त हुई। अब तक भवन की भूमि वाली मंजिल वन चुकी थी और इस सहयोग से उसके ऊपर वालो मंजिल वननी शुरू हुई। श्री जयदयाल जी डालमिया के अनुग्रहपूर्ण सहयोग से एक सत्संग हाल वना। सन् १९७२ में श्री सागरमल जालान जी के प्रयत्न से, उन्हीं की देख-रेख में, एक वाटिका का निर्माण स्व० 'भाईजी' श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी की स्मृति में सम्पन्न हुआ।

२५ अक्तूवर १९७२ को श्री रामप्रसाद जी राजगढ़िया के त्यागपत्र के कारण रिक्त पद पर कलकत्ता के माननीय एटर्नी श्री भगवतीप्रसाद जी खेतान को ट्रस्ट का प्रधान चुना गया और श्री रामगोपाल जी थरड़ को संयुक्त मन्त्री मनोनीत किया गया। इस वर्ष से भवन निर्माण कार्य में और तेजी आई। श्री रामगोपाल जी थरड़ के प्रयत्न से एक विशाल टंकी के निर्माणार्थ आर्थिक सहयोग वागड़िया चैरिटी ट्रस्ट से प्राप्त हुआ, जिसमें श्री द्वारका प्रसाद जी वागड़िया की अनुकम्पा विशेष उल्लेखनीय है। इस टंकी के निर्माण से मानसभवन में जल का संकट समाप्त हो गया। इसके पूर्व यहां रहने वालों को तथा यात्रियों को नगरपालिका की जलापूर्ति पर निर्भर रहना पड़ता था।

श्री भगवती प्रसाद खेतान जी के सभापतित्व में मानसभवन का निर्माण कार्य और बढ़ा। १९७४ में श्री खेतान जी १ मास तक अयोध्या में रहे और पूर्ण मनोयोग से मानसभवन की समस्याओं को देखा तथा उनका निराकरण किया। पटना के निवासी श्री खेमचन्द्र चौधरी तथा श्री बनारसीलाल सर्राफ ने मानसभवन के प्रति बड़ी सदाशयता दिखायी। चौधरी जी के निधन से तो मानसभवन को विशेष क्षति का अनुभव हुआ। सन् १९७७ में मानसभवन के अनन्य शुभचिंतक श्री सालिकराम रस्तोगी का भी निधन हो गया। इसी वर्ष मानसभवन के उपप्रधान श्री के०के० नायर का भी स्वर्गवास हो गया। इन सब घटनाओं से मानसभवन को अपूरणीय क्षति हुई। कलकत्ते के श्री शिवराम बेरिवाल जो, श्री श्रीकिशन वेरीवाल अतिथि भवन के संस्थापक है, को मानसभवन ट्रस्ट का उप प्रधान बनाया गया। इसका समर्थन बावा रामलखन शरण ने किया। ५-८-१९७९ की बैठक में नियमावली पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ और उसे अन्तिम रूप दिया गया। संयुक्त मन्त्री श्री रामगोपाल जी थरड़ के प्रयत्न से मानसभवन के सामने के भव्य गेट का निर्माण पन्ना देवी बाजोरिया ट्रस्ट द्वारा हुआ। इस सहयोग के लिए श्री उमाशंकर जी बाजोरिया का आर्थिक औदार्य उल्लेखनीय है। सन् १९८० ई० में श्री रामगोपाल जी थरड़ का देहावसान हो गया। मानसभवन के

श्री रामचरितमानस भवन की जल--संचयिका (टंकी)



श्री द्वारिका प्रसाद बगड़िया, कलकत्ता, के सौजन्य से निर्मित

उत्थान के लिए सक्रिय सहयोग देने वाला एक और व्यक्तित्व नहीं रहा।

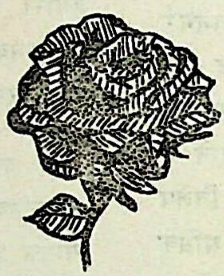
विभिन्न क्षेत्रों से दौड़धूप करके मैंने मानसभवन के लिए जो धनराशि एकत्र की उसमें कई सदस्य महानुभावों की प्रभावशाली मध्यस्थता से मुझे बड़ा बल मिला। आज इस अवसर पर मैं उन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ। श्री गनपतराय बजाज ने असम में, प्रभुदयाल जी क्याल ने कटक से, श्री रतनलाल एडवोकेट ने गोंडा-वहराइच से तथा श्री सीताराम जी केजड़ीवाल ने जयनगर दरभंगा तथा मुजफ्फरपुर से, श्री नारायण प्रसाद साबू जी ने रांची और रामगढ़ से व्यापक आर्थिक सहयोग दिलाया। ट्रस्ट को ४०% की छूट उपलब्ध कराने में गोंडा निवासी श्री रतनलाल एडवोकेट की विशेष भूमिका रही है। इधर के तीन वर्षों में सबसे अधिक सहयोग माननीय श्री शिवराम बेरीवाला जी ने दिलाया, जिससे मानसभवन का बहुत सा अधूरा कार्य पूरा हुआ। एक बड़ भोजनालय कक्ष का निर्माण तथा चार अन्य फ्लैट्स के निर्माण के सहयोग का श्रेय सीधे-सीधे बेरीवाला जी का है। आपके पुत्र श्री श्यामसुन्दर बेरीवाला ने मेरे साथ जाकर दिल्ली से मानसभवन के लिए बहुत सहयोग दिलाया। दिल्ली क्षेत्र से सहयोग पाने में श्री शिवशंकर जी भरतिया तथा श्री रतनलाल जी बंसल की विशेष भूमिका रही श्री रामनाम मन्दिर के निर्माण में श्रीमती शान्तीदेवी बाजोरिया ने अर्थदान दिया। श्री कांचीपुरम् के परम पूज्य जगद्गुरु जी ने बड़ी कृपापूर्वक रामनाम का अमूल्य संग्रह भेंट किया। श्री रामनाम मन्दिर का रामनाम भवन तथा, रामकथा सम्बन्धी आकर्षक भित्ति चित्रण यात्रियों के लिए विशेष आकर्षण का विषय है। नियमित अयोध्यावास करते हुए मानसभवन की नित्य देखरेख करते रहने वाले बाबू सागरमल जालान तो मानसभवन के बहुमुखी विकास और प्रबन्ध के प्रमुख सूत्रधार और सलाहकार ही हैं। आपने स्वयं भी बहुत निर्माण कराया है। अयोध्या के कई महत्वपूर्ण स्थानों को नवजीवन प्रदान करने वाले बाबू सागरमल जालान की कर्मठता को सम्पूर्ण अयोध्यावासी संत, गृहस्थ तथा बाहर से आये हुए धर्मप्राण यात्री सराहते हैं। आप आज भी मानसभवन के अधिकाधिक विकास का उपक्रम करते रहते हैं - मानस और मानसकार के प्रति आपकी अगाध आस्था है, जो मानसभवन के लिए सम्बल बनी हुई है। आपने कनकभवन और वशिष्ठकुण्ड के जीर्णोद्धार और सुन्दरीकरण का जो प्रशंसनीय कार्य किया है वह हमारी आंखों के सामने है। बहन गंगाबाई जी भी मानसभवन में बराबर रहती हैं और यात्रियों का बड़ा ध्यान रखती हैं।

यात्रियों की सेवा तथा सुख-सुविधा के लिए मानसभवन में साफ-सुथरे आधुनिकतम साधनों से सम्पन्न छोटे और बड़े कमरे उपलब्ध हैं। कक्षों की कुल संख्या ७५ से भी अधिक है। बड़े कमरों में शौचालय संलग्न है तथा स्नानागार और रसोई घर भी हैं। कई कक्षों को पूजागृहों से भी संयुक्त किया गया है। सात्विक शाकाहारी भोजन की व्यवस्था भी भोजनालय के द्वारा यात्रियों के लिए की जाती है। कमरे चार बड़े-बड़े कक्ष हैं जिनमें पूरी-पूरी बस के यात्री ठहर सकतेहैं। सोने के लिए तख्ते दिये जाते हैं, कमरों में २४ घंटे पानी की आपूर्ति रहती है। बिजली के लिए हमें अवश्य विद्युत विभागीय आपूर्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। एक जेनरेटर यदि दानी बन्धुओं की सदाशयता से मिल जाय तो यह समस्या हल हो जाये। बर्तन और विस्तर का भी जितना संग्रह होना चाहिए अभी नहीं हो पाया है। भवन के आंगन में मारबिल लगना बाकी है, ऊपर रेलिंग का काम बाकी है। इन अवशेष कार्यों के लिए हम धर्मप्राण समृद्ध बन्धुओं से अपील करते हैं कि वे इस पवित्र कार्य की पूर्ति में योग देकर श्रेय के भागी बनें।

भवन में राम-नाम मन्दिर के सामने एक भव्य मन्दिरका निमाण हो रहा है इसमें राम-लक्ष्मण-जानकी तथा पार्वती-शंकर और हनुमानजी की भव्य मूर्तियों

की प्रतिष्ठा होनी है । यह कार्य श्रीमती रुक्मिणी देवी रासिवासिया धर्मपत्नी श्री किशनलालजी रासिवासिया तथा सरस्वती देवी रासिवासिया और पुष्पादेवी रासिवासिया, के विशेष सहयोग से हो रहा है । मानस भवन का यह संक्षिप्त वृत्त प्रस्तुत करते हुए हम अंत में फिर उन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक साधुवाद ज्ञापित करते हैं जिन्होंने मन-वचन-कर्म से तथा धन से इसके अभ्युदय में अपना प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग दियां है तथा सबसे अपील करते हैं कि अवशिष्ट कार्य की पूर्ति के लिए उदारता से सहयौग दें और अक्षय पुण्य के भागी बनें ।

यतो धर्मस्ततो जय: ।



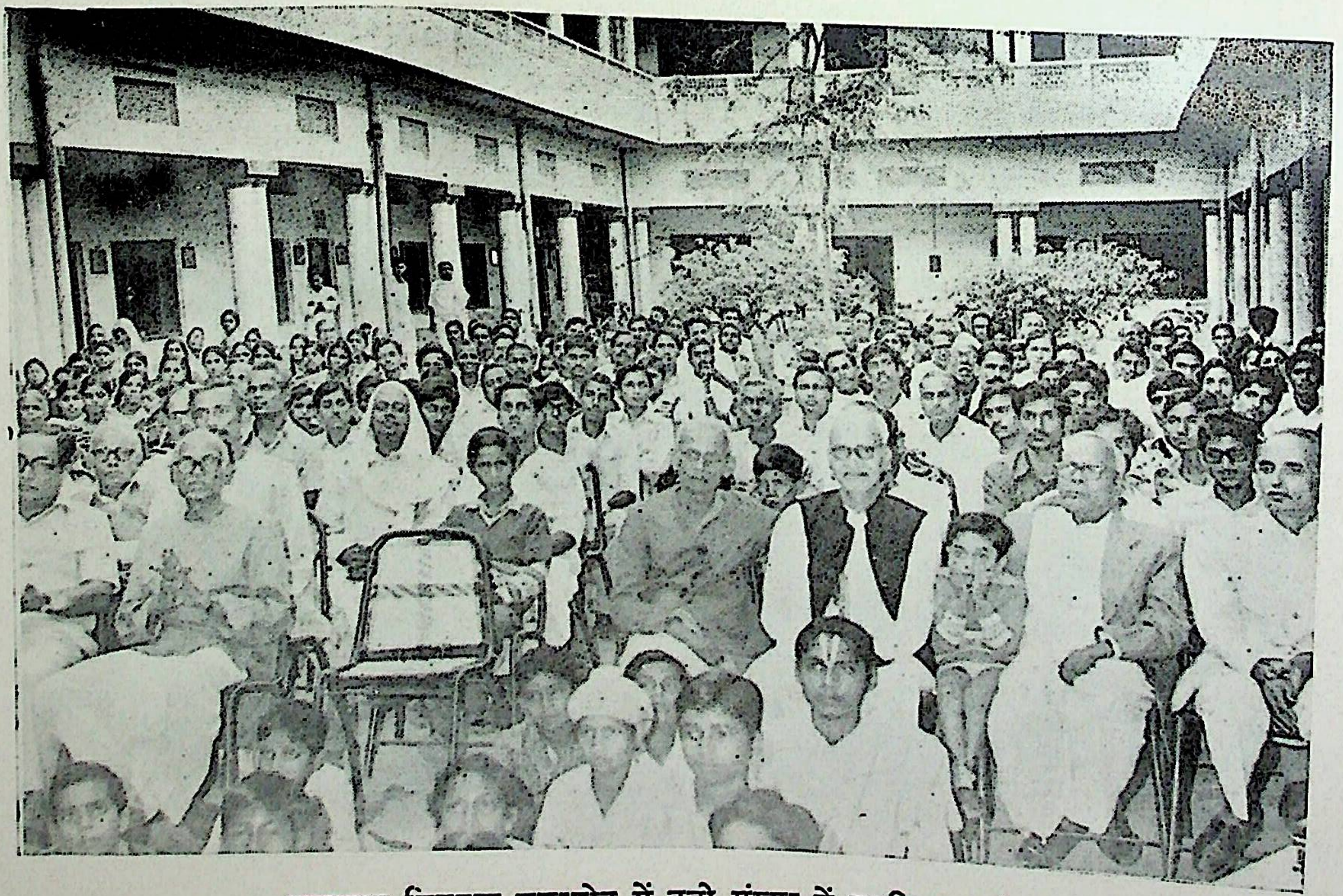
सुनहु सखा, कह कृपानिधाना । जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल विवेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजन सारथी सुजाना । विरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा । बर विज्ञान कठिन कोदण्डा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना । एहि सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुरुपूजा । सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीत न कहं न कतहुं रिपु ताके ॥
महा अजय संसार रिपु, जीति सकई सोइ वीर ।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर ॥

-मानस



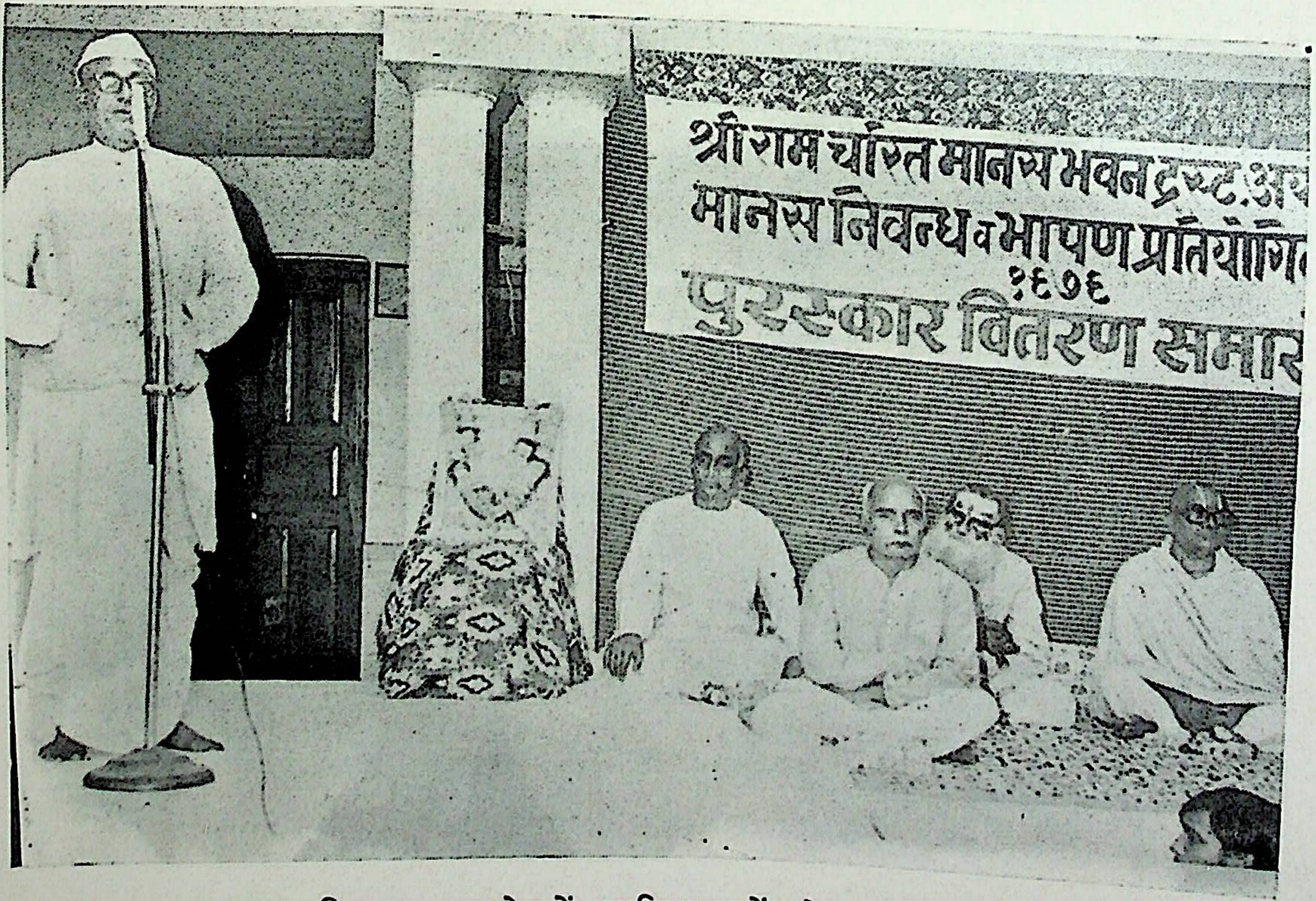
मानस निबन्ध व भाषण प्रतियोगिता (१९७९) में पुरस्कार वितरण करते हुए
श्री कन्हैया लाल जी दुगड़

मानस निबन्ध–भाषण प्रतियोगिता, १९७९



पुरस्कार वितरण समारोह में बड़ी संख्या में उपस्थित दर्शक

मानस निबन्ध-भाषण प्रतियोगिता, १९७९



पुरस्कार-वितरण समारोह में उपस्थित जनों को सम्बोधित करते हुए
समारोह के प्रमुख वक्ता आचार्य राजदेव मिश्र

मानस निबन्ध-भाषण प्रतियोगिता, १९७९



विजय-वैजयन्ती प्राप्त करती हुईं छात्राएं

मानसभवन में आयोजित
मानस-निबन्ध-भाषण प्रतियोगिताएँ

प्रस्तुतकर्ता ० जगदीशनारायण 'पंकज'

श्रीरामचरित मानस लोकधर्म का सन्देश वाहक है। उससे अधिक से अधिक परिचित होना हमारे लिए परम श्रेयस्कर है। मानसभवन ने इसे ध्यान में रखकर सन् १९७९ से मानस-विषयक एक निवन्ध-भाषण प्रतियोगिता प्रारम्भ की है, ताकि किशोरावस्था से ही विद्यार्थी इस अमूल्य ग्रन्थरत्न के सत्प्रभाव से लाभान्वित हो सकें। यह प्रतियोगिता दो स्तरों की होती है, लघुमाध्यमिक स्तर की प्रतियोगिता में कक्षा ६ से ८ तक के छात्र भाग लेते हैं तथा माध्यमिक स्तर की प्रतियोगिता में कक्षा ९ से कक्षा १२ तक के विद्यार्थी भाग लेते हैं। अब तक हुई प्रतियोगिताओं में फैजाबाद तथा अयोध्या नगर के विद्यालयों को भाग लेने हेतु आमन्त्रित किया जाता रहा। प्रत्येक विद्यालय से प्रधानाचार्य द्वारा प्रेषित दो-दो विद्यार्थी निबन्ध एवं भाषण प्रतियोगिता में सम्मिलित किए गये। निवन्ध और भाषण का विषय लगभग १५ दिन पूर्व ही प्रतियोगियों के सम्बन्धित विद्यालयों के माध्यम से सूचित कर दिया जाता है। निबन्ध की परीक्षा के साथ मानस सम्बन्धी सामान्य ज्ञान का एक प्रश्न-पत्र हल कराया जाता है। दोनों स्तर की दोनों प्रकार की प्रतियोगियों में अलग अलग प्रतियोगियों द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर वरिष्ठता सूची बनती है तथा प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान पाने वाले प्रतियोगियों को पुरस्कृत किया जाता है। विद्यालयों में आये हुये दोनों प्रतियोगिताओं द्वारा प्राप्त अंकों के योग के आधार पर प्रथम तथा द्वितीय स्थान पर आने वाले विद्यालयों को विजेता तथा उपविजेता वैजयन्ती प्रदान की जाती है।

मानस भवन में प्रतियोगिताएँ दो बार क्रमशः १९७९ तथा १९८० ई० में आयोजित की जा चुकी हैं और इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा लोगों द्वारा की गई है। निश्चय ही यह प्रतियोगिता बच्चों में मानस के प्रति अभिरुचि जगाने में बहुत सफल रही है।

सन् १९७९ ई० में आयोजित प्रतियोगिताएँ दि० २१, २२, २३ नवम्बर का सम्पन्न हुईं, जिनका परिणाम इस प्रकार रहा :-

लघुमाध्यमिक मानस-निबन्ध प्रतियोगिता :-

प्रथम- आनन्द प्रकाश राय
द्वितीय-अजेश कुमार गुप्त
तृतीय-प्रताप नारायण सिंह
विजेता विद्यालय-सरदार गनपतराय विद्यामन्दिर रानोपालो, अयोध्या
उपविजेता विद्यालय-अनिल सरस्वती विद्यामन्दिर साकेत, फैजाबाद

लघुमाध्यमिक मानस भाषण प्रतियोगिता :-

प्रथम- आनन्द प्रकाश राय
द्वितीय-अभय कुमार श्रीवास्तव
तृतीय-कु० मंजू सिंह

विजेता विद्यालय- सरदार गनपत राय सरस्वती विद्यामन्दिर, रानोपाली, अयोध्या

उपविजेता विद्यालय-राजकीय इन्टर कालेज, फैजाबाद

माध्यमिक मानस-निबन्ध प्रतियोगिता :-

प्रथम- सम्पूर्णानन्द पाण्डेय

द्वितीय-जय प्रकाश चतुर्वेदी

तृतीय-माया त्रिपाठी

विजेता विद्यालय- आर्य कन्या इन्टर कालेज, फैजाबाद

उपविजेता विद्यालय-राजकरन वैदिक इंटर कालेज फैजाबाद

माध्यमिक मानस-भाषण प्रतियोगिता :-

प्रथम- कु० मुकुल मौर्य

द्वितीय-कु० ममता खरे

तृतीय-कु० सविता वर्मा

विजेता विद्यालय- आर्य कन्या इण्टर कालेज, फैजाबाद

उपविजेता विद्यालय-साहबदीन सीताराम बालिका विद्यालय, फैजाबाद

उक्त प्रतियोगिता का पुरस्कार वितरण समारोह दिनांक २५ नवम्बर को सम्पन्न हुआ। विभिन्न विद्यालयों के छात्र-छात्राओं द्वारा आकर्षक कार्य-क्रम प्रस्तुत किये गये। समारोह के प्रमुख वक्ता थे आचार्य राजदेव मिश्र तथा पुरस्कार वितरण कार्यक्रम के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल जी दुगड़ जो उपकुलपति विश्वविद्यालय राजस्थान ने किया।

सन् १९८० में आयोजित प्रतियोगितायें दिनांक ८, ९, १० दिसम्बर को सपम्न हुई। इस प्रतियोगिता का परिणाम निम्नलिखित रहा :-

लघुमाध्यमिक मानस निबन्ध प्रतियोगिता

प्रथम- आनन्द प्रकाश राय

द्वितीय- श्री चन्द्रकान्त श्रीवास्तव

तृतीय- श्री हेमन्तकुमार शर्मा

विजेता विद्यालय-अवध विद्यामन्दिर, अयोध्या

उपविजेता विद्यालय-सरदार गनपतराय विद्यामंदिर, अयोध्या।

लघुमाध्यमिक मानस भाषण प्रतियोगिता

प्रथम-कु०सुरभि गुप्ता

द्वितीय-श्री विमलकुमार श्रीवास्तव

तृतीय-कु० अजय लक्ष्मी

विजेता विद्यालय-आर्यकन्या इ० का०, फैजाबाद।

उपविजेता विद्यालय- लक्ष्मण बाल-विद्यामन्दिर, अयोध्या।

माध्यमिक मानस निबन्ध प्रतियोगिता

प्रथम- कु० अर्चना

द्वितीय- श्री ओंकारनाथ शुक्ल

तृतीय- श्री व्योमेश कुमार

विजेता विद्यालय- राजकरन वैदिक इ० का०, फैजाबाद।

उपविजेता विद्यालय-बापू बालिका विद्यालय, फैजाबाद।

माध्यमिक मानस भाषण प्रतियोगिता

प्रथम-कुमारी ममता खरे

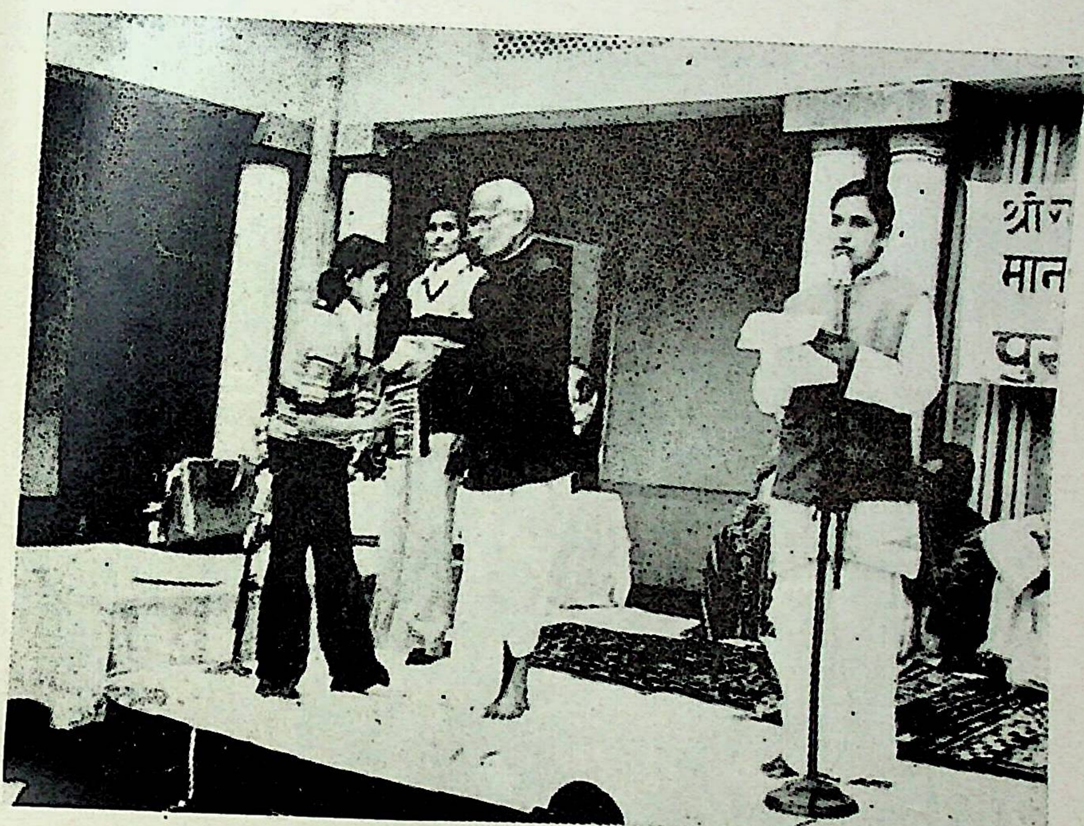
द्वितीय-कुमारी प्रत्यूषवत्सला त्रिपाठी

तृतीय-कु० साधना श्रीवास्तव तथा श्री अभय कुमार श्रीवास्तव

विजेता विद्यालय- आर्यकन्या इन्टर कालेज,

उप विजेता विद्यालय-बापू बालिका विद्यालय, फैजाबाद

भाषण प्रतियोगिताओं के दिन सम्बन्धित विषयों पर विद्वान् निर्णायकों के भाषण भी हुए। डॉ० रामशंकर त्रिपाठी, डॉ० ओंकारनाथ त्रिपाठी, आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, श्री विद्याभास्कर त्रिपाठी



मानस निबन्ध व भाषण प्रतियोगिता सन् १९८० में
पुरस्कार वितरण करते हुए श्री कन्हैया लाल जालान



मानस निबन्ध–भाषण प्रतियोगिता १९८० में भाषण करते हुए
डा० रमाशंकर तिवारी [भूतपूर्व प्राचार्य, साकेत डिग्री कालेज, फैजाबाद]

मानस-निबन्ध-भाषण प्रतियोगिता सन् १९८०
का पुरस्कार-वितरण समारोह



मंच पर बैठे हुए बायें से—
डा० जनार्दन उपाध्याय, डा० राजनारायण मिश्र, साहित्यमहारथी डा० रमाशंकर तिवारी, श्री विजय नारायण चौबे, महन्त हरिहर दास जी, आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, श्री राधेश्याम अग्रवाल, सेठ कन्हैया लाल जालान, तथा सेठ फूलचन्द अग्रवाल ।

मानस सम्मेलन



मथुरा प्रसाद सर्राफ, कलकत्ता, त्रिभुवनपाल गोयल, कलकत्ता
सीटी मैजिस्ट्रेट, फैजाबाद आदि

तथा पं० चन्द्रभानु द्विवेदीकी प्रेरक और सारगर्भित वक्तृताओं की उपस्थित लोगों ने भूरि--भूरि सराहना की ।

उक्त प्रतियोगिता का पुरस्कार-वितरण समारोह दि० १४ दिसम्बर १९८० को सम्पन्न हुआ । विभिन्न विद्यालयों की ओर से राष्ट्रीय तथा शैक्षिक महत्त्व के कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये । समारोह की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध हिन्दी लेखक डॉ० रमाशंकर तिवारी (भूत-पूर्व प्राचार्य, साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद) ने की तथा पुरस्कार-वितरण मानसभवन के वयोवृद्ध कर्मठ ट्रस्टी श्री कन्हैयालाल जालान ने किया । मानसभवन में ये प्रतियोगिताएँ सन् १९७९ में तत्कालीन प्रवन्धक श्री हरिकृष्ण आसोपा की प्रेरणा से आरम्भ हुई थीं । उक्त दोनों प्रतियोगिताएं मानसभवन ट्रस्ट के मंत्री श्री राधेश्याम अग्रवाल के संरक्षकत्व में तथा डॉ०जनार्दन उपाध्याय के संयोजकत्व में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई है । निकट भविष्य में तीसरे वर्ष की प्रतियोगिताएँ आयोजित होने वाली हैं । वाबू सागरमल जालान तथा महन्त हरिहर दास का प्रोत्साहन इस प्रतियो-गिता का महत्वपूर्ण सम्वल है । मानस भवन के उप-प्रवन्धक श्री राधेश्याम पाण्डेय, महन्त कौशल किशोर त्रिपाठी तथा श्री अर्जुन उपाध्याय आदि का सक्रिय सहयोग भी इस प्रतियोगिता के आयोजन में नियमित रूपसे मिलता है । यह प्रतियोगिता मानस भवन के कार्य-क्रम में अतीव लोकप्रिय होती जा रही है ।

भगवान राम का ध्यान

नील कमल, नव-नील-नीरधर, नील मनोहर, मरकत स्याम ।
राज - राज - मनि - मुकुट, कोटि-कंदर्प -दर्पन्हर, सोभा-धाम ॥
राजत रत्न-रचित सिंहासन, भ्राजत सिर मनि-मुकुट ललाम ।
अंग-अंग सुचि सुषमा-सागर, मुनि-मन-हर, लोचन-अभिराम ॥
बरद - हस्त-मुद्रा, महिमामय, भक्त-कल्पतरु पूरन काम ।
जनकनंदिनी सहित सुशोभित, सुख-दायक रघुनायक राम ॥

--"भाईजी"

श्री रामचरित मानस भवन ट्रस्ट के उद्देश्य

१-- सभा, कथा, कीर्तन, माँगलिक कार्य, उत्सव, विद्वानों और संतों का स्वागत, प्रवासियों के ठहरने का प्रबन्ध इत्यादि कार्यों के लिये भवन निर्माण करना।

२-- भवन में यात्री तथा अन्य सज्जनों को निश्चित काल के लिए आश्रय देना।

३-- उपदेश, सत्संग, कीर्तन आदि धार्मिक कार्यों का आयोजन करना।

४-- श्री रामचरित मानस का प्रचार करना जिससे जनता को धर्ममय जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रदर्शन हो।

५-- पुस्तकें छपवाना, जिससे धर्म का प्रचार व मानस का प्रचार हो।

श्रीरामचरितमानस भवन ट्रस्ट की नियमावली :
नियम तथा उप नियम :

१- आजीवन सदस्य:-

इस ट्रस्ट में ट्रस्टनामें द्वारा मनोनीत ट्रस्टियों के अतिरिक्त आजीवन सदस्य भी बनाये जायेंगे। जिनके लिये आवश्यक होगा कि वह अपनी सदस्यता के लिए ट्रस्ट को ११०० रूपये आजीवन सदस्यता शुल्क देंगे, या भेजेंगे। कमेटी के दो ट्रस्टियों द्वारा स्वीकृत किये जाने पर ही ऐसा व्यक्ति आजीवन सदस्य बन सकेगा।

आजीवन सदस्यता शुल्क से प्राप्त धन ट्रस्ट के नाम से किसी बैंक में फिक्सड डिपाजिट में जमा रहेगा और केवल उससे प्राप्त सूद व्यय किया जा सकेगा। आवश्यकता पड़ने पर इस नियम में परिवर्तन किया जा सकता है। किसी ट्रस्टी के निधन होने पर, त्यागपत्र देने पर, अथवा इस नियमावली के अन्तर्गत अन्य किसी कारण से कोई स्थान रिक्त हो जाता है, तो आजीवन सदस्यों में से भी ट्रस्ट कमेटी बहुमत से उसके स्थान पर ट्रस्टी निर्वाचित कर सकती है।

२- ट्रस्टी कमेटी के निम्नलिखित पदाधिकारी होंगे।

१- प्रधान

२- उपप्रधान

३- मंत्री

४- संयुक्त मंत्री

५- कोषाध्यक्ष

पदाधिकारियों के अधिकार एवं कर्तव्य

१- प्रधान:--सर्वश्रेष्ठ अधिकार रखने वाला पदाधिकारी समझा जायेगा और ट्रस्ट कमेटी की मीटिंग की अध्यक्षता करेगा। वह ऐसे मामलों का निपटारा कर सकता है जिसमें तुरन्त कार्यवाही की आवश्यकता हो। परन्तु उसके द्वारा की गई प्रत्येक कार्यवाही का अनुमोदन ट्रस्ट कमेटी की आगामी बैठक में प्राप्त करना अनिवार्य होगा। वह ट्रस्ट सम्वन्धित सभी कार्यों की देख भाल करके समयोचित निर्णय लेगा। वह, जब भी आवश्यकता समझे, स्वयं या मन्त्री को आदेश देकर ट्रस्ट कमेटी की बैठक बुला सकता है। उनका यह भी दायित्व होगा कि वह इस बात की भी देख-रेख रखे कि ट्रस्ट का कार्य उसके उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ही हो रहा है या नहीं।

२- उपप्रधान:--प्रधान की अनुपस्थिति में उसके समस्त कार्यों को करेगा और उसके दायित्व का पालन करेगा।

३- मंत्री:-यह ट्रस्ट का मुख्य कार्यकर्ता होगा तथा उसके समस्त कार्यों को सुन्दरता से सम्पादित करेगा। यह ट्रस्ट की ओर से पत्र व्यवहार करेगा और चन्दा वसूल करेगा। उसको यह अधिकार होगा कि वह अपनी जिम्मेदारी पर किसी अन्य व्यक्ति विशेष को चन्दा वसूल करने के लिए अधिकृत करे। ट्रस्ट के समस्त आय व्यय का लेखा जोखा रखेगा। ट्रस्ट की ओर से आजीवन सदस्यता शुल्क अथवा अन्य किसी स्रोत से प्राप्त धन की रसीद अपने हस्ताक्षर से देने का अधिकार होगा। वह कोषाध्यक्ष को एक रसीद की प्रतिलिपि के साथ प्राप्त धन का ब्यौरा समय समय पर देता रहेगा।

वह दान प्राप्त करने के लिये अथवा ट्रस्ट के अन्य कार्य हेतु कहीं जा सकता है। और इस सम्वन्ध में उसके द्वारा किया गया ससस्त व्यय ट्रस्ट का व्यय समझा जायेगा।

वह ट्रस्ट कमेटी की कार्यवाही की पुस्तिका, आजीवन सदस्यों की सूची, तथा ट्रस्ट सम्वंन्धित समस्त कागजात तथा सामानों का स्टाक रजिस्टर आदि भी अपने संरक्षण में मानस भवन में रखेगा।

उसको आवश्यक होगा कि वह रामचरितमानस भवन ट्रस्ट के नाम से किसी बाहरी या स्थानीय शीड्यूल्ड बैंक में खाता खोल कर समस्त धनराशि जमा किया करेंगे। ऐसे खातों का संचालन मंत्री तथा कोषाध्यक्ष तथा उपप्रधान के संयुक्त हस्ताक्षर से होगा।

वह ट्रस्ट को दान दी गई सम्पत्ति को ट्रस्ट की ओर से ग्रहण करेगा तथा ट्रस्ट कमेटी की ओर से सरकारी कागजात पर अपने हस्ताक्षर से कार्यवाही कर सकेगा। उसके द्वारा की गयी कार्यवाही की ट्रस्ट कमेटी पावन्द रहेगी। परन्तु ट्रस्ट कमेटी की ओर से किसी प्रकार का क्रय विक्रय का अनुवन्ध करने से पूर्व उसके लिए ट्रस्ट कमेटी की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

मंत्री को अधिकार होगा कि रामचरितमानस भवन में समय-समय पर उत्सव तथा अन्य आयोजन उसके उद्देश्यों की पूर्ति हेतु करेंगे परन्तु ऐसा आयोजन यदि एक हजार रूपये के व्यय से अधिक है तो ऐसा करने के पूर्व उसको ट्रस्ट कमेटी की अनुमति प्राप्त करेंगे।

ट्रस्ट कमेटी के पाँच सदस्यों के लिखित आवेदन पर मंत्री को ट्रस्ट कमेटी की बैठक

बुलानी होगी, जिसमें उसमें उल्लिखित एजेन्डों पर विचार होगा ।

वह ट्रस्ट के समस्त कर्मचारियों की देखभाल करेगा, उनकी नियुक्ति करेगा । जो कर्मचारी असन्तोष जनक कार्य करता प्रतीत होगा उसको निलंबित अथवा पद मुक्त करेगा ।

कोई भी व्यक्ति मंत्री की लिखित अनुमति के विना १५ दिन से अधिक नहीं ठहर सकता है । मंत्री आवश्यकतानुसार इस अवधि को विशेष परिस्थिति में १५ दिन तक वढ़ा भी सकता है परन्तु कोई भी व्यक्ति प्रत्येक दशा में चाहे वह ट्रस्टी ही क्यों न हो, आजन्म मानस भवन में ठहर नहीं सकेगा। मंत्री को यह भी अधिकार होगा कि किसी ऐसे व्यक्ति को आचरण संदिग्ध अथवा आपत्तिजनक होने पर उससे भवन के उस अंश को खाली करा ले जो उसको ठहरने के लिये दिया गया था ।

मंत्री प्रत्येक वर्ष १५ फरवरी तक ट्रस्ट के आय-व्यय का व्यौरा मय रसीद व वाउचरों के दे दिया करेंगे जो एक माह के अन्दर आडिट करके मंत्री को दे देंगे, जो आडिट रिपोर्ट तथा आय व्यय का व्यौरा सालाना वैठक में रखा जायेगा । इसकी प्रतिलिपि वार्षिक वैठक की सूचना के साथ सभी ट्रस्टियों को १५ दिन पूर्व मंत्री द्वारा भेजी जायेगी ।

४- उपमंत्री:-मंत्री की अनुपस्थिति में आवश्यक कार्य करेगा । मंत्री को कार्य संचालन में सहयोगे देगा । और समय समय पर मानस भवन के विकास के लिए अपने सुझाव देगा तथा धन एकत्रित करेगा । समय-समय पर मानस भवन से सम्वन्धित सभी कार्यों को देखभाल करेगा । मंत्री की अनुपस्थिति में अपने विवेक से निर्णय करेगा ।

५- कोषाध्यक्ष:- मानस भवन के हिसाव किताव का लेखा जोखा रखेगा और आवश्यकता पड़ने पर उसको आडीटर एवं ट्रस्ट कमेटी के समक्ष प्रस्तुत करेगा । उसको अपने व मंत्री के संयुक्त हस्ताक्षर से रामचरितमानस भवन सम्वन्धी वैंक के खातों के संचालन का भी अधिकार रहेगा । वह मानस भवन की देखभाल करेगा और धन एकत्रित करने का प्रयास करेगा । मानस भवन की समस्त सम्पत्ति की वह पूर्ण देख भाल करेगा और उसका हिसाव-किताव रखेगा ।

साधारण नियम:-

१-- ट्रस्ट कमेटी की वैठक के पन्द्रह दिन पूर्व मंत्री महोदय द्वारा समस्त ट्रस्टियों को सार्टिफिकेट आफ पोस्टिंग द्वारा सूचित किया जायगा ।

२-- ट्रस्ट कमेटी तथा ट्रस्ट सम्वन्धी सभी वैठकें श्रीरामचरितमानस भवन, अयोध्या में ही होगी, यदि आवश्यकता हो तो दूसरे स्थान पर भी हो सकती है ।

३-- ट्रस्ट की वार्षिक वैठक प्रत्येक वर्ष चैत्र शुदी में होगी । विशेष आवश्यकता होने पर पांच दिन की नोटिस पर भी वैठक बुलाई जा सकती है । इसकी सूचना तार द्वारा सभी ट्रस्टियों को दी जायगी ।

४-- कम से कम पांच ट्रस्टियों के अनुरोध पर मंत्री को एक मास के भीतर ट्रस्ट की बैठक का बुलाना आवश्यक होगा। ऐसी बैठक में केवल उन्ही विषयों पर विचार होगा जिसके लिखित रूप से बुलाने का अनुरोध किया गया है।

५-- ट्रस्ट कमेटी के किसी विषय का निर्णय बहुमत से होगा और समान मत प्राप्त की स्थिति में प्रधान महोदय को एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार होगा।

६-- यदि कोई ट्रस्टी किसी असाध्य रोग से ग्रसित हो जावे अथवा कोई अनैतिक कार्य करे जिससे कि नियमों का उल्लंघन हो या ट्रस्ट का कोई अहित हो अथवा राजकीय न्यायालय द्वारा दण्डित हो तो ट्रस्ट कमेटी को अधिकार होगा कि उसको दो तिहाई बहुमत से ट्रस्ट कमेटी से पृथक कर दे और उसके स्थान पर दूसरे ट्रस्टी का नियमानुकूल चयन कर लें। इसके अतिरिक्त यदि कोई ट्रस्टी बैठक में लगातार या दो वर्ष तक किसी भी बैठक में उपस्थित नहीं होता हो तो ट्रस्ट कमेटी से पृथक करके उसके स्थान पर नये ट्रस्टी को नियुक्त कर सकती है।

७-- ट्रस्ट कमेटी के समस्त पदाधिकारियों का कार्यकाल पांच वर्ष होगा और इस अवधि के व्यतीत होने पर ट्रस्ट कमेटी के वार्षिक बैठक में आगामी पांच वर्ष के लिए पदाधिकारियों का चुनाव बहुमत से किया जावेगा, जिस बैठक में कोरम दो तिहाई होगी, यानी कम से कम ९ ट्रस्टी होंगे।

८-- रामचरितमानस भवन में विशेष निर्माण कार्य ट्रस्ट कमेटी की पूर्व अनुमति प्राप्त कर सकने के पश्चात् ही मंत्री महोदय अथवा कोषाध्यक्ष द्वारा कराया जायगा।

९-- रामचरितमानस भवन अथवा उससे संलग्न ट्रस्ट की भूमि में कोई भी कार्यक्रम अथवा आयोजन केवल मानस भवन ट्रस्ट द्वारा ही होगा।

१०-- मानस भवन के भीतर इस ट्रस्ट के अलावा किसी दूसरी संस्था का अथवा कोई दूसरा आयोजन करने हेतु दानपात्र नहीं रखा जायगा।

११-- मानस भवन में ठहरे या रहते हुए कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त ट्रस्ट के लिए ही चन्दा प्रचार आदि कर सकता है, दूसरे स्थान या संस्था के लिए नहीं कर सकेगा। यदि ऐसा करेगा तो वह भवन से अलग कर दिया जायेगा।

१२-- कोई भी सज्जन ट्रस्ट की स्वीकृति के अनुसार भवन में फ्लैट, कमरे या अन्य कोई निर्माण किसी की पुण्य स्मृति में या अपने नाम पर करवा सकते हैं। कमरा या फ्लैट बनवाने वाले सज्जन को अधिकार होगा कि वह जब भी चाहें अपने कमरे का उपयोग नियमानुसार कर सकते हैं। परन्तु उनकी सन्तान भवन के नियमानुसार ही अपने कमरे का उपयोग कर सकती है। वह सम्पत्ति मानसभवन की होगी इसके अलावा उसको कोई अधिकार नही होगा। फिलहाल उनको अपने आने की सूचना कम कम से १० दिन पूर्व प्रबन्धक को देनी होगी। यदि समय पर कमरा खाली न हो तो उनको दूसरा कमरा या स्थान भी दिया जा सकता है। कमरा बनवाने वाले सज्जन को बिजली पानी, सफाई का व्यय जो कमेटी तय करेगी देना होगा।

१३-- जो कमरे या भवन के विभिन्न भाग किसी के नाम बन गये, उनका नाम परिवर्तन नहीं हो

(शेष पृष्ठ १४ पर देखें)

SHRI RAMCHARIT MANAS BHAWAN TRUST

RECEIPTS & PAYMENTS ACCOUNT FROM IST JANUARY

RECEIPTS	AMOUNT Rs. P.
OPENING BALANCE	
Cash-iu-hand	528--66
Cash at U. B. I., Gorakhpur	413—05
Cash at P. N. B., Faizabad	4,320—96
Cash at B. O. B., Faizabad.	6,302—80
Cash at S. B. Bikaner Jaipur. Calcutta.	1,594—00
Fixed Deposit at U. B. I., Faizabad.	1,000—00
-do- U. B. I., Gorakhpuı	16,700—00
-do- Allahabad Bank, Faizabad	811—75
LIFE MEMBERSHIP EEE	5,500—00
DONATIONS RECEIVED	2,78,412—49
CLEANING CHARGES	5,410—68
INTEREST RECEIVED	259—90
	TOTAL:-3,21,254—29

"We have examined the above figures with the books of account and records of SHRI RAMCHARITMANAS BHAWAN TRUST, RAMJANMABHUMI, AYODHYA, FAIZABAD for the year ending 31st Dec., 1980 and found correct as per Book of Accounts and Record of Trust submitted and as per information and explanations furnished to us"

For : M, P. SINGH & ASSOCIATES,
CHARTERED ACCOUNTANTS

M. P. SINGH & ASSOCIATES Chartered Accountants LUCKNOW

Partner

PLACE : LUCKNOW
DATED : June 16,1981.

RAM JANMA BHUMI, AYODHYA, FAIZABAD.

1980 TO 31st DECEMBER 1980

PAYMENTS		AMOUNT Rs. P.
BUILDING CONSTRUCTION (MATERIALS)		1,66,430—25
Wages		30,076—33
General Expenses		3,409—17
Fooding		7,403—00
Salary		18,445—80
Travelling Expenses		12,904—75
Celebrations		13,464—30
Akhand Kirtan		1,200—00
Publicity Expenses		1,508—40
Telephone Expenses		800—00
Stationery & Printing		2,301—39
Audit Fee		500—00
Medicine		668—65
Legal Expenses		1,168—95
Postage Stamps		204—45
Bank Commission Charges		341—50
Books Account		27—00
Rates & Taxes		1,597—20
Electricity Charges	9,056—79	2,509—41
Less : Recovered	6,547—38	
Entertainment Expenses		58—86
General Purchase Account		5,326—05
CLOSING BALANCES		
Cash-in-hand		759—57
Cash at S. B. I. of Bikaner Jaipur, Calcutta		18,425—30
Cash at P. N. B., Faizabad		6,754—46
Cash at B. O. B., Faizabad		385—35
Cash at U. B. I. Gorakhpur		72—40
Fixed Deposit at U. B. I. Faizabad		1,000—00
—do— Allahabad Bank, Faizabad		811—75
—do— U. B. I., Gorakhpur		22,700—00
		TOTAL:-3,21,254—29

(B. P. Khaitan) President	(Shiv Ram Beriwala) Vice President	(R. S. Agarwal) Hony. Secretary	(R. D. Jalan) Treasurer

सकेगा। निर्माण कर्ता की मृत्यु के उपरांत उनके परिवार को नाम परिवर्तन का कोई अधिकार न होगा।

१४-- ट्रस्ट के सब मुकदमे ट्रस्ट के अनुकूल या प्रतिकूल ट्रस्ट कमेटी की आज्ञा से ट्रस्ट के नाम से लड़े जायेंगे। प्रधान तथा मन्त्री अकेले अथवा कमेटी द्वारा नियुक्त व्यक्ति उनकी पैरवी करेंगे। इसके विषय में वकील नियुक्त करना, अर्जी द्वारा बयान तहरीरी दरख्वास्त वकालत नामा या अन्य काग़ज़ात पर ट्रस्ट की ओर से हस्ताक्षर करने का अधिकार ट्रस्टी, उपरोक्त व्यक्तियों को होगा।

१५-- ट्रस्ट की बैठक कम से कम दो बार वर्ष में अवश्य होगी। कोरम पांच ट्रस्टियों का होगा। स्थगित बैठक के लिए कोरम आवश्यक नहीं होगा, परन्तु स्थगित बैठक में पूर्व एजेण्डा के अतिरिक्त किसी अन्य विषय पर विचार नहीं किया जा सकेगा।

१६-- ट्रस्टियों के अधिकार:-

१--वह अपने अमूल्य सुझाव ट्रस्ट की बैठक में देंगे।

२--समय-समय पर मानस भवन का अवलोकन करें, त्रुटियों को लिखित रूप से पदाधिकारियों की जानकारी में लायें।

३--मानस भवन के विकास हेतु मंत्री एवं कोषाध्यक्ष को सहयोग देवे।

४--चुनाव में इन्हे मत देने का अधिकार होगा। □

नोट :-परिशिष्ट पृष्ठ ९ की पंक्ति २१ में "मंत्री तथा कोषाध्यक्ष तथा उप प्रधान" की जगह "कोषाध्यक्ष तथा उपप्रधान या मंत्री" पढ़ें।

Shri Ramcharitmanas Bhawan Trust

BALANCE SHEET AS ON

LIABILITIES		AMOUNT Rs. Ps.
		14,98,707--38
SURPLUS FUND		
Balance as per B/Sheet	1277637-14	
Add : Excess of Income over Expenditure	221070-24	
Audit Fee Payable.		500--00
	TOTAL	:--14,99,207--38

NOTES

1. Depreciation on Fixed Assets has not been charged.
2. Sundry Debtors are subject to confirmation
3. Opening Balance have been taken as the basis of Balance Sheet for 1979 provided to us,

"AUDITOR'S CERTIFICATE"

"We have compiled the Balance Sheet as on 31st Dec., 1980 of SHRI RAMCHARITMANAS BHAWAN TRUST, FAIZABAD and Income & Expenditure account for the year ended on that date from the books of account maintained and produced before us and have found the same to be in agreement with the same in accordance with information furnished and explanations given subject to above notes."

For : M. P. SINGH & ASSOCIATES,
CHARTERED ACCOUNTANTS.

M.P. SINGH & ASSOCIATES Chartered Accountants LUCKNOW

Partner

PLACE : LUCKNOW
DATED : 6 Jan. 1982

Ramjanam Bhumi, Ayodhya, Faizabad

31st DECEMBER 1980

ASSETS

		AMOUNT Rs. Ps.
FIXED ASSETS (At Cost)		
LAND		
BUILDING (Under Construction)		20,042.73
Balance as per last B/Sheet	1204536-13	
Add : Additions during the year,	196506-58	
		14 01,042-71
FURNITURE FIXTURE & UTENSILS		
Bal ance as per last B/Sheet	15566-06	
Add : Additions during the year.	5326-05	
		20,892-11
SUNDRY DEBTORS (Donation Due)		
Sahu Jain Trust	5, 500-00	
Mahavir Saraf	101-00	
		5,601-00
SECURITY DEPOSIT		
(With Faizabad Electric Supply Undertaking)		
		720-00
CASH & BANK BALANCES		
Cash-In-hand	759-57	
With Banks (S/B)		
P. N. B., Faizabad	6754-46	
B. O. B., Faizabad	385-35	
U. B. I., Gorakhpur	7[illegible]-40	
State Bank of Bikaner & Jaipur, Calcutta	18425-30	
(Fixed Deposit)		
Union Bank, Faizabad	1000-00	
Allahabad Bank, Faizabad	811-[illegible]5	
Union Bank, Gorakhpur	22700-00	
		50 908,-83
TOTAL :--		14, 99, 207-38

(Shiv Ram Beriwaila)
Vice President

(R. S. Agarwal)
Hony. Secretary

R. D. Jalan)
Treasurer

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई ।
सोइ सर्वंग्य तग्य सोइ पण्डित । सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित ।
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई । जाके पद सरोज रति होई ।

— मानस

Best Compliments of

MITTAL

BUILDERS & CONTRACTORS

Office :
Lentin Chambers,
5th Floor, Dalal Street,
Fort,
BOMBAY-400023.

Residence :
Mittal Bhavan,
(Deshmukh Marg)
62-A, Peddar Road,
BOMBAY-400026.

Phones : 27 10 05
27 10 97
27 11 65

Residence Phone :
36 38 95

श्रीराम-गुणगान

ऐसे राम गरीब-निवाज :
आपहुँ तें बढ़ि अपुनेंहि मानत होन न देत अकाज ॥ १ ॥
बंधु-बिरोधि बिलोकि बिभीषन कोपेउ निसिचरराज ।
छाँड़ी सक्ति तासु बध—कारन सहमेउ सकल समाज ॥ २ ॥
प्रनतपाल प्रभु लखि तेंहि आवत राखन निज पन लाज ।
पाछे करि लंकेस सही सो सनमुख गुरुतर गाज ॥ ३ ॥
ऐसिहुँ प्रनत-प्रवनता लखि मन आवत तोहि न लाज ।
छाँड़ि सकल जंजाल भजत किन प्रभु-पद जगत-जहाज ॥ ४ ॥

—भाईजी

संत असंतन की अस करनी । जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निजगुन देइ सुगंध बसाई ॥

= मानस

ॐ

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

= नागानन्दम्

सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार । गुनउ बहुत कलियुग कर बिनु प्रयास निस्तार ।।
कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग । जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ।।

ॐ

बड़े भाग मानुस तन पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथनि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा॥
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय॥

—मानस



Industrial Oxygen Company Pvt. Ltd.

66, Jolly Maker Chamber No. 11,

Nariman Point

BOMBAY-400 021

Phone : 230345





पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगत जासु सुत होई ।।
नतरु बांझि भलि बादि बिआनी । राम विमुख सुत ते हित जानी ।।

—मानस

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं वेद पुरान ॥

—मानस

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावइ विनहिं प्रयास ।
जे यह कथा निरन्तर सुनहिं मानि विश्वास ॥

—मानस

DESIGNING & PRINTING BY AMAL CHANDRA CHATTERJI, M.A., PROPRIETOR
MAJESTIC PRINTING PRESS, FAIZABAD – 224001 ☎ 411